भारत में स्थानीय प्रशासन

(Local Administration in India)

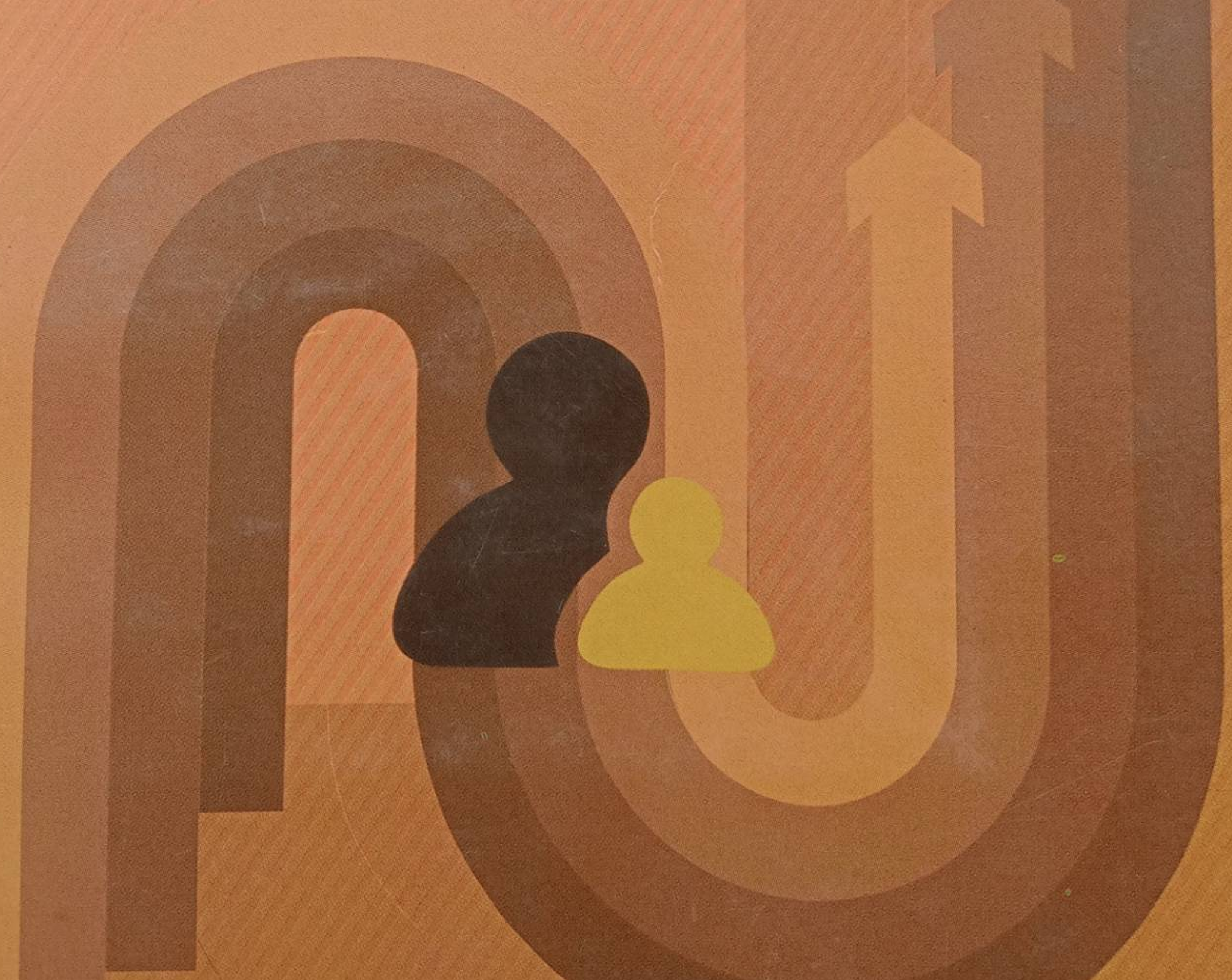

अशोक शर्मा

अनुक्रमणिका

1. **स्थानीय स्वशासन का अर्थ, स्वरूप और आधुनिक राज्य में महत्त्व** 1-13

स्थानीय शासन तथा स्वायत्त शासन में अन्तर, परिभाषा, प्रकृति एवं लक्षण, स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता तथा महत्त्व।

2. **भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं का विकास** 14-39

प्राचीन भारत में विकास एवं विकास के विभिन्न काल खण्ड। संविधान के 73वें व 74वें संशोधन अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ।

3. **भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की संगठनात्मक संरचना, कार्य और शक्तियाँ** 40-56

74वें संविधान संशोधन से पूर्व की संरचना 74 वें संशोधन के पश्चात की संरचना;

(i) संविधानतः सृजित नगरीय प्रशासन की संरचना

(ii) संविधानेतर नगरीय प्रशासन की संरचना

4. **महानगरों का स्थानीय प्रशासन : नगर निगम, उनकी स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की समस्या** 57-80

नगरनिगम तथा नगरपरिषद् में अन्तर, नगर निगम की स्थापना के मापदण्ड, आन्तरिक संगठन, परिषद्, मेयर तथा उप मेयर, नगर आयुक्त, समितियाँ, नगर निगम के कार्य, निगम की वित्तीय व्यवस्था, निगमों पर नियन्त्रण, स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की समस्या, स्वायत्तता का अर्थ, आवश्यकता एवम् उपयोगिता, उत्तरदायित्व की मर्यादा,

5. **नगर परिषद् एवं नगरपालिका : संगठन और कार्यप्रणाली** 81-92
नगर परिषद् एवं नगरपालिका में अन्तर, संरचना, परिषद्, अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष, आयुक्त/अधिशासी अधिकारी समितियाँ, शक्तियाँ, कार्य।

6. **भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण : सिद्धान्त और व्यवहार** 93-107
लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ, विशेषतायें, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का व्यावहारिक पक्ष, पंचायती राज के मौलिक सिद्धान्त, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नूतन पक्ष, व्यवहार में अनुभूत विकृतियां।

7. **ग्राम पंचायत** 108-127
पृष्ठभूमि, परिवर्तित संवैधानिक परिवेश, पंचायत की संरचना, निर्वाचन, निर्वाचन के लिए अर्हताएँ, संरपंच का निर्वाचन, उपसरपंच का निर्वाचन, स्थानों का आरक्षण, पंचायत का कार्यकाल, सरपंच व उपसरपंच की शक्तियाँ व कृत्य, अविश्वास का प्रस्ताव, हटाया जाना व निलम्बन, पंचायत की बैठकें, वार्षिक बजट, सचिव व अन्य कर्मचारिवृन्द, पंचायत के कृत्य व शक्तियाँ

8. **पंचायत समिति** 128-155
पृष्ठभूमि, राजस्थान में पंचायत समिति की 1994 के अधिनियम के अनुसार संरचना, स्थानों का आरक्षण, कार्यकाल और निर्वाचन, सदस्यों की अर्हताएँ, पदाधिकारी – प्रधान व उप प्रधान का निर्वाचन व पदावधि तथा अविश्वास प्रस्ताव, पंचायत समिति की बैठकें, स्थायी समितियाँ, तर्क समिति, कर्मचारिवृन्द, विकास अधिकारी की नियुक्ति एवं शक्तियाँ, प्रसार अधिकारी, पंचायत समिति के कृत्य और शक्तियाँ।

9. **जिला परिषद्** 156-173
पृष्ठभूमि, जिला परिषद् की 1994 के अधिनियम के अन्तर्गत संरचना, स्थानों का आरक्षण कार्यकाल और निर्वाचन, अर्हताएँ, प्रमुख व उप–प्रमुख का निर्वाचन, सदस्यों, अध्यक्षों और उपाध्यक्षों की पदावधि, त्यागपत्र, अविश्वास प्रस्ताव, हटाया जाना व निलम्बन, प्रमुख, उप प्रमुख की शक्तियाँ व कृत्य, बैठकें, गणपूर्ति और प्रक्रिया, स्थायी समितियाँ, मुख्य कार्यपालक अधिकारी व अन्य अधिकारी, जिला परिषद् के कृत्य और शक्तियाँ, वार्षिक प्रशासनिक रिपोर्ट।

10. **ग्राम सभा एवं वार्ड सभाएँ** 174-191
राजस्थान में ग्रामसभा, 73वें संविधान संशोधन में ग्रामसभा, राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 में ग्रामसभा का प्रावधान, बैठकें, गणपूर्ति, पीठासीन अधिकारी, कार्यवाही का अभिलेखन, ग्रामसभा के अधिकार व कार्य, ग्रामसभा की अप्रभावी भूमिका का मूल्यांकन, वार्ड सभा का गठन, बैठक, कार्य व समीक्षा।

11. **नगरीय संस्थाओं का कार्मिक प्रशासन** 192-217
विभिन्न प्रचलित कार्मिक प्रणालियाँ, पृथक् कार्मिक प्रणाली, एकीकृत कार्मिक प्रणाली, समन्वित कार्मिक प्रणाली, आदर्श कार्मिक प्रणाली के गुण, राजस्थान में नगरीय संस्थाओं में कार्मिक प्रशासन–भर्ती, पदोन्नति, स्थानान्तरण व प्रतिनियुक्ति, अस्थायी भर्ती, प्रशिक्षण, वेतनमान, अनुशासनात्मक कार्यवाही, सेवानिवृत्ति लाभ, कार्मिक प्रशासन की समीक्षा, समस्याएँ एवं सुझाव।

12. **पंचायती राज संस्थाओं का कार्मिक प्रशासन** 218-236
पंचायती राज में सेवाओं का वर्गीकरण, राजस्थान में कार्मिक वर्ग की स्थिति, राजस्थान में पंचायती राज अधिनियम 1994 के अन्तर्गत कार्मिक प्रशासन, सेवा चयन आयोग का विलोपन और जिला–स्थापन समितियों का गठन, भर्ती, पदोन्नति तथा भर्ती की प्रक्रिया, अनुशासनात्मक कार्यवाही, प्रशिक्षण, राजस्थान की पंचायती राज संस्थाओं में प्रशिक्षण, प्रशिक्षण से सम्बद्ध प्रमुख संस्थाएँ, प्रशिक्षण से सम्बद्ध समस्याएँ, प्रशिक्षण के सुधार हेतु सुझाव।

13. **पंचायतीराज संस्थाओं का वित्तीय प्रशासन** 237-254
पंचायतीराज संस्थाओं में वित्त का महत्त्व, राजस्थान के नवीन अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं–ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद् की आय के स्रोत, प्रथम–वित्त आयोग के सुझाव, बजट, लेखा तथा अंकेक्षण, समीक्षा

14. **नगरीय स्थानीय संस्थाओं का वित्तीय प्रशासन** 255-28
नगरीय संस्थाओं की आय के स्रोत, करों से आय; अनिवार्य कर, विवेकाधीन कर, करों के अतिरिक्त आय, आन्तरिक स्रोत, बाह्य स्रोत, कमजोर वित्तीय स्थिति के कारण, सुझाव, नगरीय संस्थाओं का बजट, लेखा पालन व लेखा परीक्षण।

15. नगरीय संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण 284-304

नियन्त्रण का अर्थ, नियन्त्रण के औचित्य से सम्बन्धित विभिन्न विचारधारायें, नियन्त्रण के प्रकार–विधायी नियन्त्रण, तकनीकी नियन्त्रण और वित्तीय नियन्त्रण, नियन्त्रणकारी संस्था, नियन्त्रण का प्रवर्तित परिवेश और स्वरूप, नियन्त्रण व्यवस्था पर संविधान संशोधन का प्रभाव, सुधार हेतु सुझाव।

16. पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण 305-326

नियन्त्रण की अवधारणा, आधार, प्रकृति, नियन्त्रण के स्तर और प्रकार, संस्थागत नियन्त्रण, प्रशासनिक नियन्त्रण, तकनीकी नियन्त्रण और वित्तीय नियन्त्रण, समीक्षा।

17. नगरीय स्थानीय संस्थाओं का निदेशालय 327-356

भारत में स्थानीय निदेशालय की व्यवस्था, राजस्थान में निदेशालय और उसका गठन–निदेशक, अतिरिक्त निदेशक, उपनिदेशक, परियोजना निदेशक, सहायक निदेशक, मुख्य लेखाधिकारी, अधीक्षण अभियन्ता, कार्यालय अधीक्षक, क्षेत्रीय कार्यालय एवं क्षेत्रीय उपनिदेशक, निदेशालय की आन्तरिक संरचना, कार्य निष्पादन की प्रक्रिया, निदेशालय की शक्तियाँ, कार्य और भूमिका।

18. पंचायती राज विभाग 357-377

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास विभाग, पंचायत एवं विकास विभाग की स्थापना, पंचायती राज विभाग, विभाग भी और निदेशालय भी, वर्तमान संगठन, मन्त्री, विकास आयुक्त, निदेशक, उपसचिव, मुख्यलेखाधिकारी, उपविधि परामर्शी, अतिरिक्त मुख्य नगर नियोजक, अधीक्षण अभियन्ता, सांख्यिकी अधिकारी, संपादक, विभाग के कार्य।

बहुविकल्पात्मक प्रश्न 378-420

1

स्थानीय स्वशासन का अर्थ, स्वरूप और आधुनिक राज्य में महत्त्व

भारत जैसे संघात्मक देश में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था उसकी त्रिस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था का अविभाज्य अंग है। भारतवर्ष में संघीय स्तर पर केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय स्तर पर राज्य–सरकार और स्थानीय स्तर पर स्थानीय स्वशासन अथवा स्थानीय शासन नागरिकों की सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

स्थानीय शासन का महत्त्व प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा राजाओं के राज्य–काल में भी शासन की इन इकाइयों की आवश्यकतानुसार स्थापना होती रही है। यदि हम प्राचीन समय के राजनैतिक और प्रशासनिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह विदित होता है कि इन संस्थाओं का अस्तित्व किसी न किसी रूप में, सदैव हर काल और हर राज्य में विद्यमान रहा है। समस्त विश्व में लोकतांत्रिक विचारों के विस्तार के साथ ही यह विचारधारा बलवती होती चली गई कि स्थानीय शासन को स्थानीय व्यक्तियों के द्वारा ही संचालित किया जाना चाहिए। न केवल प्राचीन काल में अपितु आज विश्व के सभी सभ्य एवं प्रजातांत्रिक देशों में संस्थाओं का एक जाल सा बिछा हुआ मिलता है और संघीय या प्रान्तीय सरकारें नागरिकों के स्थानीय महत्त्व के अधिकतर कार्य इन संस्थाओं के द्वारा ही करवाने लगी हैं। 1947 में प्राप्त स्वतंत्रता के पश्चात् ज्यों ही भारत एक सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में उभरा त्यों ही भारत की सरकार ने स्थानीय शासन की व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व देना आरम्भ कर दिया। स्वतंत्र सरकार ने यह अनुभव कर लिया था कि स्थानीय स्वशासन की ये इकाइयाँ वास्तव में लोकतंत्र की आधारशिला होती हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख कर दिया जाना प्रासंगिक है कि राष्ट्रीय सरकार, जिसे हम संघीय सरकार के नाम से जानते हैं और प्रान्तीय सरकार जिसे हम भारत में राज्य–सरकार के नाम से जानते हैं, संविधान द्वारा मर्यादित अपने–अपने पृथक् कार्यक्षेत्र में कार्य करती रही हैं। शासन का तीसरा स्तर, जिसे हम **स्थानीय शासन** के नाम से जानते हैं, 1993 तक संविधान द्वारा सृजित या अधिकृत स्तर नहीं रहा है। स्थानीय शासन की प्रकृति या स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस तथ्य

से अवगत होना आवश्यक है कि स्थानीय शासन संविधान द्वारा शक्तियों के विभाजन में राज्य सूची की पांचवीं प्रविष्टि है। इसका अभिप्राय यह है कि भारत के संघ की समस्त राज्य सरकारें इस बात के लिए स्वतंत्र हैं कि वे अपने राज्य में जैसा स्थानीय शासन चाहें अपना सकती हैं। शासन के इस निम्नतम स्तर की रचना केन्द्रशासित प्रदेशों में राष्ट्रीय कानून द्वारा और राज्यों में कानून द्वारा की जाती है जो संबंधित अधिनियम द्वारा निर्धारित कार्यक्षेत्र में कार्य करती हैं। इसका क्षेत्राधिकार विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित होता है और इस विशिष्ट क्षेत्र में बसने वाली जनता को नागरिक सुविधाएं प्रदान करना इसका प्राथमिक दायित्व समझा जाता है। राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले इस विषय पर राज्य सरकारों की स्वतंत्रता को किंचित् मर्यादित करते हुए भारत सरकार ने अब 73वें व 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से न्यूनतम संरचना व उनके ढंग से निष्पादित किए जाने वाले कार्यों का प्रावधान किया है। अब राज्यों को इन संशोधनों द्वारा प्रतिपादित मानदंडों के अनुरूप इस क्षेत्र में प्रावधान करने की अपेक्षा की जाती है।

किसी भी देश का स्थानीय स्वशासन प्रायः दो स्वरूपों – नगरीय एवं ग्रामीण– में विभक्त होता है। नगरीय क्षेत्र के स्थानीय प्रशासन को संचालित करने वाली इकाइयों पर नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनता की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने का दायित्व रहता है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व पंचायती राज की त्रिस्तरीय रचना जिला परिषद्, पंचायत समिति और ग्राम पंचायतों द्वारा वहन किया जाता है। स्थानीय स्वशासन की नगरीय एवं ग्रामीण, इन दोनों संस्थाओं में स्थानीय जनता अपनी सक्रिय भागीदारी निभाती है।

स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन में अन्तर

विदेशी शासन व्यवस्थाओं में स्थानीय शासन तथा स्थानीय स्वायत्त शासन में कोई भेद नहीं किया जाता है लेकिन भारत में विभिन्न विद्वानों ने इसे अपनी–अपनी दृष्टि से देखा है। **प्रोफेसर श्रीराम माहेश्वरी** स्थानीय शासन और स्थानीय स्वशासन को भारत के संदर्भ में एक ही मानते हैं। उनकी मान्यता यह है कि स्थानीय स्वशासन शब्द की उत्पत्ति उस समय हुई थी जबकि देश ब्रिटिश शासन के अधीन था और जनता को केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय किसी भी स्तर पर स्वशासन उपलब्ध नहीं था। जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को स्थानीय शासन से सम्बद्ध करने का निर्णय किया तो उसका अभिप्राय जनता को कुछ अंशों में स्वशासन प्रदान करना था किन्तु आज जब देश में केन्द्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर स्वशासन की स्थापना हो चुकी है, तो स्थानीय स्वशासन का वह विशिष्ट सन्दर्भ और महत्त्व लुप्त हो चुका है।[1] दूसरी ओर स्वर्गीय **डॉ. वी. एम. सिन्हा** ने दोनों में भिन्न–भिन्न अर्थ देखा है। उनके अनुसार हमारे देश में स्थानीय स्वायत्त शासन से नगर निगम, नगरपालिका, कस्बा क्षेत्र समिति, अधिसूचित क्षेत्र समिति, छावनी मंडल, ग्राम पंचायत, पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषदों का बोध होता है।[2]

वस्तुतः भारत के संविधान में **'स्थानीय शासन'** शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] **स्थानीय शासन** तथा **स्थानीय स्वायत्त शासन** में विभेद इस प्रकार किया जा सकता है:

स्थानीय शासन	स्थानीय स्वायत्त शासन
1. स्थानीय शासन राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था का अंग है।	1. स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाएँ राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था का अंग नहीं होतीं। ये संस्थाएँ राज्य के नियन्त्रण में काम करती हैं।
2. राज्य प्रशासन का इन पर प्रत्यक्ष और पूर्ण नियन्त्रण होता है और इनके कार्यक्षेत्र में राज्य सरकार अधिशासी आज्ञा द्वारा कोई भी परिवर्तन कर सकती है।	2. इन संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण की सीमा विधान मण्डल द्वारा निर्धारित की जाती है। राज्य सरकार अधिशासी आज्ञा द्वारा इसमें कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती है।
3. स्थानीय शासन के कर्मचारी लोक सेवा के सदस्य माने जाते हैं।	3. स्थानीय स्वायत्त शासन के कर्मचारी लोक सेवक नहीं माने जाते। वे अर्द्ध–प्रशासकीय संस्थाओं के कर्मचारी माने जाते हैं।
4. स्थानीय शासन को समुचित ढंग से संचालित करने का दायित्व राज्य –सरकार का होता है। इसे सरकार के बनाए गए नियमों और आदेशों के अनुसार संचालित किया जाता है।	4. स्थानीय स्वायत्त शासन के संचालन का दायित्व राज्य सरकार का नहीं अपितु स्वयं इन्हीं संस्थाओं का होता है। अपने संचालन के नियम भी स्वयं इन्हीं के द्वारा बनाए जाते हैं।
5. स्थानीय शासन में नौकरशाही प्रभावी होती है।	5. स्थानीय स्वायत्त शासन में नौकरशाही का प्रभाव तुलनात्मक रूप से न्यून होता है।
6. स्थानीय शासन में जनप्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होता।	6. स्थानीय स्वायत्त शासन के संचालन में जनप्रतिनिधि प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं।
7. जनता के सदस्य इसमें परामर्शदात्री समितियों के माध्यम से ही भाग लेते हैं।	7. जनता के सदस्य निर्वाचित होकर इन संस्थाओं के कार्यकरण में भाग लेते हैं।
8. ये संस्थाएँ जन आवश्यकताओं के प्रति उदासीनता दिखाती हैं।	8. जबकि स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ जन आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होती हैं।

स्थानीय स्वशासन और स्थानीय शासन की संस्थाओं का उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण इस अर्थ को ध्यान में रखकर किया गया है कि स्थानीय शासन राज्य–सरकार की नियमित प्रशासनिक संरचना का अंग होता है जैसे जिला प्रशासन की विभिन्न संरचनाएँ, तहसील स्तर के कार्यालय व ग्रामस्तर पर ग्राम–सेवक या पंचायत सचिव व पटवारी इत्यादि। जबकि स्थानीय स्वशासन में नगरीय शासन की इकाइयाँ यथा नगर निगम, नगरपालिका व पंचायती राज की संस्थाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है।

स्थानीय स्वायत्त शासन की परिभाषा

स्थानीय स्वशासन का अर्थ स्थानीय स्तर की उन संस्थाओं से है जो जनता द्वारा चुनी जाती हैं तथा जिन्हें राष्ट्रीय या प्रान्तीय शासन के नियंत्रण में रहते हुए नागरिकों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकार और दायित्व प्राप्त होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ सीमित क्षेत्र में प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करती हैं, वे संप्रभु की तरह नहीं होतीं। भारत में ये संस्थाएं राज्य विधान मंडल द्वारा बनाई गई विधि की सीमा में काम करती हैं और विधि द्वारा प्रदत्त समस्त अधिकारों का उपयोग करते हुए आरोपित दायित्वों का निष्पादन करती हैं। **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका** के अनुसार स्थानीय शासन का अर्थ है, "पूर्ण राज्य की अपेक्षा एक अंदरूनी प्रतिबंधित एवं छोटे क्षेत्र में निर्णय लेने तथा उनको क्रियान्वित करने वाली सत्ता।"[4]

कार्ल जे. फ्रेडरिक के अनुसार, "स्वशासन स्थानीय समाज की एक प्रशासनिक व्यवस्था है जो व्यवस्थापन के नियमों द्वारा इस प्रकार विनियमित होती है कि सरकार की सत्ता का वह उस समय प्रतिनिधित्व करे जबकि वह स्थानीय रूप से सक्रिय है।"

एल. गोल्डिंग के अनुसार स्थानीय स्वशासन की सरलतम परिभाषा यह है कि, "यह एक बस्ती के लोगों द्वारा अपने मामलों का स्वयं ही प्रबन्ध है।"

ए. डी. आशीर्वादम् ने स्थानीय स्वशासन को परिभाषित करते हुए कहा है कि, "स्थानीय स्वशासन केन्द्र सरकार या राज्य–सरकार के अधिनियम द्वारा निर्मित एक ऐसी प्रशासकीय इकाई है जिसमें नगर या ग्राम, जहाँ एक क्षेत्र की जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं और जो अपने दायित्व क्षेत्र की परिसीमा में प्रदत्त अधिकारों का उपयोग लोक–कल्याण के लिए करते हैं।"

बी. वेंकटराव के अनुसार, "स्थानीय सरकार, राज्य–सरकार का वह भाग है जो मुख्यतः स्थानीय विषयों से संबंध रखती हैं तथा उसकी शासन करने वाली सत्ता के अधीन रहती है लेकिन उसके चुनाव, राज्य की सत्ता के नियंत्रण की अपेक्षा, स्वतंत्र रूप से योग्य निवासियों द्वारा किए जाते हैं।"[5] एक अन्य परिभाषा में कहा गया है कि स्थानीय सरकार शब्द से सामान्यतः अर्थ है कि एक क्षेत्र का प्रशासन या एक गाँव, एक कस्बा, एक शहर या इस प्रकार का क्षेत्र जो राज्य से छोटा हो, जो स्थानीय निवासियों का प्रतिनिधित्व करता है तथा पर्याप्त सीमा तक स्वायत्तता रखता है, अपने राजस्व का एक बड़ा भाग स्वयं स्थानीय करों के रूप में इकट्ठा करता है और अपनी आय को स्थानीय

कार्यों में व्यय करता है तथा जो राज्य–सरकार और केन्द्र–सरकार के कार्यों से भिन्न है।[6]

उक्त परिभाषा में पाँच विशेषताएं सम्मिलित की गई हैं जिनमें एक स्थानीय इकाई, वहाँ के निवासियों द्वारा उस इकाई का चुनाव तथा नियंत्रण, उच्च सत्ता में उस इकाई की एक सीमित क्षेत्र में स्वायत्तता, स्थानीय तथा गैर–स्थानीय कार्यों में भेद व स्थानीय कर लगाना। स्थानीय स्वशासन के विषय में प्रवर्तित यह दृष्टिकोण स्थानीय सरकार की इकाइयों के लिए भी शाश्वत रूप से प्रभावी माना जा सकता है।

इस प्रकार स्थानीय स्वशासन से हमारा अभिप्राय यह है कि स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन वहाँ के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाए। यदि स्थानीय क्षेत्र का प्रशासन केन्द्र या राज्य सरकारों के अधिकारियों के द्वारा चलाया जाए तो वह स्थानीय प्रशासन तो होगा किन्तु स्थानीय स्वशासन नहीं होगा। स्थानीय स्तर की समस्याओं का स्थानीय स्तर पर समाधान करने के लिए प्रायः सभी देशों में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं। ये संस्थाएँ ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए पृथक्–पृथक् होती हैं। इन्हें व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों के आधार पर निर्मित किया जाता है। ये संस्थाएँ उन्हीं शक्तियों का उपयोग करती हैं जो उन्हें संबंधित अधिनियम द्वारा प्रदान की जाती हैं और इस अधिनियम द्वारा वर्जित कार्यों को वे नहीं कर सकती हैं। इन संस्थाओं में जनता के प्रतिनिधि चुने जाते हैं और वे अपने प्राधिकृत अधिकार क्षेत्र में स्थानीय प्रकृति के कार्यों को सम्पन्न करने में बहुत कुछ स्वायत्तता का उपयोग करते हैं। राज्य–सरकार इन संस्थाओं पर निर्देशन और निरीक्षण आदि के माध्यम से नियंत्रण करती है। राज्य–सरकार द्वारा इन संस्थाओं को जो वित्तीय अनुदान दिये जाते हैं उनके उपयोग के लिए भी ये संस्थाएँ राज्य–सरकार के नियंत्रण में रहती हैं। किन्तु यह भी सच है कि अधिनियम में प्राप्त शक्तियों का उपयोग करने के लिए इन संस्थाओं को राज्य–सरकार से कोई पूछताछ नहीं करनी होती। इस क्षेत्र में वे एक विवेकसम्मत स्वायत्तता का उपयोग करती हैं।

भारत में स्थानीय प्रशासन की प्रकृति या लक्षण

स्थानीय शासन की प्रकृति और उसकी विशेषताओं को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

1. सांविधानिक या सांविधिक आधार : किसी भी लोकतांत्रिक देश में इन संस्थाओं का सांवैधानिक या सांविधिक आधार होता है। ये संस्थाएँ या तो संविधान में किये गये प्रावधानों या अधिनियम के प्रावधानों से गठित की जाती हैं। भारत में 73वें व 74वें संविधान संशोधन के पूर्व इन संस्थाओं का आधार जहाँ सांविधिक था वहीं उक्त संविधान संशोधन अधिनियमों के पश्चात् ये संस्थाएँ अब संविधान द्वारा सृजित संस्थानों के रूप में कार्यशील हैं।

2. सीमित स्वायत्तता : इन संस्थाओं को संविधान या अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत अपने कार्य क्षेत्र में कार्य करने की सीमित स्वायत्तता मिलती है। वस्तुतः ये

संस्थाएँ उन सभी अधिकारों और शक्तियों का उपयोग करने के लिये अधिकृत होती हैं जो उन्हें संविधान के प्रावधान या अधिनियम प्रदान करते हैं तथापि उन्हें अपने सभी कार्यों के निष्पादन के पूर्व सम्बन्धित सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है।

3. वित्तीय अशक्तता : इन संस्थाओं को सृजनकारी अधिनियम के माध्यम से यद्यपि कर लगाने व उन्हें एकत्र करने की शक्तियाँ होती हैं तथापि ये संस्थाएँ राज्य सरकार की अनुमति के बिना न तो कोई कर लगा सकती हैं और न ही ऋण ले सकती हैं। प्रायः राज्य सरकारें इस प्रकार की अनुमति के आवेदनों पर कोई कार्यवाही नहीं करती। इन संस्थाओं की वित्तीय अशक्तता के लिए संविधान के 73वें व 74वें संशोधन अधिनियम भी उत्तरदायी हैं जिनमें स्थानीय निकायों को स्वतन्त्र वित्तीय शक्तियाँ या स्रोत आवंटित किये जाने का कोई प्रावधान नहीं किया गया है।

4. दो भागों में विभक्त : भारत में स्थानीय संस्थाएँ दो भागों – ग्रामीण व नगरीय के रूप में विभक्त है। 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में त्रिस्तरीय पंचायती राज व 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से नगरों में भी त्रिस्तरीय नगरीय प्रणाली का प्रावधान किया गया है।

5. राज्य सूची का विषय : भारत में स्थानीय शासन की उक्त दोनों प्रकार की संस्थाएँ राज्य सूची का विषय हैं अतः ये संस्थाएँ संबंधित राज्य सरकारों द्वारा निर्देशित, पर्यवेक्षित व नियन्त्रित की जाती हैं।

6. कार्य क्षेत्र का निर्धारण राज्य द्वारा : स्थानीय शासन की ये संस्थाएँ चूंकि राज्य सूची के अन्तर्गत राज्य विधान मंडल द्वारा गठित की जाती हैं। अतः इनके कार्यक्षेत्र का निर्धारण भी राज्य विधान मंडल के अधिनियम के द्वारा किया जाता है।

7. निर्वाचन की नवीन व्यवस्था : संविधान संशोधनों के पूर्व इन संस्थाओं के चुनावों का समय पर आयोजन न कराये जाने के आक्षेपों के पश्चात् संविधान संशोधन अधिनियमों ने राज्य स्तर पर एक राज्य निर्वाचन आयोग के गठन का प्रावधान किया है। ये आयोग दोनों ही प्रकार की स्थानीय संस्थाओं का उनके 5 वर्ष के कार्यकाल के पूर्ण होने के पूर्व ही वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव कराने के लिए उत्तरदायी है।

8. अकुशल छवि व राजनीतिक हस्तक्षेप : प्रशासकीय दृष्टि से इन संस्थाओं की जनता में अकुशलता की छवि पाई जाती है। इन संस्थाओं की अशक्त वित्तीय स्थिति के कारण इन्हें यदाकदा पदासीन राज्य सरकार के अनुचित राजनीतिक हस्तक्षेप का सामना भी करना पड़ता है।

9. जन नियन्त्रण : उदारवादी अर्थव्यवस्था की अवधारणा ने शासन के कार्यों में भी अनेक नवीन धारणाओं का प्रवर्तन किया है। अब स्थानीय शासन की संस्थाओं पर न केवल राज्य सरकारें नियन्त्रण करती हैं अपितु मीडिया, स्वैच्छिक संस्थाएँ व जागरूक नागरिक भी सूचना के अधिकार व ग्राम सभाओं के माध्यम से नियन्त्रण करने लगे हैं।

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता

लोगों का संगठित समूह जब एक स्थान पर, एक निश्चित भौगोलिक सीमा में रहने लगता है तो उनमें एक सामुदायिकता और एकता की भावना उत्पन्न हो जाती है। इन लोगों के इस सामूहिक आवास के फलस्वरूप कुछ समस्याएं भी उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं का संबंध नागरिक जीवन की सुविधाओं से होता है, जैसे पानी की व्यवस्था, गन्दे पानी के निष्कासन के लिए नालियों का प्रबन्ध, सड़कों की सफाई, कूड़े–करकट का हटाया जाना, सार्वजनिक मार्गों पर प्रकाश की व्यवस्था, महामारियों की रोकथाम, प्राथमिक स्वास्थ्य और चिकित्सा व्यवस्था तथा नागरिकों को स्वस्थ पर्यावरण उपलब्ध करवाना इत्यादि। जैसे–जैसे नगर की जनसंख्या बढ़ती है उस शहर का आकार–प्रकार भी बढ़ता चला जाता है और समस्याएं भी उसी अनुपात में विकराल रूप धारण कर लेती हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के साथ नागरिकों के जीवन यापन की दैनिक आवश्यकताओं में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। इस कारण स्थानीय स्वशासन से उनकी अपेक्षाएं निरन्तर बढ़ रही हैं। स्थानीय लोगों की बढ़ती हुई स्थानीय आर्थिक, सामाजिक आवश्यकताओं और उनसे उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए एक सशक्त स्थानीय शासन या स्वशासन की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है।[7]

राष्ट्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार के कार्यों का जो विभाजन संविधान में किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि नागरिकों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व संविधान निर्माताओं ने स्थानीय स्वशासन पर छोड़ा है, जिसे राज्य–सूची का एक विषय बनाया गया है।

स्थानीय स्वशासन का महत्त्व

आधुनिक युग को नागरिकों की उभरती हुई आकांक्षाओं का युग माना जाता है। सभी प्रजातन्त्रीय और लोककल्याणकारी राज्यों में शासन संबंधी कार्यों का इतना अधिक महत्त्व और विस्तार हो गया है कि केवल केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार इन कार्यों का निष्पादन नहीं कर सकतीं। इसी कारण समस्त लोकतांत्रिक देशों में राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें इनके कार्यभार को हल्का करने की दृष्टि से स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को व्यापक उत्तरदायित्व देती हैं। स्थानीय स्वशासन के महत्त्व को निम्नांकित बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है :

1. प्रजातंत्र का आधार : हमारे देश के प्रथम प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री **जवाहरलाल नेहरू** ने 1948 में देश के स्थानीय स्वशासन मंत्रियों के पहले सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा था कि "स्थानीय स्वशासन लोकतंत्र की सच्ची पद्धति का आधार है और होना भी चाहिए।" हमें प्रायः उच्च स्तर पर लोकतंत्र के विषय में सोचने की आदत पड़ गई है और हम नीचे के स्तर पर लोकतंत्र के विषय में कुछ नहीं सोचते हैं। उच्च स्तर पर लोकतंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसे नीचे से मजबूत न बनाएं। **प्रो. डब्ल्यू. ए. रोब्सन** ने भी कहा है कि राष्ट्रीय स्तर पर एक अच्छे व स्वस्थ प्रजातंत्र को तब तक बनाया जाना असंभव है जब तक कि इसे कस्बा और देहात में प्रजातांत्रिक

स्थानीय संस्थाओं द्वारा सहयोग व प्रोत्साहन न दिया जावे। इस प्रकार स्थानीय संस्थाएँ प्रजातंत्र के लिए नींव के रूप में कार्य करती हैं। यह नागरिकों को देश की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने का सुअवसर प्रदान करती है।

प्रजातंत्र की नींव और उसका आधार स्थानीय निकायों द्वारा मजबूत बनाया जाता है। जब तक देश का प्रत्येक नागरिक स्वयं को उत्तरदायी तथा शासन की नीतियों के निर्माण तथा क्रियान्वयन में भागीदार अनुभव नहीं करता है तब तक उस राष्ट्र में प्रजातंत्र सैद्धांतिक रूप में ही रहता है, उसमें व्यावहारिकता तथा वास्तविकता नहीं आती, और व्यावहारिकता के लिए गाँव, कस्बा तथा नगर स्तर पर प्रत्येक की अपनी स्थानीय स्वायत्त सरकार का होना अति आवश्यक है। प्रजातंत्र केन्द्र व राज्यों की राजधानियों तक सीमित न रहकर वास्तव में नगरों व गाँवों में निहित रहता है। हमारे देश में इसे अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए बड़े–बड़े नगरों जैसे मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली, चेन्नई व हैदराबाद में तो स्थानीय सरकार का भी व्यापक स्तर पर विकेन्द्रीकरण कर दिया गया है जिससे प्रत्येक नागरिक अपने आपको स्थानीय सरकार का ही एक अंग समझने लगा है।

2. लोकतंत्र की पाठशाला : लार्ड ब्राइस ने कहा है कि स्थानीय प्रशासन प्रजातंत्र के लिए प्रशिक्षण स्थली या पाठशाला का काम करता है। इसके अभाव में प्रजातंत्र की सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अपने राजनीतिक जीवन को आगे बढ़ाने में रुचि रखने वाले लोगों के लिए स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ प्रशिक्षण प्रदान करती हैं। इसी प्रशिक्षण के माध्यम से भविष्य का प्रजातांत्रिक नेतृत्व उभरता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व श्री **सुभाषचन्द्र बोस** ने अपने राजनैतिक जीवन का आरम्भ कोलकाता नगर निगम से किया था। इसी प्रकार हमारे प्रथम प्रधानमंत्री पं. **जवाहरलाल नेहरू** ने अपने राजनैतिक जीवन का आरंभ इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के रूप में किया था। भविष्य का राजनैतिक नेतृत्व स्थानीय शासन की इन संस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त करता है, उससे आगे चलकर, सम्पूर्ण राष्ट्र और समाज को लाभान्वित करता है। वस्तुतः स्थानीय शासन की संस्थाओं को लोकतंत्र की नींव मजबूत करने के लिए सनातन रूप से स्मरण किया जाता है।

3. अच्छे नागरिक जीवन के विकास के लिए अनिवार्य : आज हम लोक कल्याणकारी राज्य के युग में रह रहे हैं। नगरपालिकाएं, नगर निगम और पंचायत राज की संस्थाएँ, जब तक नागरिकों को स्थानीय सेवाएं प्रदान नहीं करतीं तब तक नागरिक सुखी और समर्थ जीवन का विकास नहीं कर सकते। एक लोककल्याणकारी राज्य का यह उद्देश्य होता है कि सभी लोगों का नागरिक जीवन सुखी, स्वस्थ और समर्थ बन सके। स्थानीय स्दशासन की संस्थाएँ लोक कल्याणकारी राज्य के इस आदर्श को मूर्तरूप देने का प्रयत्न करती हैं। ये संस्थाएँ इस संकल्प के अनुरूप समाज निर्माण में सरकार का सक्रिय सहयोग करती हैं।

4. नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा : स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ नागरिकों में राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करती हैं। स्थानीय संस्थाओं के

चुनावों में उस क्षेत्र के सभी नागरिक सक्रिय होकर भाग लेते हैं। नागरिक यह जानते हैं कि ये संस्थाएँ उनकी स्थानीय आवश्यकताओं जैसे सफाई, सड़क, पानी और प्रकाश आदि का प्रबन्ध करती हैं अतः यदि इन संस्थाओं में क्रियाशील नागरिकों को नहीं चुना गया तो ये संस्थाएँ अकुशलता का प्रतीक बनकर रह जाएंगी। इस कारण स्थानीय स्तर पर इन संस्थाओं के चुनाव से राजनैतिक जीवन में स्फूर्ति और जागरूकता उत्पन्न हो जाती है और स्थानीय नागरिक सक्रिय होकर पूर्ण सहयोग और समर्थन के साथ इनके कार्यों और चुनावों में भाग लेते हैं। चूंकि स्थानीय शासन जनता के सर्वाधिक निकट होता है इसलिए लोग यह भी समझते हैं कि वे इन संस्थाओं पर अच्छे काम–काज के लिए अधिक सरलता से प्रभाव डाल सकते हैं। नागरिकों की यह चेतना और क्रियाशीलता सारे जन समुदाय में राजनैतिक शिक्षा और जागरूकता का संचार करती है।

5. संघीय एवं प्रान्तीय शासन के कार्यभार में सहयोग : स्थानीय स्वशासन की ये संस्थाएँ अपने कार्यों के द्वारा केन्द्र और राज्य–सरकार के कल्याणकारी कार्यों में बहुत सहायता करती हैं। उन संस्थाओं की उपस्थिति के कारण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें नागरिकों की स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति पर्याप्त सीमा तक निश्चिन्त हो जाती हैं। ऐसा होने से केन्द्रीय और राज्य सरकारें अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए समय का सदुपयोग कर पाती हैं।

6. स्थानीय समस्याओं के समाधान में सहायक : अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका सार यह है कि केवल जूता पहनने वाला ही यह जान सकता है कि उसमें कील कहाँ चुभ रही है।[8] इसका सांदर्भिक अभिप्राय यह है कि स्थानीय समस्याओं को सुलझाने के लिए स्थानीय परिस्थितियों और वातावरण का ज्ञान आवश्यक होता है। किसी भी बाहरी व्यक्ति की तुलना में स्थानीय व्यक्ति को स्थानीय समस्याओं की प्रकृति, उनकी जटिलता, उनके उद्गम, अन्तर्गुंथित समीकरणों और संभावित समाधानों का अधिक सटीक और सक्रिय ज्ञान होता है। स्थानीय व्यक्ति उन समस्याओं का जो समाधान खोजेंगे वह अधिक व्यावहारिक और चिरस्थायी होगा। स्थानीय परिस्थितियों में कौन से विकास कार्य किये जायें और कौन से न किए जाएँ, इसका निर्धारण करने के लिए क्षेत्र के वातावरण और परिस्थितियों की गहन निकट जानकारी अत्यन्त आवश्यक होती है। विद्वानों का यह विचार है कि इन्हीं आवश्यकताओं ने स्थानीय स्वशासन की अवधारणा को जन्म दिया था।

7. स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति का आधार : आधुनिक राज्यों में स्थानीय संस्थाओं का विशेष महत्त्व है क्योंकि किसी भी देश की कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश में स्थानीय स्तर पर कार्य कर रही संस्थाएँ कितनी समर्थ व कुशल हैं। एक स्थिर तथा सुदृढ़ राजनीति पर आधारित प्रजातंत्र का विकास स्वस्थ व कुशल स्थानीय संस्थाओं से होता है। विश्व के अनेक विद्वानों जैसे **जे. एस. मिल., एलेकिड डी. टाकविले, लॉर्ड ब्राइस, एच. जे. लॉस्की, थॉमस जेफरसन, महात्मा गाँधी** व **आचार्य विनोबा भावे** ने इन संस्थाओं की प्रशंसा करते हुए लोकतंत्र के हित में इनके अधिकाधिक विकास व उत्थान का समर्थन किया है। किसी राष्ट्र की प्रगति प्रेम, सौहार्द व परोपकारिता के वातावरण में ही हो सकती है। इन संस्थाओं के द्वारा राष्ट्र के विकास

के लिए इस प्रकार का वातावरण सरलता से तैयार किया जाता है। स्थानीय स्वशासन से ही वास्तविक लोकतंत्र का स्वप्न साकार हो सकता है। **डी. टाकविले** ने कहा है, "नागरिकों की स्थानीय सभाएं स्वतंत्र राष्ट्रों की वास्तविक शक्ति है।" नगर सभाएं स्वतंत्रता के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी कि प्राथमिक पाठशालाएं विज्ञान के लिए। वे स्वतंत्रता को लोगों तक पहुँचाती हैं, वे उनको सिखाती हैं कि स्वतंत्रता का आनन्द किस प्रकार उठाया जाए। एक राष्ट्र भले ही स्वतंत्र सरकार की पद्धति को स्थापित कर ले परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना इसमें स्वतंत्रता की भावना नहीं आ सकती है। स्थानीय सरकार को स्वतंत्रता की भावना जनता तक पहुँचाने का साधन माना गया है तथा कहा गया है कि ये संस्थाएँ स्वतंत्रता की भावना जनता में अधिक उत्पन्न कर सकती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन संस्थाओं के बिना देश स्वतंत्र नहीं हो सकता अपितु स्वतंत्रता को स्थायी बनाने में स्वायत्त शासन का महत्त्व रेखांकित किया गया है।

8. सकारात्मक राज्य का मूर्त रूप : आधुनिक युग में सेवाभावी राज्य होना, सकारात्मक राज्य का रूप माना जाता है जिसका प्राथमिक लक्ष्य अपने निवासियों का अधिकतम कल्याण और सेवा करना होता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक अपनी सेवा को पहुँचाने के लिए यह सकारात्मक राज्य स्थानीय संस्थाओं का सहयोग लेता है। शिक्षा तथा सफाई ऐसे विषय हैं जिन पर किसी भी देश और भावी पीढ़ी का निर्माण निर्भर करता है। वस्तुतः इन दोनों ही दायित्वों का निष्पादन स्थानीय निकायों द्वारा किया जाता है।

9. विकेन्द्रीकरण का साधन : भारत में स्थानीय शासन की संस्थाओं के विकास के पूर्व शासन का सम्पूर्ण भार केन्द्रीय सरकार द्वारा निभाया जाता था किन्तु शासन के सभी लाभ नागरिकों तक पहुँचाने के लिए राजनैतिक और प्रशासनिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाना अभीष्ट होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति स्थानीय संस्थाओं का जाल बिछाकर की जाती है। पंचायती राज की समस्त संस्थाओं को इसीलिए प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का पर्याय और आधार माना जाता है। विद्वान **हक्सले** मानते हैं कि एक अच्छे समाज के निर्माण के लिए स्वायत्त शासन संस्थाओं में विकेन्द्रीकरण को साकार करना होता है। इस विकेन्द्रीकरण में राजनैतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वयं **महात्मा गाँधी** भी चाहते थे कि गाँव के स्तर पर अधिक से अधिक कार्य और अधिकांश निर्णय ग्रामवासियों द्वारा ही लिए जाने चाहियें। उनका मानना था कि स्थानीय स्तर पर किए गए कार्य चूंकि वहाँ के नागरिकों द्वारा किए जाते हैं इसीलिए वे शीघ्र, सही और मितव्ययता के साथ होंगे। इन संस्थाओं में कार्य करने वाले प्रतिनिधियों को चूंकि कोई वेतन प्रदान नहीं किया जाता और वे समाज सेवा की भावना से ही कार्य करते हैं अतः स्थानीय सरकार की इन संस्थाओं को, **महात्मा गाँधी** ने, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अध्ययन की प्रयोगशाला भी कहा है।

10. सभ्यता एवं संस्कृति की पोषक : स्थानीय संस्थाओं को देश की संस्कृतियों का रक्षक माना जाता है क्योंकि ये संस्थाएँ सदियों से ही प्रेम भाव उत्पन्न करती रही हैं तथा पृथक्–पृथक् स्थानों की विशेषताओं को बनाए रखने में इनका बड़ा योगदान रहा है। संस्कृति की धरोहरों को प्राचीन काल से इन संस्थाओं ने बनाए रखने का कार्य किया

है। व्यक्तियों में एक–दूसरे से सद्व्यवहार करने की भावना का विस्तार किया है। इन संस्थाओं के द्वारा नागरिकों में कर्तव्य और उत्तरदायित्वों के पालन की भावना उत्पन्न होती है। **ब्राइस** ने कहा है "जो भी ग्राम के मामलों में ईमानदारी, सक्रियता और सार्वजनिक भावना सीख लेता है, उसने अपने महान् देश के नागरिक के कर्तव्य का पहला पाठ सीख लिया है।" **ब्राइस** ने आगे कहा है कि "स्थानीय संस्थाएं व्यक्तियों को न केवल सार्वजनिक हितों की शिक्षा देती हैं, अपितु दूसरों के साथ प्रभावशाली ढंग से काम करने का प्रशिक्षण भी देती हैं।" इन संस्थाओं के द्वारा नागरिकों में बुद्धि, औचित्य, न्याय और सामाजिक भावना उत्पन्न होती है, जो लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है।

11. स्थानीय सूचना केन्द्र : स्थानीय संस्थाएँ राज्य सरकारों को तथा केन्द्र सरकार को समस्त ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों की जनता से संबंधित आवश्यक आंकड़े प्रदान करती हैं। जनसंख्या, आय, पुरुष–महिला, शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि, उत्पादन, खपत इत्यादि कितनी ही बातों के सही आंकड़े जानने के लिए राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को निर्देश देती हैं। चूंकि स्थानीय सरकार में नियुक्त व्यक्ति वहीं के निवासी होते हैं व उनके द्वारा प्रयुक्त साधन भी स्थानीय होते हैं इसलिए उनसे कोई तथ्य छिपा नहीं रहता और वे सही आंकड़े तैयार करने में समर्थ तथा सक्षम सिद्ध होते हैं। इन आंकड़ों के आधार पर राज्य व केन्द्र सरकार अपनी नीतियाँ निर्धारित करती हैं, तथा योजना आयोग वृहत् योजनाएं तथा कार्यक्रम तैयार करता है जिसमें समस्त राष्ट्र का हित निहित होता है। इन नीतियों तथा योजनाओं को सफल बनाने में स्थानीय संस्थाओं का अत्यधिक योगदान रहता है।

इससे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार स्थानीय संस्थाएँ राष्ट्रीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं और योजनाओं को और अधिक व्यावहारिक रूप देकर राष्ट्र के उत्थान व विकास में अग्रणी बन सकती हैं।

12. योजना और स्थानीय सरकार : किसी भी देश का यदि उत्थान करना हो तो वहाँ की योजनाएं बड़ी–बड़ी जगहों के अलावा स्थानीय स्तर तथा स्थानीय विकास के लिए उसी के अनुकूल बनाई जानी चाहिए। सामुदायिक विकास योजना, राष्ट्रीय वृद्धि दर, स्थानीय प्रगति, कृषि, सिंचाई, रोजगार, श्रम इत्यादि योजनाओं को सफल बनाने के लिए जनता का सहयोग परमावश्यक है, और जन सहयोग तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि वहाँ स्वायत्त संस्थाएँ उपस्थित न हों तथा विशुद्ध रूप से नेतृत्व प्रदान करने के लिए सक्षम भी हों। प्रत्येक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए स्थानीय सरकार के सहयोग तथा जनता से उनका समन्वय होना वांछनीय रहता है। योजना आयोग ने बार–बार इस सन्दर्भ में केन्द्रीय व राज्य सरकारों का ध्यान आकर्षित किया है कि बिना स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं के प्रयत्न के कोई भी योजना वास्तविकता ग्रहण नहीं कर सकती। अब जिला नियोजन की अवधारणा तथा जिला नियोजन समितियों के माध्यम से यह लक्ष्य पूरा किया जा रहा है।

13. नौकरशाही के दोषों से बचाव : स्थानीय संस्थाओं के स्वतंत्र रूप से कार्य करने से नौकरशाही के दोषों का निवारण होता है। प्रायः केन्द्रीय और राज्य सरकारों के

सरकारी तंत्र में नौकरशाही की बुराइयाँ समाविष्ट हो जाती हैं। इनका प्रशासन–तंत्र लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अकार्यकुशलता, औपचारिकता और नियमों पर अत्यधिक बल देने के कारण कुछ–कुछ निर्दयी सा आचरण करने लगता है। यह प्रशाासन–तंत्र अपने हाथों में अधिकाधिक शक्तियों का संचय कर लेता है जिससे जनता को दैनिक जीवन में अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। स्थानीय संस्थाओं का संचालन चूंकि स्थानीय रूप से जागृत प्रतिनिधियों द्वारा होता है इसलिए इनके कार्य संचालन में नौकरशाही की बुराइयों से बचा जा सकता है।

इस प्रकार स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ न केवल आधुनिक नागरिक जीवन के लिए अपरिहार्य बन गई हैं अपितु ये प्रजातंत्र की निर्वाहक भी हो गई हैं। विद्वानों के इस मत में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि स्थानीय संस्थाओं के बिना न तो लोकतंत्र के आदर्शों को साकार किया जा सकता है और न ही किसी स्थायी प्रजातांत्रिक राज्य का, इनके बिना, विकास संभव है। आधुनिकतम अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि समस्त विकास योजनाओं के लक्ष्यों की क्रियान्विति और सफलता नागरिकों की अधिकतम सहभागिता पर निर्भर करती है, जो स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से स्वाभाविक रूप से प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि स्थानीय संस्थाओं के विरोधी विचारकों द्वारा अनेक बार यह तर्क रखा गया है कि लोकतंत्र के भविष्य और स्थानीय संस्थाओं में परस्पर कोई संबंध नहीं है। उनका यह भी कहना है कि जिन देशों में स्थानीय संस्थाएँ नहीं हैं, लोकतंत्र वहाँ भी चल रहा है। किन्तु यहाँ उसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि किसी भी लोकतंत्र की उपस्थिति और उसकी सफलता में अन्तर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थानीय संस्थाओं के बिना लोकतंत्र चल सकता है किन्तु लोकतंत्र अपने पूर्ण विशुद्ध स्वरूप में केवल तभी साकार हो सकता है जब वह समस्त नागरिकों को शासन में सहभागिता प्रदान करे और यह लक्ष्य स्थानीय संस्थाओं के द्वारा सरलता से पूरा किया जा सकता है। **लार्ड ब्राइस** का यह कहना सही है कि स्थानीय संस्थाएँ नागरिकों में उनके सामान्य कार्यों के सन्दर्भ में एक सामान्य रुचि उत्पन्न कर देती हैं जिससे नागरिकों में परस्पर सौहार्द्र, मेलमिलाप, सामाजिकता, न्यायप्रियता और सामान्य कार्यों के प्रति सामान्य समझ जैसे गुणों का विकास अपने आप हो जाता है। इसलिए आधुनिक विशाल राज्यों में नागरिकों की सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्रिय स्थानीय संस्थाओं की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

सन्दर्भ

1. एस. आर. माहेश्वरी, **भारत में स्थानीय शासन**, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1998, पृ. 3–4
2. वी. एम. सिन्हा, **भारत में नगरीय सरकारें**, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1986, पृ. 1
3. भारत का संविधान, राज्य अनुसूची की पांचवी प्रविष्टि.

4. **एन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका**
5. बी. वेंकटराव, **ए हन्ड्रेड ईयर्स ऑफ लोकल गवर्नमेन्ट इन आसाम**, बनि प्रकाश मण्डल, गौहाटी, 1965, पृ. 1
6. एम. वेंकटरमैया तथा एम. पट्टाभिराम
7. एम. ए. मुतालिब एवं खान, **थ्योरी ऑफ लोकल गवर्नमेन्ट**, नई दिल्ली, स्टर्लिंग, 1983, पृ. 3
8. **ओन्ली द वियरर नोज व्हेयर द शू पिंचेज।**

2

भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं का विकास

भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ अतीत काल से चली आ रही हैं फिर भी नगरीय एवं ग्रामीण दोनों ही प्रकार की स्थानीय संस्थाओं का व्यवस्थित आरम्भ 19वीं शताब्दी से माना जाता है। इन संस्थाओं के विकास के अंकुर, विद्वानों ने मानव मन की प्रकृति में निहित माने हैं। स्थानीय सरकार को मानव की मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक आवश्यकता के रूप में रेखांकित किया गया है। मानव की सदैव यह इच्छा रही है कि जो भी सरकार हो वह उसके स्वयं के द्वारा शासित और अच्छी सरकार होनी चाहिए। मानव प्रकृति से स्वकेन्द्रित होता है। वह कभी यह पसन्द नहीं करता कि उसके सार्वजनिक मामलों का निर्णय कोई और करे। मानव मन की यही इच्छा, अतीत काल से, स्थानीय संस्थाओं के विकास का अन्तर्निहित दर्शन रही है।[1]

पंचायतें, जिन्हें ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की सबसे लोकप्रिय इकाई माना जाता है, बहुत पुरानी संस्थाएँ हैं जो अतीत में अपने आप में स्थानीय शासन की समर्थ इकाइयाँ हुआ करती थीं। प्राचीन काल में इसी पंचायत व्यवस्था के कारण प्रत्येक ग्रामीण समाज अपने आप में एक छोटा सा राज्य था और इसने भारत की जनता को एकता के सूत्र में बहुत अच्छी तरह आबद्ध कर रखा था।

प्राचीन भारत में नगरीय प्रशासन के विद्यमान होने का उल्लेख भी मिलता है। मैगस्थनीज ने ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी के भारत के एक नगर के शासन का अपने विवरण में उल्लेख किया है। उस विवरण से पता चलता है कि प्राचीन काल के नगरीय शासन को 5–5 सदस्यों की 6 समितियों में विभाजित किया हुआ था। प्रथम समिति के सदस्य प्राचीन औद्योगिक हस्तकलाओं से सम्बन्धित बातों के लिए उत्तरदायी थे। दूसरी समिति के सदस्यों को अपने क्षेत्र में आने वाले विदेशियों के स्वागत–सत्कार का कार्य दिया हुआ था। तीसरी समिति के सदस्य जन्म और मृत्यु के अभिलेख को रखने के लिए उत्तरदायी थे। चौथी समिति व्यापार और वाणिज्य का निरीक्षण करती

थी। इस समिति के लोग उचित बाट और माप सुनिश्चित करते थे। पांचवी समिति निर्मित वस्तुओं का निरीक्षण करती थी तथा छठी समिति बिक्री की हुई वस्तुओं के मूल्य का दसवां भाग बिक्री कर के रूप में वसूल करती थी।[2]

इससे यह विदित होता है कि प्राचीन भारत में आज की भांति ही स्थानीय शासन को नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में विभाजित किया हुआ था। दोनों ही तरह की स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था पृथक्–पृथक् रूप में संचालित की जाती थी। वैदिक युग में, जब नगरों का कोई विशेष स्थान नहीं था, ग्रामीण शासन अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। गाँव की पंचायतें जो गाँव के लोगों द्वारा संगठित होती थीं, प्रशासकीय और न्यायिक कार्यों का निष्पादन करती थीं। **मनुस्मृति** में भी राजा और गाँव के बीच संबंधों की चर्चा मिलती है और **कौटिल्य** के अर्थशास्त्र से यह प्रमाणित होता है कि राज्य ग्रामीण जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करता था। मौर्यकाल में शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रान्तों को निम्नांकित प्रकार से विभाजित किया हुआ था :

1. जनपद
2. स्थानिक
3. द्रोणमुख
4. स्वार्वटिक
5. संग्रम
6. ग्राम

जनपद अथवा जिले का मुखिया स्थानिक कहलाता था और ग्राम क अधिकारी ग्राम़िक के नाम से जाना जाता था। पाँच या दस ग्रामों का अधिकारी गो कहलाता था। मौर्य काल में चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वायत्त शासन प्रणाली प्रचलित क शासन के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई थी। इस काल में नगर का सबसे ब पदाधिकारी नागरिक कहलाता था। यह "नागरिक" गोप और स्थानिकों की सहायता नगर का प्रशासन चलाता था। मौर्यकाल के पश्चात् गुप्त–युग में भी स्थानीय शास की रूपरेखा मौर्यकाल जैसी ही प्रचलित रही। इसके पश्चात् राजपूतों के काल ग्राम–पंचायतों का महत्त्व कुछ कम हो गया। राजपूतकालीन सामन्त न केवल स्थानी शासन को ही कम महत्त्व देते थे अपितु वे केन्द्रीय शासन से नियंत्रण मुक्त होने प्रयत्न भी करते रहते थे।

भारतीय शासन के **मुग़लकालीन इतिहास** के पन्नों को पलटने से यह प्र होता है, कि इस काल में भी देश में स्थानीय शासन विद्यमान था। मुग़लकाल में न का प्रशासन जिस अधिकारी के द्वारा चलाया जाता था वह कोतवाल कहलाता था। कोतवाल पुलिस संबंधी मामलों, दंड व्यवस्था तथा वित्तीय मामलों में सर्वोपरि रखता था। क्षेत्र में शांति और व्यवस्था बनाए रखना, अपराधों का पता लग सामाजिक कुरीतियों को मिटाना और इसी तरह के स्थानीय मामलों के निष्पाद लिए वह उत्तरदायी था। ग्रामीण स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में इस काल में 'गाँव' श

की सबसे छोटी इकाई था जिनका प्रबन्ध पंचायतें करती थीं। गाँव के तीन महत्त्वपूर्ण अधिकारियों में मुकद्दम गाँव की देखभाल करता था, चौधरी पंचायतों की सहायता से झगड़े सुलझाता था और पटवारी राजस्व वसूली करता था। प्रत्येक गाँव में सुरक्षा की दृष्टि से एक चौकीदार भी होता था।

इस काल में स्थानीय प्रशासन के विषय में **अबुल फजल** कृत **आईन-ए-अकबरी** में विवरण मिलता है। आईन–ए–अकबरी में नगरीय जीवन और उसके अधिकारियों के विषय में यह कहा गया है कि कोतवाल के पद पर नियुक्त होने वाले अधिकारी को अनुभवी, कुशल, विचारवान और चतुर होना चाहिए। वह इतना सजग होना चाहिए कि सुनागरिक शांति और सुरक्षा का अनुभव करें और दुष्ट लोग अशांति का। उसे चाहिए कि कस्बों में मोहल्ला टोली का गठन करे जिसे मोहल्ले में परस्पर सौहार्द्र बनाए रखने का उत्तरदायित्व दिया जाए। अपने गुप्तचरों के माध्यम से हर तरह की घटना का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करे। आईन–ए–अकबरी में तत्कालीन नगरीय प्रशासन और उसके पदाधिकारियों से जो अपेक्षाएं की गई हैं उनसे यह प्रकट होता है कि जितने भी घटनाक्रम उस समय हुआ करते थे उन सब के नियमन का दायित्व, शांतिमय नागरिक जीवन की दृष्टि से नगरीय प्रशासन और उसके अधिकारियों पर छोड़ा गया था।

ब्रिटिशकालीन स्थानीय शासन के विषय में अच्छा विवरण उपलब्ध होता है। विद्वानों का ऐसा मत है कि यद्यपि स्थानीय शासन भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है तथापि संगठन और कार्यप्रणाली की दृष्टि से उसका व्यवस्थित प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही हुआ था। स्थानीय शासन की इकाइयों को निर्वाचित स्वरूप देना, उसे करारोपण की विस्तृत शक्तियाँ देना और प्रजातंत्र की पाठशाला के रूप में विकसित करने का कार्य ब्रिटिश काल में ही हुआ है। इस काल में विकसित स्थानीय शासन व्यवस्था पर कुछ पश्चिमी प्रभाव भी पड़ा है। ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की इकाइयों की अपेक्षा इस काल में नगरीय स्थानीय प्रशासन की संस्थाओं के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया था। स्थानीय शासन का इस काल में आरम्भ सन् 1687 से माना जा सकता है जब मद्रास में नगर निगम की स्थापना की गई। इस तरह ब्रिटिश काल में विकसित हुआ स्थानीय शासन, आज से लगभग 300 वर्ष पुराना है। **ब्रिटिश काल व इसके पश्चात्** विकसित स्थानीय शासन के ढांचे को मुख्य रूप से छः कालों में विभाजित किया गया है :

1. **प्रथम काल (1687 से लेकर 1881 तक) :** इस कालावधि में स्थानीय संस्थाओं को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बजट पर दबाव कम करने का साधन माना गया।
2. **द्वितीय काल (1882 से 1919 तक) :** इस काल में स्थानीय शासन को स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया गया।
3. **तृतीय काल (1919 से 1935 तक) :** इस काल में स्थानीय संस्थाएँ कमजोर हुईं।

4. **चतुर्थ काल (1935 से 1950 तक) :** इसे स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं के सुधार और प्रशासकीय कार्यक्षमता बढ़ाने का काल माना गया है।
5. **पंचम काल (1950 से 1992 तक) :** इस काल में स्थानीय शासन को संविधान की आवश्यकताओं और उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति का साधन माना जाता रहा है।
6. **षष्ठ काल (1993 से अब तक) :** इस काल में स्थानीय संस्थाओं को संवैधानिक आधार प्राप्त हुआ तथा स्थानीय स्तर पर लोकतंत्र मजबूती की ओर बढ़ा।

प्रथम काल (1687–1881)

ब्रिटिश भारत की इस प्रथम अवधि में 1687 में अंग्रेजों के द्वारा मद्रास नगर निगम की स्थापना की गई थी, जिसे स्वायत्त शासन का श्रीगणेश माना जाता है। इस काल में मुम्बई और कोलकाता में नगरपालिका की स्थापना की गई। 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत प्रेसीडेन्सी नगरों में जस्टिस ऑफ पीस की नियुक्तियां की गईं, जिन्हें नगर की सफाई व स्वास्थ्य की देखभाल का उत्तरदायित्व दिया गया था। 1793 के चार्टर एक्ट के माध्यम से इन प्रेसीडेन्सी शहरों में नगरीय प्रशासन स्थापित करने की शक्तियाँ गवर्नर जनरल को दी गई थीं।

सन् 1840 और 1850 के मध्य प्रेसीडेन्सी शहरों में नगरीय स्थानीय प्रशासन के संगठन और कार्यों का विस्तार ही नहीं किया गया अपितु कुछ सीमा तक निर्वाचन का सिद्धांत इन संस्थाओं के लिए अपनाया गया। यद्यपि यह प्रारम्भिक प्रयोग सफल नहीं रहा, इस कारण सन् 1856 के अधिनियम द्वारा नगरीय संस्थाओं के संगठन को प्रतिबन्धित किया गया और समस्त शक्तियाँ कमिश्नर में निहित कर दी गईं। कालान्तर में 1867 में मद्रास नगर निगम में 32 सदस्यों की व्यवस्था की गई जो मनोनीत किए जाते थे। सदस्यों के मनोनयन के लिए नगर को 8 वार्डों में बाँट दिया गया था। निगम का अध्यक्ष भी मनोनीत किया जाता था। इस प्रकार कोलकाता में 1863 में एक अधिनियम बनाकर नगर निगम की स्थापना की गई। कोलकाता नगर में 72 सदस्यों की व्यवस्था की गई थी जिसके दो–तिहाई सदस्य कोलकाता के निवासियों द्वारा निर्वाचित किए जाते थे और शेष एक–तिहाई सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते थे। निगम की कार्यकारिणी की शक्ति अध्यक्ष में निहित की गई जिसे सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता था। बम्बई नगर निगम में भी सन् 1865 के अधिनियम के अनुसार सम्पूर्ण कार्यकारिणी की शक्तियाँ एक मनोनीत कमिश्नर के हाथ में केन्द्रित कर दी गई थी। इस कमिश्नर के अतिरिक्त अधिनियम में शांति हेतु न्यायमूर्ति की व्यवस्था भी की गई थी। 1872 में बम्बई के लिए एक नया अधिनियम बनाया गया जिसके अन्तर्गत निर्वाचित अध्यक्ष की व्यवस्था की गई, आधे निर्वाचित सदस्यों का प्रावधान किया गया तथा निगम को प्रशासन संबंधी नीति निर्धारण करने, बजट पास करने और प्रशासन पर नियंत्रण

रखने तथा आलोचना करने का अधिकार भी दिया गया।

प्रेसीडेन्सी शहरों के अतिरिक्त अन्य शहरों में नगरीय प्रशासन का प्रारम्भ पहरेदारी की व्यवस्था से हुआ है। सन् 1814 में समस्त बड़े नगरों में वार्ड समितियों का गठन किया गया जिसमें समस्त मकान मालिकों को सदस्य बनाया जाता था। इन समितियों को यह उत्तरदायित्व दिया गया था कि वे चौकीदार के वेतन के लिए कर के माध्यम से धन इकट्ठा करें। बाद में यह व्यवस्था की गई कि यदि चौकीदार के वेतन के लिए एकत्रित धन राशि में से कुछ धन बच जाए तो उसे नगर के विकास पर खर्च किया जा सकता है।[3] बंगाल पीपुल एक्ट, 1842 के माध्यम से कई नगरों में नगरीय प्रशासन की स्थापना की गई। 1870 में स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास में एक महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इस वर्ष लार्ड मेयो के विकेन्द्रीकरण के प्रस्ताव में यह बल दिया गया कि भारतीयों को प्रशासनिक कार्यों में अधिकतम सहभागिता देने की दृष्टि से नगरीय स्थानीय प्रशासन की इकाइयों का विकास किया जाए। **प्रोफेसर श्रीराम माहेश्वरी** ने इस काल में स्थानीय शासन की विशेषताएं इस प्रकार गिनाई हैं:[4]

1. ब्रिटिश भारत के इस प्रथम काल में स्थानीय शासन की इकाइयों की स्थापना प्रमुख रूप से ब्रिटिश हितों के संवर्धन के लिए की गई थी न कि देश में स्वायत्त शासन के विकास के लिए;
2. इस काल में स्थानीय शासन की इकाइयाँ ब्रिटिश मनोनीत अधिकारियों के वर्चस्व में रहीं, इनके कार्यकरण से भारतीय जनता अधिक नहीं जुड़ पाई;
3. इस काल में स्थानीय संस्थाओं की रचना का प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश खजाने को राहत पहुँचाना था; तथा
4. स्थानीय निकायों के संगठन में कुछ अपवादों को छोड़कर जनता द्वारा प्रतिनिधियों के निर्वाचन की व्यवस्था को नहीं अपनाया गया, अधिकतर सदस्य सरकार द्वारा ही मनोनीत किए जाते थे।

द्वितीय काल (1882-1919)

सन् 1881 में स्थानीय स्वायत्त शासन संबंधी पूर्ववर्ती नीतियों की समीक्षा की गई। यह अनुभव किया गया कि देश के विभिन्न भागों में नगरपालिकाओं की संख्या और उनकी उपयोगिता में वृद्धि होने के उपरान्त भी इन संस्थाओं का सम्पूर्ण देश में एक जैसा विकास नहीं हुआ है। 1882 में लॉर्ड रिपन ने स्वायत्त शासन संस्थाओं के विकास का एक प्रस्ताव तैयार किया। लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव का उद्देश्य राजनीतिक और सार्वजनिक शिक्षा की प्रगति और विस्तार करना बताया गया। यह भी घोषित किया गया कि इस प्रस्ताव के माध्यम से बुद्धिमान लोगों को स्थानीय शासन के कार्य में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। लॉर्ड रिपन के इस प्रस्ताव को स्थानीय स्वायत्त शासन का **मेग्नाकार्टा** भी कहा गया।

लार्ड रिपन का यह विचार था कि शिक्षा के प्रसार तथा प्रशासन में भाग लेने हेतु शिक्षित भारतीयों की इच्छा को देखते हुए यह अपरिहार्य है कि उन्हें प्रशासन में भाग लेने का समुचित अवसर मिले। इस उद्देश्य से प्रेरित उनके इस प्रस्ताव की निम्नांकित विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है :

1. प्रान्तीय सरकारें स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं को उनके संवर्धन के लिए अधिक धन राशि उपलब्ध कराएं;
2. प्रान्तों में स्थानीय स्वायत्त शासन का विकास किया जाए जिससे जनता को राजनीतिक शिक्षा मिल सके। स्वायत्त शासन के विकास के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएं और वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नए कानून बनाए जाएं;
3. नगरीय और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों की संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा जाए;
4. इन संस्थाओं को समुचित वित्तीय स्वायत्तता दी जाए, जिसमें न केवल उन्हें अपना बजट स्वतंत्र रूप से बनाने का अधिकार हो अपितु करारोपण के कुछ अधिकार भी दिए जाएं;
5. प्रान्तीय सरकारें स्थानीय संस्थाओं पर एक अधिनायक की तरह नियंत्रण न करें अपितु यह नियंत्रण सुधारात्मक होना चाहिए;
6. लॉर्ड रिपन का यह भी विचार था कि स्थानीय संस्थाओं को दायित्व दे दिए जाने से जिला प्रशासन तथा सरकारी विभागों का कार्यभार कम हो जाएगा, साथ ही भारतीय समाज के पढ़े–लिखे प्रबुद्ध वर्ग के लोगों को प्रशासन में भाग लेने का अवसर भी सुलभ हो सकेगा; और
7. जहाँ तक संभव हो नगरपालिका का अध्यक्ष गैर सरकारी लोगों में से ही चुना जाए, जिलाधीश को इसका अध्यक्ष न बनाया जाए।

लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव को कुछ विद्वानों ने एक युगान्तरकारी प्रस्ताव माना है। इसी प्रस्ताव के कारण लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का जनक माना जाता है। यद्यपि 1882 के पूर्व भी भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ कार्यशील थीं किन्तु न तो उन्हें पर्याप्त स्वायत्तता थी और न ही उन्हें वित्तीय साधन प्रदान किए गए थे। लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव को तत्कालीन नौकरशाही ने सुरुचिपूर्ण नहीं पाया। नौकरशाही के इस विरोध के कारण यह प्रस्ताव उस रूप में क्रियान्वित नहीं हो सका जिस रूप में लार्ड रिपन इसे क्रियान्वित कराना चाहते थे। प्रथमतः लार्ड रिपन की भावनाओं के अनुरूप अधिनियम ही नहीं बनाया गया और द्वितीयतः जिलाधीश और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों ने भी स्थानीय शासन को क्रियान्वित करते समय रिपन की भावनाओं को अधिक महत्त्व नहीं दिया। निर्वाचन का सिद्धांत लागू तो किया गया पर मताधिकार कुछ ही लोगों को दिया गया। नगरपालिका का अध्यक्ष सरकारी अधिकारियों में से ही बनाया जाता रहा। इन संस्थाओं को पर्याप्त वित्तीय स्वतंत्रता भी प्रदान नहीं की

गई। इस तरह लॉर्ड रिपन के प्रस्ताव में घोषित उद्देश्यों की प्राप्ति नौकरशाही के अन्तर्निहित विरोध के कारण नहीं हो सकी। जनसाधारण की राजनीतिक शिक्षा का उद्देश्य भी पृष्ठभूमि में ही रह गया।

इस काल में स्वायत्त शासन के विकास में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना सन् 1909 में विकेन्द्रीकरण पर **रॉयल कमीशन** के प्रतिवेदन के प्रकाशन की हुई। रॉयल कमीशन की नियुक्ति सन् 1907 में भारत में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के विकास के अध्ययन के लिए की गई थी। आयोग का यह निष्कर्ष था कि स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ सफल नहीं हो रही हैं। इस असफलता का कारण निर्वाचन का अभाव, वित्तीय स्वायत्तता की कमी तथा इन संस्थाओं के कर्मचारियों पर नियंत्रण का शैथिल्य था। इस आयोग ने स्थानीय स्वायत्त शासन को सशक्त बनाने के लिए अपने कुछ सुझाव दिए :

1. नगरीय क्षेत्रों में नगरपालिकाओं की स्थापना की जानी चाहिए;
2. प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत की स्थापना की जानी चाहिए;
3. नगरपालिकाओं के अधिकतर सदस्यों का निर्वाचन होना चाहिए और निर्वाचित सदस्यों को अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए;
4. नगरपालिकाओं को वित्तीय रूप से सक्षम बनाने के लिए बजट का निर्माण और करारोपण की शक्तियाँ दी जानी चाहिए;
5. स्थानीय स्वायत्त शासन की समस्त संस्थाओं को अपने कर्मचारियों पर नियंत्रण के पूर्ण अधिकार होने चाहिए;
6. सरकार का नियंत्रण इन संस्थाओं के लिए परामर्शकारी और सकारात्मक होना चाहिए तथा यह नियंत्रण लेखा परीक्षा तक ही सीमित होना चाहिए;
7. प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं पर होना चाहिए; और
8. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों का पृथक् निर्वाचन न होकर, उनके मनोनयन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

भारत सरकार ने 1909 के **रॉयल कमीशन** के प्रतिवेदन पर कोई निर्णय नहीं लिया। 1915 में सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसका भारत की जनता ने कोई विशेष स्वागत नहीं किया। सन् 1917 में ब्रिटिश संसद में **मांटेग्यू** ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की नीति का उद्देश्य भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना है। इस प्रस्ताव के माध्यम से भी भारतवर्ष में स्थानीय शासन के क्षेत्र में कुछ नवीन सुझाव दिए गए। मई, 1918 में भारत सरकार ने इस दिशा में जो प्रस्ताव प्रकाशित किया, मूल रूप से वह पूर्ववर्ती प्रस्तावों के अनुरूप ही था। इस प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया गया कि स्थानीय स्वायत्त शासन के माध्यम से जनता के राजनीतिक प्रशिक्षण पर

अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रस्ताव में निर्वाचक मंडल का विस्तार करना, गैर–सरकारी सदस्यों को अध्यक्ष बनाना, अनावश्यक नियंत्रण को कम करना, नगरीय सीमा में करारोपण के अधिकार देना, अपना बजट बनाने की स्वतंत्रता और गैर कर्मचारियों पर सेवा संबंधी समग्र नियंत्रण की व्यवस्था को पुनः घोषित किया गया था।

तृतीय काल (1919–1935)

इस काल में स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त शासन का विभाग, प्रान्तीय सरकारों के निर्वाचित मंत्रियों को हस्तान्तरित विभागों में सम्मिलित कर लिया गया। इसका प्रशासन अब निर्वाचित मंत्रियों के अधीन आ जाने से उत्तरदायी बना दिया गया। इस परिवर्तन ने स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में एक नवीन उत्साह उत्पन्न कर दिया था। उक्त अधिनियम के लागू होने से स्थानीय स्वशासन का विषय भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त होकर पूर्ण रूप से प्रान्तीय सरकारों की अधिकार सीमा में आ गया। इस स्थिति का एक परिणाम यह हुआ कि स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्रों में जो एकरूपता अब तक पाई जाती थी वह अब न रह सकी। प्रत्येक प्रांत इस नवीन स्थिति में पंचायतों, जिला बोर्डों अथवा नगर पालिकाओं के लिए पृथक् अधिनियम बनाने को स्वतंत्र था। इस काल में विभिन्न प्रांतों द्वारा जो अधिनियम बनाए गए उनमें मुख्य रूप से निम्नांकित व्यवस्था की गई थी।

1. स्थानीय संस्थाओं का गठन प्रायः पूर्ण रूप से निर्वाचन के आधार पर किया गया। इन निर्वाचनों के लिए निर्वाचक मण्डल का विस्तार भी किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रशासकीय शक्ति जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों के हाथों में आ गई;
2. स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं के अध्यक्ष पद पर गैर सरकारी सदस्य को प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था की गई;
3. स्थानीय संस्थाओं को अधिक प्रशासकीय शक्तियाँ देने का वातावरण तैयार हुआ; तथा
4. स्थानीय स्वायत्त शासन की, ग्रामीण और नगरीय दोनों प्रकार की संस्थाओं को बजट निर्माण के क्षेत्र में पहले से अधिक शक्तियाँ दी गई।

किन्तु इस स्थिति के पश्चात् भी विभिन्न कारणोंवश स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी। स्वायत्त शासन का विषय यद्यपि लोकप्रिय मंत्री को दिया गया किन्तु इन संस्थाओं को पर्याप्त धन सुलभ नहीं हो सका, क्योंकि द्वैध शासन के अंतर्गत वित्त पर उन मंत्रियों का कोई अधिकार नहीं था। समय की गति के साथ ही साथ स्थानीय स्वशासन के दायित्वों में तो वृद्धि हो गई किन्तु इन बढ़े हुए दायित्वों के निष्पादन के लिए वांछित आय के साधनों में वृद्धि न हो सकी। राजनैतिक हस्तक्षेप भी इन संस्थाओं के विकास में बाधा बना। इस काल में इन संस्थाओं के लोकतंत्रीकरण से उनकी प्रशासकीय कार्य कुशलता के स्तर में एक ओर

जहाँ कमी आई वहीं दलगत भावनाओं के कारण इन संस्थाओं की सामान्य छवि भी अच्छी नहीं बन सकी। स्थानीय संस्थाएँ कर लगाने में असफल रहीं और यहाँ तक कि स्थानीय राजनीति के प्रभाव से साम्प्रदायिक शक्तियाँ भी अवांछित रूप से सक्रिय हो गईं।

इस काल में नगरपालिकाओं के प्रशासन में भ्रष्टाचार और पक्षपात बढ़ गया। द्वैध शासन के कारण, जिलाधीश और उसके कर्मचारियों का जो सहयोग इन संस्थाओं को पूर्व में मिलता था, अब बंद हो गया। जिलाधीश के नियंत्रण के शिथिल हो जाने के कारण इन संस्थाओं की कार्यकुशलता का स्तर एकदम गिर गया। इस प्रकार प्रान्तीय सरकार का एक हस्तान्तरित विषय बन जाने के पश्चात् भी स्थानीय संस्थाएँ कार्यकुशल और सक्षम प्रशासकीय छवि बनाने में सफल न हो सकीं।

चतुर्थ काल (1935-1950)

1935 के भारत सरकार अधिनियम के पारित होने के पश्चात् प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना हुई। देश में स्वतंत्रता की दिशा में एक शक्तिशाली पहल हुई जिसका स्थानीय संस्थाओं पर एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। स्थानीय संस्थाएँ अब केवल प्रायोगिक संस्थाएँ नहीं रहीं अपितु उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयाँ बनाने की दिशा में प्रयत्न आरम्भ हुआ। इस दिशा में अनुसंधान किया गया कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अकुशल क्यों हैं? सभी प्रान्तों में इन संस्थाओं के अधिक लोकतंत्रीकरण के लिए मताधिकार की आयु सीमा को घटाया गया और इन संस्थाओं में सरकारी मनोनीत सदस्यों की संख्या को भी कम किया गया। नगरपालिकाओं के विचार–विमर्शकारी और कार्यकारी निकायों को पृथक्–पृथक् किया गया। मध्य प्रदेश, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं की समस्याओं पर विचार करने तथा उनमें सुधार के लिए सुझाव देने हेतु समितियाँ नियुक्त की गईं। इस काल में चेन्नई में 1930 और 1933 में दो महत्त्वपूर्ण अधिनियम बनाए गए। जिला बोर्डों के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया तथा जिलाधीश को जिलाबोर्ड का प्रमुख कार्याधिकारी नियुक्त किया गया। ऐसा कर दिए जाने से जिला बोर्ड मात्र परामर्शदात्री संस्था न रहकर एक प्रमुख प्रशासकीय संस्था बन गए।

बम्बई, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में जो समितियाँ इन संस्थाओं की समीक्षा के लिए नियुक्त की गई थीं उनके प्रतिवेदन यद्यपि स्वतंत्रता के पूर्व ही प्राप्त हो गए किन्तु उनकी अनुशंसाओं पर स्वतंत्रता के पश्चात् ही ध्यान दिया जा सका। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्थानीय स्वायत्त शासन के उत्साह में एक नये अध्याय का शुभारम्भ हुआ। विदेशी शासन की अधीनता में काम करने वाली संस्थाएँ अब स्वाधीन राष्ट्र की संस्थाएँ बन गईं। 1948 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री की पहल पर राज्यों के स्वायत्त शासन मंत्रियों का एक सम्मेलन राजधानी में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री अमृत कौर ने कहा कि मेरा विश्वास है कि इस प्रकार का सम्मेलन इसके पूर्व नहीं बुलाया जा सका क्योंकि स्थानीय स्वायत्त शासन पूर्णतया प्रान्तीय सरकारों की अधिकार सीमा में आता था।[5] सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "स्थानीय

स्वायत्त शासन किसी भी सच्ची प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आधार है और होना चाहिए। हम लोगों की आदत हो गई है कि हम प्रजातंत्र को प्रशासन के ऊंचे स्तरों पर ही सोचते हैं, नीचे के स्तरों पर नहीं। जब तक प्रजातंत्र का नीचे की इन आधारशिलाओं पर निर्माण और विकास नहीं किया जाता, तब तक वह उच्च स्तरों पर कदापि सफल नहीं हो सकता।"[6]

इस काल में स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में उभरी प्रमुख प्रवृत्तियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है :

1. मद्रास और बिहार में सदस्यों के मनोनयन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया;
2. नगरपालिकाओं और पंचायतों के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया;
3. उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार का नियम लागू किया गया और अन्य प्रदेशों में भी इन संस्थाओं के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार लोगों को दिया गया;
4. स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को करारोपण के लिए बाध्य करने हेतु प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दिए गए;
5. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्थानीय स्वायत्त शासन को इसका उचित महत्त्व देते हुए प्रजातंत्र की आधारशिला के रूप में मान्यता दी गई;
6. नगरपालिकाओं की विधायी और कार्यकारी शक्तियों का पृथक्करण किया गया; तथा
7. सभी स्थानीय संस्थाओं पर इस काल में जिलाधीश के माध्यम से प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण को स्थापित किया गया।

पंचमकाल (1950 से 1992 तक)

1947 में देश के स्वतंत्र होने के पश्चात् 26 जनवरी, 1950 को भारत में नया संविधान प्रवर्तित हुआ। इस संविधान के अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त शासन को राज्य सूची का विषय घोषित किया गया। संविधान ने स्थानीय शासन के क्षेत्र में अब तक महत्त्वपूर्ण रही नगरीय संस्थाओं के स्थान पर ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं को अधिक महत्त्व प्रदान किया। संविधान निर्माता इस तथ्य से भली–भांति अवगत थे कि चूंकि देश की 80 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है इसलिए ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं के बारे में संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में विशेष चर्चा की गई है। संविधान के इस भाग में कहा गया है कि राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करेगा और उन्हें इस प्रकार की शक्तियाँ देगा कि वे स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में अच्छी प्रकार काम कर सकें।[7]

स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का जो ढाँचा अपनाया गया है उसे मूल रूप से ब्रिटिश शासन की देन या विरासत माना जा सकता है। ब्रिटेन की भांति

यहाँ पर भी स्थानीय स्वशासन को नगरीय एवं ग्रामीण दो भागों में बांटा गया है। दोनों ही प्रकार की इकाइयों का विस्तार से विवरण आगामी अध्यायों में यथा स्थान दिया जाएगा।

नगरीय शासन के क्षेत्र में महानगरों में जहाँ नगर निगम और उनसे छोटे नगरों में प्रायः नगर परिषद् या नगरपालिकाएँ जैसी संस्थाएँ पूर्व की भांति निरन्तर क्रियाशील रहीं वहीं ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र में 1957 में नियुक्त बलवन्त राय मेहता अध्ययन दल के सुझावों के परिणामस्वरूप एक नवीन उत्साहजनक योजना देश में कार्यान्वित की गई। मेहता समिति के सुझावों के अनुसार पंचायतराज की त्रिस्तरीय संरचना के माध्यम से देश में प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में सशक्त कदम उठाया गया है। राजस्थान देश में पहला राज्य था जिसने 2 अक्टूबर, 1959 को पंचायतराज सर्वप्रथम अपनाया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने त्रिस्तरीय पंचायत राज का दीपक राजस्थान के नागौर नगर में प्रज्वलित किया था। इसके पश्चात् देश के अन्य राज्यों में भी पंचायत राज को उत्साहपूर्वक अपनाया गया। देश के बुद्धिजीवी वर्ग ने भी प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण की इस नवीन योजना पर राष्ट्रव्यापी गोष्ठियों का आयोजन किया जिससे विश्वविद्यालयों में इस दिशा में अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान के कार्य को एक नई गति मिली।

पंचायती राज की इस योजना ने स्वतंत्रता के प्रथम दशक में नगरीय स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को एक प्रकार से पृष्ठभूमि में डाल दिया किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नवीन भारत के निर्माण में नगरीय स्थानीय संस्थाओं का योगदान कम है। स्वतंत्रता के प्रथम दशक में ही भारत में औद्योगीकरण का जो वातावरण बना उसने नगरीकरण को बढ़ावा दिया जिससे न केवल नगरों की जनसंख्या तेजी से बढ़ी अपितु नगरों में आवास, सफाई और अन्य प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गई। नगरीकरण की इस प्रवृत्ति ने 1961 के दशक में नगरीय स्थानीय संस्थाओं को एक नया महत्त्व प्रदान किया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में नगरीय संस्थाओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गई कि वे नगरों में स्वायत्त शासन की संस्थाओं को विकसित करने के लिए अपेक्षित साधन एकत्रित करने में न केवल आवश्यक सहायता करेंगी अपितु अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण भी करेंगी। इसके साथ ही शहरों में भूमि के बढ़ते हुए मूल्यों पर नियंत्रण, शहर के विकास के लिए मास्टर प्लान, गृह निर्माण के लिए मानक निर्धारण और नगरीय संस्थाओं को सशक्त बनाने के लिए तथा विकास कार्यक्रम क्रियान्वित करने हेतु भी योजना में इन संस्थाओं को उत्तरदायी बनाया गया।

इस काल में पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा अन्य राज्यों ने नगरपालिकाओं की दशा का अध्ययन कर, उनमें प्रशासकीय सुधारों के लिए सुझाव देने के लिए समिति नियुक्त की। भारत सरकार ने भी इस दिशा में अपनी रुचि प्रदर्शित की। राज्य–सूची का विषय होते हुए भी भारत सरकार ने नगरीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं की समस्याओं के अध्ययन के लिए 1951 में स्थानीय वित्त जाँच समिति, 1963

में नगरपालिका कर्मचारी प्रशिक्षण समिति, 1963 में ही नगरीय स्वायत्त संस्थाओं के वित्तीय विकास के लिए मंत्रियों की समिति, 1966 में ग्रामीण–नगरीय संबंध समिति और 1968 में नगरीय कर्मचारियों की सेवा शर्तों से सम्बन्धित समिति नियुक्त की। इन सभी समितियों ने अपने प्रतिवेदन भारत सरकार को दिए जिनके सारांश से भारत सरकार ने सभी राज्य सरकारों को अवगत करा दिया और यह अवसर प्रदान किया कि अपनी नगरीय स्थानीय संस्थाओं की प्रशासकीय कुशलता बढ़ाने के लिए वे इन सुझावों को अपनी सुविधानुसार क्रियान्वित कर सकती हैं। 1978 में भारत सरकार ने अशोक मेहता की अध्यक्षता में पंचायत राज पर एक उच्चस्तरीय आयोग नियुक्त किया जिसे यह दायित्व दिया गया कि वह देश में पंचायती राज की वर्तमान संरचना का अध्ययन कर यह सुझाए कि इन संस्थाओं को कैसे अधिक सक्षम, कुशल और जनोपयोगी बनाया जा सकता है। अशोक मेहता समिति ने भी एक वर्ष पश्चात् अपना प्रतिवेदन भारत–सरकार को दे दिया किन्तु प्रतिवेदन में अभिशंसा के अनुरूप पंचायती राज के ढांचे में किसी भी राज्य में पूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया, हाँ कर्नाटक राज्य ने उन अभिशंसाओं के अनुरूप अपने पंचायती राज की संरचना में कतिपय परिवर्तन अवश्य किए थे।

स्वतंत्रता के पश्चात् स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं से यह अपेक्षा की गई थी कि राष्ट्रीय प्रशासकीय व्यवस्था का एक नियमित अंग बनकर वे प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण का सशक्त माध्यम बनेंगी और कुशल कार्यकरण के द्वारा वे जनता की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगी। किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् उत्पन्न यह आशा पूर्णतः फलीभूत न हो सकी। स्वायत्त शासन की ये संस्थाएँ चूंकि संविधान की रचना नहीं थी इसलिए राज्य सरकार न तो इनके सामयिक चुनाव के प्रति सचेष्ट रही और न ही इनकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए इन्हें पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध करा सकी। ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही प्रकार की संस्थाएँ प्रजातांत्रिक पद्धति से काम करने की आशा पूरी नहीं कर सकी और राजनीतिक दलबन्दी में फँसकर रह गईं। राजनीतिक दलबन्दी का परिणाम यह हुआ कि निर्वाचित संस्थाओं को समय–असमय निलम्बित कर उन पर प्रशासक नियुक्त कर दिया जाता था। इस काल में इन संस्थाओं की प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है :

1. स्थानीय संस्थाओं का कोई संवैधानिक आधार नहीं था, ये संस्थाएँ प्रारम्भ से राज्य सूची का विषय रही हैं और इस कारण राज्य विधान मंडल ही इनकी रचना के लिए कानून बनाता रहा है;
2. ये संस्थाएँ दो भागों में विभाजित हैं – ग्रामीण और नगरीय;
3. इन संस्थाओं का चुनाव भी वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) के आधार पर होता है;
4. स्वतंत्रता के पश्चात् इस काल में सारे देश में पंचायत राज संस्थाओं का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ है;
5. राज्य सरकारें इन संस्थाओं के सामयिक चुनाव कराने में असफल रहीं।

सभी राज्यों में नगरीय संस्थाओं या पंचायत राज से सम्बन्धित जो अधिनियम पारित किए गए, उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप न तो चुनाव कराये जा सके और न ही उनकी कुशलता विद्यमान रह सकी। इन संस्थाओं का सम्बन्ध राज्य सरकार से पारस्परिक सहयोग का न होकर अधिकारी और अधीनस्थ का हो गया था; तथा

6. इन संस्थाओं में दलबन्दी और गुटबाजी बहुत बढ़ गई थी।

षष्ठ काल (1993 से अब तक)

स्वतंत्र भारत में स्थानीय संस्थाओं के विकास के 1992 तक के काल में इन संस्थाओं के कार्यकरण में अनेक कमियों और न्यूनताओं का अनुभव किया गया। इनमें प्रमुखतः **इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता का अभाव, इनके अनियमित चुनाव, दीर्घ काल तक इन संस्थाओं के अधिक्रमित अर्थात् राज्य सरकारों द्वारा अकारण इन्हें भंग रखे जाने, इनकी दयनीय आर्थिक दशा, इन्हें पर्याप्त शक्तियों व अधिकारों का अभाव, इन संस्थाओं के चुनावों के आयोजन के लिए प्रभावी संरचना के अभाव तथा इन संस्थाओं में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति और महिलाओं को अपर्याप्त प्रतिनिधित्व आदि** ऐसी प्रमुख स्थितियां थीं जिनके निराकरण की माँग विभिन्न अवसरों पर भिन्न–भिन्न मंचों से निरन्तर उठती रही थी।

सम्पूर्ण देश में चिन्तन के स्तर पर निरन्तर यह अनुभव किया जा रहा था कि स्थानीय संस्थाएँ लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सच्ची वाहक नहीं बन सकी हैं। यह भी अनुभव किया गया कि इस स्थिति का प्रमुख कारण इन संस्थाओं के साथ राज्य सरकारों द्वारा किया जा रहा मनमाना व्यवहार ही उत्तरदायी हैं। इन संस्थाओं के कार्यकरण में उपर्युक्त इंगित इन्हीं न्यूनताओं के परिष्कार के लिए भारत सरकार ने संविधान में दो व्यापक संशोधन किए जिन्हें क्रमशः पंचायती राज संस्थाओं के लिए 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, और नगरीय संस्थाओं के लिए 74वां संविधान संशोधन अधिनियम के नाम से जाना जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार के स्तर पर इस प्रकार का प्रयास पूर्व में 64वां संविधान संशोधन पारित कराए जाने के रूप में 1989 में भी हुआ था किन्तु यह संशोधन राज्य सभा में अपेक्षित बहुमत के अभाव में पारित नहीं हो सका था। इसके पश्चात् 1991 में सम्पन्न आम चुनावों के पश्चात् पदासीन राष्ट्रीय सरकार ने दिसम्बर 1992 में संविधान में उपर्युक्त दोनों महत्त्वपूर्ण संशोधन पारित कराए। राज्यों के आवश्यक अनुसमर्थन के पश्चात् 73वां संविधान संशोधन 24 अप्रैल 1993 व 74वां संविधान संशोधन 1 जून, 1993 को भारत सरकार के गजट में प्रकाशित होने के साथ प्रवर्तित हुआ।

स्वतंत्र भारत के इतिहास में स्थानीय संस्थाओं के विकास की दृष्टि से उठाए गए उपर्युक्त दोनों कदम मील के पत्थर माने जाते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों संविधान संशोधन अधिनियमों के प्रमुख प्रावधानों का प्रस्तुतीकरण यहाँ किया जा रहा है।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम : प्रमुख विशेषताएँ

1. पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक संस्तर : 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के शीर्षक में यह व्यक्त किया गया है कि यह संशोधन पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक संस्तर प्रदान करने के लिए लाया गया है। उल्लेखनीय है कि अधिनियम का प्रस्ताव संसद के समक्ष 1991 में 72वें संविधान संशोधन अधिनियम के रूप में किया गया था किन्तु पारित होते–होते यह 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 और प्रवर्तित होते–होते इसमें एक वर्ष और व्यतीत हो गया। इस प्रकार यह संविधान संशोधन अधिनियम भारत सरकार के राजपत्र में 24 अप्रैल, 1993 को प्रकाशित और प्रवर्तित हुआ।[8]

इस संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से संविधान के पूर्ववर्ती भाग 8 के पश्चात् एक नया हिस्सा भाग "9" "पंचायत" शीर्षक से जोड़ा गया है। इसके माध्यम से संविधान में अनुच्छेद 243 जोड़ते हुए देश में पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित आवश्यक तत्त्वों का न केवल समावेश किया गया है अपितु पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता और चुनावों से संबंधित प्रत्याभूति प्रदान की गई है। उल्लेखनीय है कि पूर्व में केवल अनुच्छेद 40 के माध्यम से नीति निदेशक तत्त्वों में पंचायती राज संस्थाओं का उल्लेख किया गया था किन्तु **अब उपर्युक्त व्यवस्था हो जाने के पश्चात् पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई है।**

2. ग्रामसभा का प्रावधान : संविधान संशोधन अधिनियम यह उपबंध करता है कि ग्राम स्तर पर ग्रामसभा ऐसी शक्तियों का संव्यवहार और कर्तव्यों का निर्वाह कर सकेगी जो राज्य विधान मंडल अधिनियम द्वारा विनिश्चित करें। राजस्थान में वर्ष में कम से कम दो बार ग्रामसभा के आयोजन का प्रावधान किया गया है।

3. त्रिस्तरीय पंचायती राज : प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर और जिला स्तर पर इस संविधान के प्रावधानों के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया जाएगा।

इसका अभिप्राय यह है कि अब संविधान के प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक राज्य को त्रिस्तरीय पंचायती राज की व्यवस्था अपनाए जाने का सामान्य निर्देश किया गया है। इन्हीं प्रावधानों में 20 लाख से कम की जनसंख्या वाले राज्यों को पंचायती राज की मध्यवर्ती इकाई के गठन से छूट दी गई है। सभी राज्य सरकारों को पंचायती राज संस्थाओं के गठन के संबंध में अधिनियम बनाकर प्रावधान करने की स्वतंत्रता भी दी गई है। इस संदर्भ में यह भी कहा गया है कि जहाँ तक संभव हो पंचायती राज संस्थाओं का गठन करते समय राज्यों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि प्रत्येक स्तर पर गठित की जाने वाली पंचायती राज इकाई की जनसंख्या समूचे राज्य में यथासंभव समान रहनी चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों के संबंध में 73वें संविधान संशोधन अधिनियम की धारा 243 सी (2) (3) (4) (5) में विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों के माध्यम से यह अधिकार राज्य के विधान मंडलों को दिया गया है कि

वे विधि द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के सभी स्तरों – ग्राम पंचायतों, मध्य स्तरीय इकाइयों और जिला इकाइयों के अध्यक्ष/सभापति के संबंध में तथा लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों के संबंध में उनके निर्वाचन क्षेत्र वाली इकाइयों की सदस्यता के लिए आवश्यक उपबंध कर सकेंगे। ग्राम पंचायत के सभापति/सरपंच के चुनाव की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रावधान करने का दायित्व संविधान संशोधन द्वारा सम्बन्धित विधान मंडल पर छोड़ा गया है, किन्तु पंचायती राज की मध्यवर्ती व जिला स्तरीय इकाइयों के सभापति/अध्यक्ष के चुनाव के लिए इस संशोधन में यह प्रावधान किया गया है कि संबंधित इकाइयों के निर्वाचित सदस्य अपने में से ही एक का सभापति/अध्यक्ष के रूप में निर्वाचन कर सकेंगे।

4. चुनावों में आरक्षण :

(क) अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षण : संविधान संशोधन के माध्यम से यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक पंचायत क्षेत्र में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए निर्वाचन हेतु स्थानों/सीटों का आरक्षण किया जाएगा। इस प्रकार आरक्षित की जाने वाली सीटों के आरक्षण की इस प्रक्रिया का बारी–बारी से आवर्तन (रोटेशन) पंचायत क्षेत्र की सभी सीटों में किया जाता रहेगा। (इन वर्गों के लिए उपर्युक्त रीति से आरक्षित की गई कुल सीटों से कम से कम एक–तिहाई स्थान अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएंगे।

(ख) महिलाओं के लिए आरक्षण : इस संविधान संशोधन के माध्यम से प्रत्येक पंचायती राज संस्था के चुनावों में महिलाओं हेतु स्थानों का आरक्षण भी किया गया है। इसमें संदर्भित प्रावधान में कहा गया है कि अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों सहित, प्रत्येक पंचायती राज संस्था में कम से कम एक–तिहाई स्थानों को महिलाओं के लिए आरक्षित किया जाएगा और इस प्रकार आरक्षित किए गए स्थानों का आवर्तन बारी–बारी से किया जाता रहेगा।

(ग) सभापति/अध्यक्ष के लिए आरक्षण : इस संदर्भ में संविधान संशोधन अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि ग्राम पंचायत व पंचायती राज की अन्य इकाइयों के अध्यक्षों/सभापति के पद भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व महिलाओं के लिए, राज्य विधान मंडल अधिनियम बनाकर प्रक्रिया निर्धारित करते हुए आरक्षित किए जा सकेंगे। इस प्रावधान के परंतुक में यह स्पष्ट किया गया है कि पंचायती राज इकाइयों के अध्यक्ष/सभापति के पदों के लिए आरक्षित किए गए स्थान उस राज्य में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में होने चाहिए। इसी प्रकार महिलाओं के लिए भी सभापति व अध्यक्ष के एक–तिहाई पद आरक्षित करने का प्रावधान किया गया है और इस प्रकार के आरक्षण के आवर्तन का निर्देश भी संविधान संशोधन में सन्निहित है।

इस प्रकार की सीटों का आरक्षण (महिलाओं के स्थानों के अतिरिक्त) संविधान के अनुच्छेद 334 में अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए किए गए आरक्षण के समाप्त

होने पर स्वतः निरस्त हो जाएगा।

(घ) पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण : संविधान संशोधन अधिनियम यह उपबंध भी करता है कि राज्य विधान मंडल, समस्त पंचायती राज संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान, अधिनियम बनाकर कर सकेंगे। राजस्थान में आरम्भ में इस संबंध में 15 प्रतिशत किन्तु 4 अक्टूबर, 1999 के पश्चात् यह आरक्षण 21 प्रतिशत कर दिया गया है।

5. कार्यकाल से संबंधित प्रावधान : शासन के इस तीसरे सोपान की पंचायती राज इकाइयों का कार्यकाल भी केन्द्र व राज्य सरकार की भांति समान करने के लिए संशोधन अधिनियम यह प्रावधान करता है कि प्रत्येक पंचायती राज इकाई का कार्यकाल, यदि वह, राज्य में तत्समय प्रवर्तित किसी विधि के अधीन पहले भंग नहीं कर दी जाती है तो, 5 वर्ष होगा और इससे अधिक नहीं।

इसी सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि संविधान के इस संशोधन में पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकाल को 5 वर्ष घोषित किया गया है तथा शब्द **"इससे अधिक नहीं"** पर विशेष बल दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संविधान संशोधन के शिल्पी यह चाहते हैं कि पंचायती राज इकाइयों को राज्य सरकारों द्वारा अब तक लम्बे समय तक अधिक्रमित रखे जाने की प्रवृत्ति पर संविधान के माध्यम से एक निर्णायक अंकुश लगाया जाए।

पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों के विषय में अधिनियम में कहा गया है कि:

(अ) इन संस्थाओं के चुनाव उनके निर्धारित कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व कराए जाएंगे, और

(ब) यदि ये संस्थाएं समय से पूर्व भंग की जाती हैं तो भंग किए जाने की तिथि से 6 माह की अवधि में नए चुनाव कराए जाने होंगे।

इस सन्दर्भ में संशोधित अधिनियम यह उपबन्ध भी करता है कि यदि भंग की हुई संस्था का निर्धारित कार्यकाल 6 माह से कम रह गया हो तो ऐसे चुनाव कराए जाने आवश्यक नहीं होंगे। भंग किए जाने के पश्चात् नई चुनी हुई पंचायती राज इकाई, उस शेष अवधि के लिए ही कार्य करेगी जितनी अवधि के लिए वह इकाई कार्य करती, यदि वह भंग नहीं की गई होती।

6. अनर्हताओं के संबंध में प्रावधान : पंचायती राज संस्थाओं के सदस्यों की अनर्हताओं या अयोग्यताओं के विषय में संशोधन अधिनियम में कहा गया है कि सम्बन्धित राज्य में चुनावों की अनर्हताओं से संबंधित प्रवर्तित किसी कानून द्वारा अयोग्य घोषित किए जाने पर व्यक्ति इन संस्थाओं के चुनावों में भाग नहीं ले सकेगा। कोई व्यक्ति इन अयोग्यताओं से ग्रस्त है या नहीं, इस संबंध में उठे हुए किसी विवाद का निस्तारण करने के लिए प्राधिकारी की नियुक्ति और प्रक्रिया का संबंधित राज्य विधान मंडल अधिनियम बनाकर प्रावधान कर सकेंगे।

7. पंचायती राज संस्थाओं की शक्तियाँ और दायित्व : विभिन्न स्तरों पर गठित की जाने वाली पंचायती राज संस्थाओं द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों, दायित्वों और उनकी शक्ति के संदर्भ में संशोधन अधिनियम में कहा गया है कि संविधान के प्रावधानों के अधीन रहते हुए राज्य विधान मंडल कानून बनाकर इन संस्थाओं को स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक शक्तियाँ और सत्ता दे सकेंगे। ऐसे कानून इन संस्थाओं को, विशेष रूप से लोगों के आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं के निर्माण तथा संविधान की 11वीं अनुसूची में सम्मिलित मामलों सहित आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाओं के क्रियान्वयन के संबंध में विशिष्टतः प्रावधान कर सकेंगे।

पंचायती राज संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों की एक **नई सूची** संविधान की **11वीं अनुसूची** में अनुच्छेद (243) जी में इसी संशोधन अधिनियम के माध्यम से जोड़ी गई है। इस अनुसूची में पंचायती राज संस्थाओं को 29 कार्य सौंपे गये हैं जो इस प्रकार हैं:

1. कृषि (कृषि विस्तार सहित)
2. भूमि सुधार, भूमि सुधार क्रियान्वयन, चकबन्दी एवं मृदा संरक्षण
3. लघु सिंचाई, जल प्रबंध तथा जल संभरण विकास
4. पशुपालन, डेयरी विकास तथा मुर्गीपालन
5. मत्स्य उद्योग
6. सामाजिक वानिकी
7. लघु वन उत्पाद
8. लघु उद्योग (इसमें खाद्य प्रसंस्करण भी सम्मिलित है)
9. खादी, ग्राम एवं कुटीर उद्योग
10. ग्रामीण विकास
11. पेयजल
12. ईंधन एवं चारा
13. सड़क, पुलिया, नौका जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन
14. ग्रामीण विद्युतीकरण (इसमें विद्युत वितरण भी सम्मिलित है)
15. गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोत
16. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम
17. शिक्षा (इसमें प्राथमिक तथा सैकण्डरी शिक्षा सम्मिलित है)
18. तकनीकी प्रशिक्षण तथा व्यावसायिक शिक्षा
19. प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा
20. पुस्तकालय
21. सांस्कृतिक कार्यकलाप
22. बाजार एवं मेले

23. स्वास्थ्य एवं स्वच्छता का प्रबंध (इसमें अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तथा औषधालय सम्मिलित हैं)
24. परिवार कल्याण
25. महिला एवं बाल विकास
26. समाज कल्याण (इसमें विकलांग, मानसिक रूप से अक्षम व्यक्ति सम्मिलित हैं)
27. कमजोर वर्गों का कल्याण (विशेषतः अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण)
28. सार्वजनिक वितरण प्रणाली
29. सामुदायिक परिसम्पत्तियों का अनुरक्षण

8. कर लगाने व कोष एकत्र करने की शक्तियाँ : 73वें संविधान संशोधन में पंचायती राज संस्थाओं के कोष निर्माण और उसमें होने वाली आय के लिए इन संस्थाओं के द्वारा लगाए जाने वाले करों के संबंध में कहा गया है कि राज्य के विधान मंडल, विधि द्वारा उसमें निर्दिष्ट प्रक्रिया और मर्यादाओं के अंतर्गत पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं को कर आरोपित करने और एकत्र करने के लिए अधिकृत कर सकेंगे। राज्य का विधान मंडल इन संस्थाओं को राज्य की संचित निधि से अनुदान देने के लिए प्रावधान कर सकेगा। इस प्रकार संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं द्वारा करारोपण के संबंध में आवश्यक प्रावधान करने का अधिकार पुनः राज्य विधान मंडलों पर छोड़ा गया है। संशोधन अधिनियम प्रावधान करता है कि जो कर राज्य सरकार द्वारा लगाए जाएंगे उनका राज्य सरकार व पंचायती राज इकाइयों के मध्य वितरण किया जा सकेगा और जो कर पंचायती राज संस्थाएँ आरोपित करेंगी उन्हें वे न केवल एकत्र कर सकेंगी अपितु उनका व्यय भी अपने स्तर पर ही कर सकेंगी।

9. वित्त आयोग के गठन का प्रावधान : संविधान संशोधन अधिनियम में प्रावधान किया गया है कि राज्यों के राज्यपाल, 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन के एक वर्ष की अवधि में और उसके पश्चात् प्रति 5 वर्ष के अन्तराल पर राज्यों की पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति की समीक्षा, और :

(अ) राज्य सरकार द्वारा लगाये गए करों से हुई आय का राज्य द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के मध्य वितरण,

(ब) पंचायती राज संस्थाओं द्वारा लगाए जाने वाले करों को चिन्हित करने;

(स) राज्य की संचित निधि से इन संस्थाओं को दिए जाने वाले अनुदान के सिद्धान्तों का निर्धारण, और

(द) पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए किए जाने वाले उपायों तथा वित्तीय स्वरूप के संदर्भ में सौंपे गए किन्हीं भी अन्य कार्यों का निष्पादन करने के लिए राज्य वित्त आयोग का गठन करेंगे।

राज्य विधान मंडल विधि के माध्यम से इस वित्त आयोग के संगठन और उसमें नियुक्त किए जाने वाले सदस्यों की योग्यताओं और इन सदस्यों की नियुक्ति की प्रक्रिया का निर्धारण कर सकेगा।

संविधान संशोधन के माध्यम से इसके प्रवर्तन के एक वर्ष की अवधि में राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने यहाँ संविधान के उक्त प्रावधान के अनुसरण में स्थानीय वित्त आयोग का गठन करेंगे जो पंचायती राज संस्थाओं व नगरीय निकायों की वित्तीय स्थिति को समृद्ध करने के लिए संविधान द्वारा संकल्पित अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए कार्य करेगा। राजस्थान में 1995 में प्रथम वित्त आयोग ने के. के. गोयल की अध्यक्षता, द्वितीय आयोग ने हीरालाल देवपुरा की अध्यक्षता और तृतीय वित्त आयोग ने माणक चन्द सुराणा की अध्यक्षता में अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किए हैं।

10. पंचायती राज संस्थाओं के लेखा व अंकेक्षण के संबंध में प्रावधान : संविधान संशोधन अधिनियम प्रावधान करता है कि विभिन्न स्तर की पंचायती राज इकाइयों द्वारा रखे जाने वाले लेखा व उसके अंकेक्षण के संबंध में, राज्य विधान मंडल विधि बनाकर आवश्यक प्रावधान कर सकेंगे।

11. पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों से संबंधित प्रावधान : अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि राज्य में निर्वाचक नामावलियों की तैयारी, चुनावों के आयोजन और पंचायती राज्य संस्थाओं के चुनावों से संबंधित समस्त पक्षों का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए गए एक राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा। राज्य निर्वाचन आयोग के मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदावधि और सेवाशर्तों का निर्धारण राज्यपाल, विधान मंडल के संबंधित अधिनियम के अधीन रहते हुए कर सकेंगे। इस प्रावधान के परंतुक में यह कहा गया है कि राज्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उन्हीं कारणों से और उसी रीति से हटाया जा सकेगा जिन कारणों और जिस रीति से उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश को हटाया जाता है तथा कार्यरत रहते हुए राज्य निर्वाचन आयुक्त की सेवाशर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा। राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा प्रार्थना किए जाने पर उसके लिए विनिश्चित कृत्यों के निर्वाह में सहायता देने के लिए राज्य का राज्यपाल आवश्यक कर्मचारी उपलब्ध कराएगा।

इस संविधान संशोधन को नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर के पहाड़ी क्षेत्रों तथा पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग आदि क्षेत्रों में प्रवर्तित होने से मुक्त रखा गया है।

इस संविधान संशोधन के माध्यम से किए गए प्रावधानों को केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए भी प्रभावित माना जाता है।

इस प्रकार देश में पंचायती राज संस्थाओं के क्षेत्र में प्रवर्तित कमियों और न्यूनताओं जिनमें इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता का अभाव, इनके अनियमित चुनाव, लम्बे समय तक अधिक्रमित रहने, उनकी दयनीय आर्थिक दशा, उन्हें पर्याप्त शक्तियों व अधिकारों के अभाव, अनसूचित जाति व जनजाति तथा महिलाओं को अपर्याप्त प्रतिनिधित्व तथा इन संस्थाओं के चुनावों के लिए प्रभावी व्यवस्था के अभाव की स्थितियां प्रमुख थीं, के निवारण के लिए 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से सटीक प्रयत्न किया गया है।

74वां संविधान संशोधन अधिनियम : प्रमुख विशेषताएँ

भारत में स्थानीय संस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं–ग्रामीण और नगरीय। ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं को सशक्त बनाने एवं उन्हें संवैधानिक आधार प्रदान करने के लिए जैसा प्रयास 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से किया गया है उसी प्रकार का प्रयास नगरीय स्थानीय संस्थाओं के संबंध में 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से किया गया है।

भारत की संसद द्वारा 1992 में पारित और 1 जून, 1993 से प्रवर्तित 74वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में भाग 9 अ **"द म्यूनिसिपलिटीज"** शीर्षक से नया जोड़ा गया है।[9] इस भाग के माध्यम से देश में नगरीय निकायों को संवैधानिक मान्यता और संवैधानिक संस्तर प्रदान किया गया है। इस संविधान संशोधन की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :

1. तीन प्रकार के नगरीय निकाय : उपर्युक्त संविधान संशोधन देश भर में त्रिस्तरीय नगर निकायों की व्यवस्था करता है :

(अ) नगर पंचायत : ऐसे क्षेत्रों के लिए जो ग्राम से नगर बनने की संक्रमणकालीन प्रक्रिया में हैं, उनमें नगर पंचायत का गठन किया जाएगा।

(ब) नगर परिषद् (म्यूनिसिपल कौंसिल) : नगर परिषद् का गठन छोटे नगरों में किया जाएगा, और

(स) नगर निगम : नगर निगम का गठन बड़े नगरों में किया जाएगा।

इस प्रावधान के परंतुक में यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य के राज्यपाल किसी औद्योगिक क्षेत्र को उपर्युक्त प्रकार के निकाय के गठन से मुक्त कर सकता है। इसी प्रकार अधिनियम में यह भी स्पष्ट किया गया है कि ग्राम से नगर बनने की संक्रमणकालीन प्रक्रिया, छोटे नगर और बड़े नगर की परिभाषा व उसमें जनसंख्या, घनत्व व आय इत्यादि के विषय में स्पष्टीकरण राज्य के राज्यपाल द्वारा किया जाएगा।

नगर निकायों का गठन

अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि राज्यों में गठित किए जाने वाले प्रत्येक नगर निकाय में स्थानों की पूर्ति उस क्षेत्र के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव से होगी। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र को वार्डों में विभाजित किया जाएगा और इन वार्डों से प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधि नगर निकाय के लिए चुने जाएंगे। अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि राज्य का विधान मंडल अधिनियम बनाकर नगर निकायों में निम्नांकित वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए भी व्यवस्था कर सकता है :

1. ऐसे व्यक्तियों के लिए जो नगरीय प्रशासन का विशिष्ट ज्ञान और अनुभव रखते हों;
2. लोकसभा व राज्य की विधान सभा में उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधियों के लिए;

3. नगर निकाय के क्षेत्र की मतदाता सूची में रजिस्ट्रीकृत राज्यसभा या राज्य विधान परिषद् के सदस्यों के लिए; तथा
4. संविधान संशोधन अधिनियम की धारा 243 एस की उपधारा 5 के अन्तर्गत गठित की जाने वाली समितियों के अध्यक्षों के लिए।

अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि नगरीय प्रशासन के विशिष्ट ज्ञान और अनुभव रखने वाले व्यक्तियों को यदि नगरीय निकाय से संयोजित किया जाता है तो उन्हें नगर परिषद् की बैठक में मत देने का अधिकार नहीं होगा।

वार्ड समितियों का गठन

संविधान संशोधन अधिनियम यह प्रावधान करता है कि 3 लाख या इससे अधिक की जनसंख्या वाले नगर निकायों में एक या अधिक वार्डों के लिए वार्ड समितियों का गठन किया जाएगा। इस प्रकार गठित की जाने वाली समितियों के संबंध में आवश्यक प्रावधान करने की शक्तियाँ राज्य विधान मंडल पर छोड़ी गई हैं। राज्य विधान मंडल यह विनिश्चित कर सकेंगे कि वार्ड समितियों का गठन, क्षेत्राधिकार और उनके गठन की प्रक्रिया क्या होगी? वार्ड समितियों के क्षेत्राधिकार में आने वाले वार्ड सदस्य उस समिति के सदस्य होंगे।

संविधान द्वारा नगर निकायों में परिव्याप्त इन वार्ड समितियों के अतिरिक्त भी राज्य विधान मंडल के अधिनियम के माध्यम से अन्य समितियों का गठन किया जाना संभव हो सकेगा।

सीटों का आरक्षण

संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक नगर निकाय या नगरपालिका में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण किया जाएगा। प्रत्येक क्षेत्र में सीटों का यह आरक्षण उस नगर निकाय के क्षेत्र में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा आरक्षित की गई सीटों का बारी–बारी से आवर्तन किया जाएगा। उपर्युक्त रीति से इन वर्गों के लिए आरक्षित की गई कुल सीटों के एक–तिहाई स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएंगे। इसी प्रकार नगर निकाय के क्षेत्र की प्रत्यक्ष रूप से चुनी जाने वाली कुल सीटों के कम से कम एक–तिहाई स्थान (अनुसूचित जाति व जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों सहित) महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे और इन स्थानों का भी बारी–बारी से नगर निकाय के क्षेत्र में आवर्तन किया जाता रहेगा।

अधिनियम यह व्यवस्था भी करता है कि नगर निकायों में अध्यक्ष/सभापति के पदों पर भी अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था राज्य विधान मंडल अधिनियम बनाकर प्रावधान कर सकेंगे। अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 334 में दिए गए सामान्य आरक्षण के जारी रहने तक प्रभावी रहेगी। संविधान संशोधन अधिनियम राज्य विधान मंडलों को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि अधिनियम बनाकर वे नगर

निकायों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था कर सकेंगे।

कार्यकाल संबंधी प्रावधान

संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से देश भर में नगर निकायों का कार्यकाल उनकी पहली मीटिंग की तिथि से, यदि वे निर्धारित समय से पूर्व भंग नहीं कर दी जाती हैं तो, 5 वर्ष निर्धारित किया गया है **और इससे अधिक नहीं**। इस प्रावधान के परंतुक में यह कहा गया है कि किसी भी नगर निकाय को भंग किए जाने के पूर्व सुनवाई का समुचित अवसर प्रदान किया जाएगा।

प्रत्येक नगर निकाय के चुनाव उनके लिए निर्धारित 5 वर्ष की अवधि समाप्त होने के पूर्व सम्पन्न कराए जाएंगे और यदि किसी नगर निकाय को भंग किया जाता है तो भंग किए जाने की तिथि से 6 माह के भीतर उसके चुनाव कराए जाने होंगे। किन्तु, यदि भंग किए जाने के पश्चात् उस नगर निकाय का निर्धारित कार्यकाल पूर्ण होने में 6 माह से कम की अवधि रह गई है तो अंतरिम चुनाव कराए जाने आवश्यक नहीं होंगे। अंतरिम रूप से चुनाव कराए जाने पर उस नगर निकाय का कार्यकाल उतना होगा जितना वह भंग नहीं किए जाने की स्थिति में कार्यशील रहती।

सदस्यों की अनर्हता संबंधी प्रावधान

राज्यों में नगर निकायों के लिए चुने जाने हेतु सदस्यों की योग्यताओं या अनर्हताओं के संदर्भ में प्रावधान करने का दायित्व राज्य के विधान मंडल पर छोड़ा गया है। इस प्रावधान में यह कहा गया है कि इस संदर्भ में राज्य विधान मंडल अधिनियम बनाकर प्रावधान कर सकेंगे किन्तु कोई भी व्यक्ति नगर निकायों का चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य नहीं होगा यदि उसने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है और राज्य विधान मंडल द्वारा पारित किसी अधिनियम के अधीन अयोग्य नहीं है। यदि योग्यता के संदर्भ में कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उसका निस्तारण राज्य विधान मंडल द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार किया जाएगा।

नगर निकायों की शक्तियाँ और दायित्व

नगर निकायों द्वारा निष्पादित कार्यों, दायित्वों और उनकी शक्ति व सत्ता के संदर्भ में इस संशोधन में यह कहा गया है कि राज्य विधान मंडल कानून बना कर इन संस्थाओं को स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक शक्तियाँ और सत्ता दे सकेंगे। ऐसे कानून के माध्यम से इन संस्थाओं को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं के निर्माण व संविधान की 12वीं अनुसूची में निर्धारित मामलों व कार्यों को निष्पादित करने के लिए दायित्वों का आरोपण कर सकेंगे।

देश के नगर निकायों द्वारा किए जाने वाले कार्यों की एक नई सूची संविधान की **12वीं अनुसूची** में इस संशोधन के माध्यम से जोड़ी गई है जो निम्न प्रकार है :

1. नगर आयोजना;
2. भूमि का विनियमन – भवनों का निर्माण एवं उपयोग;

3. आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए योजना;
4. सड़क व पुल;
5. घरेलू उद्योग एवं व्यावसायिक प्रयोजनों के लिए जल प्रदाय;
6. लोक स्वास्थ्य, सफाई आदि;
7. अग्निशमन सेवाएँ;
8. नगरीय वानिकी एवं पर्यावरण संरक्षण;
9. कमजोर वर्गों के हितों का संरक्षण (मानसिक रूप से कमजोर एवं विकलांगों सहित);
10. गंदी बस्तियों का विकास एवं उत्थान;
11. निर्धनता निवारण;
12. बाग, उद्यान, खेल के मैदान आदि की सुविधाएं जुटाना;
13. सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उत्थान;
14. दाह गृहों, विद्युत दाह–गृहों आदि का निर्माण
15. काँजी घर (Kines House) एवं पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण;
16. जन्म एवं मृत्यु का रजिस्ट्रीकरण;
17. सड़कों का विद्युतीकरण, वाहन खड़े करने के स्थान, बस स्टॉप आदि का निर्माण एवं संधारण; तथा
18. बूचड़खानों का विनियमन।

नगर निकायों को कर लगाने व कोष एकत्र करने की शक्तियाँ

संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से नगर निकायों को कोष के निर्माण और उसमें होने वाली आय के लिए विनियमन करने का दायित्व मंडलों को सौंपा गया है। राज्य विधान मंडल अधिनियम बनाकर नगर निकाय द्वारा आरोपित किए जाने वाले करों तथा राज्य की संचित निधि से नगर निकायों को दिए जाने वाले अनुदान का प्रावधान कर सकेंगे।

वित्त आयोग का गठन

संविधान संशोधन अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि पंचायती राज संस्थाओं के लिए संविधान के अनुच्छेद 243 (आई) के अंतर्गत गठित वित्त आयोग देश के नगर निकायों की वित्तीय स्थिति की भी समीक्षा कर सकेगा। राज्य के राज्यपाल संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नगर निकाय का यह दायित्व उसी आयोग को सौंप सकेंगे जो पंचायती राज संस्थाओं के लिए गठित किया गया है।

यह आयोग निम्नांकित मामलों के लिए सिद्धान्तों का निर्धारण कर सकेगा :

1. राज्य सरकार द्वारा लगाए गए करों, ड्यूटी, टोल टैक्स एवं फीस आदि से हुई आय का राज्य सरकार एवं नगर निकायों के मध्य वितरण;
2. नगर निकायों द्वारा आरोपित किए जाने वाले करों, ड्यूटी, टोल टैक्स और फीस;
3. राज्य की संचित निधि से नगर निकायों को दिए जाने वाले अनुदान; और
4. राज्य के नगर निकायों के सुदृढ़ वित्तीय हित में उसे राज्यपाल द्वारा सौंपे गए अन्य कार्यों के संदर्भ में भी वित्त आयोग, दायित्वों का निर्वाह कर सकेगा।

वित्त आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन को राज्य–सरकार के स्पष्टीकरण सहित राज्यपाल द्वारा राज्य विधान मंडल के समक्ष रखा जाएगा।

नगर निकायों का लेखा और अंकेक्षण

संविधान संशोधन अधिनियम राज्य विधान मंडलों को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वे अधिनियम बनाकर नगर निकायों द्वारा अपने आय–व्यय के रखे जाने वाले लेखा और उनके अंकेक्षण के लिए प्रावधान कर सकेंगे।

नगर निकायों के चुनावों से संबंधित प्रावधान

संविधान संशोधन अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि राज्य में समस्त नगर निकायों के लिए मतदाता सूचियों की तैयारी और चुनावों के आयोजन से संबंधित कार्यों का अधीक्षण, निर्देशन व नियंत्रण संविधान के अनुच्छेद 243 "के" के अंतर्गत गठित निर्वाचन आयोग में निहित होगा। संविधान के इन प्रावधानों के अधीन रहते हुए राज्य के विधान मंडल नगर निकायों के चुनावों को सम्पन्न कराने के लिए आवश्यक प्रावधान अधिनियम बनाकर कर सकेंगे।

संविधान के ये समस्त प्रावधान केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए भी प्रभावी बनाए गए हैं।

जिला आयोजना के लिए समिति

इस अधिनियम के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया है कि जिले में कार्यशील पंचायती राज संस्थाओं और नगर निकायों द्वारा तैयार योजनाओं को समेकित रूप देने के लिए प्रत्येक जिले में एक जिला नियोजन समिति का गठन किया जाएगा जो जिले के लिए विकास की समग्र योजना का प्रारूप विकसित करने के लिए सक्षम होगी। राज्य विधान मंडलों को यह अधिकार दिया गया है कि वे जिला नियोजन समितियों के गठन और उनके सदस्यों के चुने जाने के लिए आवश्यक प्रावधान कर सकेंगे।

महानगरों के लिए आयोजना समिति

प्रत्येक महानगर के लिए महानगरीय नियोजन समिति के गठन का प्रावधान भी इस संविधान संशोधन अधिनियम में किया गया है। इस संदर्भ में यह भी कहा गया है कि राज्य के विधान मंडल अधिनियम बनाकर इस प्रकार गठित किए जाने वाली महानगरीय नियोजन समिति के बारे में आवश्यक प्रावधान कर सकेंगे। यह महानगरीय नियोजन समिति नगर के लिए नगरीय विकास का प्रारूप बना सकेगी और उर

कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं भी करेगी।

महानगर क्षेत्र का आशय उस क्षेत्र से है जिसकी जनसंख्या 10 लाख या इससे अधिक हो और जो क्षेत्र एक या एक से अधिक जिलों में पड़ता हो और जिसमें दो या दो से अधिक नगरपालिकाएँ या पंचायतें या अन्य सम्बद्ध क्षेत्र हों। राज्य विधानमण्डल इन समितियों की संरचना, सदस्यों के चुनाव की पद्धति, इनमें केन्द्र या राज्य सरकार और अन्य संगठनों के प्रतिनिधित्व, इनके अध्यक्ष की चुनाव पद्धति और नियोजन व समन्वय से सम्बन्धित प्रावधान भी कर सकेंगे।

संविधान संशोधन में कहा गया है कि इस अधिनियम के प्रावधान भारत के संविधान के अनुच्छेद 244 में उल्लिखित अनुसूचित क्षेत्रों (Scheduled Areas) और जनजातीय क्षेत्रों में लागू नहीं होंगे। अधिनियम के कारण पश्चिम बंगाल की दार्जिलिंग गोरखा हिल काउन्सिल की कार्य शक्तियाँ प्रभावित नहीं होगीं।[10]

राज्य में गठित किए जाने वाले वित्त आयोग के प्रावधानों के संदर्भ में संविधान के अनुच्छेद 280 को भी संशोधित किया गया है। इसी प्रकार नगर निकायों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों की जो दृष्टान्तपरक सूची संविधान में जोड़ी गई है, उसे भी 12वीं अनुसूची के रूप में संविधान में स्थान देकर व्यवस्था की गई है।

इस तरह देश के नगरीय निकायों के संगठन में परिव्याप्त विषमताओं को दूर करने तथा इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता के अभाव, इनके अनियमित चुनाव, लम्बे समय तक अधिक्रमित रहने, उनकी दयनीय आर्थिक दशा, उन्हें पर्याप्त शक्तियों व अधिकारों के अभाव, अनुसूचित जाति, जनजाति व महिलाओं को अपर्याप्त प्रतिनिधित्व इत्यादि स्थितियों से मुक्त करने के लिए संविधान में 74वां संशोधन करते हुए सटीक प्रयत्न किया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के समावेश के पश्चात् देश के नगरीय निकाय अधिक सुदृढ़ आधार प्राप्त कर सकेंगे।

उल्लेखनीय है कि इन दोनों संविधान संशोधनों के अनुसार सभी राज्यों ने अपने यहाँ प्रवर्तित पंचायती राज अधिनियमों व नगर निकायों से संबंधित अधिनियमों को आवश्यकतानुसार संशोधित कर लिया है। अब इस पृष्ठभूमि में यह आशा की जा सकती है कि स्थानीय शासन का यह तीसरा सोपान, संवैधानिक मान्यता के पश्चात् अधिक सक्रिय होगा और इसके परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की ये स्थानीय संस्थाएँ जन–मानस में अधिक प्रतिष्ठा अर्जित कर सकेंगी।

सन्दर्भ

1. एम. ए. मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 259
2. **द इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया**, वाल्यूम चतुर्थ, ऑक्सफोर्ड प्रेस, 1909, पृ. 282 पर उद्धृत।
3. सन् 1814 के रेगुलेशन एक्ट द्वारा।

4. श्रीराम माहेश्वरी, **लोकल गवर्नमेन्ट इन इंडिया**, ओरियन्ट लोंगमैन, नई दिल्ली, 1976, पृ. 16
5. **उपर्युक्त**, पृ. 23
6. **उपर्युक्त**
7. **भारत का संविधान**, अनुच्छेद 40
8. **73 वां संविधान संशोधन अधिनियम**, अनुच्छेद 243 ए, इस अधिनियम का प्रवर्तन भारत सरकार के गजट में 24 अप्रैल 1993 को प्रकाशित होने के साथ हुआ।
9. **भारत सरकार का 74 वां संविधान संशोधन अधिनियम** (इस अधिनियम का प्रवर्तन 1 जून, 1993से भारत के असाधारण राजपत्र खंड 3, उपखंड 11 प्रकाशन के साथ हुआ।)
10. **भारत का संविधान**, अनुच्छेद 243 (जेड सी)

3

भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की संगठनात्मक संरचना, कार्य और शक्तियाँ

भारत के संविधान में किए गए 74वें संशोधन के माध्यम से अब देश में त्रिस्तरीय नगरीय निकायों के गठन का प्रावधान किया गया है। राज्यों से यह अपेक्षा की गई है कि वे नगर निकायों से सम्बन्धित अधिनियम में इस आशय का प्रावधान व आवश्यक संशोधन कर लें जिससे सम्पूर्ण देश में नगर निकायों के गठन में एकरूपता स्थापित की जा सके। इस संशोधन के बावजूद **स्थानीय प्रशासन** के विषय को संविधान में राज्य सूची में पांचवी प्रविष्टि के रूप में सम्मिलित किया गया है इसीलिए भारत संघ के प्रत्येक राज्य की सरकार कानून के माध्यम से स्थानीय शासन की इकाइयों का गठन करती है। नगरीय स्थानीय शासन की रचना राज्य सरकार की इच्छा से होती है और यह इच्छा राज्य के विधान मंडल द्वारा पारित विधि के रूप में व्यक्त होती है। राज्य सरकार द्वारा निर्मित इस विधि के माध्यम से नगरीय क्षेत्रों के स्थानीय प्रशासन के संचालन के लिए न केवल नगरीय इकाइयों का निर्माण किया जाता है अपितु नगरीय विकास से सम्बन्धित उनके दायित्वों, शक्तियों, आर्थिक संसाधनों, पर्यवेक्षण और नियंत्रण इत्यादि का प्रावधान भी उसमें किया जाता है। किन्तु, यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि स्थानीय इकाइयों के संगठन हेतु निर्मित इस विधि का निर्माण करके राज्य सरकार नगरीय विकास के दायित्वों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाती। वस्तुतः स्थानीय संस्थाओं को केवल निर्दिष्ट या परिभाषित स्थानीय क्षेत्र में सफाई, जल निकास, मल निस्तारण व्यवस्था, स्थानीय रोशनी का प्रबन्ध इत्यादि विषय ही सौंपे जाते हैं और नगरीय विकास से सम्बन्धित अन्य अनेक आयामों जैसे आवास, लोक स्वास्थ्य, पर्यवेक्षण, संचार के साधन, शिक्षा, बिजली पूर्ति, सड़क निर्माण, बिजली का प्रबन्ध इत्यादि का दायित्व राज्य सरकार के अन्य अनेक विभागों द्वारा ही वहन किया जाता है।

इस प्रकार उक्त पृष्ठभूमि यह निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त है कि स्थानीय शासन की व्यवस्था और नगरीय विकास के दायित्व पृथक्–पृथक् विषय हैं और भारतवर्ष की नगरीय संस्थाओं को नगर विकास का समूचा दायित्व नहीं सौंपा गया है। नगरों के आयोजन तथा प्रसार को सुनियोजित स्वरूप देने के लिए पृथक् प्रशासनिक इकाइयों का निर्माण किया गया है जबकि सफाई और रोशनी आदि की व्यवस्था नगरपालिकाएं, नगर निगम और इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा की जाती है।

भारतवर्ष में बीसवीं शताब्दी से नगरों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि का क्रम बना हुआ है। निम्न सारणी में भारत में 1951 के पश्चात् के नगरीय जनसंख्या के आंकड़ों को दर्शाया गया है :

जनगणना वर्ष	कुल जनसंख्या (दस लाखों में)	नगरीय जनसंख्या (दस लाखों में)	कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत
1951	361.08	62.44	17.29
1961	439.23	78.93	17.97
1971	548.15	109.11	19.91
1981	683.32	159.46	23.34
1991	846.30	217.61	25.71
2001	1028.15	286.97	27.82

उक्त तालिका में जो आंकड़े दर्शाए गये हैं उनमें 1951 की जनगणना से भारत की कुल जनसंख्या तथा नगरीय जनसंख्या के समंक ही द्रष्टव्य हैं। भारत की जनसंख्या के जो आंकड़े भारत सरकार के जनगणना निदेशालय की वेबसाइट पर उपलब्ध हैं उनमें 1901 से 2001 तक की विगत जनगणना के वे सभी आंकड़े निम्न सारणी में द्रष्टव्य हैं जिनसे कुल जनसंख्या के साथ उसके ग्रामीण व नगरीय समंक भी देखे जा सकते हैं:

वर्ष	कुल जनसंख्या	ग्रामीण	नगरीय
1901	238,396,327	212,544,454	25,851,873
1911	252,093,390	226,151,757	25,941,633
1921	251,321,213	223,235,043	28,086,170
1931	278,977,238	245,521,249	33,455,989
1941	318,660,580	274,507,283	44,153,297
1951	361,088,090	298,644,381	62,443,709
1961	439,234,771	360,298,168	789,936,603
1971	548,159,652	439,045,675	109,113,977
1981	683,329,097	523,866,550	159,462,547
1991	846,302,688	628,691,676	217,611,012
2001*	1,028,737,436	742,490,639	286,119,689

उक्त समंकों से भारतवर्ष में सन् 1901 से लेकर विगत जनगणना वर्ष 2001 तक के आंकड़े देश में नगरीय व ग्रामीण जनसंख्या के अनुपात व वृद्धि दर को दर्शाते हैं। सन् 2001 की जनगणना के अन्तिम आंकड़ों के अनुसार भारत में 72.2% जनता गाँवों में और 27.8% जनता शहरों में रह रही थी। वर्तमान में चल रही 2011 की जनगणना के आंकड़ों में अभी समय लगेगा।

भारत में नगरीय स्थानीय प्रशासन की संस्थाओं की संगठनात्मक संरचना से संबंधित इस अध्याय को सतर्कतापूर्वक दो भागों में बांट कर देखने की आवश्यकता है। प्रथम भाग में भारत की स्वतंत्रता से लेकर 1992–93 तक प्रवर्तित संस्थाओं का परिचय प्रस्तुत किया जा सकता है वहीं इसके दूसरे भाग में 1992–93 मे संविधान में दिए हुए 74वें संशोधन के पश्चात् अपनाई गई संरचना का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस अध्याय को निम्नांकित प्रकार से दो भागों में बांटकर सामग्री का संयोजन किया गया है :

1. 74 वें संविधान संशोधन से पूर्व की संरचना, और
2. 74 वें संविधान संशोधन के पश्चात् की संरचना।

(1) 74वें संविधान संशोधन से पूर्व की संरचना

देश में 1950 में संविधान के प्रवर्तन के पश्चात् नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में सामान्यतः निम्न छः प्रकार की संस्थाएँ कार्यशील थीं :

1. नगर निगम
2. नगर परिषद्/नगरपालिका
3. कस्बा क्षेत्र समिति
4. अधिसूचित क्षेत्र समिति
5. छावनी मंडल
6. एकल उद्देश्यीय अभिकरण

इस कालखंड में सम्पूर्ण देश में विभिन्न राज्यों ने न्यूनाधिक उपर्युक्त संरचना को ही यत्किंचित् संशोधनों या परिवर्तनों के साथ अपनाया हुआ था। देश के सभी बड़े नगरों में नगरीय स्थानीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई के रूप में नगर निगम, उससे छोटे नगरों में नगर परिषद् या नगरपालिका का गठन किया जाता था। **पुस्तक के आगामी अध्यायों में इन दोनों ही संस्थाओं के विषय में दो स्वतंत्र अध्यायों में विस्तृत विवरण दिया जा रहा है इसलिए इनके विषय में यहाँ इतना ही परिचय पर्याप्त है।**

कस्बा क्षेत्र समिति : ऐसे क्षेत्र जो ग्राम से शहरीकरण की प्रक्रिया में होते थे किन्तु न तो पूरी तरह ग्राम रह पाते और न ही वे पूरी तरह शहर बन पाते, ऐसे संक्रमणकालीन क्षेत्रों के लिए इस कालखंड में कस्बा क्षेत्र समितियों का गठन किया जाता था। देश के असम, केरल, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, जम्मू–कश्मीर और हिमाचल प्रदेश ऐसे राज्य थे जिनमें कस्बा क्षेत्र समितियाँ स्थापित की गई

थीं। इस तरह गठित कस्बा क्षेत्र समितियों की 80 प्रतिशत अकेले उत्तर प्रदेश में गठित की गई थी। इन समितियों में अंशतः सदस्य निर्वाचित और शेष राज्य सरकार द्वारा मनोनीत होते थे। इन समितियों पर संबंधित जिलाधीश को पर्यवेक्षण व नियंत्रण के पर्याप्त अधिकार दिए जाते थे। फलतः इन्हें नगरपालिकाओं की तुलना में कम स्वायत्तता मिली होती थी और जिलाधीश का अधिक कठोर नियंत्रण होता था।

अधिसूचित क्षेत्र समिति : नगरीय प्रशासन की एक और विशेष संरचना को अधिसूचित क्षेत्र समिति (Notified Area Committee) के रूप में जाना जाता था। कुछ राज्यों में उन क्षेत्रों में जहाँ राज्य सरकार यह अनुभव करती थी कि उनमें नगरपालिकाएं स्थापित नहीं की जा सकती, वहाँ अधिसूचित क्षेत्र समिति स्थापित कर देती थी। नए विकासशील नगरों या पर्यटन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखने वाले नगर अथवा छोटे कस्बों में भी इनकी स्थापना की गई थी। इसकी स्थापना राज्य सरकार कोई अधिनियम बनाकर नहीं करती थी अपितु उसके निर्माण की सूचना राज्य सरकार द्वारा सरकारी राजपत्र (Gazette) में अधिसूचित कर दी जाती थी, इसीलिए इसे "अधिसूचित क्षेत्र समिति" कहा जाता था। इन क्षेत्रों पर राज्य के नगरपालिका अधिनियम के केवल वे नियम ही प्रवर्तित होते थे जो सरकारी राजपत्र में अधिसूचित कर दिए जाते थे। सरकार को यह स्पष्ट अधिकार होता था कि अपनी अधिसूचना में वह इन समितियों को अधिकार दे दे। अधिसूचित क्षेत्र समिति प्रायः सरकार द्वारा मनोनीत होती थी और निर्वाचित सदस्यों का इसमें अभाव होता था।

राजस्थान में अधिसूचित क्षेत्र समिति की स्थापना के लिए राज्य सरकार ने एक अपना विशिष्ट "मॉडल" अपनाया था। राजस्थान में कुछ पर्यटकीय महत्त्व के क्षेत्रों का प्रशासन सीधे राज्य सरकार के अधिकतम नियंत्रण में रहे, इस दृष्टि से उनमें अधिसूचित क्षेत्र समितियों की स्थापना की गई थी। उदाहरणार्थ – आमेर, पुष्कर, माउण्ट आबू, जैसलमेर, विद्याविहार (पिलानी) और रावतभाटा जैसे पर्यटकीय महत्त्व के स्थानों को राज्य सरकार स्थानीय राजनीति का शिकार नहीं होने देना चाहती थी। अतः उनमें स्थानीय प्रशासन के संचालन हेतु अधिसूचित क्षेत्र समितियों की स्थापना की गई थी। **1993 में राजस्थान में यह प्रयोग समाप्त कर दिया गया।**

इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि उन क्षेत्रों को अधिसूचित क्षेत्र समिति के अन्तर्गत लिया जाता था जो नगरपालिका बनाने की शर्तें पूरी नहीं करते थे किन्तु वे किसी न किसी कारण से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। कुछ राज्यों में इन समितियों के कतिपय सदस्यों का निर्वाचन भी होता था। इनकी सदस्य संख्या सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती थी। राज्य सरकार ही इन सदस्यों में से किसी व्यक्ति को समिति का सभापति और उपसभापति नियुक्त कर देती थी।

छावनी मण्डल

देश में ऐसे क्षेत्रों में जहाँ छावनी में सेना रहती रही है उस स्थान के आस–पास के क्षेत्रों के स्थानीय प्रशासन के लिए भारतीय छावनी मण्डल अधिनियम, 1924 के

अन्तर्गत छावनी मण्डल का गठन किया जाता रहा है। ब्रिटिश प्रशासन के अधीन विकसित स्थानीय प्रशासन की यह विशिष्ट इकाई स्वतंत्रता के बाद के इस कालखण्ड में ही नहीं अपितु 74वें संविधान संशोधन के पश्चात्वर्ती कालखण्ड में भी यथावत कार्यशील है। यद्यपि इनके संगठन या संरचना का उल्लेख औपचारिक रूप से 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में, कदाचित् त्रुटिवश नहीं किया जा सका है। इसका किंचित् विस्तृत विवरण आगामी पृष्ठों में दिया जाना प्रस्तावित है।

एकल उद्देश्यीय अभिकरण : इसी प्रकार स्थानीय प्रशासन की एक और इकाई इस कालखंड में कार्यरत थी जिसे एकल उद्देश्यीय अभिकरण के नाम से जाना जाता है। कतिपय विद्वान इसे नगरीय शासन का एक प्रकार कहने की अपेक्षा नगरीय शासन की मुख्य इकाइयों का सहायक कहते हैं। ऐसे अभिकरण जो केवल एक उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनाए जाते हैं उन्हें एकल उद्देश्यीय अभिकरण कहा जाता रहा है। यह इकाई भी औपचारिक संविधानिक संरचना न होने के बावजूद 74वें संविधान संशोधन के पश्चात्वर्ती काल में यथावत् कार्य कर रही है, इसलिए इस संस्था का परिचय भी आगामी पृष्ठों में प्रस्तावित है।

इस प्रकार, 74वें संविधान संशोधन के प्रवर्तन के पूर्व के कालखंड में देश में नगरीय स्थानीय प्रशासन की जो इकाइयां कार्यशील थीं उनका संक्षिप्त परिचय उपर्युक्त पंक्तियों में संयोजित किया गया है।

(2) 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् की संरचना

भारत की संसद द्वारा 1992 में पारित और 1 जून, 1993 से प्रवर्तित 74वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में **भाग 9 अ "द म्यूनिसिपलिटीज"** शीर्षक से नया जोड़ा गया है। इस भाग के माध्यम से देश में नगरीय निकायों को संवैधानिक मान्यता और संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया है।

उपर्युक्त संविधान संशोधन देश भर में त्रिस्तरीय नगर निकायों की व्यवस्था करता है :

- (अ) **नगर पंचायत :** ऐसे क्षेत्रों के लिए जो ग्राम से नगर बनने की संक्रमणकालीन प्रक्रिया में हैं उनमें नगर पंचायत का गठन किया जाना है।
- (ब) **नगर परिषद् (म्यूनिसिपल कौंसिल) :** नगर परिषद् का गठन छोटे नगरों में, और
- (स) **नगर निगम :** नगर निगम का गठन वृहत्तर क्षेत्रों अर्थात् बड़े नगरों में किया जाना प्रस्तावित किया गया है।[1]

इस प्रावधान के परंतुक में यह स्पष्ट किया गया है कि राज्य के राज्यपाल किसी औद्योगिक क्षेत्र को उपर्युक्त प्रकार के निकाय के गठन से मुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार अधिनियम में यह भी स्पष्ट किया गया है कि ग्राम से नगर बनने की संक्रमणकालीन प्रक्रिया, छोटे नगर और बड़े नगर की परिभाषा व उसमें जनसंख्या,

घनत्व व आय इत्यादि के विषय में स्पष्टीकरण राज्य के राज्यपाल द्वारा किया जाएगा।[2]

इस संविधान संशोधन में ही सभी राज्यों से यह अपेक्षा की गई थी कि इसके प्रवर्तन की तिथि से एक वर्ष की अवधि के भीतर वे अपने राज्यों में नगर निकायों से सम्बन्धित अधिनियम में, इस संविधान संशोधन के प्रावधानों को समायोजित करते हुए, आवश्यक संशोधन करेंगे। भारतीय संघ के प्रायः सभी राज्यों ने इस निर्देश का अनुसरण करते हुए या तो अपने पूर्ववर्ती अधिनियमों का निरसन करते हुए नए विधान का निर्माण कर लिया या अपने पूर्ववर्ती विधान में यथा आवश्यक संशोधन करते हुए 74वें संविधान संशोधन की मूल भावना और विशेषताओं को उसमें सम्मिलित कर लिया।

राजस्थान ने भी अपने पूर्ववर्ती राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की विभिन्न धाराओं में यथा आवश्यक संशोधन करते हुए 1994 में पूर्ववर्ती अधिनियम को परिमार्जित द संशोधित रूप में लागू कर दिया। यही नहीं, नवीन संरचना के प्रवर्तन के पश्चात् समय–समय पर अनुभूत प्रतिक्रियाओं का समायोजन करते हुए, इस अधिनियम में पश्चात्वर्ती वर्षों में और भी संशोधन किए गए हैं।

यहाँ एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाना प्रासंगिक है। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अब देश भर में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में केवल त्रिस्तरीय संरचना अर्थात् नगर निगम, नगर परिषद्, और नगर पंचायत को ही संविधानतः अपनाया जाएगा। **ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान संशोधन करते समय हमारे नीति निर्माता किंचित् हड़बड़ी में कतिपय त्रुटियां कर बैठे हैं।** उदाहरणार्थ उपर्युक्त त्रिस्तरीय संरचना के अतिरिक्त भी देश में छावनी बोर्ड व अनेक एकल उद्देश्यीय अभिकरण यथावत् कार्यशील हैं। 74वां संविधान संशोधन न तो इन इकाइयों का प्रावधान करता है और न ही इनके अस्तित्व का निषेध करता है। देश की राजधानी दिल्ली में ही न केवल छावनी बोर्ड पूर्ववत् कार्यरत हैं अपितु दिल्ली में दिल्ली नगर निगम व नई दिल्ली नगर परिषद् जैसी नगरीय इकाइयों के साथ–साथ दिल्ली विकास प्राधिकरण जैसा शक्तिशाली एकल उद्देश्यीय अभिकरण भी कार्यरत है।

अतः आगामी पंक्तियों में, देश में, और विशेषतः राजस्थान में, 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् की संरचना को दो भागों में विभक्त कर देखा जा रहा है :

1. **संविधानतः सृजित नगरीय प्रशासन की संरचना; और**
2. **संविधानेतर नगरीय प्रशासन की संरचना।**

उपर्युक्त दोनों प्रकार की संरचनाओं को निम्नांकित चार्ट के माध्यम से भली भांति आत्मसात् किया जा सकता है :

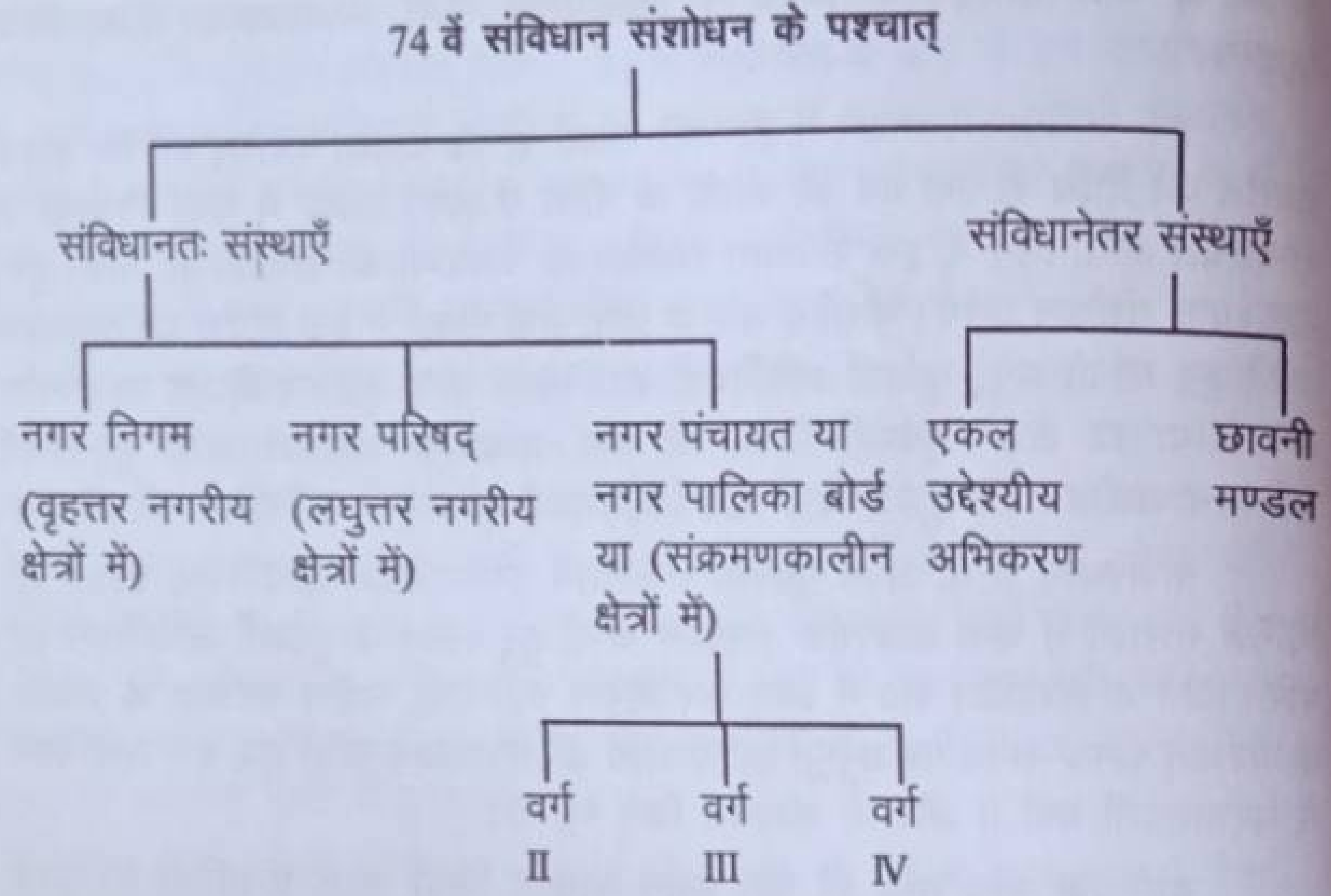

राजस्थान में उपर्युक्त दोनों प्रकार की संरचनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(i) संविधानतः सृजित नगरीय प्रशासन की संस्थाएँ

पूर्व में यह संकेत किया जा चुका है कि 74वें संविधान संशोधन की अपेक्षाओं के अनुरूप अब नगरीय प्रशासन की संस्थाएँ भी तीन स्तरों पर गठित की जाती हैं यथा नगर पंचायत, नगर परिषद् और नगर निगम। किन्तु, राजस्थान राज्य ने 74वें संविधान संशोधन के प्रवर्तन के तुरन्त पश्चात् 25 सितम्बर 1993 की अधिसूचना के माध्यम से नगर निकायों के वर्गीकरण के 20 दिसम्बर, 1977 के पूर्ववर्ती आदेश को अधिक्रमित करते हुए राज्य में स्थित समस्त नगर निकायों, का श्रेणी विभाजन निम्नानुसार किया है :[3]

1. नगर निगम : ऐसे वृहत्तर नगरीय क्षेत्रों में स्थापित किए जाएंगे जिनकी संख्या कम से कम 5 लाख से अधिक हों।

2. नगर परिषद् : ऐसे लघुत्तर क्षेत्रों में स्थापित की जाएंगी जिनकी संख्या 1 लाख से अधिक किन्तु 5 लाख से कम हो। (राजस्थान में नगर परिषदें ही प्रथम श्रेणी की नगरपालिका के रूप में जानी जाती हैं)

3. नगरपालिका बोर्ड : ऐसे क्षेत्रों में स्थापित किए जाएंगे जिनमें जनसंख्या 1 लाख से कम हो। इस कोटि की संस्थाओं का राज्य सरकार ने निम्नानुसार पुनः उप-वर्गीकरण किया है :[4]

(अ) नगरपालिका बोर्ड (द्वितीय श्रेणी) : ऐसे क्षेत्रों में जिनकी जनसंख्या 50 हजार से अधिक किन्तु 1 लाख से कम हो या ये निकाय जिला मुख्यालय पर हों या उस निकाय में प्रति व्यक्ति आय 200 रुपए हो।

(ब) नगरपालिका बोर्ड (तृतीय श्रेणी) : ऐसे क्षेत्रों में स्थापित किए गए हैं जिनकी जनसंख्या 25 हजार से अधिक किन्तु 50 हजार से कम हो अथवा उन निकायों में प्रति व्यक्ति आय 150 रुपए हो।

(स) नगरपालिका बोर्ड (चतुर्थ श्रेणी) : ऐसे क्षेत्रों में जिनकी जनसंख्या 25 हजार से कम हो।

इस प्रकार राजस्थान में 74वें संविधान संशोधन की अपेक्षाओं के अनुरूप वृहत्तर नगरीय क्षेत्रों में नगर निगम, लघुत्तर नगरीय क्षेत्रों में नगर परिषद् तथा संक्रमणकालीन क्षेत्रों या छोटे कस्बों में नगरपालिका नामक नगरीय निकाय अस्तित्व में है। **यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संक्रमणकालीन क्षेत्रों के लिए 74वें संविधान संशोधन में "नगर पंचायत" के गठन का प्रावधान किया गया था किन्तु राजस्थान राज्य ने प्रदेश में सबसे छोटे कस्बों अथवा संक्रमणकालीन क्षेत्रों में नगर पंचायत गठित न कर नगरपालिका बोर्ड, श्रेणी द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गठित किए हैं। 74 वें संविधान संशोधन की दृष्टि से यह अपवाद की स्थिति है।**

राजस्थान राज्य में गठित किए गए उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के निकायों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :

1. नगर निगम : भारतवर्ष में नगरीय स्थानीय प्रशासन की यह सर्वोच्च इकाई है। इसका सर्वोच्च होने का अभिप्राय यह है कि इसकी रचना महानगरों में की जाती है और नगरीय स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में इससे अधिक शक्तिशाली और अधिकार प्राप्त कोई अन्य निकाय नहीं है। नगर निगम की विधि सम्मत स्थापना के लिए प्रायः यह देखा जाता है कि वह क्षेत्र घना बसा हुआ है, उसकी जनसंख्या 5 लाख से ऊपर है, वर्तमान नगरीय निकाय की वार्षिक वित्तीय आय लगभग एक करोड़ रुपए है, बढ़े हुए करों को वहन करने की जनता में क्षमता है तथा निगम के पक्ष में उस क्षेत्र में प्रबल लोकमत है। ये मानक वस्तुतः कोई सुनिश्चित सिद्धांत नहीं है किन्तु भारत वर्ष में नगर निगम स्थापित करते समय प्रायः इनका ध्यान रखा जाने लगा है। नगर निगम की रचना दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, मुम्बई, हैदराबाद, बैंगलोर, आगरा और जयपुर जैसे बड़े नगरों में की गई है। इसकी स्थापना राज्य विधान मंडल द्वारा पारित विशेष अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। नगर निगमों के क्षेत्र में दिल्ली नगर निगम एक ऐसा निगम है जिसकी रचना संघीय संसद के कानून द्वारा की गई है। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश राज्य में महापालिका अधिनियमों के माध्यम से निगमों की स्थापना की गई है। प्रायः अन्य राज्यों में प्रत्येक नगर में नगर निगम स्थापित करने के लिए हर बार, राज्य सरकार को नया अधिनियम इस आशय के लिए विधानमंडल से पारित करवाना होता है। महाराष्ट्र राज्य में मुम्बई नगर निगम अधिनियम, 1888 तथा राज्य में अन्य नगर निगमों के लिए मुम्बई प्रान्तीय नगर निगम अधिनियम, 1949 पारित किया हुआ है। राजस्थान में पाँच नगरों जयपुर, जोधपुर, कोटा, अजमेर व बीकानेर में स्थापित नगर निगम, बिना किसी विशेष अधिनियम के ही स्थापित कर दिए गए हैं। अभी भी इनके लिए अधिनियम का प्रारूप राज्य सरकार के विचाराधीन है।

यदि देश के विभिन्न नगर निगमों का सृजन करने वाले अधिनियमों पर दृष्टिपात किया जाए तो विदित होता है कि नगर निगमों की स्थापना के लिए वैधानिक रूप से किसी भी राज्य में कोई मानदंड निर्धारित नहीं किया गया है। मध्य प्रदेश में यह प्रशासकीय परम्परा है कि जहाँ नगर निगम की स्थापना की जाती है वहाँ की जनसंख्या एक लाख से अधिक और नगर निकाय की आय 30 लाख रुपए से अधिक होनी चाहिए। अन्य सभी राज्यों में कोई विशेष मानदंड इस हेतु निर्धारित नहीं किया गया है। यदि राज्य सरकार किसी नगर निगम की स्थापना करना चाहती है तो विशेष अधिनियम के अन्तर्गत यह तथ्य राजपत्र में प्रकाशित किया जाना आवश्यक होता है। नागरिकों की जानकारी के लिए इस बात की उस क्षेत्र में उचित घोषणा भी की जाती है और निवासियों को एक निश्चित अवधि में अपनी आपत्तियां प्रस्तुत करने का अवसर भी दिया जाता है। इन आपत्तियों के विचार एवं निराकरण के पश्चात् राज्य सरकार निगम की स्थापना कर उसकी सीमा निर्धारित कर देती है।

नगर निगम एक कानूनी निकाय (बॉडी कारपोरेट) होता है। इसकी अपनी निगम मुद्रा (कॉमन सील) होती है। कानून की दृष्टि में **नगर निगम एक वैध व्यक्ति** जैसा अस्तित्व रखता है। वह संपत्ति का क्रय–विक्रय कर सकता है, इस पर मुकदमा चलाया जा सकता है तथा यह दूसरों पर मुकदमा चला सकता है। नगर निगम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि इसमें विचार–विमर्शकारी निकाय और कार्यकारी निकाय का पृथक्करण होता है।

नगर निगम के कार्यकारी निकाय का संचालन कमिश्नर के द्वारा किया जाता है जिसकी नियुक्ति राज्य सरकार करती है। नगर निगम की **परिषद्** क्षेत्र की जनता द्वारा चुनी जाती है। निर्वाचित परिषद् अपना मेयर चुनती है जो नगर का अध्यक्ष होता है। नगर पालिकाओं की तुलना में नगर निगम अधिक शक्तिशाली होता है। बजट तैयार करने व खर्च करने की अधिक स्वतंत्रता के साथ ही उसे कर लगाने की अधिक शक्तियाँ भी मिली हुई हैं। किन–किन नगरों में नगर निगम की स्थापना की जाए, यह विषय पूर्ण रूप से राज्य सरकार की नीतियों का प्रश्न होता है। राज्य सरकार नगर निगम पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण का अधिकार भी रखती है।

नगर निगम के विषय में विस्तृत विवरण पुस्तक के **आगामी अध्याय** में द्रष्टव्य है।

2. नगर परिषद् : नगरीय प्रशासन की दूसरी महत्त्वपूर्ण इकाई को नगर परिषद के नाम से जाना जाता है। इसकी स्थापना राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत की जाती है। नगर परिषदों की स्थापना वृहत्तर नगरों एवं कस्बों में की जाती है। देश में कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जिसमें नगर परिषदें न पाई जाती हों। नगर परिषद् के निर्माण का निर्णय करते समय भी राज्य सरकार नगर के आकार, नगरीकरण की स्थिति और जनसंख्या के घनत्व आदि को ध्यान में रखती है। प्रायः प्रत्येक राज्य सरकार नगर परिषदों की स्थापना के लिए आदर्श और आधारभूत कानून बनाती है जिसके अन्तर्गत

राज्य में नगर परिषदों की स्थापना, जब भी आवश्यक हो राज्य सरकार द्वारा की जाती है। उदाहरणार्थ, राजस्थान में राज्य विधान मंडल द्वारा नगरपालिका अधिनियम, 1959 पारित किया हुआ है जिसके अन्तर्गत राज्य सरकार जब चाहे किसी क्षेत्र को नगर परिषद् और नगरपालिका के रूप में घोषित कर सकती है। देश में नगर परिषदों या नगरपालिकाओं की स्थापना कितनी जनसंख्या पर की जानी चाहिए इसके लिए कोई सामान्य मापदंड नहीं अपनाया गया है अपितु अलग–अलग राज्यों में इसके लिए पृथक्–पृथक् मापदंड अपनाए हुए हैं।

नगर परिषदें भी विधिक दृष्टि से वैधानिक निकाय होती हैं। इनकी निगम मुद्रा होती है तथा शाश्वत उत्तराधिकार होता है। कानून की दृष्टि में नगर परिषदें वैध व्यक्ति होती हैं। ये सम्पत्ति का क्रय–विक्रय कर सकती हैं। इन पर मुकदमा चलाया जा सकता है तथा ये दूसरों पर मुकदमा चला सकती हैं।

नगर परिषदों में एक निर्वाचित **'परिषद्'** होती है जो जनता के द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जाती है। यह परिषद् नगरीय क्षेत्र में कानून और नियम बनाने के लिए अधिकृत होती है और नगर के शासन की नीति का निर्धारण इसी निकाय के द्वारा किया जाता है। परिषद् का आकार प्रत्येक राज्य में भिन्न–भिन्न होता है और उस राज्य की कुल जनसंख्या तथा नगर की जनसंख्या परिषद् के सदस्यों की संख्या को निर्धारित करने में निर्णायक होती है। परिषद् का कार्यकाल सभी राज्यों में प्रायः 3 से 5 वर्ष के बीच होता था। **अब 74 वें संविधान संशोधन के प्रावधानों में यह कार्यकाल 5 वर्ष कर दिया गया है।**

परिषद् अपने ही सदस्यों में से एक व्यक्ति को अपना अध्यक्ष चुनती है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि परिषद् का अध्यक्ष बहुमत दल का नेता होता है और नगरपरिषद् अध्यक्ष के रूप में वह न केवल नीति निर्माणकारी निकाय **'परिषद्'** की बैठकों की अध्यक्षता करता है अपितु निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने वाले प्राधिकारी कमिश्नर और उसके अधीनस्थ कार्मिक वर्ग पर भी वह नियंत्रण करता है। नगरपरिषद् अपने कार्य संचालन के लिए कतिपय स्थायी और अस्थायी समितियों का निर्माण भी करती है।

भारत के विभिन्न राज्यों में तीनों प्रकार के कार्यरत नगर निकायों का विवरण इस प्रकार है :

क्र.सं.	राज्य	नगर निगम	नगर परिषद्	नगर पंचायत
1.	आन्ध्रप्रदेश	07	109	01
2.	अरुणाचल प्रदेश	–	–	–
3.	असम	01	28	54
4.	बिहार	05	37	117

.... क्रमशः

क्र.सं.	राज्य	नगर निगम	नगर परिषद्	नगर पंचायत
5.	छत्तीसगढ़	10	08	71
6.	गोवा	–	13	–
7.	गुजरात	07	142	–
8.	हरियाणा	01	21	46
9.	हिमाचल प्रदेश	01	20	28
10.	झारखण्ड	01	20	22
11.	जम्मू एवं कश्मीर	–	03	67
12.	कर्नाटक	06	41+82*=123	93
13.	केरल	05	53	–
14.	मध्यप्रदेश	14	86	236
15.	महाराष्ट्र	16	228	–
16.	मणिपुर	–	09	18+1**
17.	मेघालय	–	06	03
18.	मिजोरम	–	–	–
19.	नागालैण्ड	–	–	09
20.	उड़ीसा	02	33	68
21.	पंजाब	04	98	32
22.	राजस्थान	05	09	169
23.	सिक्किम	–	–	07
24.	तमिलनाडु	06	102	611
25.	त्रिपुरा	–	11	12
26.	उत्तर प्रदेश	11	195	417
27.	उत्तराखंड	01	31	31
28.	पश्चिम बंगाल	06	194	03
29.	अंडमान एवं निकोबार	–	01	–
30.	चण्डीगढ़	01	–	–
31.	दिल्ली	01	01	–
32.	पांडिचेरी	–	05	–
33.	दादरा नगर हवेली	–	–	–
34.	लक्षद्वीप	–	–	–
35.	दमन एवं दीव	–	02	–
		111	1588	2116

* टाउन म्यूनिसिपल काउन्सिल

** लघु टाउन काउन्सिल

3. नगरपालिका बोर्ड : राजस्थान में नगर पंचायत के स्थान पर नगरपालिका बोर्ड (श्रेणी द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ) बनाए गए हैं। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि राजस्थान में समस्त नगरीय निकायों का गठन एक ही अधिनियम राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत किया हुआ है। वैसे भी राजस्थान में बड़े नगरों में नगर निगम कुछ ही वर्ष पूर्व बनाए गए हैं अतः केवल उक्त अधिनियम के माध्यम से नगर परिषदों तथा सभी श्रेणी की नगरपालिकाओं के गठन संबंधी प्रावधान किए गए हैं। नगर परिषद् की भांति ही नगरपालिका बोर्ड में भी जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एक परिषद् बोर्ड होती है जो निर्वाचन के पश्चात् अपने में से ही एक सदस्य का अध्यक्ष के रूप में चुनाव करती है। अध्यक्ष के नेतृत्व में परिषद् उस नगरीय क्षेत्र के लिए नगरीय प्रशासन की नीतियाँ बनाती है जिनका क्रियान्वयन पालिका में नियुक्त सर्वोच्च प्रशासक अर्थात् 'अधिशासी अधिकारी' द्वारा अधीनस्थ कार्मिकों की सहायता से किया जाता है। इस संस्था का कार्यकाल, शक्तियाँ व कार्य सभी नगर परिषद् के समान ही होते हैं। राजस्थान में नगर परिषद् व नगरपालिका बोर्ड के संगठन, कार्यों, शक्तियों, नियंत्रण, करारोपण तथा अन्य पक्षों में कोई विशेष अन्तर द्रष्टव्य नहीं है।

राजस्थान में नगरीय निकायों की संख्या का विवरण इस प्रकार है :[5]

1. नगर निगम – 5
2. नगर परिषद् – 13
3. नगरपालिका बोर्ड श्रेणी II– 36
4. नगरपालिका बोर्ड श्रेणी III – 58
5. नगरपालिका बोर्ड श्रेणी IV – 72

2. संविधानेतर नगरीय प्रशासन की संरचना

देश में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कतिपय ऐसी संस्थाएँ भी विधानतः कार्य कर रही हैं जिनका उल्लेख संविधान के 74वें संशोधन में, कदाचित् किसी अनायास त्रुटि के कारण नहीं हो सका है। इन संस्थाओं में मुख्यतः कतिपय वे छावनी बोर्ड जो ब्रिटिश काल से उन्हीं के द्वारा विनिर्मित छावनी बोर्ड अधिनियम, 1924 के अन्तर्गत गठित किए गए हैं तथा देश के प्रायः सभी महानगरों और वृहत्तर नगरीय क्षेत्रों में कतिपय एकल उद्देशीय अभिकरण यथा विकास प्राधिकरण, आवासन मंडल, पोर्ट ट्रस्ट इत्यादि प्रमुख हैं। एकल उद्देशीय अभिकरण ऐसी संस्थाएँ हैं जो विभिन्न महानगरों/वृहत्तर नगरों में एक नगरीय संस्था नगर–निगम या नगरपरिषद् या नगरपालिका बोर्ड के होते हुए भी उस क्षेत्र के विकास को सुनिश्चित करने के लिए गठित किए जाते हैं। इसी तरह सैनिक क्षेत्रों के आसपास के स्थानीय प्रशासन को संचालित करने के लिए छावनी बोर्ड गठित किए जाते हैं।

देश के भिन्न-भिन्न भागों में संविधानेतर कार्यशील इन दोनों कोटि की नगरी संस्थाओं का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :

1. छावनी मंडल : सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों में इस समय 62 छावनी बो

हैं। इन्हें 'केन्टोनमैन्ट बोर्ड' भी कहा जाता है। छावनी मंडल का प्रशासन पूर्ववर्ती भारतीय छावनी मंडल अधिनियम, 1924 के अन्तर्गत संचालित किया जाता था। किन्तु भारत सरकार ने सितम्बर 2006 में छावनी मण्डल से सम्बन्धित नया कानून बना दिया है। अब देश के सभी छावनी मण्डल इस नए कानून के प्रावधानों से शासित हो रहे हैं।

छावनी मंडल की स्थापना उन स्थानों पर की जाती है जहाँ छावनी में सेना रहती है। जिस स्थान पर सेना छावनी बनाकर रहती है उस स्थान के आस–पास बहुत से असैनिक क्षेत्रों का विकास भी हो जाता है। सेना की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और सुविधा के लिए बाजार बनाया जाता है और सैनिकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आस–पास भी पूरी बस्ती विकसित हो जाती है।

छावनी के आस–पास की जनसंख्या के आधार पर छावनी मंडल को तीन भागों में विभाजित किया गया है;

1. **प्रथम श्रेणी** छावनी में उन छावनी मंडलों को सम्मिलित किया जाता है जहाँ के नागरिकों की संख्या दस हजार से अधिक हो। देश में ऐसे तीस छावनी मंडल हैं।
2. **द्वितीय श्रेणी** छावनियों में असैनिक जनसंख्या 2,500 से दस हजार के बीच होती है। ऐसे छावनी मंडल 19 हैं।
3. **तृतीय श्रेणी** की छावनियों में असैनिक जनसंख्या 2,500 से कम होती है जो कुल 13 हैं।

छावनी बोर्ड में आधे सदस्य सेना के अधिकारी होते हैं तथा आधे सदस्य असैनिक नागरिकों में से निर्वाचित होते हैं। छावनी बोर्ड के सदस्यों की संख्या 3 से 15 के मध्य होती है। छावनी बोर्ड का सभापति सैनिक छावनी का सर्वोच्च सैनिक अधिकारी या ऑफिसर कमांडिंग स्वयं होता है तथा उपाध्यक्ष असैनिक सदस्यों में से चुना जाता है। इसके प्रशासन में सैनिक शासन की छाप रहती है। छावनी मंडल में चुने हुए सदस्यों का कार्यकाल 3 वर्ष होता है और सैनिक पदाधिकारियों में से लिए हुए सदस्यों का कार्यकाल तब तक जारी रहता है जब तक वे अपने पद पर पदासीन होते हैं।

छावनी बोर्ड के नगरीय प्रशासन पर अनेक बार यह आरोप लगाया जाता है कि यह व्यवस्था लोकतांत्रिक व्यवस्था से मेल नही खाती है, अतः इसे हटाकर किसी अन्य नगरीय निकाय की व्यवस्था इन क्षेत्रों के लिए की जानी चाहिए। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् के दिनों में श्री एस. के. पाटिल की अध्यक्षता में नियुक्त समिति का इस विषय में यह कहना था कि अनेक छावनी क्षेत्रों को असैनिक क्षेत्रों से पृथक् करना भौगोलिक दृष्टि से संभव नहीं है या ये असैनिक क्षेत्र इतने छोटे हैं कि स्वतंत्र रूप से किसी अन्य स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में काम नहीं कर सकते। श्री पाटिल की समिति ने जो प्रतिवेदन दिया उस पर संसद ने 1954 में विचार किया और इस विचार–विमर्श के पश्चात् भारत का सुरक्षा मंत्रालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि :

1. छावनी बोर्ड के प्रशासन पर सैनिक प्रशासन की छाप रहनी चाहिए अतः

छावनी बोर्ड के गठन का वर्तमान स्वरूप बना रहना उचित है।
2. असैनिक क्षेत्रों का प्रशासन असैनिक क्षेत्र समिति, जो छावनी मंडल की ही एक समिति है, को दे दिया जाना चाहिए तथा इन समितियों को छावनी मंडल अधिनियम के अन्तर्गत अधिक से अधिक शक्तियाँ स्वीकृत की जानी चाहिए।

कार्यों की दृष्टि से छावनी मंडल के कार्य भी नगरपालिका जैसे ही होते हैं किन्तु उसे कुछ अतिरिक्त शक्तियाँ भी प्रदान की जाती हैं। छावनी क्षेत्र में सफाई एवं दुराचार के नियंत्रण पर विशेष महत्त्व दिया जाता है। छावनी बोर्ड अनिवार्य और ऐच्छिक दोनों ही प्रकार के कार्यों का निष्पादन करता है। इसके **अनिवार्य कार्यों** को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

1. लोक सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा सुविधा के आधार पर मार्गों तथा अन्य स्थानों से अवरोधकों को हटाना;
2. मार्गों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में प्रकाश की व्यवस्था तथा छिड़काव;
3. मार्गों, नालियों एवं सार्वजनिक स्थानों की सफाई;
4. खतरनाक इमारतों एवं स्थानों को सुरक्षित बनाना या उन्हें हटाना;
5. मार्गों, पुलों, हाटों इत्यादि में जल निकास व्यवस्था, मल निकास व्यवस्था का निर्माण और उनका अनुरक्षण;
6. जन्म एवं मरण का पंजीकरण;
7. मृतक कार्यों के स्थलों का निर्माण एवं नियमन;
8. शुद्ध पेयजल की व्यवस्था;
9. सार्वजनिक चिकित्सालयों की स्थापना और रोग निरोधक टीकों की व्यवस्था;
10. प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना और उनका संचालन; तथा
11. अग्नि से बचाव।

ऐच्छिक कार्य

1. तालाबों और कुओं का निर्माण,
2. जनगणना,
3. बिजली का प्रबन्ध,
4. सार्वजनिक पर्यवेक्षण व्यवस्था का प्रबन्ध,
5. अस्वास्थ्यकर स्थानों को निवास के योग्य बनाना, तथा
6. विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक कर।

नगरीय प्रशासन की छावनी मंडल की यह व्यवस्था ऐसी नगरीय इकाई है जिसका संचालन राज्य सरकार द्वारा नहीं अपितु केन्द्र सरकार के सुरक्षा मंत्रालय के नियंत्रणाधीन होता है। छावनी मंडल मुख्यतः केन्द्रीय सरकार द्वारा नियंत्रित संस्था होती

है। इस कारण लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की स्वशासन की इकाई के रूप में इसका वैसा स्वागत नहीं किया जाता जैसा अन्य इकाइयों का किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि अधिकतर छावनी बड़े–बड़े नगरों के निकट स्थित होती हैं अतः इतने निकट स्थानीय शासन का होना न केवल अनावश्यक है अपितु इससे धन का अपव्यय भी होता है और अनेक उलझनें तथा भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि जहाँ छावनी होती है वहाँ स्थान की आवश्यकता से कहीं अधिक भूमि पर वे अधिकार कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में अधिकांश क्षेत्र सेना के अधिकार में होता है और आस–पास के बहुत छोटे क्षेत्र में असैनिक निवासी रहते हैं। छावनी मंडल का कार्यकरण सेना से इतना प्रभावित होता है कि इस पद्धति को लोकतांत्रिक कदापि नहीं माना जा सकता। किन्तु छावनी मंडल का अपना एक महत्त्व है और सैनिक छावनियों के समीप नागरिक प्रशासन को नियंत्रित और संचालित करने में इसकी अपनी असंदिग्ध भूमिका है।

6. एकल उद्देश्यीय अभिकरण

नगरीय शासन का अन्तिम प्रकार एकल उद्देशीय अभिकरण होता है। विद्वान इसे नगरीय शासन का प्रकार कहने की अपेक्षा नगरीय शासन की अन्य इकाइयों का सहायक कहते हैं। एकल उद्देशीय अभिकरण ऐसे संगठनों को कहते हैं, जो केवल एक उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनाए जाते हैं। उसे जो शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं उनकी सीमाओं में रह कर वह एक स्वायत्तशासी निकाय होता है, जिसके अपने पृथक् आय के स्रोत होते हैं और स्पष्टतः एक विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करना उसका वैधानिक कर्तव्य होता हैं।

स्थानीय स्वशासन कुछ कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाता है। कुछ विद्वानों का यह विचार भी है कि आधुनिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलता में कुछ कार्यकलाप इतने तकनीकी और जटिल होते हैं कि उनके लिए विशेष उपाय की आवश्यकता होती है। उन कार्यों का निष्पादन कुशलता से करने के लिए अनन्य रूप से भी पृथक् संगठनों की आवश्यकता होती है जिन्हें केवल एक दायित्व सौंपा जाता है। **डॉ. श्रीराम माहेश्वरी** ने यह भी कहा है कि कुछ कार्य इस तरह के होते हैं कि उन्हें राजनीति के दलदल से निकालने की आवश्यकता होती है इसलिए भी पृथक् अभिकरणों की स्थापना की जाती है। आधुनिक युग में जहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त तेजी से बढ़ रही है, नगर परिवहन, जल व्यवस्था, बिजली, नगरीय विकास और आयोजन तथा मल निकास इत्यादि कार्यों की प्रकृति ऐसी है जिन्हें स्थानीय शासन अपने अन्य नियमित दायित्वों के साथ कुशलता से पूरा नहीं कर सकता, इसीलिए स्वायत्तशासी एकल उद्देशीय अभिकरण स्थापित किए जाते हैं।

एकल उद्देशीय अभिकरण को विशिष्ट उद्देशीय संस्थाएं भी कहा जाता है। नगर विकास के अभिकरण जैसे दिल्ली विकास प्राधिकरण, जयपुर विकास प्राधिकरण और नगर विकास न्यास, बन्दरगाह न्यास (पोर्ट ट्रस्ट), आवासन मंडल इत्यादि भी विशिष्ट उद्देशीय **अभिकरण** हैं जिन्हें उनके नाम से इंगित दायित्व के निष्पादन का उत्तरदायित्व दिया जाता है।

नगर निगम या नगरपालिकाएं नगर में सफाई का कार्य तो कुशलता से कर सकती हैं किन्तु नगरीय विकास को सुनियोजित दृष्टि से नियंत्रित करने का कार्य वे ठीक से नहीं कर पाती हैं। नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या में, नगर का सुनियोजित विकास सुनिश्चित करने के लिए बड़े नगरों में विकास प्राधिकरण और छोटे नगरों में सुधार न्यासों की स्थापना की जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्वोक्त पाँच प्रकार की नगरीय संस्थाओं में से एक संस्था स्थानीय शासन के कार्यों को करने के लिए प्रत्येक नगर में हो सकती है और किसी विशेष उद्देश्य के लिए उस नगर में स्थानीय शासन की "एक" इकाई के होते हुए भी एकल उद्देशीय अधिकरण स्थापित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, दिल्ली में जहाँ नगर निगम है, नई दिल्ली क्षेत्र के लिए नगरपालिका है, दिल्ली छावनी बोर्ड है, वहीं दिल्ली में नगरीय विकास को सुनियोजित स्वरूप देने की दृष्टि से **दिल्ली विकास प्राधिकरण**, भी स्थापित किया गया है। इसी प्रकार कानपुर में **कानपुर विकास प्राधिकरण** और जयपुर में जयपुर नगर निगम के होते हुए भी **जयपुर विकास प्राधिकरण** जयपुर के सुनियोजित विकास को सुनिश्चित करने के लिए स्थापित किया गया है।

इसी प्रकार जिन महानगरों के किनारे समुद्र है और बन्दरगाह बने हुए हैं वहाँ के बन्दरगाहों के स्थानीय नियंत्रण के लिए बन्दरगाह न्यास बनाया गया है। उदाहरणार्थ कोलकाता, मुम्बई, विशाखापत्तनम, चेन्नई और कोचीन में समुद्री बन्दरगाह पर स्थानीय समस्याओं को हल करने, बन्दरगाहों पर गोदाम बनवाने, उनकी सफ़ाई करवाने, बड़े–बड़े जहाजों को ठहराने के लिए समुद्री तटों को गहरा करवाने, जहाज पर माल उतारने व चढ़ाने के लिए मजदूरों की व्यवस्था करने और बन्दरगाहों में आवश्यक सुधार करने के लिए इन बन्दरगाहों पर बन्दरगाह न्यास नामक अभिकरण संबंधित सरकारों ने स्थापित किए हैं। इन बन्दरगाह न्यासों के **प्रबन्ध मंडल में कुछ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं और शेष व्यापारियों द्वारा चुने हुए सदस्य होते हैं।** आंशिक रूप से निर्वाचित और आंशिक रूप से मनोनीत प्रतिनिधि मंडल बन्दरगाह न्यास के संचालन की समूची व्यवस्था को नियंत्रित करते हैं।

इसी प्रकार आजकल बड़े–बड़े नगरों में नगरीकरण के बढ़ते हुए दबाव के कारण आवास की समस्या अत्यन्त जटिल हो गई है। मकानों का किराया सुरसा के मुख की भांति बढ़ता चला जा रहा है। नगरों में रहने वाले निवासी आवास योग्य जमीन नहीं ले पाते और यदि ले भी पाते हैं तो मकान का निर्माण उनके लिए अत्यन्त श्रमसाध्य और व्ययसाध्य लगता है। इसलिए आधुनिक लोक कल्याण का जो संकल्प सरकारों ने ले रखा है उसके अनुरूप शहरी निवासियों की इस समस्या को हल करने के लिए प्रत्येक राज्य में **आवासन मंडल** बनाया गया है, जिनका प्रमुख कार्य शहर के निवासियों को बने बनाए स्वच्छ व पर्यावरण युक्त मकान उपलब्ध करवाना होता है। **आवासन मंडल प्रायः सरकार द्वारा मनोनीत होता है।** आवासन मंडल यह प्रयत्न करता है कि बड़े–बड़े नगरों का व्यवस्थित विकास हो और इस हेतु मकानों का निर्माण, आवासीय भूखंडों की नीलामी, बने–बनाए मकानों की नीलामी और भावी आवासीय आवश्यकताओं का आकलन कर लोगों को स्तरीय आवास उपलब्ध कराया जाए।

कुछ बड़े औद्योगिक नगरों के स्थानीय प्रशासन के संचालन के लिए और उनकी विशेष आवश्यकताओं, सुविधाओं के निराकरण के लिए **टाउनशिप** स्थापित किए जाते हैं। ये टाउनशिप भी कई प्रकार के होते हैं प्रथम वह **टाउनशिप**, जो एक तरह से कारखाने वाले स्थान पर बनाए जाते है जैसे–राउरकेला, भिलाई और जमशेदपुर में एक ही प्रकार के उद्योग होने के कारण उन्हें एक कोटि में रखा जाता है। द्वितीय टाउनशिप जटिलता वाले उद्योगों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है जहाँ एक प्रकार के नहीं अपितु विभिन्न प्रकार के कारखाने हैं जैसे स्टील, खाद और कोयला इत्यादि के कारखाने एक साथ उस क्षेत्र में पाए जाते हैं और, तृतीय प्रकार के टाउनशिप छोटे प्रकार के कारखानों के क्षेत्र में बनाए जाते हैं।

इस **टाउनशिप** में कतिपय सदस्य चुने हुए तथा कुछ अन्य सदस्य उद्योगों द्वारा एवं कुछ राज्य सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। इन क्षेत्रों के प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए एक प्रशासक भी नियुक्त किया जाता हैं। टाउनशिप यह सुनिश्चित करता है कि इस क्षेत्र की विकास संबंधी व अन्य नागरिक सुविधाओं का वितरण ठीक प्रकार से बना रहे। इनकी वित्तीय व्यवस्था स्वयं जनता व कारखानों के संचालकों द्वारा की जाती है। इन्हें राज्य सरकार भी सहायता उपलब्ध कराती है। इस तरह ये विभिन्न प्रकार के एकल उद्देशीय अभिकरण विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में 74वें संविधान संशोधन के प्रवर्तन के पूर्व जहाँ छः प्रकार के नगरीय निकाय कार्यरत थे वहीं 74वें संविधान संशोधन के पश्चात्‌वर्ती काल में अब पूरे देश में त्रिस्तरीय नगरीय निकायों के गठन की अपेक्षा की गई। अध्याय में दिए गए विवरण से यह भी स्पष्ट है कि राज्यों ने संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा प्रवर्तित त्रिस्तरीय संरचना को यथारूप अंगीकार नहीं किया है अपितु स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार राजस्थान जैसे राज्य ने उसमें किंचित् परिवर्तन भी दर्शाया है।

सन्दर्भ

1. भारत का संविधान, **74वां संशोधन अधिनियम**, 1992, अनुच्छेद 243, क्यू (1)
2. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243, क्यू (2)
3. बसन्तीलाल बाबेल व बाफना, **राजस्थान नगरपालिका कोड, अधिसूचना,** स्वायत्त शासन विभाग, जयपुर, 25 सितम्बर 1993, पृ. 588
4. **प्रतिवेदन, प्रथम राज्य वित्त आयोग, राजस्थान**, 1995, पृ. 154
5. वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन, निदेशालय स्थानीय निकाय विभाग, राजस्थान, जयपुर 2009-10.

4

महानगरों का स्थानीय प्रशासन : नगर निगम – उनकी स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की समस्या

भारतवर्ष में नगर निगम, स्थानीय प्रशासन की शीर्षस्थ इकाई है। औद्योगीकरण के कारण नगरों का विस्तार न केवल अत्यंत तीव्र गति से हुआ है, अपितु नगरों की जनसंख्या, उनकी भूमि सीमा की क्षमता से कहीं अधिक मात्रा में, गहन रूप से बढ़ गई है। जो नगर जनसंख्या और आकार की दृष्टि से विशाल हो गए हैं और जिनमें अनेकानेक नगरीय समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं, उन्हें महानगरों की श्रेणी में रखा जाता है। दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता और चेन्नई ऐसे बड़े महानगरों की श्रेणी में गिने जाते हैं किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् अब नगरों की जनसंख्या का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि इस श्रेणी में इनके अलावा भी अनेक नगरों जैसे हैदराबाद, पटना, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, त्रिवेन्द्रम, कोचीन, मदुरै, ग्वालियर, इन्दौर, जबलपुर, बिलासपुर, आगरा, इलाहाबाद, वाराणसी, लखनऊ, चन्द्रनगर, हावड़ा, जयपुर आदि को सम्मिलित करते हुए इनके स्थानीय शासन के लिए नगर निगमों की स्थापना की गई है।

भारत में प्रथम नगर निगम की स्थापना 1687 में (मद्रास) में की गई। इसके पश्चात् बम्बई 1888 और कलकत्ता 1951 में नगर निगम स्थापित किए गए थे। वर्तमान में देश में जो अन्य नगर निगम हैं उनमें अधिकांश स्वंतत्रता के बाद स्थापित किए गए हैं।

नगर निगम तथा नगर परिषद् में अन्तर

नगर निगम जहाँ महानगरों में स्थापित किए जाते हैं वहीं नगर परिषद् अथवा नगरपालिका महानगरों से छोटे नगरों में स्थापित की जाती हैं। इन दोनों की संगठनात्मक संरचना के अन्तर के प्रमुख बिन्दुओं को निम्नांकित विवरण में देखा जा सकता है :

1. दोनों में प्रथम अन्तर यह है कि जहाँ नगर निगम स्थापित करने के लिए राज्य सरकारों को विधान मंडल द्वारा पृथक् से विशेष विधान पारित कराना होता है जैसे बम्बई नगर निगम अधिनियम 1888, दिल्ली नगर निगम अधिनियम 1957, कलकत्ता नगर निगम अधिनियम 1951 इत्यादि। किन्तु कतिपय राज्यों में नगर निगम की स्थापना के लिए उस राज्य के लिए सामान्य कानून बनाए गए हैं जैसे उत्तर प्रदेश में कानपुर, आगरा, वाराणसी, इलाहाबाद व लखनऊ के नगर निगमों की स्थापना उत्तरप्रदेश महानगर पालिका अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत और मध्य प्रदेश में इसी निमित्त मध्य प्रदेश नगरपालिका निगम कानून 1956 के अन्तर्गत तथा पंजाब में पंजाब नगर पालिका निगम 1976 के अन्तर्गत निगमों का गठन किया गया है। वहीं नगरपालिकाएं स्थापित करने के लिए राज्य सरकारें एक सामान्य विधि बना देती हैं जिसके अन्तर्गत राज्य में, राज्य सरकार जब कभी चाहे किसी क्षेत्र में नगर पालिका बना सकती है। नगर पालिका की स्थापना के लिए राज्य सरकार को हर बार विधान सभा की अनुमति नहीं लेनी पड़ती अपितु एक बार पारित सामान्य विधि के अन्तर्गत राज्य सरकार को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि उस विधि की सीमा में रहते हुए वह किसी भी क्षेत्र को नगरपरिषद् या पालिका घोषित करने का कार्यकारी आदेश दे सकती है। सारतः यह कहा जा सकता है कि कोई भी नगर निगम राज्य के विधानमंडल द्वारा पारित विशिष्ट संविधि या सामान्य संविधि के अन्तर्गत ही अस्तित्व में आता है जबकि नगरपालिका के लिए हर बार यह आवश्यकता नहीं पड़ती। इस संदर्भ में राजस्थान सरकार ने 1992 में अपवाद प्रस्तुत किया है। राज्य में जयपुर, जोधपुर व कोटा के नगर निगम स्थापित करने के लिए पृथक् अधिनियम न बनाकर राजस्थान नगर पालिका अधिनियम 1959, में संशोधन करके ही नगर निगमों की स्थापना कर दी गई है।

2. नगर निगम और नगर परिषद् में दूसरा प्रमुख अन्तर यह होता है कि नगर निगम में विचारात्मक और कार्यकारी निकायों का पृथक्करण पाया जाता है जबकि नगर परिषद् में यह पृथक्करण नहीं होता। नगर निगम में नगरीय प्रशासन के लिए नीति निर्धारण का विचार–विमर्शकारी कार्य निगम की परिषद् मेयर की अध्यक्षता में सम्पन्न करती है; मेयर और परिषद् का नीतियों के निष्पादन अर्थात् कार्यकारी निकाय पर कोई नियंत्रण नहीं होता। निगम का कार्यकारी निकाय कमिश्नर की अध्यक्षता में गठित होता है जो निगम द्वारा निर्धारित नीतियों और पारित विधियों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता है। दूसरी ओर, नगरपालिकाओं में यह विभाजन नहीं होता है। नगरपालिकाओं की परिषद् अपने निर्वाचित अध्यक्ष के नेतृत्व में न केवल नगरीय प्रशासन की नीतियाँ निर्धारित करती है अपितु परिषद् का अध्यक्ष नीतियों के निष्पादन करने वाले कार्यकारी निकाय कमिश्नर और उसके स्टाफ पर भी पूरा नियंत्रण रखता है। इस तरह नगर निगम जहाँ विचारात्मक और कार्यकारी कार्यों के पृथक्करण पर आधारित नगरीय प्रशासन का प्रतिमान (मॉडल) प्रस्तुत करता है वहीं नगर परिषदें या नगरपालिकाएं इस पृथक्करण के न होने का प्रतिमान मानी जाती हैं।

3. नगर निगम और नगरपालिकाओं में जनसंख्या और आय के स्तर की दृष्टि से भी अन्तर पाया जाता है। नगर निगम की जनसंख्या नगरपालिकाओं की तुलना में अधिक होती है क्योंकि नगर निगम प्रायः महानगरों में बनाए जाते हैं जिनकी जनसंख्या प्रायः 5 लाख से अधिक होती है। जबकि नगरपालिकाओं की स्थापना न्यूनतम 5 हजार की जनसंख्या पर भी कर दी जाती है। इसी प्रकार कोई भी नगर निगम स्थापित करने के लिए उस नगर में एक करोड़ रुपए वार्षिक आय को एक मापदंड माना जाता है जबकि नगरपालिकाओं के लिए ऐसी कोई पूर्वापेक्षा नहीं है।

4. नगर निगम का राजनीतिक अध्यक्ष मेयर होता है जो सामान्यतः एक वर्ष के लिए चुना जाता है, यद्यपि उसे उसके पद पर तीन बार भी चुना जा सकता है, जबकि नगर परिषद् का राजनीतिक नेतृत्व परिषद् के निर्वाचित अध्यक्ष द्वारा किया जाता है जिसका कार्यकाल नगरपालिका के कार्यकाल के समान 5 वर्ष होता है। राजस्थान में भी नगर निगमों की स्थापना के लिए चूंकि कोई अधिनियम नहीं बनाया गया है अतः मेयर/उपमहापौर का कार्यकाल परिषद् के कार्यकाल के समान 5 वर्ष ही है।

दोनों में **समानता** का बिन्दु यह है कि दोनों निकायों का निर्माण राज्य सरकार करती है जिसमें इनके नियंत्रण और पर्यवेक्षण की शक्तियाँ भी सन्निहित होती हैं। राज्य सरकार नगर निगम और नगर परिषद् दोनों को भंग करके एक निश्चित अवधि के लिए उनका प्रशासन अपने हाथ में लेने के लिए सक्षम मानी जाती है।

नगर निगम स्थापित करने के मापदंड

नगर निगम स्थापित करने के लिए कोई स्पष्ट मापदंड निर्धारित नहीं है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि स्थानीय शासन राज्य सूची का विषय है इस कारण स्थानीय शासन की कौन सी इकाई, कहाँ स्थापित की जानी है, इस विषय में राज्य सरकारें निर्णय लेने के लिए पूर्णतः प्राधिकृत और स्वतंत्र होती हैं। नगर निगम प्रायः घनी जनसंख्या वाले नगरों में बनाए जाते हैं। इनकी स्थापना किन बड़े नगरों में की जाए, यह एक नीति संबंधी प्रश्न है जो संबंधित राज्य सरकार द्वारा अपने साधन –स्रोतों एवं स्थानीय स्वायत्त शासन के दर्शन इत्यादि के परिवेश में निर्धारित किया जाता है। वर्तमान में भारत में कतिपय ऐसे नगर निगम भी हैं जिनकी जनसंख्या 50 से 80 लाख के मध्य है जबकि कुछ ऐसे नगर निगम भी स्थापित हैं जिनकी जनसंख्या 5 लाख से भी कम है। इसी प्रकार कुछ नगर निगमों की वार्षिक आय 50 लाख रुपए से भी कम है।

ग्रामीण–नगरीय संबंध समिति, 1966 ने यह अभिशंसा की थी कि स्थानीय शासन की निगम पद्धति उन्हीं नगरों में स्थापित की जाए जिनकी जनसंख्या 5 लाख और वार्षिक आय एक करोड़ रुपए से कम न हो। समिति की इस अभिशंसा के विषय में पश्चात्तवर्ती काल में यह अनुभव किया गया है कि जनसंख्या एवं आय स्तर पर आधारित नगर निगम बनाने की ये कसौटियाँ अपेक्षाकृत अधिक कठोर हैं अतः किसी वर्तमान नगरपालिका को नगर निगम में परिवर्तित करने की उपर्युक्त अपेक्षाओं को एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में राज्य सरकारों द्वारा आम तौर पर नगर निगम बनाने

के लिए जिन आधारों को ध्यान में रखा जाता है वे निम्नांकित हैं :

1. घना बसा हुआ क्षेत्र हो,
2. विद्यमान इकाई नगरपालिका या नगर परिषद् पर्याप्त विकसित हो तथा उसके भावी विकास की संभावना हो,
3. नगरपालिका की वर्तमान वित्तीय स्थिति तथा सुदृढ़ संभावनाएं हों,
4. बढ़े हुए करों को वहन करने की जनता की क्षमता तथा इच्छा, और
5. निगम के पक्ष में प्रबल लोकमत।

नगर निगम के निर्माण के लिए ये मानक कोई सुनिश्चित और अपरिवर्तनीय सिद्धांत नहीं हैं। वस्तुतः ये वे मापदंड हैं जिन्हें राज्य सरकारें प्रायः नगर निगम स्थापित करते समय ध्यान में रखती हैं। राज्य सरकारें ही वस्तुतः इस बात का अन्तिम निर्णय करती हैं कि किस नगर में नगर निगम बनाया जाए। सामान्यतः जो नगर महानगर बनने की ओर अग्रसर हों और जहाँ वर्तमान नगरपालिका की वित्तीय स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो तथा लोकमत निरन्तर नगर निगम की माँग करता रहा हो, उस नगर में राज्य सरकारें नगर निगम बनाने के लिए तैयार हो जाती हैं।

नगर निगम का आन्तरिक संगठन

राजस्थान में नगर निगम का संगठन

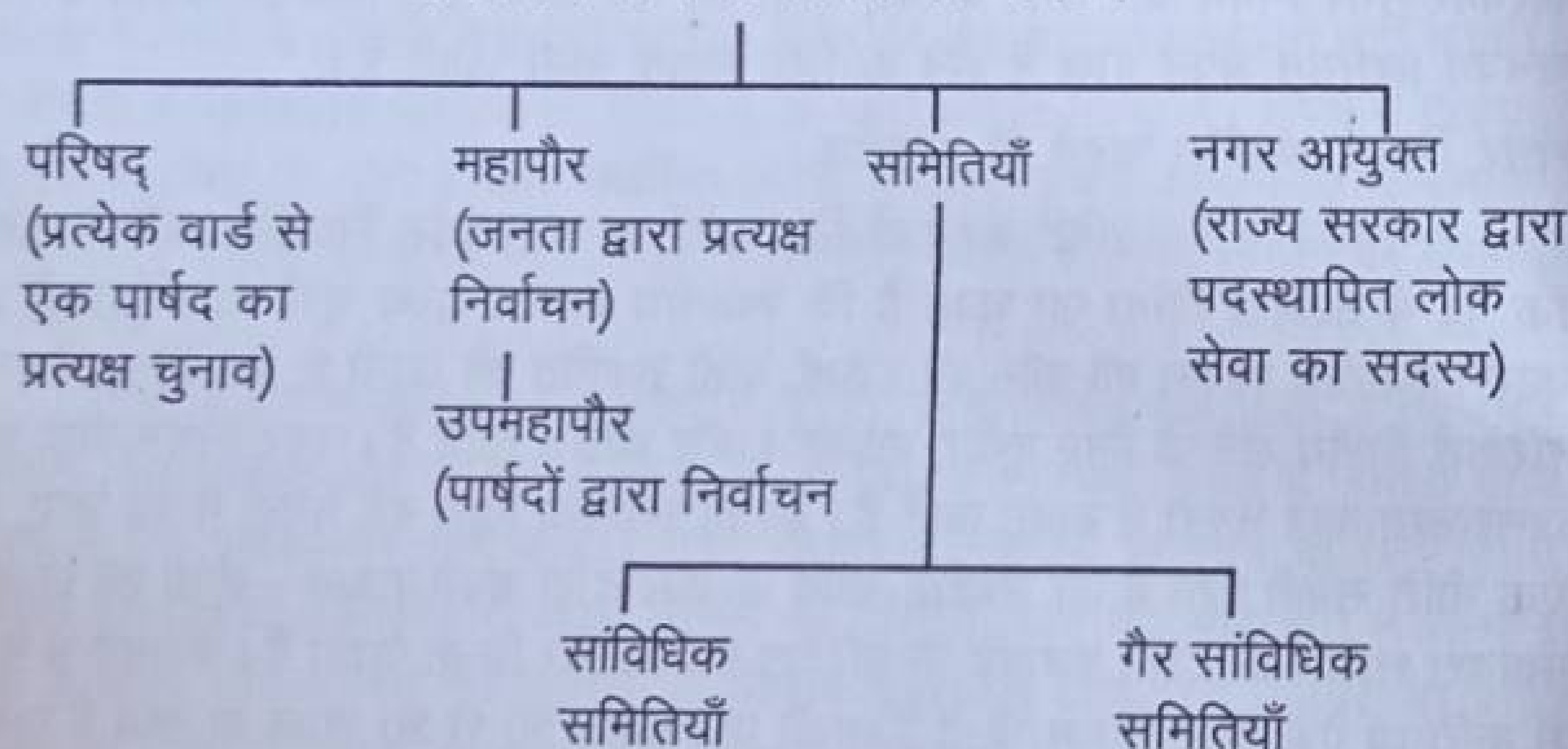

नगर निगम के संगठन को निम्नांकित घटकों के माध्यम से समझा जा सकता है :

1. परिषद्,
2. मेयर तथा उपमेयर,
3. नगर आयुक्त, तथा
4. समितियाँ।

किसी भी नगर निगम की रचना उपर्युक्त 4 घटकों से मिलकर होती है। उनका प्रत्येक का विवरण इस प्रकार है :

1. परिषद्: नगर निगम एवं नगर परिषद् दोनों में ही एक निर्वाचित परिषद् का प्रावधान होता है। यह निर्वाचित परिषद् नगर निगम का वैधानिक निकाय मानी जाती है जिनमें नगर की जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। यह एक प्रकार की स्थानीय विधायिका है जिस पर यह दायित्व होता है कि स्थानीय जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप नगरीय कानूनों और नियमों का निर्माण करे। सम्पूर्ण नगर को चुनाव की दृष्टि से वार्डों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक प्रतिनिधि उस क्षेत्र के वयस्क नागरिकों के द्वारा चुना जाता है। परिषद् में नगर के सभी वार्डों से चुने हुए प्रतिनिधियों को पार्षद कहा जाता है। परिषद् का कार्यकाल अधिनियम द्वारा नगर निगम के कार्यकाल जितना होता है। परिषद् में निर्वाचित सदस्यों के अलावा कुछ सदस्य और भी होते हैं जिन्हें एल्डर मैन अर्थात् नगर वृद्ध कहा जाता है। इस कोटि में नगर के वयोवृद्ध, अनुभवी और ऐसे लोगों को स्थान दिया जाता है जिनकी उपस्थिति से नगरीय शासन की छवि उत्कृष्ट होने की संभावना रहती है। इस प्रथा में महिला वर्ग को प्रतिनिधित्व मिलने के अलावा नगर के ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति, विशेषज्ञ और नगरीय शासन तथा प्रशासन के क्षेत्र में ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को भी स्थान मिल जाता है जो प्रायः चुनाव लड़कर अपना योगदान देने के प्रति रुचि नहीं रखते। प्रायः सभी नगर निगमों में इस तरह दो प्रकार के सदस्य होते हैं एक; वे जो सीधे निर्वाचित होते हैं और दूसरे वे जो निर्वाचित पार्षदों द्वारा नगरवृद्ध के रूप में परिषद् में सहवरित किए जाते हैं। दिल्ली नगर निगम में जहाँ 100 सदस्य निर्वाचित होते हैं वहीं 6 सदस्य एल्डर मैन के रूप में लिए जाते हैं। इसी प्रकार कोलकाता नगर निगम में 100 सदस्य निर्वाचित होते हैं और 5 सदस्य एल्डर मैन लिए जाते हैं। मुम्बई नगर निगम में एल्डर मैन कोटि के सदस्यों का कोई प्रावधान नहीं है। राजस्थान में जयपुर, कोटा व जोधपुर नगर निगमों में पार्षदों की संख्या क्रमशः 70, 60 व 60 निश्चित की गई है। इनमें एल्डरमैन के रूप में सदस्यों का कोई प्रावधान नहीं है। नगरीय शासन का विशेष अनुभव रखने वाले तीन सदस्यों के सहवरण अवश्य किया गया है।

नगर निगम की इस परिषद् का आकार सभी नगर निगमों में भिन्न–भिन्न होता है। वस्तुतः परिषद् का यह आकार नगर की जनसंख्या पर निर्भर करता है। परिषद् के गठन के सन्दर्भ में 74वें संविधान संशोधन में कहा गया है कि प्रत्येक नगर निगम क्षेत्र को कतिपय निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जाएगा, जिन्हें वार्डों के रूप में जाना जाएगा।[1] इन वार्डों से सदस्य, वयस्क मताधिकार के द्वारा उस वार्ड के मतदाताओं द्वारा चुने जायेंगे। राज्य विधानमंडल, विधि के माध्यम से, नगरपालिका प्रशासन का विशिष्ट ज्ञान व अनुभव रखने वाले व्यक्तियों, लोक सभा व राज्य विधानसभा के सदस्यों तथा नगरीय प्रशासन के संबंध में गठित समितियों के सभापति इत्यादि के लिए, नगर निगम में प्रतिनिधित्व देने के लिए आवश्यक उपबंध कर सकने के लिए अधिकृत किए गए हैं। इस संबंध में राजस्थान में कानून में प्रावधान किया गया है कि नगर निगम में कोई एक विधानसभा सदस्य, एक लोकसभा सदस्य और नगरपालिका प्रशासन का विशेष ज्ञान/अनुभव रखने वाले तीन व्यक्तियों को राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा सदस्य बनाने हेतु

नाम निर्दिष्ट कर सकेगी किन्तु इन्हें परिषद् की बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होगा।[2]

परिषद् की सदस्यता हेतु आरक्षण

74वें संविधान संशोधन द्वारा प्रत्येक नगर निगम क्षेत्र में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण देने का प्रावधान किया गया है। इस प्रणाली से आरक्षित स्थानों की कुल संख्या के कम से कम एक–तिहाई स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं। राज्य विधान मंडल कानून के माध्यम से निगम के क्षेत्र में अन्य पिछड़ा वर्गों को भी आरक्षण दे सकते हैं। राजस्थान की सरकार ने इस प्रावधान के अन्तर्गत अन्य पिछड़े वर्गों के लिए अक्टूबर 1999 के पश्चात् अधिकतम 21 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की है।[3]

इस वर्ग में भी आरक्षित स्थानों के एक–तिहाई स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित रखे जाएंगे। इस प्रकार अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए उनके वर्ग में आरक्षित सीटों सहित, निगम क्षेत्र की कुल सीटों के एक–तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित रखने का प्रावधान अब संविधान संशोधन के पश्चात् प्रभावी हो गया है। स्थानों का यह आरक्षण चक्रानुक्रम अर्थात् बारी–बारी से निगम क्षेत्र में परिवर्तित होता रहेगा। संविधान संशोधन के पश्चात् राज्य के सभी निगमों में मेयर व उपमेयर के पदों का आरक्षण भी चक्रानुक्रम से किया जाने लगा है।

निगम की परिषद् के लिए राज्य विधान मंडल योग्यताओं और अयोग्यताओं का निर्धारण करने के लिए अधिकृत किए गए हैं। यदि कोई व्यक्ति राजस्थान में राज्य विधान सभा की सदस्यता के लिए अयोग्य है तो उसे निगम की परिषद् के लिए भी अयोग्य माना जाएगा किन्तु इसमें न्यूनतम आयु सीमा मे 25 वर्ष में स्थान पर 21 वर्ष की आयु प्राप्त करने की छूट दी गई है।

कार्यकाल

74वें संविधान संशोधन द्वारा नगर निगमों की परिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया है। इससे पहले विघटन किए जाने की स्थिति के पूर्व उसे सुनवाई का समुचित अवसर देना होगा। यदि किसी निगम की परिषद् को उसकी प्रथम बैठक की तिथि से 5 वर्ष की अवधि के पूर्व भंग किया जाता है तो भंग किए जाने की तिथि से छः माह की अवधि में पुनः चुनाव कराने होंगे तथा नयी चुनी हुई परिषद् शेष अवधि के लिए चुनी जाएगी।

नगर निगम की यह परिषद् नगरीय शासन का विचार–विमर्शकारी निकाय है। जैसा कि पूर्व में व्यक्त किया जा चुका है कि नगर निगम में विचार विमर्शकारी निकाय और कार्यात्मक निकाय में पार्थक्य पाया जाता है। वस्तुतः निगम की परिषद् पर यह अनन्य दायित्व होता है कि वह नगरीय स्थानीय प्रशासन के लिए नीतियाँ निर्धारित करे और आवश्यक कानून तथा नियम बनाए। निर्वाचित पार्षदों एवं नगरवृद्धों से निर्मित इस

परिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों के कार्यान्वयन का दायित्व अनन्य रूप से निगम के कार्यकारी निकाय **नगर आयुक्त** और उसके **अधीनस्थ कार्मिकों** पर होता है।

2. मेयर तथा उपमेयर : इंग्लैण्ड की भांति हमारे नगरीय प्रशासन में भी नगर निगम का अध्यक्ष मेयर होता है। नगर निगम की कार्यपालक शक्तियाँ उसमें औपचारिक रूप से निहित होती हैं। वह निगम का अध्यक्ष होता है तथापि औपचारिक प्रधान होने के कारण वह निगम का वास्तविक कार्यपालक नहीं होता, वह नगर का प्रथम नागरिक होता है। वह नगर की शान और गरिमा का प्रतीक समझा जाता है।

राजस्थान में वर्ष 2009 में पूर्व नगर निगम के निर्वाचित व मनोनीत पार्षदों द्वारा अपने में से ही मेयर का चुनाव किया जाता था। किन्तु 2009 में राज्य सरकार ने राजस्थान नगरपालिका (निर्वाचन) नियम 1994 में संशोधन करते हुए नियम 78 में यह प्रावधान किया है कि नगर निगम के मेयर का निर्वाचन उस नगरीय क्षेत्र के सभी वार्डों के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाएगा।

मेयर, जिसे निगम का अध्यक्ष भी कहा जा सकता है, निगम की परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है। उसी के निर्देश पर परिषद् की सामान्य और विशेष बैठकें बुलाई जाती हैं।

हमारे देश में नगर निगम का मेयर कार्यकारी शक्तियों से वंचित किया गया है। निगम के इस अध्यक्ष को नगर का राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया गया है और नगरीय प्रशासन के कार्य संचालन का दायित्व निगम आयुक्त पर छोड़ा गया है। ग्रामीण–नगरीय संबंध समिति ने भी निगमाध्यक्ष को कार्यकारी अधिकार नहीं देने की अभिशंसा की थी। समिति का यह मत था कि कोई भी मेयर राजनीतिक दृष्टि से दलगत राजनीति के दबाव से इतना ग्रस्त होता है कि उस पर कार्यकारी शक्तियों का भार नहीं डाला जा सकता। नगर के प्रशासन का दायित्व एक पूर्णकालिक कार्य है जिसे निष्पादित करने के लिए विशेष कौशल, प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता होती है। इसलिए नगरीय प्रशासन के निष्पादन का दायित्व मेयर को नहीं दिया जा सकता, यह दायित्व नगर आयुक्त का ही रहना चाहिए। यद्यपि समिति ने यह राय भी व्यक्त की थी कि निगम के मेयर को निगम के सरकारी अभिलेखों के देखने अथवा माँगने का पूरा अधिकार होना चाहिए और यदि वह कोई सूचना निगमायुक्त से चाहे तो उसे तत्काल उपलब्ध की जानी चाहिए।

पूर्व में निगम के मेयर का एक वर्ष का कार्यकाल तथा उसके निर्वाचन की अप्रत्यक्ष व्यवस्था उसे अत्यन्त शक्तिहीन बना देती थी। उसका निर्वाचन जनता द्वारा नहीं अपितु जनता के निर्वाचित पार्षदों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता था। अतः प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित जनप्रतिनिधि की शक्तियाँ भी उसमें नहीं होती थी। उसका एक वर्ष का कार्यकाल भी आलोचना का विषय रहा है। यह कहा जाता था कि उसका कार्यकाल इतना अल्प होता है कि जब एक बार निर्वाचित होने पर निगम के काम–काज को वह यत्किंचित् समझ पाता तब तक उसका कार्यकाल समाप्त हो जाता था। इसलिए अनेक बार यह माँग की जाती थी कि कदाचित् अधिक शक्तियाँ उसे न दी जाएं किन्तु उसका कार्यकाल निगम

के कार्यकाल के समान किया जाना चाहिए जिससे नगर के इस प्रथम नागरिक को किसी अप्रतिष्ठाजनक स्थिति से साक्षात्कार न करना पड़े।

निगम में मेयर की उक्त कमजोर स्थिति की लोकतांत्रिक प्रणाली के अनुरूप न होने से राजस्थान सरकार ने सन् 2009 में राजस्थान नगरपालिका (निर्वाचन) नियमों में संशोधन करते हुए निगम के मेयर व सभी नगरीय निकायों में उसके अध्यक्ष/सभापति को न केवल जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाने का प्रावधान किया है अपितु उसका कार्यकाल भी परिषद् के पाँच वर्ष के कार्यकाल के समान कर दिया है।

यह व्यवस्था किए जाने से जयपुर नगर निगम जैसे कतिपय नगरीय निकायों में एक अजीब विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित मेयर तो किसी एक राजनीतिक दल का है किन्तु परिषद् में किसी अन्य राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो गया है। यह ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसकी कल्पना नियमों में संशोधन करने वाली सरकार ने, कदाचित्, नहीं की होगी। इस स्थिति ने नगर निकाय के लोकतांत्रिक व नियम सम्मत कार्यसंचालन के समक्ष अजीब सी विरोधाभासी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।

मेयर/सभापतियों के प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाने की इस व्यवस्था से नगरीय निकायों में अब तक कमजोर रहे मेयर/सभापतियों की स्थिति में एकदम परिवर्तन आ गया है और अब वे जनता के प्रत्यक्ष मतों से निर्वाचित जन प्रतिनिधि के रूप में न केवल अपनी शक्तिशाली स्थिति का अनुभव कर रहे हैं अपितु जनता भी उनसे नगरीय शासन में, पहले की तुलना में, अधिक प्रभावी भूमिका की अपेक्षा कर रही है। 'मेयर इन काउंसिल' जैसी शक्तिशाली व्यवस्था, जिसमें नगर निकायों के प्रमुखों को अधिक शक्तिशाली बनाया जाना प्रस्तावित है, अपनाए जाने पर भी विचार किया जा रहा है।

नगर निगम में मेयर के अतिरिक्त एक उपमहापौर भी होता है। उपमहापौर का निर्वाचन परिषद् के पार्षदों द्वारा अपने में से ही महापौर की अनुपस्थिति में वह परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है और उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों को सम्पन्न कर सकता है। राजस्थान में स्थापित सभी नगर निगम राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 में संशोधन के माध्यम से बनाए गए हैं। चूंकि इनके लिए पृथक् अधिनियम पारित नहीं किए जा सके हैं अतः इनमें महापौर व उपमहापौर इत्यादि का कार्यकाल नगर परिषदों के अध्यक्ष की भांति ही 5 वर्ष होता है। राज्य सरकार में नगर निगम का नया अधिनियम अभी विचाराधीन है।

राजस्थान के नये नगरपालिका अधिनियम 2009 के अन्तर्गत प्राप्त शक्तियों का उपयोग करते हुए राज्य सरकार ने हाल ही में 5 जुलाई, 2010 को एक आदेश जारी करते हुए नगर निगमों में मेयर को एक करोड़ रुपये तक के खर्चों के आदेश देने की शक्ति प्रदान की है। मेयर को 10 हजार प्रतिमाह भत्ता भी मिलेगा।

3. नगर आयुक्तः जैसा कि पूर्व में व्यक्त किया जा चुका है कि नगर निगम में विधायी और कार्यकारी शक्तियों का पृथक्करण होता है। विधायी शक्तियाँ निगम की परिषद्

में निहित होती हैं तथा कार्यकारी शक्तियाँ उसके आयुक्त में निहित मानी जाती हैं। इस प्रकार नगर आयुक्त नगर निगम का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होता है इसे नगर पालक भी कहा गया है।

नगर आयुक्त के पद की संरचना सर्वप्रथम 1888 में बम्बई नगर निगम में की गई थी। नगर निगम में मुख्य कार्यकारी अधिकारी की कल्पना इसलिए की गई जिससे स्वायत्त शासन की संस्थाओं में लोकतंत्र के साथ–साथ कुशलता को भी सुनिश्चित किया जा सके। **प्रोफेसर एल. डी. व्हाइट** ने यह मत व्यक्त किया है कि क्या स्थानीय सरकार लोकप्रियता के लोकतांत्रिक आधार के साथ–साथ कुशलता के उच्च मानदंडों को भी बनाए रख सकती है? भारत में सर्वप्रथम सर फिरोजशाह मेहता ने लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित परिषद् की शक्तियों पर, इस प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी के माध्यम से सीमा लगाने की आवश्यकता अनुभव की थी। उन्होंने यह अनुभव किया था कि यदि कार्यकारी शक्तियाँ निर्वाचित परिषद् को प्रदान कर दी गई तो अव्यवस्था और अकुशलता का साम्राज्य परिव्याप्त हो जाएगा। इसीलिए कुशलता के मानदंड को प्राप्त करने के लिए कार्यकारी शक्तियों का एक कार्यकारी अधिकारी में निहित किया जाना आवश्यक है।" कालांतर में नगर आयुक्त का यह पद अत्यन्त उपयोगी पाया गया जिसे सभी नगर निगमों ने अपने यहाँ अपना लिया।

नगर आयुक्त की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है तथा यदि नगर निगम किसी केन्द्र शासित प्रदेश में है तो उसकी नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। इस पद पर नियुक्त किए जाने वाला अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा या राज्य की प्रशासनिक सेवा का अधिकारी होता है। उसकी नियुक्ति सरकार द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए की जाती है। उदाहरणार्थ दिल्ली में प्रथम बार में उसकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की गई है। चेन्नई और मुम्बई नगर निगमों में उसका कार्यकाल 3 वर्ष का होता है। संबंधित राज्य सरकार को यह अधिकार होता है कि वह उसके कार्यकाल में वृद्धि कर दे या उसके असफल होने पर उसे उसके पद से अवधि पूर्व भी हटा सकता है।

राज्य सरकार द्वारा नगर आयुक्त की नियुक्ति की प्रणाली की विद्वानों द्वारा आलोचना की गई है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि सरकार द्वारा नियुक्त एक अधिकारी स्थानीय शासन की इकाई का प्रशासन चलाए यह बात लोकतंत्र तथा स्वायत्तता के सिद्धांतों से मेल नहीं खाती। **प्रोफेसर विलियम ए. रॉब्सन** ने नगर आयुक्त की राज्य द्वारा नियुक्ति की आलोचना करते हुए लिखा है, "मुम्बई की शासन व्यवस्था में कार्यकारी शक्तियाँ नगर आयुक्त के हाथों में केन्द्रित हैं और वह एक ऐसा अधिकारी होता है जिसकी नियुक्ति राज्य सरकार करती है।" कोई भी स्वायत्तशासी नगर के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि नीति निर्धारण और वित्तीय नियंत्रण का कार्य निर्वाचित परिषद् के क्षेत्राधिकार में आता है, अपितु कार्यकारी शक्तियाँ भी या तो परिषद् के स्वयं के हाथों में हों या उसके द्वारा नियुक्त किसी निकाय के हाथों में या नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित अधिकारियों में निहित हों। कोलकाता में भी कुछ ऐसी ही व्यवस्था विद्यमान है जो एक असंतोष उत्पन्न करने वाला तथ्य है। क्या कारण हैं कि इन विशाल महानगरों

में, जिनकी जनसंख्या लाखों में हैं, जिनकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ महान हैं जो आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत समर्थ हैं, जिनका इतिहास और परम्पराएं गौरवमय हैं और जिनके औद्योगिक तथा व्यापारिक जीवन विकसित हैं, लोकतांत्रिक भावना इतनी क्षीण है कि अपने पर स्वयं शासन करने की उनकी आकांक्षा, जो प्राचीन यूनान के समय से महानगरों को अनुप्राणित करती आई हैं, साकार नहीं हो पाई। यह चिन्तन और मनन करने का बिन्दु है कि स्थानीय क्षेत्रों में सफल स्वशासन के बिना कोई देश राष्ट्रीय स्तर पर संतोषजनक स्वशासन की स्थापना नहीं कर सका है।[5]

किन्तु **विलियम रॉब्सन** के इस विचार के विपरीत कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा भी है कि नगर निगम में एक वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी की नियुक्ति इसलिए भी की जाती है जिससे नगर का प्रशासन चलाने के लिए नगर निगम को एक अनुभवी, योग्य और कुशल प्रशासक की सेवाएं मिल सकें। राज्य सरकार द्वारा उसकी नियुक्ति को इसलिए उत्तम माना जाता है, जिससे इस प्रशासक की नियुक्ति किसी भी प्रकार के दलीय प्रभाव से मुक्त रहे और यह अधिकारी निगम का प्रशासन किसी भी तरह के राजनीतिक दलदल से मुक्त रह कर चला सके। नगर निगम के दायित्व इतने विविध हैं कि राजनीतिक दृष्टि से निर्वाचित परिषद् उन्हें कुशलतापूर्वक और निष्पक्षता से कार्यान्वित नहीं कर सकती। इस दृष्टि से नगर आयुक्त की नियुक्ति राजनीतिक लोकतंत्र तथा प्रशासनिक कुशलता के बीच एक व्यावहारिक समझौता मानी जा सकती है।

नगर आयुक्त की नियुक्ति के विषय में अधिनियम में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि इस पद पर केवल लोकसेवक ही नियुक्त किया जाएगा। सरकार ने यह परंपरा विकसित की है कि इस पद पर गैर सरकारी व्यक्ति नियुक्त किए जाने की अपेक्षा सदैव योग्य, अनुभवी और कुशल प्रशासक को ही नियुक्त किया जाता है। इस पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति को नगरीय प्रशासन का विशेषज्ञ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस पद पर वह प्रायः अल्प अवधि के लिए नियुक्त किया जाता है। यहाँ सेवा करने के पश्चात् उसे किसी अन्य प्रशासकीय अभिकरण में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। राजस्थान में राजस्थान प्रशासनिक सेवा (आर. ए. एस.) के अधिकारी को नगरपालिकाओं में आयुक्त के रूप में नियुक्ति दी जाती है, इसलिए थोड़े समय पश्चात् उन्हें किसी अन्य प्रशासकीय अभिकरण में भी भेज दिया जाता है। राजस्थान सहित जिन राज्यों में नगर निगम हैं वहाँ का अनुभव यह बताता है कि नगर आयुक्त के पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) के अधिकारियों को आयुक्त के दायित्व सौंपे जाते हैं। इस प्रकार नियुक्त आयुक्त का वेतन निगम द्वारा वहन किया जाता है। राज्य सरकार यदि यह अनुभव करे कि आयुक्त अपने कर्तव्यों के प्रभावी निष्पादन में असफल रहा है तो वह उसे हटा भी सकती है। आयुक्त को पार्षदों की शिकायत के आधार पर भी राज्य सरकार हटा सकती है।

नगर निगम के आयुक्त की शक्तियाँ

नगर निगम के आयुक्त की शक्तियों के दो स्रोत हैं। प्रथमतः ऐसी शक्तियाँ जो उसे नगर निगम के सृजनकारी अधिनियम द्वारा प्रदान की जाती हैं, और द्वितीयतः ऐसी

शक्तियाँ जो उसे परिषद् या उसकी स्थायी समिति द्वारा प्राप्त होती हैं। वस्तुतः नगर आयुक्त को विविध प्रकार के कार्यों का निष्पादन करना होता है। उसके दायित्वों को अर्द्धविधायी, प्रशासनिक और वित्तीय संबंधी क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

नई-विधायी

विधायी क्षेत्र में उसके दायित्व प्रत्यक्ष रूप से नहीं होते इसलिए उन्हें अर्द्ध–विधायी दायित्वों की संज्ञा दी जा सकती है। वह निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होने के नाते परिषद् और उसकी स्थायी समितियों की बैठकों में भाग ले सकता है, उनमें माँगी गई सूचनाएं प्रदान करता है, अपने विचार व्यक्त कर सकता है, और नीति संबंधी मामलों में अपने प्रशासकीय अनुभव के आधार पर अपना रुझान स्पष्ट कर सकता है। अनेक बार ऐसा होता है कि आयुक्त द्वारा व्यक्त विचारों या प्रदत्त सूचनाओं के आलोक में परिषद् अपनी नीति विषयक प्रस्ताव को उस दिशा में परिवर्तित कर लेती है, जो व्यावहारिक दिशा, आयुक्त के विचारों में व्यक्त की जाती है। नगर आयुक्त, निगम की परिषद् द्वारा निर्मित कानूनों के कार्यान्वयन के लिए उपनियम तैयार करवाता है, जो एक प्रकार का अर्द्धविधायी कार्य माना जा सकता है। परिषद् की कार्यवाही में भाग लेने के उपर्युक्त सन्दर्भों के होते हुए भी वह उसमें मतदान का अधिकारी नहीं होता।

प्रशासनिक

इस प्रकार प्रशासनिक क्षेत्र में भी उसकी शक्तियाँ विस्तृत हैं। वह परिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों, निर्मित कानूनों और स्वीकृत नियमों तथा उपनियमों को व्यवहार में कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता है। परिषद् के समस्त अधिकारी और कर्मचारी उसके प्रशासकीय नियंत्रण में कार्य करते हैं। समस्त अधिकारियों और कर्मचारियों के कार्यों और दायित्वों का न केवल वह विभाजन करता है अपितु उनके कार्यों और गतिविधियों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण भी रखता है। कार्मिकों के समस्त कार्मिक मामलों–वेतन, भत्ते, अवकाश, पदोन्नति, प्रशिक्षण, अनुशासनात्मक कार्यवाही, पेंशन और भविष्य निधि इत्यादि का वह निर्णायक निस्तारण करता है। परिषद् के क्षेत्र में आने वाली समस्त नियुक्तियां उसी के द्वारा की जाती हैं। एक निश्चित समय तक परिषद् की सम्पत्ति के क्रय–विक्रय का निर्णय भी कर सकता है। परिषद् द्वारा अनुबंध पर कराए जाने वाले कार्यों का निर्णय भी वह करता है। अपने अनेक अधिकारों और शक्तियों का वह अपने अधीनस्थों में प्रत्यायोजन कर देता है। किसी भी आपातकालीन स्थिति में उचित निर्णय लेने के लिए वह अधिकृत समझा जाता है।

वित्तीय

वित्तीय क्षेत्र में नगर आयुक्त का यह कर्तव्य होता है कि वह निगम का बजट अपनी देखरेख में तैयार कराए और परिषद् की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करे। परिषद् में स्वीकृति हेतु उसे तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब निगम की स्थायी समिति उसे स्वीकार कर ले। ये दोनों दायित्व आयुक्त के द्वारा निभाए जाते हैं। बजट में किसी प्रकार के नए कर लगाने की यदि आवश्यकता हो तो इस हेतु वह स्थायी समिति और परिषद् को विश्वास

में लेता है और आवश्यक अनुमोदन करवाता है।

नगर आयुक्त की शक्तियाँ प्रशासकीय क्षेत्र में इतनी व्यापक हैं कि प्रायः कार्य व्यवहार में अनेक बार परिषद् के साथ संबंधों की समस्या उपस्थिति हो जाती है। वैसे परिषद् और नगर आयुक्त के संबंध प्रायः स्पष्ट हैं क्योंकि जहाँ नीति विषयक निर्णय लेने और कानून तथा नियम बनाने की शक्ति परिषद् में निहित है वहाँ इन नीतियों और निर्णयों को कार्य रूप में परिणत करने का दायित्व नगर आयुक्त का होता है। परिषद् यह निश्चय कर सकती है कि नगर आयुक्त किसी निर्णय को कार्यान्वित करते समय किस प्रक्रिया को अपनाएंगे? इसका अन्तर्निहित अर्थ यह भी है कि परिषद् को नगर आयुक्त की प्रशासनिक कार्य–प्रक्रिया को सीमित करने संबंधी शक्तियाँ प्राप्त हैं। नगर आयुक्त अपने प्रशासकीय कार्यों के निष्पादन के प्रति परिषद् के प्रति उत्तरदायी होता है। परिषद् में इस बात पर चर्चा हो सकती है कि उसके द्वारा निर्धारित नीतियों को नगर आयुक्त किस तरह क्रियान्वित कर रहा है। इस प्रकार नगर आयुक्त और परिषद् का संबंध परस्पर सौहार्द्र एवं समझदारी का है न कि तनाव का। नगर आयुक्त अपने प्रशासनिक कार्यों के वार्षिक प्रतिवेदन को परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करता है। परिषद् भी कोई सूचना या पत्रावलियाँ नगर आयुक्त से माँग सकती है। परिषद्, नगर निगम के लिए कोई चल या अचल संपति खरीद सकती है या परिषद् की किसी संपति को बेच सकती है किन्तु इस विषय में नगर आयुक्त, कमिश्नर के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। नगर आयुक्त की वित्तीय शक्तियों पर यह मर्यादा होती है कि एक सीमा से अधिक के अनुबन्धों को स्वीकृति के लिए उसे परिषद् की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। नगर आयुक्त द्वारा दी गई किसी राय को स्वीकार या अस्वीकार करना या उसे संशोधित करना, परिषद् के अधिकार क्षेत्र में आता है। परिषद् की स्थायी समिति भी नगर आयुक्त पर परिषद् की ओर से कुछ नियंत्रण करती है। अनेक वित्तीय मामलों में स्थायी समिति और नगर आयुक्त अत्यन्त निकट सम्पर्क में रहते हैं। इस प्रकार नगर आयुक्त **प्रोफेसर फेडरिक** के शब्दों में "परिषद् के लिए एक प्रकार के कार्यात्मक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है।"[6] राजस्थान के तीनों नगर निगमों में नियुक्त इस अधिकारी को मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सी. ई. ओ.) के नाम से जाना जाता है। इन अधिकारियों से निगम की परिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों के कार्यान्वयन की अपेक्षा की जाती है। सैद्धांतिक तौर पर उनसे निगम के मेयर के सामान्य निर्देशन में कार्य करने की अपेक्षा की जाती है तथापि इस संबंध में जयपुर जैसे नगर में कतिपय विवाद के बिन्दु भी मुखर हुए हैं।

4. समितियाँ : नगर निगम की परिषद् का आकार नगर की जनसंख्या के हिसाब से प्रायः विस्तृत होता है। अपने इस विस्तृत आकार के कारण परिषद् अपनी गतिविधियों और कार्यकलापों को प्रभावशाली तरीके से पूरा नहीं कर पाती है। परिषद् की बैठकों में विभिन्न राजनीतिक दलों की उपस्थिति के कारण विचार–विमर्श में विषय के पक्ष एवं विपक्ष में स्वस्थ तर्कों की अपेक्षा राजनीति हावी हो जाती है। परिषद् की बैठकों का समाचार–पत्रों के माध्यम से प्रचार भी अधिक होता है। इन सब कारणों से प्रभावशाली विचार–विमर्श परिषद् की बैठक में नहीं हो पाता है। अतः किसी भी विषय पर स्वस्थ

अराजनीतिक दृष्टिकोण से पर्याप्त विचार–विमर्श पर आधारित त्वरित निर्णय हेतु समितियों का गठन किया जाता है। स्थानीय स्तर पर भी समितियों की आवश्यकता का यह दर्शन उन्हीं कारणों से प्रेरित है जिन कारणों से राष्ट्रीय या राज्य के विधान मंडल के स्तर पर प्रेरित होता है

नगर निगम में प्रायः दो प्रकार की समितियाँ होती हैं :

(अ) सांविधिक समितियाँ

(ब) गैर–सांविधिक समितियाँ

(अ) सांविधिक समितियाँ : सांविधिक समिति से अभिप्राय ऐसी समिति से है जिनकी रचना उस संविधि के अन्तर्गत की जाती है जिसके द्वारा निगम का निर्माण होता है। प्रायः सभी अधिनियमों में नगर निगम के कार्य संचालन के लिए कतिपय समितियों का उल्लेख किया जाता है। समितियाँ चूंकि अधिनियम द्वारा सृजित होती हैं इसलिए उनके गठन, शक्तियों, कार्यों और अधिकारों के विषय में भी अधिनियम में स्पष्ट प्रावधान किए जाते हैं।

कुछ अधिनियमों में सांविधिक समितियों के स्थान पर स्थायी समितियाँ बनाई जाती हैं। अधिनियम द्वारा सृजित स्थायी समितियाँ कार्य अधिकार और शक्तियों की दृष्टि से सांविधिक समितियों की तरह ही होती हैं।

कार्यपालक समिति

विधिक प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक नगर निगम में एक कार्यपालक समिति होती है जिसका गठन निम्नलिखित से होता है :

1. निगम का अध्यक्ष / मेयर;
2. निगम का उप महापौर;
3. परिषद् में विपक्ष का नेता;
4. निगम की परिषद् द्वारा निर्वाचित सात सदस्य जिनमें से दो महिलाएँ हो;
5. मुख्य कार्यपालक अधिकारी समिति का पदेन सचिव होता है।

प्रत्येक निगम या बोर्ड में कार्यकारी समिति के अलावा निम्नांकित समितियों का गठन भी किया जा सकेगा :[7]

1. वित्त समिति
2. स्वास्थ्य एवं स्वच्छता समिति
3. भवन एवं निर्माण कार्य समिति
4. नियम एवं उपविधि समिति, तथा
5. गंदी बस्ती सुधार समिति, तथा
6. अपराधों का शमन और समझौता समिति

इन समितियों में सदस्यों की संख्या संबंधित परिषद् द्वारा निश्चित की जाएगी किन्तु यह संख्या 7 से अधिक नहीं होगी। ये समितियाँ परिषद् द्वारा उन्हें प्रत्यायोजित कर्तव्यों का निर्वहन करेंगी। इन समितियों के अतिरिक्त भी परिषद् द्वारा आवश्यकता होने

पर अन्य समितियाँ गठित की जा सकेंगी।

जयपुर नगर निगम में निम्नांकित 18 समितियाँ कार्यशील हैं :

1. सफाई एवं सार्वजनिक प्रकाश,
2. पशु नियंत्रण,
3. जल–मल निकास,
4. विशिष्ट योजना,
5. सामाजिक सहायता व रोजगार,
6. अतिक्रम निरोधक,
7. सतर्कता,
8. सांस्कृतिक,
9. वित्त,
10. स्वास्थ्य एवं स्वच्छता,
11. भवन निर्माण एवं आयोजना,
12. नियम–उप नियम,
13. लोक वाहन,
14. लाइसेंस,
15. गृह कर,
16. कच्ची बस्ती,
17. फायर, तथा
18. उद्यम एवं पर्यावरण।

किसी भी नगर निगम में स्थायी समिति एवं कार्यकारी समिति शक्तियों और कार्यों की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति मानी जाती है। यह समिति मार्ग दर्शन समिति के रूप में कार्य करती है जो अनेक कार्यकारी, पर्यवेक्षकीय, वित्तीय और कार्मिक शक्तियों का उपयोग करती है। स्थायी समिति अपने में से एक अध्यक्ष चुन लेती है। स्थायी समिति के अध्यक्ष का पद राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि निगम में राजनीतिक दृष्टि से उसका स्थान मेयर के बाद माना जाता है। स्थायी समिति नगर आयुक्त के कार्यों में सहायता करती है। सामान्यतः नगर आयुक्त बजट एवं अनेक वित्तीय मामलों में स्थायी समिति की स्वीकृति आवश्यक रूप से लेता है।

स्थायी समिति परिषद् एवं आयुक्त के बीच की कड़ी मानी जाती है और व्यवहार में दोनों के संबंधों को नियंत्रित और प्रभावित करती है। स्थायी समिति को यह अधिकार होता हैं कि परिषद् की बैठकों के अन्तराल की अवधि में वह प्रशासनिक कामकाज पर नियमित ध्यान रखे और आवश्यकता होने पर उसे नियंत्रित भी करती है। स्थायी समिति एवं नगर आयुक्त के परस्पर संबंधों के विषय में यह कहा जाता है कि नगर आयुक्त स्थायी समिति के सदस्यों के हाथ की कठपुतली बन जाता है। नगर आयुक्त की शक्तियों के संव्यवहार पर यह मर्यादा आरोपित की गई है कि वह अपने कार्यों को स्थायी समिति से स्वीकृति प्राप्त करेगा। इस कारण अनेक बार नगर आयुक्त अपनी स्वतंत्र सत्ता खो बैठता

है और स्थायी समिति के हाथ का खिलौना बन जाता है। कभी–कभी ऐसे अवसर आते हैं कि स्थायी समिति के सदस्य उचित–अनुचित कार्य नगर आयुक्त से कराने लगते हैं और उसके बदले में नगर आयुक्त को यह कह कर आश्वस्त करते हैं कि उसके प्रस्तावों को स्थायी समिति में अवश्य समर्थन देंगे। इस तरह की परस्पर समझौतावादी प्रवृत्ति से अनेक बार नगर निगम की कुशलता को आघात पहुँचता है।

स्थायी समिति का कार्यकाल एक वर्ष का होता है। इसका चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से होता है। इन दोनों ही कारणों से स्थायी समिति, परिषद् या नगर आयुक्त की तुलना में कमजोर सिद्ध होती है।

(ब) गैर सांविधिक समितियाँ : गैर सांविधिक समितियाँ ऐसी समितियाँ होती हैं जिनकी रचना नगर निगम की परिषद् अपने प्रस्ताव के द्वारा करती है। इन समितियों का अधिनियम में कोई उल्लेख नहीं होता। परिषद् अपने उत्तरदायित्वों अथवा कार्यों को सफलतापूर्वक निष्पादित करने के लिए कोई भी समिति बनाने का निर्णय ले सकती है। प्रायः सभी नगर निगमों में ऐसी गैर सांविधिक समितियों की रचना की जाती है। सभी राज्यों में उनकी संख्या, संगठन और कार्यों में अन्तर पाया जाता है। परिषद् द्वारा किसी भी कार्य की महत्ता को देखते हुए उसमें अन्तर्निहित महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर गम्भीर विचार–विमर्श करते हुए निर्णय लेने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए ऐसी समितियाँ बनाई जाती है। इस प्रकार बनाई जाने वाली समिति कार्यकाल की दृष्टि से अस्थायी होती है और अपने निर्दिष्ट कार्य को पूरा करने के पश्चात् यह प्रायः विलुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ दिल्ली में एशियाई खेलों के आयोजन (1982) के समय अनेक समितियाँ नगर निगम ने इस प्रकार की बनाई थी जो अपने दायित्व निष्पादन के बाद समाप्त हो गईं।

वार्ड समितियों का गठन

74वें संविधान संशोधन की अपेक्षाओं के अनुरूप 3 लाख से अधिक की जनसंख्या वाले नगरों में वार्ड समितियों के गठन का प्रावधान राजस्थान नगरपालिका अधिनियम में किया गया है। राजस्थान में कार्यरत सभी नगर निगम चूंकि उपर्युक्त शर्त को पूरा करते हैं अतः इन सभी में निम्नांकित प्रकार से वार्ड समितियों का गठन किया गया है। ऐसी प्रत्येक वार्ड समिति में :

(क) वार्ड समिति के क्षेत्र के भीतर वार्डों का प्रतिनिधित्व करने वाले बोर्ड के सदस्य; और

(ख) बोर्ड द्वारा नाम निर्देशित किए जाने वाले अधिकतम पाँच सदस्य जिनकी आयु 25 वर्ष से कम न हो और जो नगरपालिका प्रशासन की विशेष जानकारी या अनुभव रखते हों। इस कोटि के सदस्यों को समिति की बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होगा। ऐसी समितियाँ अपनी प्रथम बैठक में अपने में से एक को समिति का अध्यक्ष निर्वाचित करेगी। वार्ड समिति की कालावधि निगम की परिषद् की कालावधि के समान होगी। ऐसी समितियों के कृत्य और कर्तव्य परिषद् द्वारा निश्चित किए जाएंगें।[8]

महानगरीय आयोजना के लिए समिति

74वें संविधान संशोधन की अपेक्षाओं के अनुरूप राजस्थान नगरपालिका अधिनियम में महानगरीय क्षेत्रों में आयोजना के लिए आयोजना या विकास योजना का प्रारूप तैयार करने के लिए महानगर आयोजना समिति के गठन का प्रावधान भी किया है। समिति में सदस्यों की संख्या व नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा राजपत्र में अधिसूचना द्वारा की जा सकेगी। यह समिति अपने अध्यक्ष के माध्यम से क्षेत्र के लिए विकास योजना बना कर राज्य सरकार को प्रेषित करेगी।[9]

राजस्थान के किसी भी नगर निगम क्षेत्र में अभी तक ऐसी किसी समिति का गठन नहीं किया गया है।

नगर निगम के कार्य

नगर निगम अपने क्षेत्र में रहने वाले निवासियों की स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने और समस्याओं को दूर करने से संबंधित अनेकानेक कार्यों को सम्पन्न करता है। कोलकाता एवं चेन्नई के नगर–निगमों का सृजन करने वाले अधिनियम में निगम के कार्यों का सामान्य रूप से उल्लेख किया गया है, इसके विपरीत मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के नगर निगमों का निर्माण करने वाले अधिनियमों में उनके कार्यों का विस्तार से विवरण दिया गया है। सभी राज्यों में यह आम प्रवृत्ति पाई जाती है कि नगर निगमों को व्यापक कार्य सौंपे जाते हैं। इस कारण उनके कार्यों की सूची बहुत विस्तृत हो जाती है। नगर निगमों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हीं कार्यों का निष्पादन करेंगे जो कार्य स्पष्ट तौर पर उन्हें अधिनियम द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं।

प्रायः सभी अधिनियमों में नगर निगम के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया गया है सांविधिक या अनिवार्य तथा ऐच्छिक या विवेकाधीन तथा विशेष कार्य– विभिन्न राज्यों के अधिनियमों के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सभी राज्यों द्वारा नगर निगमों को प्रदत्त उत्तरदायित्व लगभग एक जैसे हैं। अन्तर केवल इतना है कि कोई एक कार्य किसी अधिनियम में अनिवार्य कार्यों की सूची में सम्मिलित है तो किसी अन्य अधिनियम में वह वह ऐच्छिक कार्यों में स्थान पाया हुआ है। जैसे पशु चिकित्सालयों की स्थापना और उनका संचालन मध्य प्रदेश में अनिवार्य सूची में सम्मिलित हैं तो दिल्ली में यह कार्य ऐच्छिक सूची के अन्तर्गत रखा गया हैं। ऐसा अन्तर कोई महत्ता नहीं रखता क्योंकि नगर निगम व्यवहार में कार्यों का निष्पादन करते समय अपनी सुविधा और आर्थिक स्थिति से परिचालित होता है न कि अधिनियम में कार्यों को दी गई अनिवार्य या ऐच्छिक सूची से।

सभी राज्यों के नगरीय निकायों से सम्बन्धित अधिनियमों में निर्दिष्ट अनिवार्य, ऐच्छिक एवं विशेष कार्यों को समेकित रूप से निम्नांकित सूची में व्यक्त किया जा सकता है :

अनिवार्य कार्य

1. पीने योग्य शुद्ध जल का प्रबन्ध तथा जल स्रोतों का निर्माण, और उनका अनुरक्षण तथा जल वितरण;
2. विद्युत का प्रबन्ध;
3. नालियों एवं जनसुविधाओं–शौचालयों आदि का निर्माण तथा रख–रखाव,
4. सड़क परिवहन सेवाओं की व्यवस्था,
5. सार्वजनिक मार्गों का निर्माण, उनका रख–रखाव, नामकरण एवं आवश्यक हो तो उनका संख्यांकन,
6. सार्वजनिक मार्गों, नालियों की गन्दगी तथा कूड़े–करकट की सफाई,
7. गन्दी बस्तियों की सफाई,
8. सार्वजनिक मार्गों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में प्रकाश, पानी के छिड़काव तथा सफाई की व्यवस्था,
9. जन्म और मृत्यु का लेखा–जोखा रखना,
10. मृतक क्रियाओं के स्थानों का प्रबन्ध तथा उनका नियमन,
11. बीमारियों की रोकथाम के लिए टीके लगाने की व्यवस्था,
12. चिकित्सालयों तथा प्रसूति एवं बाल कल्याण केन्द्रों की स्थापना एवं रखरखाव,
13. प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था,
14. खतरनाक भवनों को निरापद बनाना या उन्हें हटाना,
15. सार्वजनिक मार्गों के अवरोधों को हटाना,
16. अग्निशमन सेवाओं की व्यवस्था करना,
17. खतरनाक एवं घातक व्यापारों पर नियंत्रण करना,
18. जल वितरण, सड़क परिवहन एवं जल वितरण सेवाओं के लिए उद्यमों की रचना, स्थापना एवं उनका प्रबन्ध करना,
19. नगर निगम की सम्पत्ति का रखरखाव,
20. खाद्य पदार्थों और भोजनालयों का नियमन एवं नियंत्रण,
21. निगम के प्रशासन के संबंध में वार्षिक प्रतिवेदनों एवं नक्शों का प्रकाशन।

ऐच्छिक कार्य

1. आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं बनाना,
2. सार्वजनिक पार्कों, उद्यानों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, नाट्यशालाओं, अखाड़ों तथा क्रीड़ास्थलों का निर्माण एवं उनका अनुरक्षण,
3. सार्वजनिक उपयोग के लिए भवनों का निर्माण,
4. विशिष्ट अतिथियों का स्वागत,
5. मेलों एवं प्रदर्शनियों का आयोजन और व्यवस्था,
6. आवारा पशुओं को पकड़ना,
7. सड़क के किनारे छायादार वृक्षों का रोपण एवं उनकी देखभाल,

8. गरीबों तथा अपाहिजों की सहायता,
9. सार्वजनिक स्थानों पर संगीत का प्रबन्ध,
10. विवाहों का पंजीकरण, तथा
11. भवनों एवं भूमि का सर्वेक्षण।

विशेष कार्य

विशेष कार्य वे हैं जो आपात् स्थितियों से उत्पन्न होते है और जिन्हें पूरा करना नगर निकायों का दायित्व हो जाता है, जैसे :

1. खतरनाक बीमारी के समय चिकित्सा सहायता एवं सुविधाएं प्रदान करना तथा बीमारी को फैलने से रोकने के उपाय करना, एवं
2. अकाल अथवा अभाव के समय निराश्रित लोगों की सहायता करना, अकाल राहत कार्य चलाना तथा उनका रख–रखाव करना।[10]

निजी क्षेत्र सहभागिता करार और अन्य अभिकरणों का समनुदेशन

राजस्थान में नगरीय निकायों के अधिनियमों के प्रावधानों के अन्तर्गत नगर निगम सहित कोई भी निकाय लोक या निजी क्षेत्र के अभिकरणों के माध्यम से किसी भी प्रकार के वाणिज्यिक परिसरों, पर्यटक बसों या किसी भी प्रकार की वाणिज्यिक परियोजनाओं के योजना निर्माण, प्रचालन या प्रबन्धन का जिम्मा ले सकते हैं।[11] इसी प्रकार ये नगरीय निकाय निजी क्षेत्र से सहभागिता के आधार पर किसी भी प्रकार के निर्माण के स्वामित्व, प्रचालन और प्रबन्ध के लिए करार कर सकते हैं या अपने किसी भी कार्य अनुमोदित शर्तों के अनुरुप निजी क्षेत्र से कराए जाने के लिए उपबन्ध कर सकते हैं।[12]

संविधान की 12वीं अनुसूची में सूचीबद्ध कार्य : 74वें संविधान संशोधन के क्रम में संविधान में 12वीं अनुसूची जोड़कर उन कार्यों को सूचीबद्ध किया गया है जिन्हें निष्पादित करने की अपेक्षा नगर निकायों से की गई है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस सूची में सम्मिलित कार्यों को यहाँ पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है :

1. नगर आयोजना;
2. भूमि का विनियमन – भवनों का निर्माण एवं उपयोग;
3. आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए योजना;
4. सड़क एवं पुल;
5. घरेलू उद्योग एवं व्यावसायिक प्रयोजनों के लिए जल–प्रदाय;
6. लोक स्वास्थ्य, सफाई आदि।
7. अग्नि शमन सेवाएं;
8. नगरीय वानिकी एवं पर्यावरण संरक्षण;
9. कमजोर वर्गों के हितों का संरक्षण (मानसिक रूप से कमजोर एवं विकलांगों सहित);
10. गंदी बस्तियों का विकास एवं उत्थान;
11. निर्धनता निवारण;

12. बाग, उद्यान, खेल के मैदान आदि की सुविधाएं जुटाना;
13. सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उत्थान;
14. दाह गृहों, विद्युत दाह–गृहों आदि का निर्माण;
15. काँजी घर (Kines House) एवं पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण।
16. जन्म एवं मृत्यु का रजिस्ट्रीकरण;
17. सड़कों का विद्युतीकरण, वाहन खड़े करने के स्थान, बस–स्टॉप आदि; तथा
18. बूचड़खानों का विनियमन।

नगर निगमों से अधिनियम में यह अपेक्षा की जाती है कि अपने अनिवार्य दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वाह करने के पश्चात् यदि उनके पास समय, श्रम और साधन उपलब्ध रहें तो वे ऐच्छिक सूची में इंगित कार्यों को प्राथमिकता से निष्पादित करेंगे।

निगम की वित्तीय व्यवस्था

किसी भी नगर निगम को अपने कार्यों के कुशलतापूर्वक निर्वाह के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। नगर निगमों की आय मुख्यतः उन करों से होती है जो उसके द्वारा अपने क्षेत्र में लगाए जाते हैं। नगर निगमों द्वारा प्रायः सम्पत्ति कर, वाहन कर, पशु कर, नाट्यशालाओं पर कर, विज्ञापनों (समाचार पत्रों को छोड़कर) पर कर, व्यावसायिक कर, शिक्षा कर, मनोरंजन कर, बिजली की खपत और बिक्री पर कर, नगरीय भूमि के बढ़ते हुए मूल्य पर कर इत्यादि लगाए जाते हैं। ये सभी कर नगर निगमों द्वारा अपने अधिनियम में निर्दिष्ट प्रक्रिया से लगाए जाते हैं।

उत्तर प्रदेश के नगर निगमों को सम्पत्ति कर, बिजली कर, जल निकास कर, सफाई कर, मशीन चालित वाहनों को छोड़कर अन्य वाहनों पर कर एवं पशुओं पर कर लगाने के अनिवार्य स्रोत अधिनियम में उपलब्ध कराए गए हैं।

करों के अलावा नगर निगमों को अनेक प्रकार की अतिरिक्त फीस आदि से आय होती है। नगर की सीमा में लगने वाली प्रदर्शनियाँ, सर्कस आदि पर नगर निगम शुल्क वसूल करता है, आवारा, बेकार पशुओं पर भी उनके मालिकों से शुल्क वसूल किया जाता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति हस्तान्तरण आदि पर भी फीस ली जाती है। नगर निगम को इन दोनों स्रोतों के अलावा राज्य सरकार द्वारा निश्चित अनुदान भी प्राप्त होता है। यह अनुदान राज्य वित्त आयोग की अनुशंसा के अनुसार होता है।

नगर निगमों पर नियंत्रण

संबंधित राज्य सरकार नगर निगम पर इस दृष्टि से नियंत्रण करती है कि नागरिकों की सेवार्थ गठित यह निकाय पूर्णतः कुशलता और मितव्ययता से कार्य कर रहा है। राज्य सरकार द्वारा नगर निगम पर नियंत्रण के अनेक प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष उपाय हैं जो इस प्रकार देखे जा सकते हैं :

1. नगर निगम का आयुक्त राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है।

2. नगर निगम के आयुक्त को किसी भी समय कोई योजना, तथ्य, सूचनाएं या रिकार्ड मंगवाने के लिए राज्य सरकार निर्देश दे सकती है।
3. नगर निगम द्वारा निष्पादित किसी कार्य या उसकी किसी सम्पत्ति के निरीक्षण अथवा देखरेख के लिए राज्य सरकार कोई भी पर्यवेक्षक नियुक्त कर प्रतिवेदन मंगवा सकती है।
4. यदि राज्य सरकार यह अनुभव करे कि निगम अपने किसी कार्य का निष्पादन नहीं कर रहा है तो राज्य सरकार निगम को उस कार्य को करने का निर्देश दे सकती है। किसी निगम द्वारा राज्य सरकार के ऐसे निर्देश की यदि अवहेलना की जाए तो राज्य सरकार अपने स्तर पर उस कार्य को करवाने की पहल कर सकती है और इस प्रक्रिया में हुए व्यय को उनके अनुदान से काट सकती है।
5. राज्य सरकार प्रत्येक नगर निगम को अनुदान देती है। अनुदान देते समय अनेक शर्तें निर्धारित की जाती हैं। राज्य सरकार द्वारा अनुदान की प्रक्रिया को नियन्त्रण का एक सशक्त माध्यम माना जाता है।
6. यदि राज्य सरकार यह अनुभव करे कि नगर निगम अपने दायित्वों का कुशलता, मितव्ययता और निष्ठा से निष्पादन करने में असफल रहा है या प्रदत्त दायित्वों का दुरुपयोग कर रहा है या दायित्वों के निष्पादन में अकुशलता और भ्रष्टाचार गम्भीर सीमा तक फैल गया है तो निर्वाचित निगम को भंग कर सकती है। राज्य सरकार द्वारा नियंत्रण का यह सबसे कठोर और अंतिम उपागम समझा जाता है।

राजस्थान में नगरीय निकायों पर नियन्त्रण के लिए अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार निदेशक स्थानीय निकाय को अधिकृत किया गया है। निदेशालय में निदेशक सहित, राज्य सरकार द्वारा नियुक्त सभी अधिकारी राज्य में कार्यरत नगरीय निकायों पर नियंत्रण के लिए अधिकृत किए गए हैं। नगर निगमों पर निदेशालय द्वारा नियंत्रण किए जाने का यह प्रावधान राजस्थान में प्रभावी नहीं हो पाया है। इस स्थिति का एक विशेष कारण है, राज्य के सभी नगर निगमों में मुख्य कार्यकारी अधिकारी/आयुक्त के रूप में सचिव स्तर के वरिष्ठ आई.ए.एस. अधिकारियों को पदस्थापित किया जाता है जबकि निदेशालय के शीर्ष पर राज्य सेवा के अधिकारी के नियुक्त होने और नगर निगमों में भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति से होने वाली विसंगति का परिणाम यह होता है कि निदेशालय का निदेशक व्यवहारतः नगर निगमों पर प्रभावी नियन्त्रण करने की स्थिति में नही होता। नगर निगमों पर नियंत्रण की दृष्टि से इस विरोधाभासी स्थिति का निराकरण किया जाना अपेक्षित है।

नगर निगम में स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की समस्या

नगर निगम स्थानीय स्वायत्त शासन की सर्वोच्च इकाई है जिसकी सर्जना राज्य सरकार के किसी विशेष या सामान्य अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। सम्बद्ध

अधिनियम द्वारा, स्थानीय इकाई की सीमाओं, कार्यों, दायित्वों, कार्मिकों, कर व्यवस्था एवं वित्तीय स्रोतों और अन्य सभी आवश्यक आयामों का विनिश्चय कर दिया जाता है। अधिनियम में यह भी स्पष्ट परिभाषित कर दिया जाता है कि नगर निगम किन सीमाओं में कार्य करेंगे और राज्य सरकार उसके कार्यों पर कितना, कैसा नियंत्रण रखेगी। अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण संबंधी अपनी शक्ति का उपयोग राज्य सरकार इस प्रकार करे कि उसी अधिनियम के अन्तर्गत सृजित नगर निगम अपनी स्वीकृत स्वायत्तता में अनावश्यक हस्तक्षेप अनुभव न करें। यह तर्क भी दिया जाता है कि चूंकि नगर निगम के सदस्यों का निर्वाचन उस क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के बहुमत द्वारा किया जाता है अतः नगर निगम को नगरीय कार्यों के निष्पादन और समस्याओं के समाधान में पूर्ण स्वायत्तता दी जानी चाहिए।

स्वायत्तता का अर्थ

स्वायत्तता से अभिप्राय राज्य के किसी भाग या "इकाई" के अपने सांविधिक परिधि में स्वयं के प्रशासन–प्रबन्ध या नियम–निर्माण के अधिकार से है। दूसरे शब्दों में, स्वायत्तता, सरकार के विभिन्न स्तरों पर राज्य सत्ता का अपने क्षेत्र में स्वतंत्र उपयोग है जिसका निर्धारण उच्च सत्ता द्वारा किया जाता है। **सोवियत रूस के एन्साइक्लोपीडिया** के अनुसार, "स्वायत्तता, विकेन्द्रीकरण की प्रतीक है किन्तु यह विकेन्द्रीकरण किसी संघीय इकाई की विकेन्द्रीकरण की मात्रा से कम है। किसी भी स्वायत्त संस्था का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण उसमें निहित लोचशीलता है।"

कोई भी संगठन या स्वायत्तशासी निकाय अपनी उच्च सत्ता द्वारा निर्दिष्ट और अधिकृत क्षेत्र में अपनी स्वायत्तता के अन्तर्गत निर्णय ले पाने में सक्षम होता है। जैसे कोई भी नगर निगम, अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त स्वायत्तता का उपयोग करते हुए स्थानीय नगरीय सेवाओं के कुशल संचालन हेतु आवश्यक नियम–उपनियम बना सकता है, कर्मचारियों की भर्ती कर सकता है, नगरीय सीमा में निवासियों पर कर लगा सकता है, उन्हें वसूल करता है, अपनी सम्पत्ति का क्रय–विक्रय इत्यादि कर सकता है।

स्वायत्तता के विभिन्न पक्ष

स्वायत्तता के अर्थ को कई दृष्टियों से देखा जाता है। स्वायत्तता का वैधानिक, प्रशासकीय, न्यायिक एवं वित्तीय पक्ष होता है।

कोई भी संस्था या स्थानीय शासन की इकाई अर्थात् नगर निगम सम्बद्ध अधिनियम के अन्तर्गत, अपने कार्य संचालन हेतु नियमों–उपनियमों का निर्माण करने के लिए अधिकृत होता है। यह इसकी वैधानिक स्वायत्तता मानी जा सकती है। इसी तरह दैनिक प्रशासनिक कामकाज के संचालन हेतु भी नगर निगम कुछ विशिष्ट प्रशासनिक निर्णय, प्रशासनिक प्रक्रियाओं और कर्मचारियों की भर्ती, उनके कामकाज तथा अन्य प्रशासनिक गतिविधियों के संबंध में जो निर्णय निर्दिष्ट क्षेत्र हेतु लेता है उन्हें प्रशासनिक स्वायत्तता माना जा सकता है। इसी तरह नगर निगम अपने क्षेत्र में अवैधानिक निर्माण या अतिक्रमण अथवा गैर कानूनी कार्यों को हटाने का निर्णय देकर स्वायत्तता का उपयोग

करता है। यद्यपि इन संस्थाओं के ऐसे निर्णयों की उच्च स्तर पर अपील होती है। नगर निगम की स्वायत्तता का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र आर्थिक स्वायत्तता का है जिसके अन्तर्गत नगर निगम अपने बजट के विभिन्न मदों के लिए अपनी सुविधानुसार धन का आवंटन करने हेतु स्वतंत्र रहता है। स्वायत्त शासन की ये संस्थाएं अपने लेखा रखने एवं लेखा परीक्षण से संबंधित कार्यक्षेत्र में उस प्रक्रिया से मुक्त हैं जो सरकारी विभागों में अपनाई जाती हैं। अधिनियम में निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत ये संस्थाएं खुले बाजार से ऋण लेकर उसका उपयोग कर सकती हैं, अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह अपनी वस्तुओं का क्रय–विक्रय भी कर सकती हैं।

स्वायत्तता का यह विवेचन सैद्धांतिक है। वस्तुतः व्यवहार में स्वायत्तता की मात्रा में प्रत्येक राज्य में कार्यरत नगर निगमों में अन्तर पाया जाता है।

स्वायत्तता की आवश्यकता एवं उपयोगिता

जनतंत्र को आम आदमी तक पहुँचाने के उद्देश्य से प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में स्थानीय स्वशासन–संस्थाओं का निर्माण किया गया है। स्वभावतः इन संस्थाओं को अपने क्षेत्र की व्यवस्था करने के लिए शक्तियाँ और दायित्व दिए गए हैं। इन दायित्वों का कुशल निष्पादन तभी संभव है जब पग–पग पर नियंत्रण की अपेक्षा कुछ निर्णय लेने की स्वतंत्रता दी जाए। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए स्थानीय संस्थाओं को अपने क्षेत्र में शासन करने की स्वायत्तता दी जाती है।

क्षेत्रीय जनता द्वारा चुने हुए नगर निगम के प्रतिनिधि क्षेत्र की जनसमस्याओं का निवारण तब तक नहीं कर सकते जब तक उन्हें अपनी विचारधारा और भावना के अनुरूप सटीक दिशा में निर्णय लेने की स्वायत्तता न मिले। इस स्वायत्तता के दिए जाने के बाद उनसे यह अपेक्षा करना सार्थक होता है कि वे दिन–प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाने में उच्च अधिकारियों का मुँह नहीं ताकेंगे। स्वायत्तता की माँग के पीछे हमेशा यही तर्क काम करता रहा है कि इसके अभाव में क्षेत्रीय समस्याओं का निवारण संभव नहीं हैं।

चूंकि नगर निगम ऐसी सेवाओं का निष्पादन करता है जिनका जन जीवन पर व्यापक और प्रत्यक्ष असर पड़ता है अतः इन सेवाओं के दक्षता व कुशलतापूर्ण संचालन के लिए निगम को व्यापक स्वायत्तता दी जानी नितांत आवश्यक है। यदि जनता द्वारा निर्वाचित स्थानीय प्रतिनिधियों को समस्या समाधान की स्वायत्तता नहीं दी जावेगी तो उन प्रतिनिधियों पर से जनता का विश्वास उठ जाएगा। यह स्थिति जनतंत्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

स्वायत्तता पर उत्तरदायित्व की मर्यादा

नगर निगम सहित स्थानीय शासन की कोई भी संस्था यद्यपि विधान के अन्तर्गत स्वायत्तता का उपयोग करती हैं किन्तु वही विधान उन्हें राज्य के प्रति उत्तरदायी भी बनाता है यदि अधिनियम नगर निगम पर राज्य सरकार के नियंत्रण की विधियां और सीमाएं प्रस्तावित करता है तो इसका अभिप्राय यह है कि नगर निगम अपने कार्य के लिए राज्य सरकार के प्रति उत्तरदायी भी है। वैसे भी राज्य सरकार लोकतांत्रिक व्यवस्था का उच्च

निकाय है और जिस संस्था की सर्जना उसके अधिनियम द्वारा हो रही है उसके कार्य कलापों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखने का उसे सर्वथा अधिकार है। राज्य सरकार अनुभव और साधनों की दृष्टि से भी नगर निगम की तुलना में अधिक सम्पन्न होती है अतः एक उचित नियंत्रण राज्य सरकार का नगर निगमों पर होना चाहिए। नगर निगम की वित्तीय शक्तियाँ सीमित होती हैं और उसे राज्य सरकार द्वारा वित्तीय सहायता दी जाती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वित्तीय सहायता देने वाली सत्ता को यह नियंत्रण रखना चाहिए कि उसके द्वारा दी जा रही वित्तीय सहायता का कैसा उपयोग हो रहा है?

यहाँ इस तथ्य पर विचार किया जाना चाहिए कि राज्य सरकार नगर निगम पर किसी भी तरह का नियंत्रण क्यों करना चाहती है? इसके उत्तर में यह स्पष्ट होता है कि राज्य सरकार अपने नियंत्रण के माध्यम से यह सुनिश्चित करना चाहती है कि नगर निगम अपने दायित्वों का भली–भांति निर्वाह कर रहा है या नहीं और प्राप्त शक्तियों का कहीं दुरूपयोग तो नहीं किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि राज्य सरकार नगर निगम को उत्तरदायी बनाए रखना चाहती है। यहाँ यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि नगर निगम स्वयं ऐसा अनुशासन रखें कि जिससे नागरिकों के स्थानीय कष्टों का त्वरित समाधान होता हो और उसके आचरण से ऐसा प्रतीत होता हो कि वह अधिनियम में प्रदत्त दायित्वों के प्रति उत्तरदायी है और उन दायित्वों के निर्वाह में तनिक भी शिथिल नहीं है। यदि नगर निगम इस प्रकार का दायित्व अनुभव करे तो राज्य सरकार को अधिक हस्तक्षेप के अवसर नहीं मिलेंगे और इस तरह नगर निगम की स्वायत्तता में कोई व्यवधान भी उपस्थिति नहीं होगा।

समीक्षा

स्वायत्तता की वास्तविक और आदर्श स्थिति, स्वायत्तता और उत्तरदायित्व का संतुलन होना चाहिए। नगर निगम को चाहिए कि अपनी स्वायत्तता का उपयोग करते हुए अपने क्षेत्र के बहुआयामी विकास को गति प्रदान करे। इसी प्रकार नियंत्रणकारी सत्ता राज्य सरकार को चाहिए कि नियंत्रण की दिशा सार्थक, सौहार्द्रपूर्ण, रचनात्मक तथा सहभागिता के रूप में विकसित करे। राज्य सरकार को नगर निगम पर पुलिस सार्जेण्ट की तरह नहीं अपितु शिक्षक की तरह दोष निवारक दृष्टि रखते हुए पर्यवेक्षक रहना चाहिए। नगर निगम को भी स्वायत्तता का अर्थ "स्वतंत्रता" न समझते हुए उत्तरदायित्व से प्रशासनिक आचरण करना चाहिए जिससे जन समस्याओं का त्वरित और संतोषजनक समाधान निकाला जा सके। राज्य सरकार का भी यह उत्तरदायित्व है कि इन संस्थाओं को स्वायत्तता के सही अर्थ से अवगत कराते हुए, इन्हें समय–समय उचित पर दिशा निर्देश देती रहे।

नगर निगम का अकुशल कार्यकरण एवं अपरिपक्व आचरण कभी–कभी राजनीतिक हस्तक्षेप को आमन्त्रित कर देता है जिसका स्वाभाविक दुष्परिणाम "स्वायत्तता का हनन" के रूप में सामने आता है। अतः नगर निगम को अपने दायित्वों के प्रति सचेष्ट और कर्तव्यनिष्ठ रहना चाहिए जिससे अक्षमता के कारण किसी प्रकार का अनायास हस्तक्षेप

उनके कामकाज में न हो सके। अनेक बार यह आरोप लगाया जाता है कि नगर निगम समय पर अपना बजट तैयार करने और सरकार को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के प्रति आलस्यभाव का परिचय देते हैं जो किसी भी रूप में इनकी स्वायत्तता के लिए अच्छी स्थिति नहीं है। नगर निगमों को सदैव इस तथ्य को हृदयंगम करना होगा कि उत्तरदायित्व के अभाव में स्वायत्तता की माँग करना सर्वथा निरर्थक है।

सन्दर्भ

1. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009, धारा 9
2. **उपर्युक्त।**
3. उपर्युक्त में संशोधन 2000 द्वारा अन्तः स्थापित।
4. एस. आर. निगम, **लोकल गवर्नमेन्ट**, एस. चांद एण्ड क., नई दिल्ली, 1987, पृ. 193–94
5. विलियम ए. रॉब्सन, **ग्रेट सिटीज ऑफ द वर्ल्ड**, लन्दन, जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1954, पृ. 51–54
6. एस. आर निगम, **पूर्वोक्त**, पृ. 196
7. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959, धारा 73
8. **उपर्युक्त**, धारा 73 (क)
9. **उपर्युक्त**, धारा 73 (ख)
10. **उपर्युक्त**, धारा 99
11. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009, धारा 152
12. **उपर्युक्त**, धारा 153-155

5

नगर परिषद् एवं नगरपालिका : संगठन और कार्यप्रणाली

भारत में ब्रिटिश काल से ही नगर परिषद् अथवा नगरपालिका स्थानीय प्रशासन की महत्त्वपूर्ण इकाई रही है। यह नगरीय प्रशासन की सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय इकाई है। देश का कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जहाँ नगरीय प्रशासन का यह निकाय नहीं पाया जाता हो। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश में नगर परिषद्/पालिकाओं की रचना से संबंधित अधिनियम पारित किए जाने लगे थे जिनमें सर्वप्रथम बंगाल में 1860 में नगरपालिकाओं के गठन के विषय में प्रावधान किया गया था, इसके पश्चात् बम्बई जिला नगरपालिका अधिनियम, 1901 और इसके पश्चात् पंजाब में 1911, संयुक्त प्रांत 1916, मद्रास 1920, बिहार एवं उड़ीसा 1922, बंगाल 1932 प्रमुख हैं। स्वतंत्र भारत में जम्मू कश्मीर नगरपालिका अधिनियम, 1951 और राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात् भारत के प्रायः सभी राज्यों में नगरपालिका अधिनियमों के माध्यम से नगरीय निकायों की इस इकाई का गठन किया गया।

74वें संविधान संशोधन के परिणामस्वरूप भारत के सभी राज्यों के लिए नगरीय स्वशासन की इकाइयों की त्रिस्तरीय संरचना का संक्षिप्त परिचयात्मक उल्लेख पूर्व में अध्याय तीन में किया जा चुका है। राजस्थान में 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् भी, राज्य भर में नगरीय निकायों का प्रशासन राजस्थान नगरपालिका (संशोधित) अधिनियम, 1959 के प्रावधानों के अनुसार ही किया जा रहा है। इस संशोधित अधिनियम में, 74वें संविधान संशोधन अधिनियम की समस्त विशेषताओं को आत्मसात् कर लिया गया है और अब राज्य में संवैधानिक संस्तर प्राप्त त्रिस्तरीय नगरीय संरचना–नगर निगम, नगर परिषदें और नगरपंचायतों के स्थान पर गठित नगरपालिका बोर्ड (श्रेणी द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ) इसी अधिनियम के अन्तर्गत कार्यरत हैं।

नगर परिषद् एवं नगरपालिका में कोई आधारभूत अन्तर नहीं

74वें संविधान संशोधन और उसके अनुसरण में 1994 में संशोधित राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 में जिन तीन नगरीय निकायों का प्रावधान किया गया है उनमें नगर परिषद् और नगरपालिका बोर्ड दो पृथक् कोटि की संस्थाएँ अभिकल्पित की गई हैं। किन्तु, यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक है कि नगर परिषद् एवं नगरपालिका बोर्ड की संगठनात्मक संरचना या उनके कार्यों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। राजस्थान में नगर परिषद् नगरपालिका का ही प्रथम श्रेणी का प्रारूप है जिसका गठन 1 लाख से अधिक किन्तु 5 लाख से कम की जनसंख्या वाले नगरीय क्षेत्रों में किया जाता है। इसके विपरीत नगरपालिका बोर्ड जिन नगरीय क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं वे जनसंख्या की दृष्टि से उनसे लघुतर या छोटे क्षेत्र होते हैं। राजस्थान में नगरीय संस्थाओं के वर्गीकरण से संबंधित चार्ट अध्याय तीन में दिया गया है, जिससे उक्त स्थिति को अधिक सरलता से समझा जा सकता है। इन दोनों इकाइयों में गठन के आधार के उक्त अन्तर के अलावा नगर परिषद् में कार्यरत प्रशासक को आयुक्त या मुख्य कार्यकारी अधिकारी के नाम से जाना जाता है, वहीं नगरपालिका बोर्ड में उसे अधिशासी अधिकारी के नाम से नियुक्त किया जाता है। इस अन्तर के बिन्दु के अतिरिक्त नगर परिषद् एवं नगरपालिका में संरचना या कार्यों से संबंधित कोई आधारभूत अन्तर नहीं पाया जाता। पुनरावृत्ति की आंशका होते हुए भी यहाँ एक बार पुनः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 74वें संशोधन के अनुसरण में राजस्थान राज्य ने वृहत्तर नगरीय क्षेत्रों में **नगर निगम** व लघुतर नगरीय क्षेत्रों में **नगर परिषद्** का गठन करना स्वीकार किया है किन्तु संक्रमणकालीन क्षेत्रों में **"नगर पंचायत"** की अपेक्षा **'नगरपालिका बोर्ड'** का गठन किया है। नगर परिषद् व नगरपालिका में परिवर्तित संदर्भ में इस संगठनात्मक या संरचनात्मक अन्तर को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। अतः इस अध्याय में आगे के विवरण में दोनों संस्थाओं का विवरण एक साथ दिया जा रहा है।

नगर परिषद्/नगरपालिकाओं की संरचना

नगर परिषद्/पालिकाओं की संरचना को भी, नगर निगम की भांति, ही उसके निम्नांकित **घटकों** के विवरण की सहायता से समझा जा सकता है :

1. परिषद् (निर्वाचित निकाय),
2. अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष,
3. आयुक्त/अधिशासी अधिकारी,
4. समितियाँ।

1. निर्वाचित निकाय : परिषद्, नगरपरिषद्/नगरपालिका का विचार विमर्शकारी निकाय "परिषद" इस प्रणाली की प्रमुख संस्था होती है। इसमें नगर के निवासियों द्वारा निर्वाचित सदस्य तथा कुछ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। सम्पूर्ण नगर को चुनाव के लिए वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है और प्रत्येक वार्ड

से वयस्क मताधिकार के आधार पर सदस्यों का चुनाव होता है जिन्हें पार्षद कहते हैं। वार्ड और सदस्यों की संख्या राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। सरकार इनकी संख्या में वृद्धि या कमी कर सकती है। 1993 तक यह प्रावधान था कि यदि निर्वाचन द्वारा परिषद् में महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता तो दो महिला सदस्यों का सहवरण किया जा सकता था। किन्तु संविधान में हुए 74वें संशोधन के पश्चात् अब निकायों के एक–तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं।[1] संविधान संशोधन के पश्चात् अब नगर निकायों का कार्यकाल 5 वर्ष कर दिया गया है।[2]

परिषद् को नगर की जनप्रतिनिधि सभा कहा जा सकता है। यह नगर परिषद्/पालिका का विचार–विमर्शकारी निकाय है जिस पर नगरीय प्रशासन के लिए नीति निर्धारण और नियमों के निर्माण का दायित्व होता है। परिषद् ही नगरपालिका का वार्षिक बजट पारित करती है। बजट पर चर्चा करते समय परिषद्, स्थानीय सेवाओं का स्तर निर्धारित करती है। यह नगर के नियोजित विकास, सफाई और रखरखाव के सन्दर्भ में सामान्य नीति निर्धारित करती है। इस हेतु महत्त्वपूर्ण विकास योजनाओं पर परिषद् में व्यापक विचार– विमर्श होता है। नगरीय शासन के संचालन के लिए परिषद् को उपनियम बनाने के व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। किसी भी नये कर का प्रस्ताव सर्वप्रथम परिषद् की स्वीकृति के लिए रखा जाता है और उसके पश्चात् ही उसे राज्य सरकार की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। परिषद् अपने कार्य संचालन के लिए समितियों का गठन करने के लिए अधिकृत है। परिषद् ही अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है तथा उन्हें पदच्युत भी कर सकती है। इस तरह स्थानीय जनप्रतिनिधि सभा के रूप में परिषद् स्थानीय लोगों की आकांक्षाओं का प्रतीक होती है।

2. अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष : 2009 से पूर्व नगर की वयस्क जनता द्वारा निर्वाचित परिषद् अपने सदस्यों में से ही अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का परिषद् के लिए निर्धारित अवधि के लिए निर्वाचन करती थी।[3] किन्तु अब राजस्थान नगरपालिका (निर्वाचन) नियम, 2009 के अन्तर्गत अध्यक्ष/सभापति का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जा रहा है। नगर परिषद् का अध्यक्ष परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा साथ ही कार्यकारी उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी करता है। इस प्रकार वह एक साथ दोहरे दायित्वों का निष्पादन करता है। एक ओर वह नीति निर्माण में निर्वाचित परिषद् का नेतृत्व करता है तो दूसरी ओर वह नीतियों के कार्यान्वयन में अधिशासी अधिकारी का पर्यवेक्षण और नियंत्रण भी करता है। वह नगर का प्रथम नागरिक कहलाता है। वह नगरपालिका कर्मचारियों की सेवाओं से संबंधित मामले जैसे वेतन, भत्ते, अवकाश इत्यादि का निपटारा करता है।[4] नगरपालिका का सरकार या जनता से होने वाला पत्र–व्यवहार उसके माध्यम से किया जाता है। इसके अतिरिक्त वह बजट, वक्तव्य, पत्रावलियां तथा स्थानीय प्रशासन से संबंधित प्रलेख, प्रस्ताव, वार्षिक प्रतिवेदन इत्यादि का परिषद् में तथा उसके उपरांत सरकार को प्रस्तुतीकरण का कार्य भी

करता है। स्थानीय प्रशासन से संबंधित सभी अभिलेखों का वह रक्षक होता है। वह नगरपालिका के वित्तीय और कार्यकारी प्रशासन की देखरेख करता है और उसके आदेशों को परिषद् की जानकारी में लाता है। वह नगरपालिका द्वारा पारित संकल्प की एक प्रति राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त नियुक्त प्राधिकारी को भेजने के लिए भी उत्तरदायी होता है।[5]

अध्यक्ष पद पर आरक्षण : राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 के मूल प्रावधानों में 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् अब आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं। नगरपालिकाओं/परिषदों के अध्यक्ष के संबंध में मूल अधिनियम की धारा 65 में संशोधन करते हुए यह व्यवस्था की गई है कि राज्य की नगरपालिकाओं के अध्यक्ष के पदों पर अनुसूचित जातियों/जनजातियों व महिलाओं के लिए, राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर निर्धारित प्रावधानों के अनुसार आरक्षण होगा। राज्य की किन पालिकाओं में यह स्थान आरक्षित होंगे, उसका निर्णय राज्य निर्वाचन आयोग करेगा। अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए अध्यक्ष के पदों हेतु आरक्षण, उन वर्गों की जनसंख्या के घनत्व वाले निकायों में और महिलाओं के लिए पूरे राज्य में किया जाएगा। अनुसूचित जातियों व जनजातियों से संबंधित प्रावधान तब तक प्रवर्तित रहेंगे जब तक संविधान के अनुच्छेद 334 के प्रावधान लागू हैं।[6]

अध्यक्ष अपने पद से स्वयं त्याग–पत्र भी दे सकता है तथा किन्हीं परिस्थितियों में उसे परिषद् से पद मुक्त भी किया जा सकता है। यदि अध्यक्ष बिना सूचना परिषद् की बैठकों में एक माह तक अनुपस्थित रहे या निर्दिष्ट नीति से उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव परिषद् अपने बहुमत से पारित कर दे तो उसे हटाया जा सकता है।[7]

अध्यक्ष की अनुपस्थिति या पद रिक्त होने की स्थिति में उसके सभी अधिकारों तथा शक्तियों का प्रयोग उपाध्यक्ष द्वारा किया जाता है।[8] कोई भी उपाध्यक्ष अध्यक्ष को लिखित में सूचना देकर अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। उसके त्यागपत्र देने के पश्चात् रिक्त हुए स्थान पर नव निर्वाचित उपाध्यक्ष अवशिष्ट अवधि के लिए ही पद धारण करता है। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष द्वारा त्यागपत्र दे दिए जाने, किन्तु उस त्यागपत्र के प्रभावशाली होने से पूर्व उसे वापस भी लिया जा सकता है। त्यागपत्र सक्षम अधिकारी को प्रस्तुत होने पर सूचना प्राप्ति की तिथि से एक माह बाद प्रभावशील होता है। यह प्रावधान भी किया गया है कि यदि त्यागपत्र सक्षम अधिकारी को प्रस्तुत न हो तो वह वैध त्यागपत्र नहीं माना जाता है। प्रावधानों के अनुसार नगर परिषद् अध्यक्ष को 7500/- रु प्रतिमाह और द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी नगरपालिकाओं के अध्यक्ष को 5000/- रु प्रतिमाह भत्ता भी देय होगा।

अध्यक्ष के कर्तव्य

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 67 एवं 78 में अध्यक्ष के

कर्तव्य गिनाए गये हैं जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं :

1. वह नगर परिषद् या नगरपालिका की बैठक आमंत्रित करेगा और उनकी अध्यक्षता करेगा, जब तक कि कोई उपयुक्त कारण उसे ऐसा करने से रोक न दे, वह बैठक का कार्य संचालन करेगा;
2. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम द्वारा उसे सौंपी गई शक्तियों और कर्तव्यों का प्रयोग करेगा;
3. नगरपालिका के वित्तीय और कार्यकारी प्रशासन पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण रखेगा;
4. नगरपरिषद्/नगरपालिकाओं के हिसाब–किताब, रिकार्ड और कर्मचारियों से संबंधित मामलों का पर्यवेक्षण और नियंत्रण करेगा। नियमों के अधीन रहते हुए समस्त कार्मिक मामलों का समाधान करेगा; तथा
5. नगरपालिका द्वारा पारित संकल्प की प्रतिलिपि सरकार द्वारा नियुक्त प्राधिकारी को प्रस्तुत करेगा।

अध्यक्ष के कर्तव्यों की भांति ही उपाध्यक्ष के कर्तव्यों का विवरण भी संबंधित कानून में दिया गया है जिनमें प्रमुख रूप से उपाध्यक्ष से यह अपेक्षा की गई है कि वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके कार्यों व दायित्वों का निर्वहन करेगा।

3. अधिशाषी अधिकारी : नगरपालिकाओं में, परिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त प्राधिकारी को अधिशाषी अधिकारी कहा जाता है। राजस्थान के बड़े नगरों की नगरपरिषदों में नियुक्त इस प्राधिकारी को आयुक्त भी कहते हैं जिसे राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 के अन्तर्गत संशोधित नियमों में 75 लाख रु. तक के खर्चों की स्वीकृति देने के अधिकार दिये गये हैं। प्रायः सभी राज्यों में इस प्राधिकारी की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा की जाती है। नगर परिषदों में नियुक्त यह सरकारी अधिकारी प्रायः नगर निगम में आयुक्त की भांति ही सरकारी कार्यों का निष्पादन करता है किन्तु नगर निगम से उसकी स्थिति किंचित् भिन्न है। नगर निगम में जहाँ आयुक्त को प्रशासनिक निकाय का सर्वेसर्वा बनाया गया है और उनके कार्यों में मेयर की कोई भूमिका या नियंत्रण नहीं होता है वहीं नगरपालिकाओं में नियुक्त यह अधिशाषी अधिकारी प्रशासनिक शक्तियों का उपयोग नगरपालिका के अध्यक्ष के साथ संयुक्त रूप से करता हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता हैं कि नगरपालिका में विचारात्मक एवं कार्यकारी शाखाओं मे वैसा पार्थक्य नहीं पाया जाता जैसा नगर निगम में होता है। नगरपालिका का मुख्य अधिशाषी अधिकारी पालिका के कर्मचारियों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है, उच्च श्रेणी के कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है, किन्तु उसके निर्णय के विरुद्ध स्थायी समिति में अपील की जा सकती है। तकनीकी कर्मचारियों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखने में वह सक्षम नहीं होता, यद्यपि वह उनका पालिका की परिधि में स्थानान्तरण कर सकता है। चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की नियुक्ति उसके द्वारा अध्यक्ष के साथ परामर्श के पश्चात् की जा सकती है। अपने इन समस्त प्रशासनिक

अधिकारों के उपयोग की प्रक्रिया में नगरपालिका अध्यक्ष उसे निर्देशित और नियंत्रित कर सकता है। अध्यक्ष द्वारा अधिशाषी अधिकारी पर निर्देशन और नियंत्रण के इस अधिकार का एक अन्तर्निहित परिणाम यह भी होता है कि पालिका के विभिन्न पार्षद भी प्रशासनिक कार्यों में जब–तब हस्तक्षेप करने लगते हैं। नगरपालिकाओं में कर्मचारियों के दो वर्ग बन जाते हैं जो इन दोनों शाखाओं के द्वारा प्रोत्साहित किये जाते रहते हैं। इस प्रकार स्थानीय शासन की दोनों शाखाओं में परस्पर संबंध अविश्वास, तनाव और मतभेदों से ग्रस्त हो जाते हैं।

राजस्थान के बड़े नगरों में नगर परिषद् में नियुक्त आयुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा या राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी होते हैं जबकि उससे छोटी श्रेणी की नगरपालिकाओं में ये राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों में से ही नियुक्त किए जाते हैं। अन्तिम दो श्रेणी की नगरपालिकाओं में नियुक्त अधिशाषी अधिकारी राजस्थान नगरपालिका सेवा के वरिष्ठ अधिकारी होते हैं। इन श्रेणी के अधिकारी भी प्रारम्भ में राजस्थान लोक सेवा आयोग द्वारा चयनित किए जाते हैं।

4. समितियाँ : नगर निगम की भांति ही नगर परिषद् में भी कार्य सुविधा की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की समितियों का निर्माण किया जाता है। राजस्थान में सभी नगर परिषदों/पालिकाओं में दो प्रकार की समितियाँ गठित की जाती हैं : सांविधिक तथा गैर सांविधिक। सांविधिक समितियों के गठन, शक्तियों तथा कार्यों संबंधी विस्तृत विवरण सम्बन्धित नगरपालिका अधिनियम में ही दिया जाता है जबकि गैर सांविधिक समितियों की नियुक्ति नगरपालिकाएं अपनी आवश्यकतानुसार स्वविवेक से कर सकती हैं। सभी समितियों को अलग–अलग कार्य सौंपे जाते हैं और अपने कार्य निष्पादन के लिए परिषद् के नियंत्रण में रहते हुए उसके प्रति उत्तरदायी रहती हैं। समितियाँ अपने कार्य निष्पादन के प्रतिवेदन परिषद् को प्रस्तुत करती हैं। परिषद् का यह पूर्ण अधिकार होता है कि समितियों के प्रतिवेदन को वह चाहे तो यथारूप स्वीकार कर लें और यदि उचित समझे तो उसकी अभिशंसाओं मे परिवर्तन कर दें। राजस्थान में, राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक नगर परिषद् की एक कार्यकारिणी समिति होगी जिसमें निम्नांकित सदस्य सम्मिलित होंगे:[9]

1. परिषद् का अध्यक्ष,
2. परिषद् का उपाध्यक्ष,
3. परिषद् में विपक्ष का नेता,
4. परिषद् द्वारा निर्वाचित परिषद् के 7 पार्षद, (जिनमें दो महिलाएँ हों),
5. परिषद् द्वारा गठित समितियों के अध्यक्ष, तथा
6. नगरपालिका आयुक्त समिति का पदेन सचिव।

प्रत्येक नगर परिषद् में कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त निम्नलिखित समितियाँ भी होंगी :[10]

1. वित्त समिति,

2. स्वास्थ्य और स्वच्छता समिति,
3. भवन और संकर्म समिति,
4. नियम–उपनियम उपसमिति, तथा
5. गंदी बस्ती सुधार समिति तथा
6. अपराधों का शमन और समझौता समिति

ये सभी समितियाँ ऐसी शक्तियों, कर्तव्यों और कृत्यों का प्रयोग, कार्यान्वयन और निर्वहन कर सकती हैं, जो उन्हें परिषद् द्वारा प्रत्यायोजित की जाएँ। यदि नगरपालिका का अध्यक्ष किसी समिति का सदस्य है तो वह उस समिति का पदेन अध्यक्ष होता है।[11] यह प्रावधान भी किया गया है कि यदि पालिका का उपाध्यक्ष किसी ऐसी समिति का सदस्य है, जिसमें अध्यक्ष सदस्य न हो, तो वह ऐसी समिति का पदेन अध्यक्ष होगा।[12] यदि किसी समिति में उपर्युक्त दोनों में से कोई पदेन अध्यक्ष न हो तो पालिका की परिषद् एक अध्यक्ष नियुक्त करती है। जिन समितियों की बैठक में उसका अध्यक्ष उपस्थित न हो तो समिति का अध्यक्ष उसके लिए अस्थायी अध्यक्ष नियुक्त कर सकता है। समितियों की बैठक नियमानुसार उसके अध्यक्ष के द्वारा आमन्त्रित की जाती हैं। समिति की बैठक में कार्य संचालन के लिए उसके आधे सदस्यों का उपस्थित होना अनिवार्य माना गया है।[13] समिति द्वारा दिए गए प्रत्येक आदेश के पुनरीक्षण के लिए परिषद् में अपील किए जाने का प्रावधान भी रखा गया है। सभी समितियाँ उन कार्यों का निष्पादन करती हैं जो परिषद् द्वारा उन्हें निर्दिष्ट किए जाते हैं। उपर्युक्त विवरण में इंगित कार्यकारिणी समिति का गठन राजस्थान की केवल बड़ी नगर–परिषदों में किया जाता है जबकि अन्य 5 प्रकार की समितियों का गठन भी नगरपालिकाओं में किया जाना अनिवार्य माना गया है।

सांविधिक समितियों के अलावा परिषद् जब भी आवश्यक समझे, विशिष्ट कार्यों के लिए गैर सांविधिक समितियों का निर्माण कर सकती है। उनको दिए जाने वाले कार्य, दायित्व और शक्तियों का निर्धारण परिषद् द्वारा यथासमय कर दिया जाता है।

वार्ड समितियों का गठन

74वें संविधान संशोधन के पश्चात् उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप राजस्थान नगरपालिका अधिनियम 1959 में किए गए संशोधन के अनुसार ऐसे नगर निकायों में जिनकी जनसंख्या 3 लाख या अधिक है वहाँ वार्ड समितियों का गठन किया जाएगा।[14] ऐसी प्रत्येक वार्ड समिति में निम्नांकित सदस्य होंगे :

(क) नगर निकाय की उस वार्ड समिति के प्रादेशिक क्षेत्र के भीतर के वार्डों का प्रतिनिधित्व करने वाले बोर्ड के सदस्य; और

(ख) बोर्ड द्वारा नाम निर्देशित किए जाने वाले अधिकतम पाँच अन्य सदस्य, जिनकी आयु 25 वर्ष से कम की न हो और जो नगरपालिका प्रशासन की विशेष जानकारी या अनुभव रखते हों।

यह वार्ड समिति अपनी प्रथम बैठक में, और प्रत्येक उत्तरवर्ती वर्ष की प्रथम

बैठक में अपने वार्डों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों में से एक को उस समिति का अध्यक्ष निर्वाचित करेगी। अध्यक्ष पुनः निर्वाचन के लिए पात्र होगा तथा उसका पद रिक्त होने पर यथाशीघ्र नया अध्यक्ष निर्वाचित किया जाएगा जो शेष अवधि के लिए स्थान ग्रहण करेगा। वार्ड समिति का कार्यकाल, नगरपालिका की कालावधि के समान होगा। समिति के कृत्य और कर्तव्य बोर्ड अपने आदेश द्वारा निश्चित करेगा।

नगर परिषद्/पालिका की बैठकें

सभी राज्यों के अधिनियमों में नगरपालिका की बैठक बुलाने के विषय में प्रावधान किया जाता है। राजस्थान में अधिनियम की धारा 70 के अनुसार यह अपेक्षा की गई है कि सामान्य कार्य निष्पादन के लिए नगरपालिका की दो माह में कम से कम एक साधारण बैठक होनी चाहिए। इस प्रकार एक कैलेण्डर वर्ष में परिषद् की कम से कम छः बैठक होगी। अध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि वह सामान्य बैठक के अतिरिक्त, जब भी उचित समझे, एक विशेष बैठक आमन्त्रित कर सकता है। ऐसी विशेष बैठक अध्यक्ष द्वारा सदस्यों की कुल संख्या के कम से कम एक –तिहाई सदस्यों की लिखित प्रार्थना पर आमंत्रित की जाती है। बैठक की अध्यक्षता अध्यक्ष द्वारा तथा उसकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष द्वारा की जाती है। यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों ही अनुपस्थित हैं तो परिषद् के सदस्य अपने कार्य संचालन के लिए अपना अस्थायी अध्यक्ष चुन सकते हैं। परिषद् में निर्णय उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों (अध्यक्ष सहित) के बहुमत से किया जाता है। समान मत होने की स्थिति में अध्यक्ष को द्वितीय **निर्णायक मत** देने का अधिकार होता है। बैठक की गणपूर्ति के लिए परिषद् की कुल संख्या के एक–तिहाई सदस्यों का उपस्थित होना आवश्यक है।

नगर परिषद्/पालिका की शक्तियाँ

नगर परिषद् व नगरपालिकाओं को शक्तियाँ प्रदान करने की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं :

1. सामान्य शक्ति प्रदायिनी प्रणाली : इस प्रणाली के अन्तर्गत नगर परिषदों को यह स्वतंत्रता दी जाती है कि वे ऐसा कोई भी कार्य कर सकती हैं जिसे वे अपने निवासियों के लिए आवश्यक और हितकारी समझें। यद्यपि ऐसा करते समय उन पर मर्यादा लगाई जाती है कि वे ऐसा कोई काम न करें जो केन्द्र अथवा राज्य सरकार के कार्य क्षेत्र में आता हो। इस प्रणाली में नगरपालिकाओं को पहल करने का एक व्यापक क्षेत्राधिकार मिलता है। यह प्रणाली फ्रांस में प्रचलित है।

2. विशिष्ट अधिकार दान प्रणाली : इस प्रणाली के अन्तर्गत नगरपालिकाओं को कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिए अधिकार दिए जाते हैं। नगरपालिकाएं केवल निर्दिष्ट कार्यों को करने के लिए ही सक्षम होती हैं। ब्रिटेन में यही प्रणाली प्रचलित है और भारतवर्ष में भी ब्रिटिश काल में स्थापित नगरपालिकाओं को इसी प्रणाली द्वारा अधिकार प्रदान किया गया है। स्वतंत्र भारत में भी इसी प्रणाली को जारी रखा गया है।

इस प्रणाली में नगरपालिकाएं/नगरपरिषदें केवल उन्हीं कार्यों को करती हैं जो अधिनियम द्वारा उन्हें दिये जाते हैं। अधिनियम में उन कार्यों को करने के लिए यदि किसी प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक होता है तो पालिकाएं उस प्रक्रिया को अपनाती हैं। नगरपालिकाएं यदि अधिनियम के प्रावधानों, निर्देशों या प्रक्रिया की अवहेलना करती हैं तो उसके कार्यों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। नगरपालिकाओं के अधिकारों की इन दोनों प्रणालियों में नगरपालिकाओं का कार्यक्षेत्र, अधिकार क्षेत्र और कार्य प्रक्रिया निश्चित होती है और नगरपालिकाओं को राज्य सरकार के निर्देशों के लिए परमुखापेक्षी नहीं रहना पड़ता। इस तरह अधिनियम के प्रावधानों की निर्दिष्ट परिसीमा में, इस प्रणाली के अधीन नगरपालिकाएं, स्वायत्तता का सही उपयोग करती हैं।

नगरपालिका की शक्तियों को निम्नांकित शीर्षकों में व्यक्त किया जा सकता है:

1. विधायी शक्तियाँ : नगरपालिकाओं को संबंधित अधिनियम की सीमाओं में रहते हुए नियम और उपनियम बनाने का अधिकार होता है। प्रत्येक नगरपालिका को अपने कार्य संचालन के विषय में तथा अपनी शक्तियों और दायित्वों को समितियों को प्रत्यायोजित करने के विषय में आवश्यक नियम बनाने की शक्तियाँ होती हैं। नगरपालिकाएं अपने कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों के मार्गदर्शन के लिए भी आवश्यक नियम बना सकती हैं। नगरपालिका में नियुक्त किए जाने वाले किसी कर्मचारी से यदि प्रतिभूति अथवा जमानत की राशि लेना आवश्यक हो तो इस हेतु समस्त निश्चय नियमबद्ध करने का अधिकार नगरपालिका को होता है।

राजस्थान में नगरपालिका अधिनियम की धारा 88 में यह कहा गया है कि प्रत्येक नगरपालिका को ऐसे नियम बनाने की शक्तियाँ होंगी जो इसी अधिनियम की धारा 297 से असंगत न हो। अधिनियम की धारा 297 नगरपालिकाओं के नियम बनाने की शक्ति राज्य सरकार में भी निहित करती है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि नगरपालिकाएं जो नियम बनाएंगी वे राज्य सरकार द्वारा बनाए जाने वाले नियमों अथवा दिए जाने वाले आदेशों के प्रतिकूल नहीं होने चाहिए।

प्रत्येक नगरपालिका अपने कर्मचारियों की नियुक्ति, दंड, पदच्युति की रीति और शर्तों का निर्धारण कर सकती है किन्तु ऐसा कोई भी आदेश राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित होना चाहिए। राजस्थान के अधिनियम में तो यह स्पष्ट प्रावधान किया गया है कि नगरपालिकाएं धारा 88 के अन्तर्गत जो भी नियम बनाएंगी वे तब तक प्रभावी नहीं होंगे, जब तक कि उन्हें राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित न कर दिया जाए।[15] नगरपालिकाओं को यह शक्ति भी होती है कि राज्य सरकार की स्वीकृति से वे किसी कर को निलम्बित कर सकती हैं या उसे घटा सकती हैं। नगरपालिकाएं बाजारों, लोक स्थानों तथा फल एवं सब्जी के स्थानों के उपयोग के लिए किराया या अन्य प्रभार निश्चित करने के लिए उपविधियों का निर्माण कर सकती हैं। यह

प्रावधान भी किया गया है कि पालिका द्वारा बनाए गए नियम और उपविधियों को लोक निरीक्षण के लिए कार्यालय समय के दौरान नगरपालिका कार्यालय में उपस्थित रखा जाएगा और इनकी मुद्रित प्रतियां लागत मूल्य पर बिक्री के लिए उपलब्ध की जाएँगी।[16]

2. कार्यकारी शक्तियाँ : नगरपालिका की कुछ प्रमुख कार्यकारी शक्तियाँ इस प्रकार हैं :

1. नगरपालिका में कर्मचारियों की नियुक्ति, पर्यवेक्षण और नियंत्रण का अधिकार,
2. कार्मिकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्ति,
3. अनुबंध को स्वीकृति देने की शक्ति,
4. नगरपालिका के दैनन्दिन प्रशासन से सम्बन्धित निर्णय लेने की शक्ति,
5. नागरिकों के कुछ करने या न करने से संबंधित आदेश देने की शक्ति,
6. नगरीय करों के एकत्रण की शक्ति,
7. नगर के विकास हेतु व्यय की शक्ति,
8. नगरीय अधिनियम और नियमों की अवहेलना करने वालों के विरुद्ध अभियोग,
9. लाइसेन्स प्रदान करने की शक्ति,

3. वित्तीय शक्तियाँ : नगर पालिका की प्रमुख वित्तीय शक्तियाँ इस प्रकार हैं:

1. कर लगाने की शक्ति
2. फीस, दंड एवं कर एकत्रण की शक्ति,
3. नगरपालिका का बजट तैयार करने की शक्ति,
4. नगरपालिका के कार्यों पर व्यय करने की शक्ति।

4. निर्वाचकीय शक्तियाँ : नगरपालिका कुछ चुनावों के लिए निर्वाचक मंडल के रूप में कार्य करती हैं:

1. नगरपरिषद्/नगरपालिका के अध्यक्ष या सभापति का चुनाव,
2. नगरपरिषद्/नगरपालिका के उपाध्यक्ष और उपसभापति का चुनाव,
3. नगरपरिषद्/नगरपालिका की सांविधिक समितियों के सदस्यों का चुनाव,
4. नगरपालिका की अन्य समितियों के सदस्यों का चुनाव

नगरपरिषद्/पालिका के कार्य

प्रायः सभी राज्यों में नगरपालिका प्रणाली की एक विशेषता यह है कि नगरपालिका कुछ अनिवार्य प्रकृति के और कुछ ऐच्छिक प्रकृति के कार्यों का निष्पादन करती रही है। नगरपालिकाओं से जिन कार्यों को सम्पन्न करने की आशा की जाती है उनकी सूची बहुत लम्बी होती है और नगरपालिकाओं का एक अनिवार्य लक्षण यह भी रहा है

कि अपने विपुल अनिवार्य दायित्वों में से अनेक दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह करने में असफल भी रहती रही हैं।

74 वें संविधान संशोधन के प्रवर्तन के पूर्व देशभर के नगरीय निकायों का संचालन हर राज्य के अपने अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार होता रहा है। सभी राज्य अधिनियमों में नगरीय निकायों के कार्यों के सन्दर्भ में व्यापक प्रावधान करते थे, जिनके अनुसार सभी नगरीय निकायों से कतिपय अनिवार्य, ऐच्छिक और विशिष्ट कार्यों के निष्पादन की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार अपेक्षित कार्यों का संकेत नगर निगम से सम्बन्धित विगत अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ यह उल्लेख किया जाना प्रासंगिक है कि नगर निगम द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों का जो उल्लेख विगत अध्याय में किया गया है उन सभी अनिवार्य ऐच्छिक और विशेष कार्यों को राजस्थान की नगर परिषदें और नगरपालिकाएँ भी निष्पादित करती रही हैं। 74 वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत देश के सभी नगरीय निकायों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले[18] कार्यों की संविधान की 12वीं अनुसूची में सूचीबद्ध किया गया है, जिनका उद्देश्य भी पिछले अध्याय में किया जा चुका है। नगर परिषद् एवं नगरपालिकाओं से सम्बन्धित इस अध्याय में यह व्यक्त करना पर्याप्त है कि पूर्ववर्ती अध्याय में नगर निगम द्वारा किये जाने वाले कार्यों का जो विवरण दिया गया है, वह इस अध्याय के लिए भी प्रासंगिक है। वस्तुतः उक्त संविधान संशोधन के पश्चात् अब सभी प्रकार के नगरीय निकाय उन सब कार्यों का निष्पादन करने के लिए उत्तरदायी हैं जिनका संकेत संविधान की 12 वीं अनुसूची में किया गया है। अब सभी नगर परिषदें/पालिकाएँ उक्त सभी कार्यों के निष्पादन के अतिरिक्त पूर्व में परम्परागत रूप से निष्पादित किए जा रहे सभी अनिवार्य, ऐच्छिक और विशेष कार्यों का निष्पादन भी कर रहे हैं।

इस तथ्य का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है कि नगरपालिकाओं को किसी कार्य को करने से मुक्त करना या अनिवार्य कार्य को ऐच्छिक घोषित करना इत्यादि की घोषणा राज्य सरकार कर सकती है। नगरीय निकायों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने कार्यों के निर्धारण करते समय 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्यों को ध्यान में रखेंगे। 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्यों का उल्लेख पूर्व अध्यायों में किया जा गया है।

सन्दर्भ

1. भारत का संविधान, **चौहत्तरवां संशोधन अधिनियम 1992 की धारा 243 (टी) (2)**
2. **उपर्युक्त,** धारा 243 (यू) (1)
3. **राजस्थान नगरपालिका अधिनियम,** धारा 65
4. **उपर्युक्त,** धारा 67 (ड)

5. **उपर्युक्त**, धारा 67 (च)
6. यह संशोधन राजस्थान के अधिनियम में 74वें संशोधन के अनुसरण में किए गए हैं।
7. होशियार सिंह, "पावर्स एण्ड फंक्शन्स ऑफ म्यूनिसिपल चेयरमैन इन राजस्थान", **जर्नल स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थान**, बम्बई, वोल्यूम 12 व संख्या 1, जुलाई–सितम्बर, 1970
8. **राजस्थान नगरपालिका अधिनियम**, धारा 69 (2) (ख)
9. **उपर्युक्त**, धारा 73
10. **उपर्युक्त**, धारा 73 (3)
11. **उपर्युक्त**, धारा 75 (1)
12. **उपर्युक्त**, धारा 75 (2)
13. **उपर्युक्त**, धारा 76 (4)
14. राजस्थान नगरपालिका (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1994 द्वारा अन्तः स्थापित धारा 75 (क)
15. **उपर्युक्त**, धारा 88 का परंतुक (1)
16. **उपर्युक्त**, धारा 51

6

भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण: सिद्धान्त और व्यवहार

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायती राज दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों ने लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत बनाने एवं सामान्य जन को अपने नागरिक और राजनीतिक कार्यों में वास्तविक भागीदार बनाने की दृष्टि से लोकतांत्रिक संरचना का अधिकतम विकेन्द्रीकरण करने का प्रयोग आरम्भ किया। इस प्रयोग को **"ग्रास रूट से डेमोक्रेसी"** अर्थात् तृणमूल स्तर पर लोकतंत्र के नाम से अभिहित किया गया।[1]

इसे धरातल पर लोकतंत्र के नाम से भी अभिव्यक्त किया जाता है। धरातल पर लोकतंत्र से अभिप्राय यह है कि ऐसी राजनीतिक संरचना जिसमें लोकतंत्र केवल राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तरों तक ही सीमित नहीं हो अपितु उसका विस्तार वास्तविक अर्थ में स्थानीय स्तरों तक भी होता हो। इस प्रकार यह पद्धति लोकतंत्र में लोगों की सहभागिता को सही अर्थों में सुनिश्चित करने का माध्यम है। एक ऐसा लोकतंत्र जो केवल निर्वाचित प्रतिनिधियों तक सीमित नहीं है और जो केवल राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तरों तक संकुचित नहीं है, तथा जिसमें जनता की सहभागिता प्रत्येक तीसरे या पांचवे वर्ष होने वाले चुनावों के समय ही अभिव्यक्त नहीं होती अपितु उनकी सहभागिता उनके अपने दैनिक आचरण से संबंधित सार्वजनिक कार्यों और अपने क्षेत्र, गाँव और कस्बा के दैनिक प्रबन्ध में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार धरातल पर लोकतंत्र की अवधारणा अनिवार्यतः विकेन्द्रीकृत लोकतंत्र की धारणा है जिसमें सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध का आरम्भ और अन्त केवल उच्च स्तर पर नहीं होता अपितु स्थानीय क्षेत्रों में सामान्य लोगों के विस्तृत जाल के माध्यम से होता है। सामान्य लोगों की इस संरचना को न्यूनाधिक रूप में लोगों की लघु लोकतंत्रीय सरकार, लोकतांत्रिक चिन्तन और ग्राम

के वास्तविक केन्द्र के रूप में जाना जा सकता है। **संक्षेप में धरातल पर लोकतंत्र की यह अवधारणा केवल लोकतंत्र का "मुख दर्शन" मात्र नहीं है अपितु किसी भी देश की धरती में लोकतंत्र के गहराई से बीजारोपण का प्रयत्न है।**[2]

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ

लोकतंत्र उस व्यवस्था को कहते हैं जिसमें राज्य की प्रभुसत्ता लोक अर्थात् उस भू–भाग के निवासियों में निहित होती है। जिस व्यवस्था में देश के समस्त नागरिक शासन के कार्यों में किसी न किसी स्तर पर भाग लेते हों और उनकी आवाज अनिवार्यतः कुछ महत्त्व रखती हो, उसे सच्चा प्रजातंत्र कहा जा सकता है। जब राज्य की सत्ता केन्द्र में निहित होती है तो उसे केन्द्रीय शासन कहते हैं और जब यही सत्ता जनता में विभिन्न स्तरों पर बांट दी जाती है तो इसे विकेन्द्रीकृत सत्ता कहते हैं।

सभी लोकतांत्रिक देशों में शासन के निर्णय यद्यपि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा लिए जाते हैं किन्तु उनका निष्पादन लोकसेवकों द्वारा किया जाता है। शासन के कार्य संचालन का यह सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य है किन्तु आधुनिक लोकतंत्रीय देशों में नौकरशाही की शक्तियों का इतना अनियंत्रित और असीमित विस्तार हो गया है कि लोकतांत्रिक रूप से चुने हुए प्रतिनिधियों की भूमिका कभी–कभी गौण होती प्रतीत होती है। वस्तुतः लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण शासन की शक्तियों का नौकरशाही के विभिन्न स्तरों पर प्रत्यायोजन नहीं है अपितु लोकतांत्रिक सत्ता का राष्ट्रीय स्तर से नीचे राज्य, जिला, विकास खंड एवं ग्राम स्तर पर विकेन्द्रीकरण द्वारा निर्णय करने की अधिकतम शक्ति जनता में निहित हो तभी सच्चा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण हो सकता है।

इस अवधारणा पर 1957 में, केन्द्र सरकार द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के आकलन एवं मूल्यांकन हेतु नियुक्त बलवंत राय मेहता समिति ने भी गहन चिन्तन किया। इस समिति का निष्कर्ष भी यही था कि वास्तविक प्रजातंत्र उस समय फलीभूत होगा जब प्रत्येक गाँव में ग्रामसभाएँ एवं ग्राम–पंचायतें स्थापित हो जाएंगी और सामान्य जन वास्तविक स्वतंत्रता का अनुभव करेंगे।[3]

लोकतंत्र एक जीवन दर्शन है। राजनीति में इसके प्रयोग की अवधारणा में इसके विकेन्द्रीकरण का विचार भी अन्तर्निहित है। राजनीति में लोकतंत्र के प्रयोग का अभिप्राय न केवल राज्य सत्ता में लोगों की भागीदारी का प्रयास है अपितु सरकार के दैनिक कामकाज में लोगों को सहभागी बनाना भी है। राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में लोकतंत्र को परिभाषित करते समय राजनीतिक चिंतकों ने यद्यपि भिन्न–भिन्न विचार व्यक्त किये हैं किन्तु उन सभी के विश्लेषण में लोकतंत्र में लोगों की अधिकतम सहभागिता का तत्त्व, सामान्य रूप से अभिव्यक्त हुआ है। प्रसिद्ध विद्वान **जे. एस. मिल** ने लिखा है कि एक ऐसी सरकार, जिसमें सभी लोगों की भागीदारी है, ही सामाजिक राज्य की समस्त आवश्यकताओं को पूर्णतः संतुष्ट कर सकती है।[4] लोगों की सहभागिता लोकतंत्र का हृदयस्थल अथवा सार है। जिस व्यवस्था में अपनी सरकार के संचालन

में लोगों की सहभागिता जितनी अधिक, निरन्तर, सक्रिय, रचनात्मक और निकट की होगी वह व्यवस्था लोकतंत्र के राजनीतिक आदर्श के उतने ही समीप समझी जाएगी। "लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण लोगों की यह सहभागिता प्राप्त करने का एक सशक्त उपाय है। इसका ध्येय शासन कार्यों में लोगों की अधिकतम और जीवंत सहभागिता को सुनिश्चित करना होता है।"[5] यहाँ यह जिज्ञासा व्यक्त की जा सकती है कि लोकतंत्र की अवधारणा में जब विकेन्द्रीकरण का विचार अन्तर्निहित है तो "विकेन्द्रीकरण" के आरम्भ में "लोकतांत्रिक" शब्द क्यों लगाया जाता है। विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि विकेन्द्रीकरण के पूर्व लोकतांत्रिक शब्द का उपयोग निरर्थक नहीं है वस्तुतः लोकतांत्रिक शब्द विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है जो सत्ता के विकेन्द्रीकरण में लोगों के व्यापक, अधिकतम और निकटतम सहयोग की आकांक्षा को अधिक स्पष्टता देता है।[6]

"विकेन्द्रीकरण" के पूर्व "लोकतांत्रिक" शब्द के उपयोग करने से इसका अर्थ प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को पृथक् रूप से समझने में भी सहायता करता है। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा प्रशासन में कुशलता लाने के विचार से अभिप्रेरित है। प्रशासन में जब शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाता है तो उसका उद्देश्य प्रशासन के निचले स्तरों पर निष्पत्ति और प्रशासनिक कार्मिकों की गति वृद्धि के माध्यम से उनकी कुशलता बढ़ाने से होता है जबकि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य शासन के कार्यों में सरकार के प्रत्येक स्तर राष्ट्रीय, प्रान्तीय और विशेषतः स्थानीय स्तर पर जनता की अधिकतम सहभागिता प्राप्त करना होता है। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण में प्रशासन के निचले स्तरों पर किसी योजना को अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्यान्वित करने का अधिकार निहित देखा जा सकता है। इसमें योजना उच्च स्तर के लोगों के द्वारा बनाई जाती है और उसकी क्रियान्विति की प्रक्रिया में नीचे के स्तर की स्वतंत्रता अभीष्ट होती है।

जबकि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को स्थानीय स्तर पर लोगों का अपने कल्याण की योजनाओं को बनाने व पहल करने तथा स्वायत्ततापूर्वक उन्हें कार्यान्वित करने के अधिकार के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार "लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण," प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की तुलना में अधिक व्यापक है और दोनों में अन्तर उनके उद्देश्य को लेकर किया जा सकता है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण जहाँ लोगों की सहभागिता पर बल देता है वहीं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य 'कुशलता' को बढ़ावा देना होता है?[7]

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के विचार को प्रत्यायोजन या विसंकेन्द्रण के समानार्थक समझकर भ्रमित नहीं होना चाहिए। यद्यपि इन तीनों शब्दों में कुछ समान गुण हो सकते हैं फिर भी ये समानार्थक नहीं है। प्रत्यायोजन या विसंकेन्द्रण में सत्ता का उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ अधिकारी को हस्तान्तरण होता है जो उस सत्ता के उपयोग के लिए इच्छा के अनुरूप स्वतंत्र नहीं होता, अपितु उसका निर्वाह उच्च अधिकारी के निर्देशों और मोद या प्रसाद की सीमाओं के अन्तर्गत करना होता है। जबकि लोकतांत्रिक

विकेन्द्रीकरण लोकतांत्रिक सिद्धांत का विस्तार है, इसमें स्थानीय स्तर पर लोगों का अपने कार्यों के, बिना किसी उच्च हस्तक्षेप के, प्रबन्ध का अधिकार निहित है। इस प्रकार लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के विचार में जहाँ लोगों का अधिकार अन्तर्निहित देखा जा सकता है वहाँ प्रत्यायोजन उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ अधिकारी को प्रदत्त सुविधा मात्र है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एक ऐसा सिद्धांत है जो स्थानीय लोगों को मौलिक सत्ता के उपभोग का अधिकार प्रदान करता है जबकि प्रशासनिक प्रत्यायोजन या विसंकेन्द्रण, किसी भी प्रशासनिक संगठन में प्रशासनिक कुशलता प्राप्त करने का उपागम मात्र है जिसमें अधीनस्थ अधिकारी द्वारा ऐसी सत्ता का उपयोग किया जाता है जो उसे उच्च अधिकारी द्वारा दी गई है।[8]

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा पूर्व सोवियत संघ और चीन जैसे साम्यवादी देशों में प्रचलित लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण की धारणा से पूर्णतः भिन्न है। इन साम्यवादी देशों में लोकतंत्र और केन्द्रीय नेतृत्व की शक्तियों के केन्द्रीकरण का समामेलन किया गया है। इन देशों की जनता जनतांत्रिक तरीके से, प्राथमिक तौर पर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है तथा अपने शासन की नीति संबंधी व्यापक मुद्दों का चयन करती है किन्तु इन दोनों देशों की जनता जब प्राथमिक तौर पर व्यापक नीतियों का निर्धारण कर अपने प्रतिनिधियों को चुन देती है तो इस बिन्दु पर उनकी लोकतांत्रिक स्वतंत्रता समाप्तप्रायः हो जाती है। इसके पश्चात् निर्वाचित नेतृत्व, जनता द्वारा स्वीकृत व्यापक नीतियों को कार्यान्वित करने हेतु रीति–नीति निर्धारित करता है और आवश्यक आदेश देता है। केन्द्रीय नेतृत्व के इन आदेशों का कोई विरोध, आलोचना या उनके प्रति कोई संकोच या प्रतिरोध व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस स्तर पर जनता भी, अपने प्रतिनिधियों द्वारा निर्धारित रीति–नीति अथवा कार्य प्रणाली के प्रति कोई विरोध व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। जनता के लोकतांत्रिक अधिकार प्राथमिक स्तर पर नीतियों के निर्धारण तक सीमित माने जाते हैं और एक बार स्वीकृत नीतियों के निष्पादन पर केन्द्रीय नेतृत्व का पूर्ण अधिकार और नियंत्रण स्थापित हो जाता है। इस तरह इन साम्यवादी देशों में लोकतंत्र, नीतियों के निर्धारण की प्राथमिक प्रक्रिया तक सीमित है और तत्पश्चात् की समस्त प्रक्रियाओं पर केन्द्रीय नेतृत्व का केन्द्रीकरण स्थापित है। यद्यपि इस स्थिति में सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् परिवर्तन आ गया है किन्तु चीन में स्थिति यथावत् है।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में जहाँ शक्तियों का उच्च स्तर से स्थानीय स्तर तक विकेन्द्रीकरण होता है वहाँ लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण में शक्तियों का नीचे के लोकतांत्रिक स्तरों से उच्च नेतृत्व की ओर केन्द्रीकरण होता है। विद्वानों ने इस प्रक्रिया को लोकतांत्रिक और लोकप्रिय स्तरों से शक्तियों का केन्द्रीय नेतृत्व के प्रति पूर्ण समर्पण भी कहा है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में शासन के उच्च स्तर द्वारा जो शक्तियाँ नीचे के स्तरों को हस्तान्तरित की जाती हैं उसमें उच्च स्तर पर लोकतांत्रिक भावना विद्यमान रहती है जो नीचे के स्तरों को सत्ता और स्वायत्तता दोनों प्रदान करती है। इस तरह इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रत्येक स्तर पर लोकतंत्र की

स्थापना का प्रयत्न होता है जबकि लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण में अधिनायकवादी नेतृत्व को लोकतांत्रिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है। सारतः यह व्यक्त किया जा सकता है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में जहाँ लोकतंत्र में लोगों की सहभागिता व स्वायत्तता पर बल दिया जाता है वहाँ लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण में लोगों की सहभागिता तथा सत्तावाद दोनों पर बल होता है, यद्यपि यह बल सत्तावाद पर अधिक होता है।[9]

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की विशेषताएं

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण शब्द शासन के उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर तीन स्वरूपों में शक्तियों के स्वायत्ततापूर्ण हस्तांतरण का उद्घोष करता है :

1. राजनीतिक दृष्टि से यह निर्णय करना कि शासन की नीति और कार्यक्रम क्या होंगे,
2. निर्धारित दायित्वों को पूर्ण करने के लिए आर्थिक संसाधनों के प्रबन्ध का अधिकार हो, तथा
3. प्रशासनिक दृष्टि से, बिना किसी उच्च हस्तक्षेप के, अपने कार्यों के निर्देशन, पर्यवेक्षण और व्यावहारिक आयोजन का अधिकार।

इस प्रकार लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एक ऐसी राजनीतिक धारणा है जो शासन के कार्यों और निर्णयों में लोगों की भागीदारी क़ा विस्तार करती है। यह धारणा उच्च स्तर से नीचे के स्तर के जनप्रतिनिधियों की सत्ता का, स्वायत्तता सहित, विकेन्द्रीकरण करती है। सत्ता का यह विकेन्द्रीकरण उपर्युक्त इंगित तीन दिशाओं में राजनीतिक निर्णय निर्माण, वित्तीय नियंत्रण और प्रशासकीय प्रबन्ध में होता है।[10] प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण की विशेषताओं को निम्नांकित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण लोगों को अपनी ही सरकार के प्रबन्ध में अधिकतम और व्यापक सहभागिता सुनिश्चित करता है।
2. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया शक्तियों के लम्बवत् हस्तान्तरण का आग्रह करती है।
3. इस प्रक्रिया में जो सत्ता निम्नस्तरीय इकाइयों को प्राप्त होती है उसके उपयोग में उन्हें नीति निर्माण, कार्यक्रमों के निर्धारण और उनके निष्पादन की रीति–नीति के विनिश्चय, तथा आर्थिक संसाधनों के प्रबन्ध में पर्याप्त स्वायत्तता मिलती है।
4. इस प्रक्रिया में जो सत्ता विकेन्द्रीकृत की जाती है उसका उपयोग जिस तंत्र के द्वारा किया जाना है वह निर्वाचित होना चाहिए; यदि वह तंत्र निर्वाचित नहीं है तो वहाँ विकेन्द्रीकरण तो होगा किन्तु यह विकेन्द्रीकरण लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता।
5. इस प्रक्रिया में विकेन्द्रीकृत सत्ता का उपयोग निर्वाचित निकाय के सदस्यों या किसी समिति के द्वारा होना चाहिए न कि एक व्यक्ति के

द्वारा। यदि सत्ता का उपयोग एक व्यक्ति में निहित कर दिया गया तो लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य नष्ट हो जाएगा।

6. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का यह राजनीतिक सिद्धांत एक सीमा तक, निम्न स्तरीय संस्थाओं के दैनन्दिन कार्यकरण में राज्य सरकार अथवा केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप का निषेध करता है। सैद्धांतिक तौर पर तो यह माना जाता है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में निम्न स्तरीय संस्थाओं पर उच्चस्तरीय संस्थाओं का नियंत्रण नहीं होना चाहिए किन्तु यह एक अतिवादी और विशुद्ध सैद्धांतिक दृष्टिकोण है। व्यवहार में स्थानीय संस्थाओं को निश्चित क्षेत्र में स्वायत्तता प्रदान की जाती है। इस स्वायत्तता के क्षेत्र में अनावश्यक, अवांछित अथवा अतिरिक्त हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा यह हस्तक्षेप लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के मूल उद्देश्य पर ही आघात करता है।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन

यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन की अवधारणा एक दूसरे की पर्यायवाची हैं, या पूरक है या परस्पर इनमें कोई भिन्नता है। वस्तुतः दोनों अवधारणाएं एक दूसरे की इस अर्थ में पर्यायवाची मानी जा सकती हैं कि दोनों का मूल उद्देश्य शासन कार्यों में लोगों की अधिकतम सहभागिता और स्वायत्तता प्राप्त करना होता है। यह दोनों ही प्रकार की अवधारणाएं स्थानीय कार्यों के प्रबन्ध में उच्चस्तरीय नियंत्रण को सीमित करती हैं, दोनों में अन्तर इतना सा है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण जहाँ राजनीतिक अवधारणा मात्र है, वहीं स्थानीय शासन उसका एक संस्थागत रूप माना जा सकता है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा शासन कार्यों में स्वायत्तता पर अधिक बल देती है। यह अवधारणा, स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाइयों के अधिक प्रजातंत्रीकरण, अधिक सत्ता, अधिक दायित्व, पहल और गतिविधियों के प्रबन्ध में और अधिक स्वायत्तता के उपयोग का आग्रह करती है।

भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का व्यावहारिक पक्ष

भारत के संविधान के अनुच्छेद 40 में यह निर्देश दिया गया है कि राज्य पंचायतों की स्थापना एवं उनके विकास पर ध्यान देगा। इसके पश्चात् प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि विकास कार्यों के निष्पादन में पंचायतें एक अभिकर्ता (एजेन्ट) के रूप में कार्य करेंगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी यह बल दिया गया कि पंचायतों को और अधिक अधिकार दिए जाएं। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन के कार्यक्रमों की योजना बनाना, बजट तैयार करना, ग्राम और सरकार के मध्य संबंध सेतु स्थापित करना तथा सामुदायिक विकास कार्यों के लिए श्रमदान संगठित करने इत्यादि की भूमिका उन्हें विशेष रूप से दी जा सकती है। 1952 में, देश में व्यापक स्तर पर सामुदायिक विकास योजना लागू की गई जिसमें सिद्धांततः यह

स्वीकार कर लिया गया था कि ग्राम की वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब इस कार्यक्रम को जनता की समितियों के माध्यम से क्रियान्वित करवाया जाए। समय–समय पर किए गए मूल्यांकनों से यह स्पष्ट हो गया कि सामुदायिक विकास की यह योजना, जनता का कार्यक्रम तभी बन सकती है जब इसे जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप दिया जाए। इसी समय अनुभव भी कर लिया गया था कि प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए जनता को और अधिक अधिकार दिये जाने की आवश्यकता है। देश में ऐसा वातावरण बन गया जिसमें इस प्रश्न पर गम्भीर चिन्तन किया जाने लगा कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं पंचवर्षीय योजनाओं को कैसे सफल बनाया जाए? इसी क्रम में योजना आयोग की योजना कार्यक्रमों की समिति ने श्री बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल बनाया जिसे उक्त समस्या पर सर्वांगीण दृष्टि से विचार कर अपना सुझाव प्रस्तुत करने को कहा गया।

बलवंत राय मेहता समिति (1958) ने अनुशंसा की कि राजनीतिक सत्ता का उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए जिससे विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने एवं उन्हें कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व स्थानीय क्षेत्र के चुने हुए प्रतिनिधियों का हो जाए। बलवंत राय मेहता ने इस अनुशंसा को प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया। स्थानीय स्वशासन के विद्वानों ने मेहता प्रतिवेदन को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा पर एक वैज्ञानिक प्रपत्र स्वीकार किया है जो इस अवधारणा के सिद्धांत और व्यवहार दोनों की समुचित अभिव्यक्ति अपने कलेवर में समाविष्ट करता है।

12 जनवरी, 1958 को राष्ट्रीय विकास परिषद् ने, बलवंत राय मेहता समिति की अभिशंसाओं को यथारूप स्वीकार कर लिया। स्थानीय स्वायत्त शासन की केन्द्रीय समिति ने भी अपनी स्वीकृति इन अनुशंसाओं को प्रदान कर दी है। मेहता समिति द्वारा प्रस्तुत अभिशंसाओं में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का जो प्रतिमान प्रस्तुत किया गया उसे कालांतर में पंचायती राज के नाम से जाना गया। केन्द्र सरकार ने विकेन्द्रीकरण हेतु पंचायती राज की इस योजना को एक आदर्श प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर लिया किन्तु यह प्रत्येक राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया गया कि वे पंचायती राज को जिस रूप में चाहें अपने यहाँ अपना लें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पंचायती राज की यह योजना स्थानीय स्वायत्त शासन की योजना है और स्थानीय स्वायत्त शासन चूंकि राज्यसूची का विषय है इसलिए केन्द्र सरकार ने अपनी शक्तियों की संवैधानिक सीमाओं को पहचानते हुए समस्त राज्यों के लिए आदर्श ढांचा सुझा दिया और उसे अपनाने के लिए राज्यों को स्वाभाविक और अपेक्षित स्वायत्तता दे दी गई। किन्तु, इस प्रतिमान के कुछ मौलिक सिद्धांत निर्धारित कर दिए गए, जिन्हें ध्यान में रखने का आग्रह राज्यों से किया गया।

पंचायती राज के मौलिक सिद्धांत

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण हेतु प्रस्तावित पंचायती राज की योजना ग्राम

से लेकर जिला स्तर तक तीन स्तरीय होनी चाहिए। ये संस्थाएं जीवंत रूप से एक दूसरे से संबंधित रहें।

2. इन संस्थाओं को, शक्ति और दायित्वों का वास्तविक हस्तांतरण होना चाहिए।
3. इन संस्थाओं को योग्य बनाने के लिए तथा उत्तरदायित्वों के निर्वाह को सरल बनाने के लिए पर्याप्त वित्तीय स्रोत हस्तान्तरित किए जाने चाहिए।
4. इन संस्थाओं को समस्त विकास कार्यक्रमों के निष्पादन का दायित्व दिया जाए।

प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस योजना को पंचायती राज के रूप में राजस्थान ने सबसे पहले अपनाया। इस योजना का उद्घाटन देश के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने राजस्थान के नागौर नगर में 2 अक्टूबर, 1959 को एक विशाल जन समूह के समक्ष दीप जला कर किया। इसके उपरांत आन्ध्र प्रदेश ने 11 अक्टूबर, 1959 को इस योजना को लागू किया। कालांतर में देश के अधिकांश राज्यों ने इस योजना को अंगीकार कर लिया है।

मेहता समिति द्वारा सुझाया गया ढांचा मूल रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के नागरिकों की, सरकारी विकास कार्यों में सहभागिता को सुनिश्चित करने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया था। बलवंत राय मेहता की उक्त योजना को पंचायती राज के त्रिस्तरीय ढांचे के रूप में जाना जाता है। ये तीन स्तर हैं :

1. ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत
2. खंड स्तर पर पंचायत समिति
3. जिला स्तर पर जिला परिषद

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को साकार करने वाली मेहता समिति द्वारा सुझाई गई पंचायती राज की यह त्रिस्तरीय योजना प्रायः, कुछ अपवादों को छोड़कर, देश के अधिकांश राज्यों में अपना ली गई थी। तीनों स्तरों की संस्थाओं में अन्तर–संस्थात्मक आन्तरिक संबंध स्थापित किए जाने के सुझाव को भी अधिकांश राज्यों ने, पंचायत राज को लागू करते समय, ध्यान में रखा था। बलवंत राय मेहता समिति ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस त्रिस्तरीय योजना के कार्यक्षेत्र, शक्तियों, वित्त, कर्मचारी वर्ग तथा उन पर नियंत्रण इत्यादि का समूचा विवरण अपने प्रतिवेदन में सुझाया था जिसके सांदर्भिक पक्षों का संक्षिप्त विवरण संबंधित अध्यायों में आवश्यकतानुसार सम्मिलित किया गया है।

निम्न सारणियों में भारत में तथा राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का विवरण दिया गया है।

भारत में पंचायतीराज संस्थाएँ

क्र.सं.	राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश का नाम	जिला	मध्यवर्ती पंचायत	ग्राम पंचायत
1.	आन्ध्रप्रदेश	22	1095	21913
2.	अरुणाचल प्रदेश	15	150	1747
3.	असम	20	203	2489
4.	बिहार	38	531	8471
5.	छत्तीसगढ़	16	146	9139
6.	गोवा	02	00	190
7.	गुजरात	25	225	13919
8.	हरियाणा	19	114	6034
9.	हिमाचल प्रदेश	12	75	3037
10.	झारखण्ड	22	211	3746
11.	जम्मू–कश्मीर	00	00	2683
12.	कर्नाटक	27	175	5659
13.	केरल	14	152	991
14.	मध्यप्रदेश	45	313	22029
15.	महाराष्ट्र	33	349	28553
16.	मणिपुर	04	00	166
17.	मेघालय	00	00	00
18.	मिजोरम	00	00	00
19.	नागालैण्ड	00	00	00
20.	उड़ीसा	30	314	6234
21.	पंजाब	17	140	12445
22.	राजस्थान	33	249	9166
23.	सिक्किम	04	00	159
24.	तमिलनाडु	29	385	12618
25.	त्रिपुरा	04	23	537
26.	उत्तर प्रदेश	71	813	52028
27.	उत्तराखण्ड	13	95	7227
28.	पश्चिम बंगाल	18	333	3360
29.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	01	07	67
30.	चण्डीगढ़	01	01	17
31.	दादरा और नगर हवेली	01	00	11
32.	दमण और दीव	01	00	10
33.	राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली	00	00	00
34.	लक्षद्वीप	01	00	10
35.	पॉण्डिचेरी (अब पुदुचेरी)	00	10	98
	योग	**538**	**6109**	**234653**

राजस्थान में पंचायतीराज संस्थाऐं : एक दृष्टि

क्र.सं.	जिला	जिला परिषद्	पंचायत समिति	ग्राम पंचायत
1.	अजमेर	01	08	266
2.	अलवर	01	14	472
3.	बारां	01	07	214
4.	बाँसवाड़ा	01	08	307
5.	बाड़मेर	01	08	380
6.	भरतपुर	01	09	371
7.	भीलवाड़ा	01	11	383
8.	बीकानेर	01	06	219
9.	बूँदी	01	05	181
10.	चितौड़गढ़	01	11	288
11.	चूरू	01	06	249
12.	दौसा	01	05	225
13.	धौलपुर	01	04	153
14.	डूँगरपुर	01	05	237
15.	हनुमानगढ़	01	07	251
16.	गंगानगर	01	08	320
17.	जयपुर	01	13	488
18.	जैसलमेर	01	03	128
19.	जालौर	01	08	264
20.	झालावाड़	01	06	252
21.	झुंझुनूं	01	08	288
22.	जोधपुर	01	10	339
23.	करौली	01	05	223
24.	कोटा	01	05	156
25.	नागौर	01	11	461
26.	पाली	01	10	320
27.	राजसमन्द	01	07	205
28.	सवाई माधोपुर	01	05	197
29.	सीकर	01	08	329
30.	सिरोही	01	05	151
31.	टोंक	01	06	230
32.	उदयपुर	01	12	467
33.	प्रतापगढ़	01	05	152
	योग	33	249	9166

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नूतन पक्ष : ग्रामसभा एवं वार्ड सभा

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के व्यावहारिक पक्ष का यह विश्लेषण अधूरा रह जाएगा यदि 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् संविधान में किए गए ग्रामसभा के प्रावधानों का उल्लेख न करें। इस संविधान संशोधन के माध्यम से ग्रामसभा को सांविधानिक स्तर प्रदान करते हुए धरातल पर लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रत्यक्षतम इकाई के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। वर्ष में न्यूनतम दो बैठकों के माध्यम से ग्रामसभा से यह अपेक्षा की गई है कि वह ग्राम स्तर पर निर्वाचित इकाई ग्राम पंचायत की वर्ष भर की कार्यसूची (एजेन्डा) का निर्धारण करें, बीच में इसकी उपलब्धियों का सामयिक आकलन करते हुए अंत में उनकी समीक्षा भी करें। इस तरह ग्रामसभा ग्राम स्तर या धरातल पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र का ऐसा उपकरण है जिससे निर्वाचित निकाय एवं उसके क्रियाकलापों पर सीधा निगरानी रखने की अपेक्षा की जाती है। यही नहीं, राजस्थान में तो इससे भी एक कदम आगे बढ़कर वार्ड सभाओं की परिकल्पनाओं को भी साकार रूप दिया है। इन दोनों ही पक्षों का और विस्तृत विवरण पुस्तक के आगामी अध्यायों में यथास्थान दिया जा रहा है।

व्यवहार में अनुभूत विकृतियाँ

प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा पर अपना महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत करते समय स्वयं बलवंत राय मेहता समिति इसकी अन्तर्निहित विसंगतियों, सीमाओं और सफलता के संभावित खतरों से अवगत थी। समिति की मान्यता थी कि प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रस्तावित योजना को कार्यान्वित कर दिए जाने से प्रशासन की कुशलता में ह्रास हो जाएगा। यद्यपि उनकी मान्यता यह भी थी कि प्रशासनिक कुशलता की यह अवनति, इन संस्थाओं के संस्थागत और संगठनात्मक विकृतियों को दूर कर दिए जाने से, समाप्त हो जाएगी। समिति ने इस दिशा में दूसरा मत इन संस्थाओं में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाने के विषय में व्यक्त किया था। समिति ने लोगों की अज्ञानता, अधिकारियों की चालाकी और समाज में विकसित होने वाले विशिष्ट अधिकार सम्पन्न समूहों इत्यादि को संभावित भ्रष्टाचार के कारकों के रूप में रेखांकित किया था। समिति ने यह संभावना भी व्यक्त की थी कि लोकतांत्रिक संस्थाओं के चुनावों से समाज और ग्रामीण क्षेत्रों में गुटबाजी को प्रोत्साहन मिलेगा।[11]

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बलवंत राय मेहता समिति अपने प्रतिवेदन में प्रस्तावित लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के कार्यान्वयन के मार्ग में संभावित कठिनाइयों और उसकी सीमाओं से भली भांति अवगत थी। हमारे राज्यों ने मेहता समिति द्वारा प्रस्तावित लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की पंचायती राज की जो योजना अपने यहाँ कार्यान्वित की है उनके व्यावहारिक अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में जिन विकृतियों का अनुमान व आकलन किया था, वे सही पाई गई हैं। पंचायती राज के संव्यवहार में, देश भर में जो विकृतियाँ अनुभव की गई हैं वे बिन्दुवार इस तरह व्यक्त की जा सकती हैं :

1. मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में यह मत व्यक्त किया था कि लोकतांत्रि

विकेन्द्रीकरण की योजना कार्यान्वित कर दिए जाने से प्रशासन की कुशलता में ह्रास होगा। देश भर में पंचायती राज संस्थाएँ वास्तव में अकुशलता की प्रतीक बनकर रह गई हैं। ये संस्थाएँ जनतांत्रिक दबावों के कारण प्रायः प्रशासनिक कुशलता को तिलांजलि दे बैठी हैं। लोकतांत्रिक रूप से चुने हुए प्रतिनिधि प्रशासनिक कार्यकुशलता के किसी मापदंड या मर्यादा को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते हैं।

2. इन संस्थाओं में व्यापक भ्रष्टाचार फैल गया है। लोकतांत्रिक रूप से चुने हुए प्रतिनिधियों ने नौकरशाही के साथ ऐसा अनुपम सामंजस्य बिठाया है कि इन संस्थाओं के ये दोनों घटक मिलकर बहुधा भ्रष्टाचार करने और उससे बचने के उपाय ढूंढते रहते हैं।

3. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की पंचायती राज की योजना कार्यान्वित होने से समय-समय पर होने वाले पंचायती राज चुनावों से ग्रामीण क्षेत्रों में सौहार्द्र का सामान्य वातावरण नष्ट हो गया है और ग्रामीण क्षेत्रों में गुटबाजी का माहौल बन गया है। इन दोनों ही विकृतियों का मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में भी पूर्वानुमान कर लिया था।

4. पंचायती राज की योजना को मेहता समिति के प्रतिवेदन की अपेक्षाओं के अनुकूल यथारूप कार्यान्वित करने में राज्य सरकारों का दृष्टिकोण भी शिथिल दिखाई दिया है। उसका यह व्यवहार निम्नांकित बिन्दुओं से प्रमाणित होता हैं :

(अ) राज्य सरकारें पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव समय पर नहीं कराती रही हैं। कहीं-कहीं तो चुनाव 3 की अपेक्षा 13 वर्ष तक नहीं कराए गए। राज्य सरकारों की यह मनोवृत्ति लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना के प्रति उनकी उदासीनता का प्रमाण मानी जा सकती है।

(ब) समस्त राज्य सरकारें इस तथ्य से भली भांति परिचित हैं कि पंचायती राज संस्थाओं की आर्थिक दशा अत्यन्त कमजोर है और स्वतंत्र रूप से उनके आर्थिक संसाधनों का अभाव है। अब 73वें संविधान संशोधन द्वारा इस दिशा में सटीक उपाय किए गए हैं।

5. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायती राज की योजना प्रस्तुत करते हुए मेहता समिति ने यह भी मत व्यक्त किया था कि विकास कार्यों के साथ जनता की अधिकतम सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए यह योजना प्रस्तुत की जा रही है किन्तु व्यवहार में उनकी यह आशा फलीभूत होती प्रतीत नहीं हुई। वस्तुतः चुनाव के समय जनता राजनीतिक रूप से किंचित् अधिक सक्रिय हो जाती है किन्तु चुनावों के पश्चात् विकास कार्यक्रमों में जो भागीदारी, जागृति और सहभागिता नागरिकों से अपेक्षित हैं उसका विकास ये संस्थाएं नहीं कर पाती हैं। यहाँ यह व्यक्त करने में कोई संकोच नहीं है कि पंचायती राज मेहता समिति के मूल उद्देश्य "विकास कार्यों में नागरिकों की सहभागिता" को साकार नहीं कर पाया है।

6. पंचायती राज की संस्थाओं को ग्रामीण अंचलों में विकास का वाहक बनाना मेहता समिति के प्रतिवेदन का दूसरा लक्ष्य था किन्तु यह लक्ष्य भी पूर्ण रूप से सार्थक नहीं हो पाया है। प्रथम तो राज्य सरकारों ने पंचायती राज की संस्थाओं को विकास के

अधिक दायित्व ही नहीं दिए हैं और यदि यत्किंचित् दायित्व दिए भी हैं तो पंचायती राज की संस्थाएँ उन्हें संतोषजनक सीमा तक पूर्ण नहीं कर सकी हैं। यहाँ उदाहरण के रूप में यह उल्लेख किया जा सकता है कि राजस्थान में पंचायत समितियों को ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा के संचालन का दायित्व सौंप दिया है। व्यवहार में ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज द्वारा संचालित प्राथमिक शिक्षा की जो दुर्दशा हो रही है उसे राजस्थान के ग्रामवासी ही जानते हैं।

7. पंचायती राज की संस्थाओं को उत्तरदायित्व का जो आत्मबोध होना चाहिए था, वह भी नहीं हो पाया है।

8. पंचायती राज की संस्थाएँ कितनी निष्क्रिय हैं इस बात का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि ग्रामसभा की वर्ष में नियमित बैठक बुलाने का कार्य पंचायती राज की ये संस्थाएँ व्यवहार में उदासीनता से करती हैं। व्यवहार और सिद्धांत का यह अन्तर इन संस्थाओं के कार्यकरण की विसंगतियों को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

9. ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता के माध्यम से स्वावलम्बन का सपना भी इसीलिए अधूरा रह गया कि सहकारिता के आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य पंचायती राज संस्थाओं को दे दिया गया।

10. पंचायती राज की संस्थाएँ संविधान में परिकल्पित सामाजिक न्याय की दिशा में अपनी भूमिका को रेखांकित कर पाने में असफल रही हैं। यही कारण है कि भारत के संविधान की प्रस्तावना में परिकल्पित आदर्श, परिकल्पना के स्तर तक ही रह गए हैं, यथार्थ में उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सका है।

11. 73वें संविधान संशोधन का अनुसरण करते हुए भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों ने अपने यहाँ पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव सम्पन्न करा लिए हैं। किन्तु, इन चुनावों के पश्चात् जो जन प्रतिनिधि चाहे वे सरपंच, प्रधान या जिला प्रमुख हों अथवा इन संस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए पंच या सदस्य हों इन सभी को निरन्तर यह बोध हो रहा है कि :

(क) निर्वाचित सदस्य या प्रतिनिधि के रूप में उनसे जनता की जो अपेक्षाएँ जाग्रत हो गई हैं, उन्हें पूर्ण करने के लिए वास्तव में उन्हें कोई अधिकार या शक्तियाँ नहीं है;

(ख) उनके पास निर्वाचित जन प्रतिनिधि के रूप में जन आकांक्षाओं के अनुरूप दायित्वों का निर्वाह करने के लिए न तो कोई कार्यालय है और न ही किसी अन्य प्रकार की संरचनात्मक सुविधाएं उन्हें उपलब्ध कराई गई हैं।

12. देश के सभी राज्यों में महिला पदाधिकारियों एवं प्रतिनिधियों ने भी अपने कार्यक्षेत्र में परिवार के पुरुष सदस्यों के अतिशय हस्तक्षेप के प्रति समय-समय पर चिन्ता व्यक्त की है। वस्तुतः ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभावशाली परिवारों के पुरुषों को 'आरक्षण जन्य विवशताओं' के अधीन अपने ही परिवार की महिला को टिकट दिला कर अपनी प्रभावशाली

स्थिति को बनाए रखने के उपाय करने पड़े हैं। इस तरह ग्रामीण क्षेत्रों में महिला सरपंच प्रधान व जिला प्रमुख चुने जाने पर एक नई अनौपचारिक पदसोपान की व्यवस्था स्वतः विकसित हो गई है जिसमें उन महिलाओं के प्रति अपने परिचय–पत्र पर "सरपंच पति" "प्रधान पति" व "जिला प्रमुख पति" लिखवा कर विचरण करते पाए जाते है। हमारी पारिवारिक संरचना में पारिवारिक सौहार्द्र को बनाए रखने के लिए देश भर में ये महिला प्रतिनिधि/पदाधिकारी ऐसी स्थितियों से जूझती हुई कार्य कर रही हैं।

उपर्युक्त कारणों से देश भर में पंचायती राज संस्थाओं के चुने हुए पदाधिकारी एवं जन प्रतिनिधि वास्तविक शक्तियों के अभाव में अपनी निर्वाचित स्थिति के प्रति पूर्णतः निराश हैं और निरन्तर विभिन्न मंचों से सरकार के सामने यह आवाज उठाते रहते हैं कि उनकी इस 'अशक्त स्थिति' के प्रतिकार के लिए सरकार को पंचायती राज के अधिनियमों में आवश्यक संशोधन करने चाहिए।

पंचायती राज की संस्थाओं को सृजित करने के मूल में प्रमुख उद्देश्य लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को साकार रूप देना था किन्तु उपर्युक्त अनुभूत कमियों या विकृतियों के कारण यह सपना पूरी तरह मूर्तरूप नहीं ले पाया है। अतः आवश्यकता यह है कि इन विकृतियों का यथासंभव शीघ्र निराकरण किया जाए जिससे देश की जनता गाँधीजी के ग्राम स्वराज्य और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के सपने को पूर्णतः साकार होता देख सके।

पंचायती राज की अब तक की कहानी सफलता की अपेक्षा असफलता की अधिक है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के व्यवहार का यह पक्ष भविष्य के लिए सर्वाधिक चिन्तन की चेतावनी देता है।

सन्दर्भ

1. वेबस्टर्स की **"न्यू ट्वन्टीयथ सेंचुरी डिक्शनरी आव इंगलिश लैंगवेज"** इंडियन एडीशन 1960, पृ. 795 पर "ग्रासरूट्स" का अर्थ–आम आदमी द्वारा उन्हीं के बीच हो दिया गया है अर्थात् वह राजनीतिक आन्दोलन जो सामान्य जन के द्वारा अपने स्तर पर शुरु किया जाए।
2. आर. बी. जैन, **पंचायती राज**, वाल्यूम फ्राम आई. आई. पी. ए., नई दिल्ली पृ. 11
3. **रिपोर्ट ऑफ द टीम फार द स्टडी ऑफ कम्युनिटी डवलपमेंट एण्ड नेशनल एक्सटेंशन सर्विस**, सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार 1957
4. उद्धृत मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थाट, सम्पादित लेन डब्लू., लेनीस्टर, वॉल्यूम 111
5. इकबाल नारायण, डेमोक्रेटिक डिसेंट्रेलाइजेशन : द आइडिया, द इमेज एण्ड द

रियलिटी, संकलित आर. बी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 11
6. **उपर्युक्त।**
7. **उपर्युक्त**, पृ. 11-12
8. **उपर्युक्त**, पृ. 12-13
9. **उपर्युक्त**, पृ. 14
10. पॉल मेयर, **एडमिनिस्ट्रेटिव आर्गेनाइजेशन उद्धृत**, उपर्युक्त, पृ. 16
11. रिपोर्ट ऑफ दी टीम फॉर दी स्टडी आफ कम्युनिटी डवलपमेंट एण्ड नेशनल एक्सटेंशन सर्विस, उद्धृत, आर. बी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 19–20

7

ग्राम पंचायत

भारत में, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में ग्रामीण अंचलों के नागरिकों को अपने स्वयं के स्थानीय मामलों का प्रशासन संचालित करने के लिए **स्वशासन** का जो अधिकार दिया गया है वह ग्रामपंचायतों एवं ग्रामसभा के माध्यम से साकार हुआ है। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि राजस्थान में पंचायती राज का त्रिस्तरीय ढाँचा यद्यपि 1959 में अपनाया गया था किन्तु राजस्थान में ग्राम पंचायतों का औपचारिक गठन इससे पूर्व राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 के प्रवर्तन के साथ ही हो गया था। इस तरह राजस्थान भारतीय संघ का ऐसा राज्य है जो न केवल मेहता समिति द्वारा अनुशंसित पंचायती राज के त्रिस्तरीय ढाँचे को अपनाने में अग्रणी रहा अपितु उसके पूर्व भी पंचायतों की स्थापना करने की दिशा में 1953 में ही सक्रिय हो गया था। प्रस्तुत अध्याय में, ग्राम पंचायत के मेहता समिति द्वारा सुझाए गए ढाँचे और राजस्थान राज्य द्वारा उसके अनुसरण में अपनाई गई इसकी व्यावहारिक संरचना तथा 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् राज्य सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में उठाए गए कदमों सहित, विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्राम पंचायत एक ऐसी निर्वाचित इकाई है जो ग्राम सभा की कार्यकारी या निर्वाचित समिति होती है। भारत में उसे भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता था। किन्तु 73वें संविधान संशोधन में 'पंचायत' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। औसतन लगभग 2 हजार की जनसंख्या पर एक पंचायत गठित की जाती है। विभिन्न राज्यों में, ग्राम पंचायत के सदस्यों की संख्या पृथक्–पृथक् पाई जाती है। पंचायत में पंचों की न्यूनतम संख्या तीन हजार की जनसंख्या पर 9 व अधिकतम वहाँ की जनसंख्या के अनुसार होगी। राजस्थान में उक्त संख्या में प्रति एक हजार पर दो पंचों की वृद्धि का प्रावधान किया गया है। 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् पंचायतों का कार्यकाल सभी राज्यों में समान रूप से 5 वर्ष कर दिया गया है।[1]

परिवर्तित संवैधानिक परिवेश

देश भर में पंचायती राज की प्रवर्तित संरचना और उसके कार्य व्यवहार में अनुभूत

न्यूनताओं का परिष्कार करने की दृष्टि से भारत सरकार ने जो कतिपय महत्त्वपूर्ण कदम उठाए हैं उनमें सर्वाधिक प्रखर प्रयास 73वें संविधान संशोधन के रूप में सामने आया है।

24 अप्रैल, 1993 को प्रवर्तित 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख प्रावधानों के आलोक में राज्य की पंचायती राज संस्थाओं के गठन, कार्यों, शक्तियों और कार्य व्यवहार संबंधी प्रावधानों में आवश्यक परिवर्तन करने की दृष्टि से राजस्थान सरकार ने भी 23 अप्रैल, 1994 को राजस्थान में प्रवर्तित अब तक के समस्त पंचायतीराज अधिनियमों को निरसित करते हुए एक नई विधि, राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994 को स्वीकृति प्रदान की है। इस अधिनियम के माध्यम से राज्य में अब तक प्रवर्तित राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 और उसमें समय–समय पर किए गए समस्त संशोधन तथा राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम, 1959 व उसमें किए गए सभी संशोधन निरस्त हो गए हैं **और अब राजस्थान की पंचायती राज संस्थाएँ राज्य में प्रवर्तित राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 एवं इसके अधीन विनिर्मित राजस्थान पंचायती राज नियम, 1996 और उनमें समय-समय पर किए गए संशोधनों से शासित होती हैं।**

इस पृष्ठभूमि में, राजस्थान में ग्राम पंचायत का गठन, नवीन अधिनियम 1994 के प्रावधानों के अनुसार इस प्रकार है :

राजस्थान में पंचायतों के गठन के नवीन मूल आधार राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में कहा गया है कि राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, तत्समय प्रवर्तित किसी भी विधि के अधीन गठित किसी नगरपालिका या छावनी बोर्ड में सम्मिलित नहीं किए गए किसी गाँव या गाँवों के किसी समूह को समाविष्ट करने वाले किसी भी अन्य क्षेत्र को पंचायत सर्किल घोषित कर सकेगी और इस रूप में घोषित किए गए प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र के लिए एक पंचायत होगी।[2] राजपत्र में अधिसूचित नाम से प्रत्येक पंचायत एक निगमित निकाय होगी जिसका शाश्वत उत्तराधिकार और सामान्य मुहर होगी और वह सभी प्रकार की सम्पत्ति अर्जित व धारित करने तथा कोई संविदा करने या वाद चलाने के लिए सक्षम होगी।[3] इसका अभिप्राय यह है कि पंचायत 'कानून की दृष्टि में एक व्यक्ति' होगी और उस रूप में उसे समस्त अधिकारों, शक्तियों और संबंधित विधिक प्रावधानों के अनुसार कार्य करने की शक्ति होगी। इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि राज्य सरकार स्वप्रेरणा से या पंचायत के निवासियों के निवेदन पर, विहित रीति से प्रकाशित एक मास के नोटिस के पश्चात् राजपत्र में अधिसूचना द्वारा किसी भी पंचायत का नाम या कार्यालय का स्थान अर्थात् पंचायत का मुख्यालय परिवर्तित कर सकेगी।[4]

पंचायत की संरचना

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 के संबंधित प्रावधानों में कहा गया है कि किसी पंचायत में :

(क) एक संरपच, और

(ख) इतने वार्डों से प्रत्यक्षतः निर्वाचित पंच, जो इस अधिनियम के अधीन अवधारित किए जाएँ, होंगे।[5]

ग्राम पंचायत की संगठनात्मक संरचना

सरपंच (अध्यक्ष)
↓
उपसरपंच
↓
वार्डपंच (निर्वाचित सदस्य) → सामान्य वर्ग से / अनुसूचित जाति वर्ग से / अनुसूचित जनजाति वर्ग से / पिछड़ा वर्ग से / महिला वर्ग से
↓
सचिव – (अर्थात् ग्राम सेवक या ग्रुप सचिव, पंचायत सचिव)

अधिनियम में कहा गया है कि राज्य सरकार इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किए जाने वाले नियमों के अधीन प्रत्येक पंचायत सर्किल के लिए वार्डों की संख्या का निर्धारण करेगी और पंचायत सर्किल को एकल सदस्य वार्डों में इस प्रकार विभाजित करेगी कि प्रत्येक वार्ड की जनसंख्या जहाँ तक व्यवहार्य हो, सम्पूर्ण पंचायत सर्किल में समान हो। अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि **तीन हजार तक की जनसंख्या वाले किसी पंचायत सर्किल में 9 वार्ड होंगे, और किसी पंचायत सर्किल के मामले में जिसकी जनसंख्या तीन हजार से अधिक हो, तीन हजार से अधिक के प्रत्येक एक हजार या उसके भाग के लिए दो की वृद्धि कर दी जाएगी।**

इस प्रकार पंचायती राज अधिनियम, 1994 के अनुसार ग्राम पंचायत में अब केवल दो कोटि के निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे अर्थात् एक सरपंच व उतने पंच, जितने वार्डों में पंचायत सर्किल को राज्य सरकार द्वारा विभक्त किया जाए।

निर्वाचक, निर्वाचक नामावलियां और मताधिकार

अधिनियम प्रावधान करता है कि ऐसे वार्डों या निर्वाचन क्षेत्रों में से जिनमें किसी पंचायती राज संस्था के क्षेत्र को इस अधिनियम के अधीन विभक्त किया गया है, प्रत्येक के लिए उसके मतदाताओं की एक सूची राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा या उसके पर्यवेक्षण के अधीन तैयार की और रखी जाएगी।[6] इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जो संबंधित पंचायती राज संस्था के क्षेत्र या उसके किसी वार्ड या निर्वाचित क्षेत्र में समाविष्ट क्षेत्र से संबंधित राजस्थान विधानसभा निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत होने के लिए अर्हित हो या जिसका नाम ऐसी नामावली में दर्ज हो, ऐसी पंचायती राज संस्था या उसके किसी वार्ड या निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता सूची में रजिस्ट्रीकृत होने का पात्र होगा।[7]

पंच या सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए योग्यताएँ

किसी पंचायती राज संस्था के मतदाताओं की सूची में मतदाता के रूप में रजिस्ट्रीकृत प्रत्येक व्यक्ति ऐसी पंचायतीराज संस्था के पंच या, यथास्थिति, सदस्य के रूप

में निर्वाचन के लिए अर्हित होंगे, यदि ऐसा व्यक्ति :[8]

(क) राजस्थान राज्य विधान मंडल के निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए तत्समय प्रवर्तित किसी भी विधि द्वारा या उसके अधीन निरर्हित नहीं हो, किन्तु कोई भी व्यक्ति यदि उसने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है तो इस आधार पर निरर्हित नहीं होगा कि वह 25 वर्ष की आयु से कम का है;

(ख) किसी स्थानीय प्राधिकरण के अधीन कोई वैतनिक पूर्णकालिक या अंशकालिक नियुक्ति धारण नहीं करता हो;

(ग) नैतिक अधमता के अन्तर्वलित आचरण के कारण राज्य सरकार की सेवा से पदच्युत नहीं किया गया हो और लोक सेवा में नियोजन के लिए निरर्हित घोषित नहीं किया गया हो;

(घ) किसी पंचायती राज संस्था के अधीन कोई भी वैतनिक पद या लाभ का पद धारण नहीं करता हो;

(च) सम्बन्धित पंचायती राज संस्था से, उसके द्वारा या उसकी ओर से किसी भी संविदा में प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः, अपने द्वारा या अपने भागीदार, नियोजक या कर्मचारियों द्वारा कोई भी अंश या स्वामित्व नहीं रखता हो;

(छ) कुष्ठी नहीं हो या कार्य के लिए असमर्थ बनाने वाले किसी अन्य शारीरिक या मानसिक दोष या रोग से ग्रस्त नहीं हो;

(ज) नैतिक अधमता से अन्तर्वलित किसी अपराध के लिए किसी सक्षम न्यायालय द्वारा सिद्ध दोष नहीं ठहराया गया हो;

(झ) इस अधिनियम की धारा 38 के अधीन निर्वाचन के लिए तत्समय अपात्र नहीं हो, (धारा 38 के अन्तर्गत पंच या सदस्यों को राज्य सरकार द्वारा हटाए जाने या निलम्बित किए जाने के प्रावधान हैं।)।

(ट) संबंधित पंचायती राज संस्था द्वारा अधिरोपित किसी भी कर या फीस की रकम को, उसके लिए माँग–पत्र प्रस्तुत किए जाने की तारीख से दो मास तक असंदत्त नहीं रखी हो, इस संबंध में सन् 2000 में एक संशोधन करते हुए राज्य सरकार द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि वह नामांकन पत्र फाइल करने से पूर्व उसमें इंगित राशि जमा कर दे तो उसे चुनाव के लिए अयोग्य नहीं माना जाएगा।

(ठ) संबंधित पंचायती राज संस्था की ओर से या उसके विरुद्ध विधि व्यवसायी के रूप में नियोजित नहीं हो,

(ड) राजस्थान मृत्युभोज निवारण अधिनियम, 1960 के अधीन दंडनीय किसी अपराध के लिए सिद्ध दोष नहीं ठहराया गया हो,

(ढ) दो से अधिक बच्चों वाला नहीं हो, किन्तु इस प्रयोजन के लिए दो से अधिक बच्चों वाले किसी व्यक्ति को तब तक निरर्हित नहीं समझा जाएगा, जब तक उसके बच्चों की उस संख्या में बढ़ोतरी नहीं होती, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ की तारीख

अर्थात् 23 अप्रैल, 1994 को हो। इसमें यह स्पष्टीकरण भी अधिनियम में जोड़ा गया है कि इस विधि के प्रारम्भ की तारीख से या तत्पश्चात् किसी दम्पत्ति के पूर्ववर्ती प्रसव या प्रसवों से केवल एक बच्चा हो वहाँ किसी एक ही पश्चात्वर्ती प्रसव से पैदा हुए बच्चों की किसी संख्या को एक इकाई समझा जाएगा।

उपर्युक्त अर्हताएं पंच के लिए तो अधिनियम द्वारा निर्धारित की ही गई हैं किन्तु ये ऐसी अर्हताएं हैं जो पंचायत में पंच सहित सभी अन्य स्तरों की पंचायती राज संस्थाओं अर्थात् पंचायत समिति व जिला परिषद् के सदस्यों के लिए भी अधिनियम द्वारा निर्धारित की गई हैं।

दोहरी सदस्यता पर निर्बन्धन

कोई भी व्यक्ति, इस अधिनियम द्वारा अभिव्यक्ततः प्राधिकृत के सिवाय दो या अधिक पंचायती राज संस्थाओं का सदस्य नहीं होगा।[9] किन्तु कोई व्यक्ति एक पंचायती राज संस्था का सदस्य रहते हुए दूसरी पंचायती राज संस्था की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी के रूप में खड़ा हो सकेगा किन्तु यदि वह उस स्थान के लिए चुन लिया जाता है तो चुने जाने की तारीख से उसका पूर्ववर्ती संस्था में धारित पद रिक्त हो जाएगा, यदि पश्चात्तवर्ती निर्वाचित पद की सदस्यता 4 मास की कालावधि के भीतर–भीतर समाप्त नहीं होती है।[10] यदि कोई व्यक्ति एक साथ दो या अधिक पंचायतीराज संस्थाओं का सदस्य चुन लिया जाता है तो चुने जाने की तारीख के 14 दिन के भीतर–उन संस्थाओं में से जिसमें वह सेवा करना चाहता है, एक की सूचना सक्षम अधिकारी को देगा और उससे भिन्न संस्था में धारित उसका पद रिक्त हो जाएगा।[11]

इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति एक साथ किसी पंचायती राज संस्था, नगर निकाय या संसद का सदस्य/अध्यक्ष नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में उसे 14 दिन की अवधि में एक स्थान से पद धारित करने की सूचना प्राधिकृत अधिकारी को देनी होती है।[12]

सरपंच और उसका निर्वाचन

प्रत्येक पंचायत में एक सरपंच होगा जो पंच के रूप में निर्वाचित होने के लिए अर्हित व्यक्ति होना चाहिए और वह सम्पूर्ण पंचायत सर्किल के निर्वाचकों द्वारा निर्धारित रीति से निर्वाचित किया जाएगा।[13] अर्थात् वह पंचायत क्षेत्र के समस्त मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान की प्रणाली द्वारा निर्वाचित किया जाएगा। अधिनियम में स्पष्ट किया गया है कि यदि किसी पंचायत सर्किल के निर्वाचक सरपंच का निर्वाचन करने में विफल रहते हैं या यदि पंच व उप सरपंच का निर्वाचन करने में विफल रहते हैं तो राज्य सरकार ऐसी रिक्ति पर, ऐसी रिक्ति के 6 माह की कालावधि के भीतर–भीतर, निर्वाचन द्वारा भरी जाने तक, किसी व्यक्ति को नियुक्त करेगी और इस प्रकार नियुक्त व्यक्ति सम्यक् रूप से निर्वाचित सरपंच या, यथास्थिति, उप सरपंच समझा जाएगा।[14]

उप-सरपंच व उसके निर्वाचन की प्रक्रिया

अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि प्रत्येक पंचायत में, पूर्व की भांति ही, एक उप सरपंच होगा। इस अधिनियम के अधीन पहली बार किसी पंचायत की स्थापना पर पंचायत की एक बैठक सक्षम प्राधिकारी द्वारा बुलाई जाएगी जो स्वयं बैठक की अध्यक्षता करेगा किन्तु उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा और ऐसी बैठक में निर्वाचित पंचों व सरपंच द्वारा उप सरपंच निर्वाचित किया जाएगा।[15]

स्थानों का आरक्षण

प्रत्येक ग्राम पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों और महिलाओं के लिए आरक्षण के प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थान उनकी इस क्षेत्र में जनसंख्या के अनुपात में होंगे।[16] राजस्थान के पंचायती राज अधिनियम में सन् 2000 में किए गए संशोधन के अनुसार पिछड़े वर्गों के लिए पंचायती राज संस्थाओं में 21 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। अधिनियम में यह भी कहा गया है कि यदि किन्हीं क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों या जनजातियों की जनसंख्या सत्तर प्रतिशत तक है तो ऐसे क्षेत्रों में भी पिछड़े वर्गों के लिए कम से कम एक स्थान आरक्षित किया जाएगा।[17]

इसी प्रकार अधिनियम के सम्बन्धित प्रावधानों के अधीन रहते हुए पंचायतों में महिलाओं के लिए कम से कम आधे स्थान अर्थात् पचास प्रतिशत महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएंगे (जिनमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या सम्मिलित हैं)। अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि विहित रीति से उपर्युक्त सभी आरक्षण चक्रानुक्रम द्वारा आवंटित किए जाएंगें।[18] आरक्षण के लिए किए गए इन प्रावधानों में यह भी अन्तर्निहित है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए जितना आरक्षण इन वर्गों को हो उसका आधा, इन प्रत्येक वर्गों में, उन वर्गों की महिलाओं के लिए होगा। महिलाओं के लिए इन वर्गों में आरक्षित सीटों सहित उनका कुल आरक्षण 50 प्रतिशत होगा।

सरपंच के पद पर आरक्षण

अधिनियम के अन्तर्गत सरपंच के पद पर उसी प्रकार आरक्षण की व्यवस्था की गई है, जिस प्रकार वार्डों के आरक्षण की व्यवस्था है अर्थात् सरपंच के पद पर भी चक्रानुक्रम में (एक वर्ग के बाद दूसरे वर्ग को प्रतिनिधित्व) आरक्षण की व्यवस्था है। इसी आरक्षण व्यवस्था में महिलाओं को भी समस्त वर्गों में सरपंच पद पर आरक्षण दिया गया है।[19]

पंचायत का कार्यकाल

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 के अन्तर्गत पंचायत का कार्यकाल अन्य संस्थाओं के समान 5 वर्ष रखा गया है।[20] 5 वर्ष का कार्यकाल पूर्ण होने पर या विघटन पर 6 माह की अवधि में पुनः निर्वाचन करवाना आवश्यक होगा। किन्तु यदि

कालावधि का शेष भाग 6 माह से कम हो तो निर्वाचन की आवश्यकता नहीं होगी।

अधिनियम की विभिन्न धाराओं में निर्वाचन अपराधों, निर्वाचन परिणामों के सम्यक् प्रकाशन, पंचायती राज संस्थाओं में चुने गए सदस्यों व अध्यक्ष के शपथ या प्रतिज्ञान तथा कार्यभार सम्भाले जाने से सम्बन्धित प्रावधान किए गए हैं।

सरपंच और उप-सरपंच की शक्तियाँ, कृत्य और कर्तव्य

अधिनियम प्रावधान करता है कि किसी भी पंचायत का सरपंच निम्नांकित शक्तियों और कर्तव्यों का निर्वाह कर सकेगा :[21]

(क) ग्राम सभा की बैठक बुलाने के लिए उत्तरदायी होगा और ऐसी बैठकों की अध्यक्षता करेगा,

(ख) पंचायत की बैठक बुलाने के लिए उत्तरदायी होगा और ऐसी बैठकों की अध्यक्षता करेगा और उन्हें विनियमित करेगा,

(ग) पंचायत के अभिलेख के अनुरक्षण के लिए उत्तरदायी होगा,

(घ) पंचायत के वित्तीय और कार्यपालक प्रशासन के लिए साधारणतः उत्तरदायी होगा,

(ड) पंचायत के कर्मचारी वृन्द और ऐसे अधिकारियों तथा कर्मचारियों, जिनकी सेवाएं किसी भी अन्य प्राधिकरण द्वारा पंचायत के नियंत्रण में रखी जाएँ, के कार्य पर प्रशासनिक पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखेगा,

(च) इस अधिनियम से संबंधित कार्यों के संव्यवहार के लिए या उसके द्वारा प्राधिकृत कोई भी आदेश करने के प्रयोजन के लिए, ऐसी शक्तियों का प्रयोग, ऐसे कृत्यों का पालन या ऐसे कर्तव्यों का निर्वहन करेगा जो इस अधिनियम या उसके अधीन बनाए गए नियमों के अन्तर्गत पंचायत द्वारा प्रयुक्त, पालित या निर्वहित किए जाएँ,

(छ) राज्य सरकार को या पंचायतों के प्रभारी अधिकारी को ऐसी रिपोर्ट विवरणियां और अभिलेख, चाहे वे सावधिक हों या अन्यथा, प्रस्तुत करेगा, जो विहित किए जाएं या जिनकी समय–समय पर अपेक्षा की जाए, और

(ज) ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग, ऐसे अन्य कृत्यों का पालन और ऐसे अन्य कर्तव्यों का निर्वहन करेगा जो पंचायत, संकल्प द्वारा, निर्दिष्ट करे या जो सरकार, इस निमित्त बनाए गए नियमों द्वारा विहित करे।

राजस्थान पंचायती राज नियम, 1996 की नियम संख्या 33 में कहा गया है कि राजस्थान पंचायती राज अधिनियम की धारा 32 में अधिनियम कृत्यों के अतिरिक्त सरपंच निम्न कर्तव्यों का भी निर्वहन सुनिश्चित करने हेतु सहायता करेगा :

(i) नियमित कार्य जैसे

(क) स्वच्छता
(ख) मार्ग में प्रकाश व्यवस्था
(ग) सुरक्षित पेयजल
(घ) जल–निकास

(ड़) सार्वजनिक वितरण प्रणाली
(च) ग्रामीण सड़कों का अनुरक्षण
(छ) जन्म और मृत्यु का रजिस्ट्रीकरण
(ज) प्राकृतिक आपदा के समय आवश्यक कार्यवाही की सूचना कलेक्टरों को देना।

(ii) प्रशासनिक कार्य जैसे :

(क) आबादी क्षेत्र का विकास;
(ख) घास व वृक्षों का विकास;
(ग) आबादी भूमियों में अतिक्रमणों को रोकना;
(घ) भूमि के विक्रय एवं अन्य स्रोतों से पंचायत की आय जुटाना;

(iii) अन्य कार्य

(क) स्थानीय भौतिक संसाधनों का विकास व समुचित विकास
(ख) परिवार कल्याण कार्यक्रमों में सहायता;
(ग) सामाजिक विकास कार्यक्रमों में सहायता;
(घ) पंचायत निधियों के दुरूपयोग को रोकना;
(ड.) निर्माण कार्यों के पूरा होने के एक मास के भीतर समापन प्रमाण–पत्र प्राप्त करना;
(च) प्रतिवर्ष संपरीक्षा करवाने की व्यवस्था करना;
(छ) स्वीकृत कार्यो एवं व्यय की गयी राशि का ब्यौरा पंचायत मुख्यालय के सूचना पट्ट के साथ–साथ कार्य स्थल पर प्रदर्शित करना; तथा
(ज) जनता के कल्याण के लिए ऐसे ही अन्य समस्त कृत्य करना जो आवश्यक प्रतीत हों।

उप-सरपंच

(क) सरपंच की शक्तियों में से ऐसी शक्तियों का प्रयोग, उसके कृत्यों में से ऐसे कृत्यों का पालन और उसके कर्तव्यों में से ऐसे कर्तव्यों का निर्वहन करेगा, जो सरपंच, समय–समय पर, सरकार द्वारा इस निमित्त बनाये गये नियमों के अध्यधीन रहते हुए उसे लिखित में प्रत्यायोजित करें,

(ख) सरपंच की, उसका पद रिक्त रहने के कारण या अन्यथा, अनुपस्थिति में सरपंच की सभी शक्तियों का प्रयोग, उसके सभी कृत्यों का पालन और उसके सभी कर्तव्यों का निर्वहन करेगा, और

(ग) ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग, ऐसे अन्य कृत्यों का पालन और ऐसे अन्य कर्तव्यों का निर्वहन करेगा जो पंचायत, संकल्प द्वारा, निर्दिष्ट करे या जो सरकार, इस निमित्त बनाए गए नियमों द्वारा विहित करे।[22]

सरपंच और उप–सरपंच दोनों की, उनके पद रिक्त रहने के कारण या अन्यथा, अनुपस्थिति में सरपंच की शक्तियाँ, कृत्य और कर्तव्य पंचायत के ऐसे निर्वाचित सदस्य द्वारा और ऐसी रीति से प्रयुक्त, पालित और निर्वहित किए जाएँगे, जो सक्षम प्राधिकारी निर्दिष्ट करें।[23] इस विषय में सन् 2000 में संशोधन के द्वारा यह निर्दिष्ट किया गया है कि यह प्रावधान तभी प्रभावी होगा जब इस हेतु स्थापना समिति का पूर्वानुमोदन लिया जाए तथा इस निमित्त सूचना राजपत्र में प्रकाशित की जाए।

पदों से त्यागपत्र संबंधी प्रावधान

अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायत के सरपंच, उप सरपंच या पंच विकास अधिकारी को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा अपने पद से त्यागपत्र दे सकते हैं।[24] इस प्रकार दिए गए त्यागपत्र सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसकी प्राप्ति की तारीख से 15 दिन की समाप्ति पर, यदि वह 15 दिन की इस कालावधि के अन्दर प्रत्याहृत नहीं कर लिया जाता है तो, प्रभावी हो जाएगा।[25] इसी संदर्भ में यह प्रावधान भी किया गया है कि पंचायत का उपसरपंच अपना पद रिक्त कर देगा यदि वह पंचायत का सदस्य नहीं रहता है।[26]

सरपंच व उप-सरपंच के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव व प्रक्रिया

किसी पंचायत के सरपंच या उपसरपंच को अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से हटाए जाने के संबंध में अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायत के प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदस्यों में से कम से कम एक–तिहाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित विहित प्रारूप में लिखित नोटिस, प्रस्ताव की प्रति सहित, नोटिस पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों में से किसी एक द्वारा सक्षम प्राधिकारी को व्यक्तिशः प्रस्तुत किया जाएगा।[27] सक्षम प्राधिकारी द्वारा ऐसे प्राप्त नोटिस की एक प्रति, प्रस्तुत प्रस्ताव की प्रति सहित पंचायत को अग्रेषित की जाएगी।[28] इस प्रस्ताव पर विचार के लिए पंचायत कार्यालय पर एक माह के अन्दर, नियत तारीख को, पंचायत की बैठक बुलाई जाएगी और ऐसी बैठक का नोटिस सदस्यों को कम से कम 7 दिन पूर्व दिया जाएगा। इस प्रकार बुलाई गई बैठक की अध्यक्षता सक्षम प्राधिकारी अर्थात् संबंधित पंचायत पर अधिकारिता रखने वाली पंचायत समिति के विकास अधिकारी या उनके द्वारा नाम निर्देशित अधिकारी द्वारा की जाएगी।[29] इस प्रकार बुलाई गई कोई बैठक स्थगित नहीं की जाएगी।[30] इस प्रकार आहूत बैठक के आरंभ होने से पहले दो घंटे की समाप्ति पर अविश्वास प्रस्ताव पर होने वाला विचार–विमर्श स्वतः समाप्त समझा जाएगा और इसके पश्चात् प्रस्ताव मतदान के लिए रखा जाएगा।[31] यह व्यवस्था भी की गई है कि बैठक की अध्यक्षता करने वाला अधिकारी प्रस्ताव के गुणावगुण पर कोई विचार व्यक्त नहीं करेगा और न ही मतदान में भाग लेगा।[32] इस प्रकार सम्पन्न बैठक के कार्यवृत्त की एक प्रति, प्रस्ताव की प्रति और उस पर मतदान के परिणाम को अध्यक्षता करने वाला अधिकारी संबंधित पंचायत समिति को अग्रेषित करेगा।[33] इस प्रकार का प्रस्ताव पंचायत के निर्वाचित सदस्यों के कम से कम दो–तिहाई सदस्यों के समर्थन से पारित किया जाएगा और उसकी एक सूचना पंचायत के कार्यालय के नोटिस बोर्ड पर चिपका कर उसे राजपत्र में अधिसूचित करवाकर प्रकाशित करवाया जाएगा, और इस स्थिति के

पश्चात् सरपंच व उपसरपंच उस तारीख से, जिसको उक्त नोटिस पंचायत कार्यालय के सूचना पट्ट पर चिपकाए जाते हैं, अपना पद धारण करना बन्द कर देगा और पद रिक्त हो जाएगा।[34] यदि प्रस्ताव उपर्युक्त प्रक्रिया से पारित नहीं हो या यदि गणपूर्ति के अभाव में बैठक नहीं की जा सके तो अविश्वास का ऐसा प्रस्ताव इस प्रकार की बैठक की तारीख से एक वर्ष की समाप्ति तक पुनः नहीं लाया जा सकेगा।[35] अविश्वास का ऐसा प्रस्ताव सरपंच या उप–सरपंच के पद ग्रहण करने के दो वर्ष के भीतर नहीं दिया जा सकेगा[36] तथा इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए किसी बैठक में गणपूर्ति उसमें मतदान करने वाले पात्र सदस्यों की कुल संख्या की एक–तिहाई होगी।[37]

सदस्यों, सरपंच व उप-सरपंच का हटाया जाना और निलम्बन

अधिनियम में ग्राम पंचायत के सदस्यों, सरपंच व उप–सरपंच को राज्य सरकार द्वारा हटाए जाने अथवा निलम्बित किए जाने से संबंधित प्रावधान भी किए गए हैं। राज्य सरकार, लिखित आदेश द्वारा और सुनवाई का अवसर देने और ऐसी जाँच करने के पश्चात्, जो आवश्यक समझी जाए, किसी भी पंचायत के सरपंच व उप सरपंच सहित किसी भी ऐसे सदस्य को हटा सकेगी, जो :

(क) कार्य करने से मना करता हो या इस रूप में कार्य करने में असमर्थ हो गया है, या

(ख) कर्तव्यों के निर्वहन में अवचार या किसी भी अपकीर्तिकर आचरण का दोषी हो।[38]

यदि उक्त आदेश राज्य सरकार द्वारा किसी सरपंच या उप–सरपंच के विषय में दिए जाते हैं तो उसे पंचायत की सदस्यता से, यदि कोई हो, भी हटाया जा सकता है।[39] इसी प्रकार राज्य सरकार इस बात के लिए भी अधिकृत की गई है कि पंचायत के किसी भी ऐसे सदस्य सरपंच या उप–सरपंच को निलम्बित कर सकती है जिसके विरुद्ध इस अधिनियम के अधीन कोई जाँच प्रारम्भ कर दी गई हो या जिसके विरुद्ध नैतिक अधमता से अन्तर्वलित किसी अपराध के संबंध में कोई भी दाण्डिक कार्यवाही किसी न्यायालय में विचाराधीन हो। इस प्रकार निलम्बित किया गया व्यक्ति पंचायत की कार्यवाही में भाग नहीं ले सकेगा।[40] परन्तु राज्य सरकार किसी पंच को वार्ड सभा की अनुशंसा पर या सरपंच को ग्राम सभा की अनुशंसा पर भी निलंबित कर सकेगी। किन्तु राज्य सरकार ऐसा तब ही करेगी जब किसी वार्ड सभा या, यथास्थिति, ग्राम सभा द्वारा पारित इस आशय के किसी संकल्प को राज्य सरकार द्वारा सदस्यों की इच्छा का अंतिम अभिनिश्चय करने के लिए वार्ड सभा या, यथास्थिति, ग्राम सभा को विशेष बैठक आयोजित करने के लिए कलेक्टर को निर्दिष्ट कर दिया गया हो और कलेक्टर द्वारा इस प्रकार आयोजित और उसके नाम निर्देशित व्यक्ति की अध्यक्षता वाली बैठक में उपस्थित सदस्यों ने, पंच या, यथास्थिति, सरपंच का निलंबन चाहने वाले संकल्प की उपस्थिति और मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पुष्टि कर दी हो :

परन्तु यह और कि पंच या, सरपंच का निलंबन चाहने वाला कोई भी संकल्प

किसी पंच या, यथास्थिति, सरपंच द्वारा दो वर्ष की पदावधि पूर्ण कर लेने से पूर्व प्रस्तावित या पारित नहीं किया जाएगा।

इसी प्रकार ग्राम पंचायत के सदस्यों द्वारा बिना लिखित सूचना लगातार तीन बैठकों में अनुपस्थित रहने, त्यागपत्र दे देने, मृत्यु हो जाने, सदस्यता से राज्य सरकार द्वारा हटा दिए जाने या निर्वाचन की तारीख से तीन माह के भीतर सदस्यता की शपथ लेने में विफल रहने पर और अधिनियम में उल्लिखित निरर्हताओं का पात्र हो जाने पर, पंचायत की सदस्यता की समाप्ति के प्रावधान भी किए गए हैं।[41] इस प्रकार समाप्त की जाने वाली सदस्यता का आदेश इस निमित्त नियुक्त सक्षम प्राधिकारी द्वारा, संबंधित सदस्य को सुनवाई का अवसर देने के पश्चात् घोषित किया जाएगा और इस घोषणा के पश्चात् उस सदस्य का स्थान रिक्त हो जाएगा।[42] इस संबंध में अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि निरर्हताओं के प्रश्न पर गहन विवाद की स्थिति में अभिकथन या सन्देह के विनिश्चय के लिए ग्राम पंचायत या उसके कोई सदस्य अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायाधीश के यहाँ आवेदन कर सकेगा और ऐसे आवेदन पर संबंधित जिला न्यायाधीश, ऐसी जाँच करने के पश्चात्, जो वह आवश्यक समझे, यह निश्चय कर सकेगा कि कोई सदस्य योग्यता से निरर्हरित हो गया है या नहीं और ऐसा विनिश्चय होने तक सदस्य निरन्तर पदासीन रहेगा। इस संबंध में न्यायाधीश का विनिश्चय अंतिम होगा। पंचायत के किसी सरपंच या उप सरपंच का पद रिक्त हो जाने की स्थिति में राज्य निर्वाचन आयोग विहित रीति से शेष अवधि के लिए सरपंच/उप–सरपंच का चुनाव करवाएगा और चुने गए पदाधिकारी पूर्ववर्ती पदाधिकारी द्वारा धारण किए जाने वाली शेष अवधि के लिए पद धारण करने के अधिकारी होंगे।[43] निर्वाचन के संबंध में किसी भी विवाद के लिए अभ्यर्थियों द्वारा, विहित रीति से, अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायाधीश को विहित आधारों पर और विहित कालावधि के भीतर इस निमित्त अर्जी प्रस्तुत करके प्रश्नगत किया जा सकेगा। प्रत्येक ग्राम पंचायत अपने कार्य संचालन के लिए ऐसी प्रक्रिया का पालन करेगी जो इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा नियम बनाकर निर्धारित की जाए।

स्थायी समितियाँ

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 (संशोधित 2000) में नई धारा 55 क का अन्तःस्थापन किया गया है। इसके अन्तर्गत यह प्रावधान रखा गया है कि निम्नलिखित विषयों के समूहों में से प्रत्येक के लिए एक–एक स्थायी समिति का गठन ग्राम पंचायत द्वारा किया जाएगा :

1. प्रशासन और स्थापन;
2. वित्त और कराधान;
3. विकास और उत्पादन कार्यक्रम;
4. शिक्षा; और
5. ग्रामीण जल प्रदाय, स्वास्थ्य और स्वच्छता, ग्रामदान, संसूचना, कमजोर वर्गों का कल्याण और सहबद्ध विषयों सहित सामाजिक सेवाएं और सामाजिक–न्याय।

प्रत्येक स्थायी समिति में पाँच सदस्य होंगे जो कि पंचायत के निर्वाचित सदस्यों में से ही होंगे। समितियों का गठन इस प्रकार किया जाएगा कि प्रत्येक सदस्य कम से कम ऐसी एक समिति में स्थान पा सके। अधिनियम की इस धारा में यह प्रावधान किया गया है कि प्रशासन और स्थापन समिति का पदेन सदस्य और अध्यक्ष पंचायत का सरपंच होगा तथा अन्य स्थायी समितियों के अध्यक्ष इस समिति के सदस्य होंगे। उप–सरपंच यदि किसी स्थायी समिति का सदस्य निर्वाचित किया जाता है जिसका सरपंच सदस्य नहीं है तो वह उसका पदेन अध्यक्ष होगा। प्रत्येक ऐसी अन्य स्थायी समिति का अध्यक्ष जिसका कोई पदेन अध्यक्ष नहीं है, विहित रीति से निर्वाचित किया जाएगा।

पंचायत की बैठकें

कोई पंचायत अपने कार्यों के संव्यवहार के लिए, उतनी बार, जितनी बार आवश्यक हो, और 15 दिन में कम से कम एक बार पंचायत के कार्यालय पर ऐसे समय बैठक करेगी जिसे सरपंच अवधारित करे। सरपंच द्वारा ऐसी सामान्य बैठक बुलाई जा सकेगी और पंचायत के सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई द्वारा बैठक बुलाई जाने का लिखित आवेदन किए जाने पर भी विशेष बैठक बुलाई जा सकती है।[44] साधारण बैठकों के लिए 7 दिन का नोटिस और विशेष बैठक के पूर्व तीन दिन का नोटिस, ऐसी बैठक के लिए स्थान, तारीख और समय तथा उसमें विचार किए जाने वाले मुद्दों को विनिर्दिष्ट करते हुए सभी सदस्यों/सम्बद्ध अधिकारियों को दिया जाएगा और पंचायत के सूचना पट्ट पर भी चिपकाया जाएगा।[45] पंचायत समिति के विनिर्दिष्ट अधिकारी ऐसी बैठकों में भाग लेने के अधिकारी होंगे किन्तु उनको मत देने का अधिकार नहीं होगा।[46] यदि सरपंच विशेष बैठक बुलाने में विफल रहे तो उप–सरपंच या उसकी अनुपस्थिति में सक्षम प्राधिकारी सदस्यों को 15 दिन की सूचना देते हुए बैठक बुला सकेंगे।[47] बैठकों में गणपूर्ति हेतु कुल सदस्यों की एक तिहाई संख्या निर्धारित की गई है। यदि किसी बैठक में गणपूर्ति न हो तो इस प्रकार स्थगित की गई बैठक के पश्चात् जो बैठक बुलाई जाएगी उसमें गणपूर्ति की ओर ध्यान दिए बिना विचाराधीन कार्यों का निपटारा किया जाएगा।[48] पंचायत की बैठकों की अध्यक्षता सरपंच और उसकी अनुपस्थिति में उपसरपंच तथा इन दोनों की ही अनुपस्थिति में सदस्य अपने में से किसी एक को अध्यक्षता करने के लिए चुनेंगे किन्तु ऐसा सदस्य हिन्दी पढ़ने और लिखने में समर्थ होना चाहिए।[49] पंचायत की बैठक में सभी निश्चय उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से किए जाएंगे। सरपंच या उप–सरपंच अपना मत देने के पश्चात् और मतों के बराबर होने की दशा में निर्णायक मत भी दे सकेंगे।[50]

वार्षिक बजट, लेखे और संपरीक्षा

पंचायत का सरपंच प्रति वर्ष विहित तारीख से पूर्व, विहित तारीख तक की वास्तविक आय व व्यय का तथा आगामी 31 मार्च को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए प्रत्याशित प्राप्तियों और व्यय का पूरा लेखा अगली एक अप्रैल से प्रारम्भ होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए समस्त बजट प्राक्कलनों सहित तैयार करेगा और सम्बन्धित उच्च

संस्था के समक्ष रखेगा।[51] पंचायत द्वारा अंतिम रूप से यथा पारित प्रस्ताव विकास अधिकारी को प्रस्तुत किया जाएगा और विकास अधिकारी उसकी नियमानुसार स्वीकृति कराएगा। इसी प्रकार ग्राम पंचायत के लिए अपने द्वारा किए गए व्यय तथा आय के लेखे द्वारा और इस प्रकार संधारित किए गए समस्त लेखों की परीक्षा निदेशक, स्थानीय निधि संपरीक्षा द्वारा, प्रत्येक वित्तीय वर्ष की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र की जाएगी और इस संबंध में राजस्थान स्थानीय निधि संपरीक्षा अधिनियम, 1954 के उपबंध लागू होंगे किन्तु भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक भी ऐसे लेखों की सांकेतिक संपरीक्षा कर सकेगा।[52]

सचिव या समूह पंचायत सचिव और कर्मचारिवृन्द

राजस्थान पंचायत राज अधिनियम, 1994 में यह प्रावधान किया गया है कि:

(क) प्रत्येक पंचायत के लिए एक सचिव या पंचायतों के किसी समूह के लिए एक समूह पंचायत सचिव होगा जो विहित रीति से नियुक्त किया जाएगा,

(ख) प्रत्येक पंचायत, पंचायत समिति के पूर्व अनुमोदन से अधिनियम द्वारा अधिरोपित कृत्यों का पालन करने के लिए ऐसे अन्य कर्मचारिवृन्द जो आवश्यक हों, सेवा की ऐसी शर्तों पर नियुक्त कर सकेगी, जो विहित की जाएँ।[53]

प्रत्येक पंचायत के सचिव या अन्य कर्मचारिवृन्द सरपंच के नियंत्रण के अध्यधीन रहते हुए निम्नांकित कृत्य करेगा :[54]

(क) पंचायत के अभिलेख और रजिस्टर अपनी अभिरक्षा में रखना,
(ख) पंचायत के निमित्त प्राप्त धन राशियों के लिए अपने हस्ताक्षर से रसीदें जारी करना,
(ग) पंचायत निधि के लेखे रखने के लिए उत्तरदायी होना,
(घ) पंचायत निधि की सुरक्षित अभिरक्षा के लिए उत्तरदायी होना,
(ङ) इस अधिनियम या तदधीन बनाए गए नियमों के द्वारा या अधीन अपेक्षित समस्त विवरण और रिपोर्ट तैयार करना,
(च) समस्त ऐसे संदाय करना, जो पंचायत द्वारा मंजूर किए जाएँ, और
(छ) ऐसे अन्य कृत्य और कर्तव्य करना जो इस अधिनियम या तदधीन बनाए गए नियमों के अधीन विहित या प्रत्यायोजित किए जाएँ।

पंचायत के कृत्य और शक्तियाँ

राजस्थान सरकार द्वारा प्रवर्तित पंचायती राज के नवीनतम अधिनियम 1994 में यह प्रावधान किया गया है कि ऐसी शक्तियों के अध्यधीन रहते हुए, जो सरकार द्वारा समय-समय पर विनिर्दिष्ट की जाएँ, राज्य की ग्राम पंचायतें अधिनियम की प्रथम अनुसूची के विनिर्दिष्ट कृत्यो का निर्वहन और शक्तियों का प्रयोग करेगी।[55] अधिनियम की प्रथम अनुसूची में पंचायतों के लिए निर्धारित कृत्य और शक्तियाँ इस प्रकार हैं :

1. साधारण कृत्य

1. पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए वार्षिक योजनाएं तैयार करना,
2. वार्षिक बजट तैयार करना,
3. प्राकृतिक आपदाओं में सहायता जुटाना,
4. लोक संपत्तियों पर हुए अतिक्रमण हटाना,
5. सामुदायिक कार्यों के लिए स्वैच्छिक श्रम और अभिदाय का संगठन,
6. गाँव (गाँवों) की आवश्यक सांख्यिकी रखना।

2. प्रशासन के क्षेत्र में

1. परिसरों का संख्यांकन,
2. जनगणना करना,
3. पंचायत सर्किल में कृषि उपज के उत्पादन को बढ़ाने के लिए कार्यक्रम बनाना,
4. ग्रामीण विकास स्कीमों के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक प्रदायों और वित्त की अपेक्षा दर्शित करने वाला विवरण तैयार करना,
5. ऐसी प्रणाली के रूप में कार्य करना जिसके माध्यम से केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा किसी भी प्रयोजन के लिए दी गई सहायता पंचायत सर्किल में पहुँचे,
6. सर्वेक्षण करना,
7. पशु स्टेण्डों, खलिहानों, चारागाहों और सामुदायिक भूमियों पर नियंत्रण,
8. ऐसे मेलों, तीर्थयात्राओं और उत्सवों की, जिनका प्रबन्ध राज्य सरकार या किसी पंचायत समिति द्वारा नहीं किया जाता है, स्थापना, रख-रखाव और विनियमन,
9. बेरोजगारी की सांख्यिकी तैयार करना,
10. ऐसी शिकायतों की समुचित प्राधिकारियों को रिपोर्ट करना, जो पंचायत द्वारा दूर नहीं की जा सकती हो,
11. पंचायत अभिलेखों की तैयारी, संधारण और अनुरक्षण करना,
12. जन्म, मृत्यु और विवाहों का ऐसी रीति और ऐसे प्रारूप में रजिस्ट्रीकरण जो राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त साधारण या विशेष आदेश द्वारा अधिकथित किया जाए,
13. पंचायत सर्किल के भीतर के गाँव के विकास के लिए योजनाएं तैयार करना।

3. कृषि विस्तार सहित कृषि

1. कृषि और बागवानी की प्रोन्नति और विकास,
2. बंजर भूमियों का विकास,

3. चारागाहों का विकास और रख–रखाव और उनके अप्राधिकृत अन्य संक्रमण और उपयोग को रोकना।

4. पशुपालन, डेयरी और कुक्कुट पालन

1. पशुओं, कुक्कुटों और अन्य पशुधन की नस्ल का विकास,
2. डेयरी उद्योग, कुक्कुट पालन और सूअर–पालन की प्रोन्नति,
3. चारागाह विकास।

5. मत्स्य पालन

गाँव (गाँवों) में मत्स्य पालन का विकास।

6. सामाजिक और फार्म वानिकी, लघु वन उपज, ईंधन और चारा

1. गाँव और जिला सड़कों के पार्श्वों पर और उसके नियंत्रण के अधीन की अन्य लोक भूमियों पर वृक्षों का रोपण और परिरक्षण,
2. ईंधन रोपण और चारा विकास,
3. फार्म वानिकी की प्रोन्नति,
4. सामाजिक वानिकी और कृषिक पौधशालाओं का विकास।

7. लघु सिंचाई

50 एकड़ तक सिंचाई करने वाले जलाशयों का नियंत्रण और रख–रखाव।

8. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग

1. ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को प्रोन्नत करना,
2. ग्रामीण क्षेत्रों के लाभ के लिए चेतना शिविरों, सेमिनारों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों, कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन।

9. ग्रामीण आवासन

1. अपनी अधिकारिता के भीतर मुक्त आवास स्थलों का आवंटन,
2. आवासों, स्थलों और अन्य निजी तथा लोक संपत्तियों से संबंधित अभिलेख रखना।

10. पेयजल

1. पेयजल कुओं, जलाशयों और तालाबों का निर्माण, मरम्मत और रख–रखाव,
2. जल प्रदूषण का निवारण और नियंत्रण,
3. हैण्ड पम्पों का रखरखाव और पम्प और जलाशय योजनाएँ।

11. सड़कें, भवन, पुलियाएं, पुल, नौघाट, जलमार्ग और अन्य संचार साधन

1. ग्राम सड़कों, नालियों और पुलियाओं का निर्माण और रख–रखाव,
2. अपने नियंत्रण के अधीन के या सरकार या किसी भी लोक प्राधिकरण द्वारा उसे अन्तरित भवनों का रख–रखाव,
3. नावों, नौघाटों और जल मार्गों का रखरखाव।

12. ग्रामीण विद्युतीकरण जिसमें लोक मार्गों और अन्य स्थानों पर प्रकाश व्यवस्था करना और उसका रख-रखाव सम्मिलित है।

13. गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोत

1. गैर–परम्परागत ऊर्जा कार्यक्रमों की प्रोन्नति और रख–रखाव,
2. सामुदायिक गैर–परम्परागत ऊर्जा युक्तियों का, जिसमें गोबर गैस संयंत्र सम्मिलित है, रख–रखाव, तथा
3. विकसित चूल्हों और अन्य दक्ष ऊर्जा युक्तियों का प्रचार।

14. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

1. अधिकाधिक नियोजन और उत्पादक आस्तियों आदि के सृजन के लिए गरीबी उन्मूलन संबंधी जन चेतना को और उसमें भागीदारी को प्रोन्नत करना,
2. ग्राम सभाओं के माध्यम से विभिन्न कार्यक्रमों के अधीन हिताधिकारियों का चयन,
3. पूर्वोक्त के प्रभावी कार्यान्वयन और अनुवीक्षण में भाग लेना।

15. प्राथमिक शिक्षा

1. समग्र साक्षरता कार्यक्रम के लिए लोक चेतना प्रोन्नत करना और ग्राम शिक्षा समितियों में भाग लेना,
2. प्राथमिक विद्यालयों और उनके प्रबन्ध में लड़कों का और विशेष रूप से लड़कियों का पूर्ण नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित करना।

16. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा

प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम को प्रोन्नत करना और उसका अनुवीक्षण।

17. पुस्तकालय

ग्राम पुस्तकालय और वाचनालय

18. सांस्कृतिक क्रियाकलाप

सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियान्वयन को प्रोन्नत करना।

19. बाज़ार और मेले

मेलों में (पशु मेलों सहित) और उत्सवों का विनियमन।

20. ग्रामीण स्वच्छता

1. सामान्य स्वच्छता रखना,
2. लोक सड़कों, नालियों, जलाशयों, कुओं और अन्य लोक स्थानों की सफाई,
3. श्मशान और कब्रिस्तान भूमियों का रख–रखाव और विनियमन,

4. ग्रामीण शौचालयों, सुविधा पार्कों, स्नान स्थलों और सोक–पिटों इत्यादि का निर्माण और रख–रखाव,
5. अदावाकृत शवों और जीव–जन्तु शवों का निपटारा,
6. धोने और स्नान के घाटों का प्रबन्ध और नियंत्रण।

21. लोक स्वास्थ्य और परिवार कल्याण

1. परिवार कल्याण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन,
2. महामारी की रोक और उपचार के उपाय,
3. मांस, मछली और अन्य विनश्वर खाद्य पदार्थों के विक्रय का विनियमन,
4. मानव और पशु टीकाकरण के कार्यक्रम में भाग लेना,
5. खाने और मनोरंजन के स्थानों का अनुज्ञापन,
6. आवारा कुत्तों का नाशन,
7. खालों और चमड़ों के संस्करण, चर्मशोधन और रंगाई का विनियमन,
8. आपराधिक और हानिकारक व्यापारों का विनियमन।

22. महिला और बाल विकास

1. महिला और बाल कल्याण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में भाग लेना,
2. विद्यालय स्वास्थ्य और पोषाहार कार्यक्रमों को प्रोन्नत करना,
3. आँगनबाड़ी केन्द्रों का पर्यवेक्षण।

23. विकलांगों और मंदबुद्धि वालों के कल्याण सहित समाज कल्याण

1. विकलांगों, मंदबुद्धि वालों और निराश्रितों के कल्याण सहित समाज कल्याण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में भाग लेना,
2. वृद्ध और विधवा पेंशन तथा सामाजिक बीमा योजनाओं में सहायता करना।

24. कमजोर वर्गों और विशेषतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण

1. अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों और अन्य कमजोर वर्गों के संबंध में जनजागृति को प्रोन्नत करना,
2. कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए विनिर्दिष्ट कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में भाग लेना।

25. लोक वितरण व्यवस्था

1. आवश्यक वस्तुओं के वितरण के संबंध में जन जागृति को प्रोन्नत करना,
2. लोक वितरण व्यवस्था का अनुवीक्षण अर्थात् ग्राम स्तर पर राशन की दुकान पर उपलब्ध सामग्री के वितरण के पर्यवेक्षण का दायित्व ग्राम पंचायतें वहन करेंगी।

26. सामुदायिक आस्तियों का रख-रखाव

1. सामुदायिक आस्तियों का रख–रखाव,
2. अन्य सामुदायिक आस्तियों का परिरक्षण और रख–रखाव।

27. धर्मशालाओं और ऐसी ही संस्थाओं का निर्माण और रख-रखाव।

28. पशुशेडों, पोखरों और गाड़ी स्टैंडों का निर्माण और रख-रखाव।

29. बूचड़खानों का निर्माण और रख-रखाव।

30. लोक उद्यानों, खेल के मैदानों इत्यादि का रख-रखाव।

31. लोक स्थानों में खाद के गड्ढों का विनियमन।

32. शराब की दुकानों का विनियमन।

33. पंचायतों की सामान्य शक्तियाँ।

34. कॉजी हाऊस : प्रत्येक ग्राम पंचायत में आवारा पशुओं इत्यादि को पकड़ कर कॉजी हाऊस में रखने की परिपाटी प्रारम्भ से ही प्रचलित रही है। इसी सम्बन्ध में राजस्थान पंचायती राज अधिनियम के अन्तर्गत 1996 में विनिर्मित नियमों में कॉजी हाऊस (Kines House) के सन्दर्भ में प्रावधान किए गए हैं। इनमें कहा गया है कि प्रत्येक पंचायत के स्तर पर पृथक् से कॉजी हाऊस कीपर या तो पृथक से नियुक्त किया जा सकेगा या उन कर्तव्यों के निर्वाह के लिए खुली नीलामी के माध्यम से किसी ठेकेदार को अधिकृत किया जा सकेगा। ऐसा व्यक्ति या ठेकेदार पंचायत क्षेत्र में किसी भी कृषक की भूमि या फसलें या उपज को नुकसान पहुँचाने वाले किसी पशु को कॉजी हाऊस में बंद कर सकेगा तथा इस सन्दर्भ में निर्मित नियमों के अधीन उस पशु के मालिक से आवश्यक रसीद देते हुए जुर्माना इत्यादि वसूल कर सकेगा। इस सन्दर्भ में नियमों में व्यापक प्रावधान किए गए हैं जिनका पालन किए जाने की सभी पक्षों से अपेक्षा की गई है।

इस अधिनियम के अधीन उसे सौंपे, या प्रत्यायोजित किए गए कृत्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक या आनुषंगिक सभी कार्य करना और, विशिष्टतया तथा पूर्वगामी शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इसके अधीन विनिर्दिष्ट की गई सभी शक्तियों का प्रयोग करना।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि 1994 में राजस्थान सरकार द्वारा निर्मित्त पंचायती राज अधिनियम और उसमें समय–समय पर किए गए संशोधनों के माध्यम से ग्राम स्तर पर पंचायत की संरचना व स्थितियों में व्यापक परिवर्तन आ गए हैं। पुस्तक के आगामी अध्यायों में पंचायत से उच्च संस्थाओं के विषय में यह विवरण दिया जा रहा है।

ग्राम पंचायतों को उनकी निजी आय के उपयोग के संदर्भ में शक्तियों का प्रत्यायोजन करते हुए जून 2003 में एक परिपत्र में कहा गया है कि राज्य की ग्राम पंचायतें, राजस्थान पंचायती राज नियम, 1996 के नियम 176 (1) एवं 214 (1) के अंतर्गत ग्राम सभा के अनुमोदन से 2 लाख रुपए तक की राशि अपने स्तर पर व्यय कर सकती

है। इसी प्रकार 2 लाख से अधिक किन्तु 4 लाख रुपए तक व्यय करने की शक्ति ग्राम सभा के प्रस्ताव के आधार पर पंचायत समिति की साधारण सभा की होगी या पंचायत राज अधिनियम की धारा 56 के अंतर्गत गठित "वित्त एवं कराधान समिति" की होगी। 4 लाख रुपए से अधिक व्यय करने की प्रशासनिक एवं वित्तीय स्वीकृति प्रदान करने की शक्तियाँ ग्राम सभा के प्रस्ताव के आधार पर जिला परिषद् की साधारण सभा या अधिनियम की धारा 57 के अंतर्गत गठित "वित्त एवं कराधान समिति" की होगी। परिपत्र में यह भी कहा गया है कि निर्माण, मरम्मत आदि के मामलों में प्रशासनिक एवं वित्तीय स्वीकृति तकनीकी अनुमान के आधार पर ही जारी की जा सकेंगी। पंचायतों की निजी आय की प्राप्ति और उसके व्यय के लिए बजट अनुमान तैयार किया जाना चाहिए। निजी आय से नवीन पदों का सृजन नहीं किया जा सकेगा और न ही इसमें से सरकार की पूर्व अनुमति के बिना निजी वाहन क्रय किया जा सकेगा।

संदर्भ

1. **भारत का संविधान, 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993, धारा 243 ई (1)**
2. राजस्थान सरकार, **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994** [1994 का अधिनियम संख्या 13 तृतीय अध्याय, धारा 9 (1)].
3. उपर्युक्त, धारा 9 (2)
4. उपर्युक्त, धारा 9 (3)
5. उपर्युक्त, धारा 12 (1)
6. उपर्युक्त, धारा 18 (1)
7. उपर्युक्त, धारा 18 (2)
8. उपर्युक्त, धारा (19)
9. उपर्युक्त, धारा 20 (1)
10. उपर्युक्त, धारा 20 (2) एवं धारा (2) का परंतुक
11. उपर्युक्त, धारा 20 (3)
12. उपर्युक्त, धारा 21
13. उपर्युक्त, धारा 26 (1)
14. उपर्युक्त, धारा 26 (2)
15. उपर्युक्त, धारा 27 (1) (2)
16. उपर्युक्त, धारा 15 (2)
17. उपर्युक्त, धारा 15 (3)
18. उपर्युक्त, धारा 15 (6)
19. उपर्युक्त, धारा 16
20. उपर्युक्त, धारा 17 (1)
21. उपर्युक्त, धारा 32 (1)

22. **उपर्युक्त, धारा 32 (2)**
23. **उपर्युक्त, धारा 32 (3)**
24. **उपर्युक्त, धारा 36 (1)**
25. **उपर्युक्त, धारा 36 (4)**
26. **उपर्युक्त, धारा 36 (5)**
27. **उपर्युक्त, धारा 37 (1) (2)**
28. **उपर्युक्त, धारा 37 (3)**
29. **उपर्युक्त, धारा 37 (4)**
30. **उपर्युक्त, धारा 37 (5)**
31. **उपर्युक्त, धारा 37 (8)**
32. **उपर्युक्त, धारा 37 (9)**
33. **उपर्युक्त, धारा 37 (10)**
34. **उपर्युक्त, धारा 37 (11)**
35. **उपर्युक्त, धारा 37 (12)**
36. **उपर्युक्त, धारा 37 (13)**
37. **उपर्युक्त, धारा 37 (14)**
38. **उपर्युक्त, धारा 38 (1) (क) (ख)**
39. उपर्युक्त, धारा 38 (2)
40. उपर्युक्त, धारा 38 (4)
41. उपर्युक्त, धारा 39 (1)
42. उपर्युक्त, धारा 39 (2)
43. उपर्युक्त, धारा 42
44. उपर्युक्त, धारा 45 (1) (2)
45. उपर्युक्त, धारा 45 (3)
46. उपर्युक्त, धारा 45 (4)
47. उपर्युक्त, धारा 45 (5)
48. उपर्युक्त, धारा 48 (1)
49. उपर्युक्त
50. उपर्युक्त, धारा 48 (2)
51. उपर्युक्त, धारा 74
52. उपर्युक्त, धारा 75 (1) (2) (3) (4)
53. उपर्युक्त, धारा 78 (1)
54. उपर्युक्त, धारा 78 (2)
55. उपर्युक्त, धारा 50
56. पं. रा. वि. रा. सरकार का परिपत्र एफ 95 / नि.आ. / सामान्य / 2003-04 / 1370 दि. 28.06.2003

8

पंचायत समिति

प्रारम्भ में बलवंत राय मेहता समिति द्वारा और अब 73वें संविधान संशोधन में सुझायी गई पंचायती राज की त्रिस्तरीय संरचना का मध्यवर्ती सोपान **पंचायत समिति** कहलाता है। कार्यकाल के संबंध में 73वें संविधान संशोधन के प्रवर्तन के पश्चात् अब देश भर में पंचायत समिति सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष है।[1] इस समय सम्पूर्ण देश के विभिन्न राज्यों में लगभग 4,500 पंचायत समितियाँ कार्य कर रही हैं। राजस्थान में वर्तमान में 249 पंचायत समितियाँ कार्यशील हैं।

पंचायत समिति की रचना खण्ड स्तर पर की जाती है। पंचायती राज के प्रवर्तन के पश्चात् ग्रामीण विकास को गति देने की दृष्टि से यह निश्चय किया गया है कि प्रत्येक जिले को कुछ विकास खण्डों में विभक्त कर दिया जाए। इस तरह के विकास खण्डों की रचना और गठन करने का आदेश संबंधित राज्य सरकारों द्वारा जारी किया जाता है। विकास खण्ड नामक, यह इकाई, तहसील नामक राजस्व इकाई के भौगोलिक क्षेत्र से कुछ मिलती–जुलती है, यद्यपि दोनों का क्षेत्राधिकार और भौगोलिक आकार एक जैसा नहीं है। तहसील जहाँ अनन्य रूप से नागरिकों के राजस्व सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन के लिए उत्तरदायी होती है वहीं विकास खण्ड को नागरिकों के बहुमुखी विकास के लिए नियोजन और योजनाओं को कार्यान्वित करने वाला तंत्र बनाया गया है। राजस्थान में विकास खण्ड का भौगोलिक क्षेत्र तहसील के भौगोलिक आकार से किंचित् अधिक है। अब दोनों को समान करने का प्रयास किया जा रहा है।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 प्रावधानं करता है कि राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, एक ही जिले के भीतर के किसी भी स्थानीय क्षेत्र को एक खण्ड के रूप में घोषित कर सकेगी और इस रूप में घोषित प्रत्येक खण्ड के लिए एक पंचायत समिति होगी जो, सम्पूर्ण खण्ड पर अधिकारिता रखेगी। इस प्रकार गठित पंचायत समिति अपने क्षेत्र के किसी भी भाग में अपना कार्यालय रख सकेगी।[2]

प्रत्येक पंचायत समिति राजपत्र में अधिसूचित नाम से एक निगमित निकाय होगी जिसका शाश्वत उत्तराधिकार एवं सामान्य मुहर होगी तथा इस अधिनियम या अन्य विधि के द्वारा अधिरोपित निर्बन्धनों और शक्तियों के अधीन रहते हुए सम्पत्ति अर्जित, धारित, प्रशासित और अन्तरित करने तथा कोई भी संविदा करने के लिए सक्षम होगी। उसके नाम से वह वाद चला सकेगी और उस पर भी वाद चलाया जा सकेगा।[3] राज्य सरकार को अधिनियम द्वारा यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह स्वप्रेरणा से या पंचायत समिति के निवासियों के निवेदन पर, विहित रीति से प्रकाशित एक माह के नोटिस के पश्चात्, किसी भी समय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, पंचायत समिति का नाम या कार्यालय स्थान परिवर्तित करने के लिए सक्षम होगी।[4]

अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार राज्य में गठित की जाने वाली किसी पंचायत समिति में निम्नलिखित सदस्य होंगे :

(क) इतने प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदस्य जो इस अधिनियम के अधीन अवधारित किए जाएँ,

(ख) पंचायत समिति के क्षेत्र से राज्य विधान सभा में प्रतिनिधित्व करने वाले विधान सभा के सभी सदस्य। इन सदस्यों को प्रधान या उप प्रधान के निर्वाचन और हटाए जाने के अतिरिक्त पंचायत समिति की सभी बैठकों में मत देने का अधिकार भी होगा; और

(ग) पंचायत समिति क्षेत्र के भीतर आने वाली समस्त पंचायतों के अध्यक्ष अर्थात् सरपंच।[5]

राज्य सरकार नियम बनाकर प्रत्येक पंचायत समिति क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से चुने जाने के लिए एकल सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों का इस प्रकार विभाजन करेगी कि प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या जहाँ तक व्यवहार्य हो, सम्पूर्ण पंचायत समिति क्षेत्र में समान हो।[6] इसी संदर्भ में अधिनियम में कहा गया है **कि एक लाख तक की जनसंख्या वाले पंचायत समिति क्षेत्र में 15 निर्वाचन क्षेत्र होंगे और जिस पंचायत समिति क्षेत्र में जनसंख्या एक लाख से अधिक हो उसमें प्रत्येक 15 हजार के लिए दो निर्वाचन क्षेत्रों की वृद्धि कर दी जाएगी।**[7]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पंचायती राज की इस मध्यवर्ती इकाई की संरचना में राजस्थान में पूर्ववर्ती अधिनियम राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम, 1959 पर आधारित संरचना को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया गया है। अब नवीन अधिनियम 1994 के माध्यम से पंचायत समिति को अप्रत्यक्ष रूप से चुनी गई संस्था के स्थान पर **प्रत्यक्ष रूप से चुनी गई संस्था** के रूप में अभिकल्पित किया गया है। नवीन प्रावधानों से स्पष्ट है कि एक लाख तक की जनसंख्या वाली पंचायत समिति में 15 निर्वाचन क्षेत्र बनाए जाएंगे और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य पंचायत समिति के लिए उस निर्वाचन क्षेत्र की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाएगा। एक लाख से अधिक जनसंख्या की स्थिति में प्रत्येक 15 हजार की जनसंख्या

संख्या में लोकतांत्रिक दृष्टि से वृद्धि करने का संकेत करता है। इस प्रकार पंचायत समिति अब लोकतांत्रिक रूप से प्रत्यक्षतः चुनी गई संस्था होगी। पंचायत समिति की संरचना को निम्न चार्ट के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है।

पंचायत समिति की संगठनात्मक संरचना

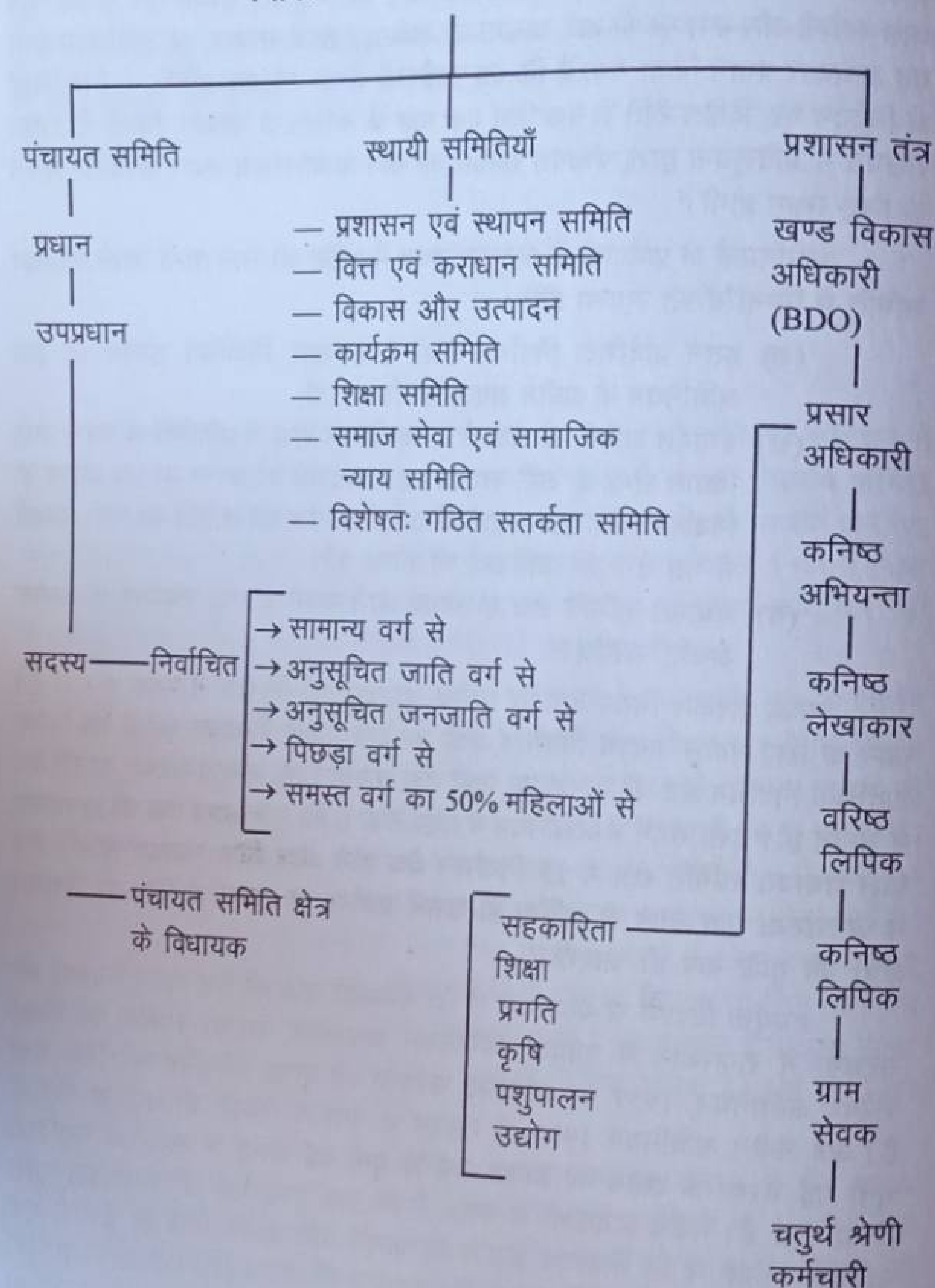

नवीन परिवर्तन

यहाँ यह बात उल्लखेनीय है कि राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 के मूल प्रावधान में पंचायत समिति की सीमा में सम्मिलित ग्राम पंचायतों के सरपंचों को पंचायत समिति का सदस्य नहीं बनाया गया था। यह प्रावधान 1959 के अधिनियम के प्रावधानों से भी असंगत था। पंचायत समिति क्षेत्र की ग्राम पंचायतों के संरपचों को पंचायत समिति की सदस्यता से वंचित किए जाने की पंचायती राज इकाइयों में कार्यरत जन प्रतिनिधियों में गम्भीर प्रतिक्रिया हुई। यह अनुभव किया गया कि पंचायत समिति में सरपंच के सदस्य न रह पाने से पंचायत समिति के कार्यकरण में ग्राम पंचायतों और उनके सरपंचों की महत्ता एकदम क्षीण हो गई। सरपंचों को अपनी ग्राम पंचायत के कामकाज के विषय में पंचायत समिति में मिलने वाला महत्त्व घट गया और वे अपने आपको, अपनी ही उच्चतर इकाई में उपेक्षित अनुभव करने लगे। इसी प्रकार पंचायत समिति के प्रधान जिला परिषद् के सदस्य न रहने से ऐसी ही स्थिति से साक्षात्कार कर रहे थे।

इस स्थिति का एक दुःखद परिणाम यह भी हुआ कि मेहता समिति द्वारा अनुशंसित और 73वें संविधान संशोधन द्वारा सम्पूर्ण देश के लिए निरूपित पंचायती राज की त्रिस्तरीय संरचना में **अन्तर संस्थात्मक संबंधों या आंगिक संबंधों** (Organic Relation) की कड़ी या धागा टूट गया। विद्वानों ने यह अनुभव किया कि इन अन्तर संस्थात्मक संबंधों (Inter-institutional Linkage) के समाप्त होने से पंचायत राज की संरचना में विद्यमान समरसता समाप्त हो गई और तीनों संस्थाओं के कार्यकरण में एक दूसरे की सहमति और प्रभाव न केवल शून्य हो गया अपितु उनमें पारस्परिक सद्भाव व समन्वय का वातावरण भी समाप्त हो गया।

राज्य सरकार ने जन प्रतिनिधियों द्वारा उठाई गई इस समस्या को अनुभव किया और पंचायती राज की त्रिस्तरीय योजना में पूर्ववर्ती अन्तर संस्थात्मक संबंधों की स्थिति को पुनः प्रतिष्ठित करते हुए राजस्थान पंचायती राज संशोधन विधेयक 1999 लाकर इस न्यूनता का परिष्कार कर दिया। अब ग्राम पंचायतों के सरपंच पंचायत समिति के और पंचायत समिति के प्रधान जिला परिषदों के सदस्य बना दिए गए हैं। यद्यपि उन्हें प्रधान या जिला प्रमुख के निर्वाचन या हटाए जाने की प्रक्रिया से पृथक् रखा गया है। यही नहीं, इन्हें पंचायत समिति की बैठकों में मताधिकार भी नहीं दिया गया है।

पंचायत समिति के चुनावों की व्यवस्था में अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों और महिलाओं के लिए आरक्षण के प्रावधान भी अधिनियम में किए गए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :

स्थानों का आरक्षण

(i) 73वें संशोधन के प्रावधान : पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जातियों, जनजातियों व पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं को समुचित प्रतिनिधित्व की कोई व्यवस्था नहीं थी। वस्तुतः कोई भी लोकतंत्र तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक कि उसकी

निर्वाचन व्यवस्था के माध्यम से समाज के सभी वर्गों को शासन कार्यों में भागीदारी का सम्यक् अवसर प्राप्त न हो। पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकरण में, स्वतंत्रता के पश्चात् परिव्याप्त इस विसंगति का निवारण करने की दृष्टि से भारत सरकार ने 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से समस्त राज्यों की सरकारों को यह संदेश पहुँचाने का कार्य किया है कि इन संस्थाओं में इन वर्गों के समुचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से यह निर्देश दिए गए हैं कि अनुसूचित जातियों व जनजातियों को, सभी स्तरों की पंचायती राज संस्थाओं में उनकी उस क्षेत्र में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।[8] इसका अभिप्राय यह है कि पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों में इन वर्गों कों समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए अब उनकी जनसंख्या के अनुपात में निर्वाचन क्षेत्रों का आरक्षण किया जाना चाहिए। इसी प्रावधान में यह व्यवस्था भी की गई कि इस प्रकार आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों का चक्रानुक्रम से आवंटन किया जाना चाहिए। इसी क्रम में संविधान संशोधन अधिनियम ने यह व्यवस्था भी की कि अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षित किए जाने वाले स्थानों में से कम से कम एक–तिहाई स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएं।[9] संविधान संशोधन के इसी भाग में स्पष्ट प्रावधान था कि अनुसूचित जाति एवं जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों सहित, प्रत्येक पंचायती राज संस्था में कुल स्थानों के कम से कम एक–तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएँ जिन्हें चक्रानुक्रम से विभिन्न क्षेत्रों में बारी–बारी से आवंटित किया जाए।[10]

इसी संविधान संशोधन में यह प्रावधान भी किया गया कि अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं के लिए, प्रत्येक स्तर की पंचायती राज इकाइयों के अध्यक्षों के स्थान आरक्षित करने के लिए संबंधित राज्य विधान मंडल, अधिनियम बनाकर प्रावधान कर सकेंगे।[11] किन्तु, पंचायती राज निकायों में अध्यक्ष के आरक्षित किए जाने वाले स्थान उसी अनुपात में होने चाहिए जितनी संख्या राज्य में इन वर्गों की है। इसी प्रकार अध्यक्ष के आरक्षित किए जाने वाले स्थानों में एक–तिहाई को महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाने का प्रावधान भी किया गया है और इस प्रकार आरक्षित किए जाने वाले ये सभी स्थान चक्रानुक्रम से बारी–बारी से आवंटित किए जाते रहेंगे।[12] अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए आरक्षित किए जाने वाले स्थान, अध्यक्ष हेतु आरक्षित किए जाने वाले स्थानों सहित, संविधान के अनुच्छेद 334 के प्रावधानों के समाप्त हो जाने पर स्वतः ही समाप्त समझे जाएंगे।[13] संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा राज्य विधान मंडलों को इस बात के लिए अधिकृत किया है कि वे पंचायती राज संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के लिए स्थान आरक्षित करने के लिए कानून बनाकर प्रावधान कर सकेंगे।[14]

(ii) **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम के प्रावधान :** पंचायती राज संस्थाओं में उपर्युक्त वर्गों के लोगों को सम्यक् प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से जो व्यवस्थाएं की गई हैं उनका अनुसरण करते हुए राजस्थान सरकार ने भी अपने पंचायती राज अधिनियम, 1994 में आवश्यक प्रावधानों का

समावेश कर दिया है।[15] अधिनियम प्रावधान करता है कि प्रत्येक पंचायती राज संस्था में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थान अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए उस क्षेत्र में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में आरक्षित किए जाएंगे[16] और ऐसे स्थान संबंधित पंचायती राज संस्था में विभिन्न वार्डों या निर्वाचन क्षेत्रों के लिए चक्रानुक्रम द्वारा आवंटित किए जा सकेंगे। इस प्रकार आवंटित स्थानों में से कम से कम आधे स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।[17] इसके साथ ही प्रत्येक पंचायती राज संस्था में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के एक तिहाई स्थान, अनुसूचित जातियों, जनजातियों व पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों सहित, आरक्षित किए जाएँगे और ये स्थान भी चक्रानुक्रम से ऐसी रीति से आवंटित होंगे जो सरकार द्वारा निर्धारित की जाएँ।[18] इसी प्रकार अधिनियम की धारा 16 में संविधान में दिए गए प्रावधानों की अनुपालना में विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्ष या सरपंचों, प्रधानों और जिला प्रमुखों के पदों को अनुसूचित जातियों, जनजातियों पिछड़े वर्गों और महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाने से संबंधित प्रावधान भी प्रवर्तित कर दिए गए हैं।[19]

कार्यकाल और निर्वाचन

73वें संविधान संशोधन की पृष्ठभूमि में सरकार के लिए यह गम्भीर चिन्ता का विषय था कि राज्यों की सरकारें अपने अधिनियमों के अंतर्गत गठित विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव या तो समय पर नहीं करवाती थीं या निर्वाचित निकायों को समय से पूर्व भंग कर देती थीं। जनतंत्र की इन पाठशालाओं के साथ राज्यों की राज्य सरकारों की कार्यपालिका के द्वारा किए जा रहे इस स्वेच्छाचारी व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए 73वें संविधान संशोधन में यह प्रावधान कर दिया गया कि प्रत्येक स्तर पर पंचायती राज संस्था, यदि वह पहले विघटित नहीं कर दी जाती है तो, का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा। इसी में यह व्यवस्था भी की गई कि पंचायती राज संस्थाओं का निर्धारित कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व ही उसके नये चुनाव करवाए जाने चाहिए और यदि, वह संस्था समय से पूर्व सरकार द्वारा भंग की गई है तो भंग किए जाने की तारीख से 6 माह के भीतर–भीतर उसके चुनाव कराए जाने चाहिए। इस प्रकार भंग की गई संस्था के चुनाव उस शेष अवधि के लिए होंगे जितनी अवधि के लिए भंग की गई संस्था, यदि न भंग की गई होती तो कार्य करती रहती।[20]

उपर्युक्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं को, कार्यकाल के संबंध में राज्य कार्यपालिका के अतिचार अपने मनमाने व्यवहार से बचाने का प्रयत्न किया गया है। इसी भावना का अनुसरण करते हुए राजस्थान सरकार ने अपने नूतन पंचायती राज अधिनियम, 1994 में यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक पंचायती राज संस्था यदि पहले विघटित न कर दी जाए तो संबंधित संस्थाओं की प्रथम बैठक के लिए राज्य सरकार द्वारा नियत तारीख से 5 वर्ष तक बनी रहेगी और इससे अधिक नहीं।[21]

राजस्थान विधानसभा द्वारा पारित अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायती राज संस्थाओं के सभी निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावलियों की तैयारी का और उसके संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण राज्य निर्वाचन आयोग में निहित रहेगा।[22] राजस्थान सरकार का यह प्रावधान 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में अनुच्छेद 243 के (1) के अंतर्गत किए गए प्रावधान के अनुसरण में किया गया है। इस प्रावधान में कहा गया था कि राज्यों की पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों का दायित्व राज्यपाल द्वारा गठित किये जाने वाले राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा। इसमें नियुक्त किए जाने वाले आयुक्त व अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों के संबंध में आवश्यक विनियमन का दायित्व भी संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा राज्यपाल पर ही छोड़ा गया था।[23] राज्य में निर्वाचन आयोग के निर्वाचन आयुक्त के पद की सुरक्षा से संबंधित प्रावधान भी संविधान अधिनियम में किया गया है।

पंचायती राज संस्थाओं में वार्डों या निर्वाचन क्षेत्रों के लिए निर्वाचक नामावली इसी राज्य निर्वाचन आयोग के द्वारा अपने पर्यवेक्षण में विहित रीति से तैयार करवाई और रखी जाएगी।[24] इन निर्वाचक नामावलियों में नाम पंजीकृत कराने के लिए प्रत्येक उस व्यक्ति को पात्र माना गया है जो राजस्थान विधान सभा की निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत होने के लिए अर्हित है।[25]

पंचायत समिति के लिए चुने जाने वाले सदस्यों के लिए अर्हताएं

अधिनियम की धारा 19 में पंचायती राज संस्थाओं के लिए चुने जाने वाले सदस्यों की अर्हताओं का उल्लेख किया गया है। **इन अर्हताओं का विवरण ग्राम पंचायत से संबंधित विगत अध्याय में दिया जा चुका है। पंचायत समिति के लिए चुने जाने वाले सदस्यों पर भी ये ही अर्हताएं प्रभावी होंगी।**

किसी भी पंचायती राज संस्था की एक साथ दोहरी सदस्यता के संबंध में किए गए निर्बन्धन पंचायत समिति के संदर्भ में भी प्रभावी होंगे। **इनका उल्लेख भी विगत अध्याय में किया जा चुका है।**

पंचायत समिति के पदाधिकारी

पंचायत समितियों के कार्य संचालन में जिन पदाधिकारियों का प्रमुख योगदान होता है, उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. प्रधान,
2. उप–प्रधान,
3. विकास अधिकारी, और
4. प्रसार अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी।

प्रथम दो पदाधिकारी – प्रधान एवं उप प्रधान – पंचायत समिति स्तर पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं जबकि विकास अधिकारी एवं अन्य प्रसार अधिकारी राज्य की नियमित लोक सेवा के अंग होते हैं। खण्ड स्तर पर पंचायत समिति द्वारा निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करने एवं राज्य सरकार द्वारा खण्ड स्तर पर कार्यान्वयन

हेतु स्थानान्तरित परियोजनाओं के निष्पादन में जन प्रतिनिधियों तथा लोक सेवकों के उत्तरदायित्वों को पंचायत समिति के स्तर पर संयुक्त किया गया है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस सर्वाधिक शक्तिशाली इकाई के स्तर पर सैद्धांतिक तौर पर यह अपेक्षा की गई है कि विकास योजनाओं के निष्पादन में जन प्रतिनिधि और लोक सेवक मिलकर कार्य करें। इस संबंध में चिन्तन यह रहा है कि न तो अकेली नौकरशाही जन प्रतिनिधियों के सहयोग के अभाव में नीतियों और कार्यक्रमों का प्रभावी कार्यान्वयन कर सकती है और न ही जन प्रतिनिधि लोक सेवकों के सहयोग के बिना यथार्थ और व्यावहारिक नीतियों का निरूपण कर सकते हैं। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के इस मर्म को समझते हुए ही, पंचायती राज के समस्त स्तरों पर जन प्रतिनिधियों और लोक सेवकों के प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। खण्ड स्तर पर यह सामंजस्य सरकारी प्रतिनिधि "विकास अधिकारी" और जन प्रतिनिधि "प्रधान" के माध्यम से सुनिश्चित किया जाता है।

प्रधान और उप-प्रधान का निर्वाचन व पदावधि

इस संदर्भ में अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्य यथाशक्य शीघ्र **अपने में से** दो सदस्यों का चुनाव क्रमशः उसके प्रधान और उप–प्रधान होने के लिए करेंगे और जब–जब प्रधान या उप–प्रधान के पद की कोई आकस्मिक रिक्ति होगी तब–तब वे **अपने में से** किसी दूसरे सदस्य का चुनाव प्रधान या, यथास्थिति उप–प्रधान होने के लिए करेंगे। किन्तु यदि इस प्रकार की कोई रिक्ति एक मास से कम की कालावधि के लिए हो तो कोई भी निर्वाचन नहीं कराया जाएगा।[26] अधिनियम यह व्यवस्था भी करता है कि प्रधान व उप–प्रधान का निर्वाचन तथा इस संबंध में उत्पन्न हुई रिक्तियों का भरा जाना ऐसे नियमों के अनुसार होगा जो राज्य सरकार द्वारा बनाये जाएं।[27]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान पंचायती राज (संशोधन) अधिनियम, 1999 के माध्यम से ग्राम पंचायतों के सरपंचों को यद्यपि पंचायत समिति का सदस्य बनाया गया है तथापि उन्हें प्रधान के निर्वाचन या हटाए जाने की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार नहीं दिया गया है। अधिनियम में प्रावधान किया गया है कि पंचायत समिति सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं के प्रधान व उप–प्रधान सम्बन्धित पंचायती राज संस्था की अवधि के दौरान पद धारण करेंगे।[28]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पंचायत समिति के प्रधान व उप–प्रधान का चुनाव, पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्य अपने में से ही, पंचायत समिति के कार्यकाल के लिए करेंगे और इस प्रकार चुने हुए प्रधान व उप–प्रधान पंचायत समिति क्षेत्र में विकास योजनाओं के निरूपण और उनके कार्यान्वयन को जनतांत्रिक नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम होंगे।

पंचायत समिति के प्रधान के रूप में पद धारण करने वाला कोई सदस्य, जिला परिषद् के प्रमुख को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा किसी भी समय, अपने पद से

राजस्थान विधानसभा द्वारा पारित अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायती राज संस्थाओं के सभी निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावलियों की तैयारी का और उसके संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण राज्य निर्वाचन आयोग में निहित रहेगा।[22] राजस्थान सरकार का यह प्रावधान 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में अनुच्छेद 243 के (1) के अंतर्गत किए गए प्रावधान के अनुसरण में किया गया है। इस प्रावधान में कहा गया था कि राज्यों की पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों का दायित्व राज्यपाल द्वारा गठित किये जाने वाले राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा। इसमें नियुक्त किए जाने वाले आयुक्त व अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों के संबंध में आवश्यक विनियमन का दायित्व भी संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा राज्यपाल पर ही छोड़ा गया था।[23] राज्य में निर्वाचन आयोग के निर्वाचन आयुक्त के पद की सुरक्षा से संबंधित प्रावधान भी संविधान अधिनियम में किया गया है।

पंचायती राज संस्थाओं में वार्डों या निर्वाचन क्षेत्रों के लिए निर्वाचक नामावली इसी राज्य निर्वाचन आयोग के द्वारा अपने पर्यवेक्षण में विहित रीति से तैयार करवाई और रखी जाएगी।[24] इन निर्वाचक नामावलियों में नाम पंजीकृत कराने के लिए प्रत्येक उस व्यक्ति को पात्र माना गया है जो राजस्थान विधान सभा की निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत होने के लिए अर्हित है।[25]

पंचायत समिति के लिए चुने जाने वाले सदस्यों के लिए अर्हताएं

अधिनियम की धारा 19 में पंचायती राज संस्थाओं के लिए चुने जाने वाले सदस्यों की अर्हताओं का उल्लेख किया गया है। **इन अर्हताओं का विवरण ग्राम पंचायत से संबंधित विगत अध्याय में दिया जा चुका है। पंचायत समिति के लिए चुने जाने वाले सदस्यों पर भी ये ही अर्हताएं प्रभावी होंगी।**

किसी भी पंचायती राज संस्था की एक साथ दोहरी सदस्यता के संबंध में किए गए निर्बन्धन पंचायत समिति के संदर्भ में भी प्रभावी होंगे। **इनका उल्लेख भी विगत अध्याय में किया जा चुका है।**

पंचायत समिति के पदाधिकारी

पंचायत समितियों के कार्य संचालन में जिन पदाधिकारियों का प्रमुख योगदान होता है, उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. प्रधान,
2. उप–प्रधान,
3. विकास अधिकारी, और
4. प्रसार अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी।

प्रथम दो पदाधिकारी – प्रधान एवं उप प्रधान – पंचायत समिति स्तर पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं जबकि विकास अधिकारी एवं अन्य प्रसार अधिकारी राज्य की नियमित लोक सेवा के अंग होते हैं। खण्ड स्तर पर पंचायत समिति द्वारा निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित करने एवं राज्य सरकार द्वारा खण्ड स्तर पर कार्यान्वयन

हेतु स्थानान्तरित परियोजनाओं के निष्पादन में जन प्रतिनिधियों तथा लोक सेवकों के उत्तरदायित्वों को पंचायत समिति के स्तर पर संयुक्त किया गया है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस सर्वाधिक शक्तिशाली इकाई के स्तर पर सैद्धांतिक तौर पर यह अपेक्षा की गई है कि विकास योजनाओं के निष्पादन में जन प्रतिनिधि और लोक सेवक मिलकर कार्य करें। इस संबंध में चिन्तन यह रहा है कि न तो अकेली नौकरशाही जन प्रतिनिधियों के सहयोग के अभाव में नीतियों और कार्यक्रमों का प्रभावी कार्यान्वयन कर सकती है और न ही जन प्रतिनिधि लोक सेवकों के सहयोग के बिना यथार्थ और व्यावहारिक नीतियों का निरूपण कर सकते हैं। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के इस मर्म को समझते हुए ही, पंचायती राज के समस्त स्तरों पर जन प्रतिनिधियों और लोक सेवकों के प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। खण्ड स्तर पर यह सामंजस्य सरकारी प्रतिनिधि "विकास अधिकारी" और जन प्रतिनिधि "प्रधान" के माध्यम से सुनिश्चित किया जाता है।

प्रधान और उप-प्रधान का निर्वाचन व पदावधि

इस संदर्भ में अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्य यथाशक्य शीघ्र **अपने में से** दो सदस्यों का चुनाव क्रमशः उसके प्रधान और उप–प्रधान होने के लिए करेंगे और जब–जब प्रधान या उप–प्रधान के पद की कोई आकस्मिक रिक्ति होगी तब–तब वे **अपने में से** किसी दूसरे सदस्य का चुनाव प्रधान या, यथास्थिति उप–प्रधान होने के लिए करेंगे। किन्तु यदि इस प्रकार की कोई रिक्ति एक मास से कम की कालावधि के लिए हो तो कोई भी निर्वाचन नहीं कराया जाएगा।[26] अधिनियम यह व्यवस्था भी करता है कि प्रधान व उप–प्रधान का निर्वाचन तथा इस संबंध में उत्पन्न हुई रिक्तियों का भरा जाना ऐसे नियमों के अनुसार होगा जो राज्य सरकार द्वारा बनाये जाएं।[27]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान पंचायती राज (संशोधन) अधिनियम, 1999 के माध्यम से ग्राम पंचायतों के सरपंचों को यद्यपि पंचायत समिति का सदस्य बनाया गया है तथापि उन्हें प्रधान के निर्वाचन या हटाए जाने की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार नहीं दिया गया है। अधिनियम में प्रावधान किया गया है कि पंचायत समिति सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं के प्रधान व उप–प्रधान सम्बन्धित पंचायती राज संस्था की अवधि के दौरान पद धारण करेंगे।[28]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पंचायत समिति के प्रधान व उप–प्रधान का चुनाव, पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्य अपने में से ही, पंचायत समिति के कार्यकाल के लिए करेंगे और इस प्रकार चुने हुए प्रधान व उप–प्रधान पंचायत समिति क्षेत्र में विकास योजनाओं के निरूपण और उनके कार्यान्वयन को जनतांत्रिक नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम होंगे।

पंचायत समिति के प्रधान के रूप में पद धारण करने वाला कोई सदस्य, जिला परिषद् के प्रमुख को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा किसी भी समय, अपने पद से

त्यागपत्र दे सकेगा और इसी तरह उप–प्रधान या पंचायत समिति का कोई सदस्य पंचायत समिति के प्रधान को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा किसी भी समय अपने पद से त्यागपत्र दे सकेगा।[29] इस प्रकार दिए गए प्रत्येक त्यागपत्र निर्दिष्ट प्राधिकारी द्वारा उसकी प्राप्ति की तारीख से 15 दिन की समाप्ति पर, यदि वह इस अवधि में प्रत्याहृत नहीं कर लिया जाता है तो, प्रभावी हो जाएगा।[30] इस संदर्भ में यह प्रावधान भी किया गया है कि प्रधान व उप–प्रधान उस समय अपना पद रिक्त कर देंगे जब वे पंचायत समिति के सदस्य नहीं रह जाते।[31] अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि प्रधान व उप–प्रधान का पद निम्नांकित परिस्थितियों में भी रिक्त हो सकता है :

(क) यदि ऐसा पद धारक पंचायत समिति का सदस्य बने रहने के लिए अपात्र हो जाए, या
(ख) अपने पद से हटा दिया जाए, या
(ग) अपने पद से त्यागपत्र दे दे, या
(घ) यदि इस तथ्य का नोटिस कि पदधारी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया है और पंचायत समिति के सूचना पट्ट पर वह चिपका दिया गया हो।[32]

पंचायत समिति के प्रधान या उप–प्रधान के इस प्रकार रिक्त हो गए पद की सूचना राज्य निर्वाचन आयोग को तुरन्त दिए जाने का प्रावधान किया गया है। इस प्रकार की रिक्ति को भरने के लिए निर्धारित रीति से निर्वाचन आयोग चुनाव कराएगा और इस प्रकार निर्वाचित प्रधान या उप–प्रधान उस शेष अवधि के लिए पद धारण करेगा जिसके दौरान यदि रिक्ति नहीं हुई तो, पद छोड़ने वाला प्रधान या उप–प्रधान पद धारण करने का अधिकारी होता।[33]

प्रधान व उप-प्रधान के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव

पंचायत समिति सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं के पदाधिकारियों को अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से हटाए जाने का प्रावधान भी अधिनियम में किया गया है।[34] इस संबंध में जिस प्रक्रिया का विवरण विगत अध्याय में सरपंच व उप–सरपंच के विषय में दिया गया है वही प्रक्रिया पंचायत समिति सहित अन्य पंचायती राज संस्थाओं के पदाधिकारियों को अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से हटाए जाने हेतु प्रवर्तित होती है।

अविश्वास प्रस्ताव के अतिरिक्त, राज्य सरकार को भी सुनवाई का अवसर देने और आवश्यक जाँच के पश्चात् लिखित आदेश द्वारा पंचायत समिति के प्रधान व उप–प्रधान को कार्य करने से इन्कार करने या असमर्थ हो जाने या कर्तव्यों के निर्वहन में अपकीर्तिकर आचरण का दोषी पाए जाने पर, हटाने या हटाने से पूर्व निलम्बित करने के लिए सक्षम बनाया गया है।[35]

अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि किन्हीं निरर्हताओं के कारण सदस्यता के लिए अपात्र हो जाने, पंचायत समिति की तीन क्रमवर्ती बैठकों में बिना लिखित सूचना अनुपस्थित रहने, त्यागपत्र दे देने, सरकार द्वारा हटा दिए जाने, मृत्यु हो जाने या

निर्धारित तीन माह की अवधि में शपथ लेने में विफल रहने पर, पंचायत समिति के सदस्यों की सदस्यता समाप्त हो सकती है।[36] यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन प्रतीत होता है कि यदि पंचायत समिति के किसी प्रधान या उप–प्रधान, जो कि पंचायत समिति के निरपवाद रूप से सदस्य भी होते हैं, की सदस्यता उक्त कारणों से भी समाप्त हो जाती है तो वे पदाधिकारी के रूप में अपने पद से भी मुक्त हो जाएँगे। किसी भी सदस्य की अपात्रता का निर्णय अधिनियम के प्रावधानों के अधीन सक्षम प्राधिकारी द्वारा किया जायेगा।[37]

प्रधान की शक्तियाँ, कृत्य और कर्त्तव्य

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 यह प्रावधान करता है कि पंचायत समिति का प्रधान निम्नांकित शक्तियों और कर्तव्यों का निर्वाह कर सकेगा :[38]

(क) पंचायत समिति की बैठकें आयोजित करेगा, उसकी अध्यक्षता करेगा और उन्हें संचालित करेगा;
(ख) उसके सभी अभिलेखों तक पूर्ण पहुँच रखेगा;
(ग) अधिनियम में वर्णित व राज्य सरकार द्वारा न्यस्त सभी कर्तव्यों का पालन;
(घ) पंचायतों में प्रेरणा और उत्साह के विकास को प्रोत्साहित करेगा। योजनाओं और कार्यक्रमों में मार्गदर्शन एवं स्वैच्छिक संगठनों के विकास में सहायता;
(ङ.) पंचायत समिति या उसकी स्थायी समिति में पारित संकल्पों के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए विकास अधिकारी पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखेगा;
(च) पंचायत समिति के वित्तीय और कार्यपालक प्रशासन पर सम्पूर्ण पर्यवेक्षण रखेगा; तथा
(छ) पंचायत समिति क्षेत्र में प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित होने वालों को तुरन्त सहायता उपलब्ध कराने के प्रयोजन के लिए, विकास अधिकारी के परामर्श से, किसी एक वर्ष में पच्चीस हजार रुपए की कुल राशि तक स्वीकृति देने की आपात शक्ति रखेगा।

राजस्थान पंचायत राज नियम, 1996 की धारा 35 में यह प्रावधान किया गया है कि किसी पंचायत समिति का प्रधान अधिनियम में वर्णित उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित कृत्यों का भी निर्वहन सुनिश्चित करेगा :

(1) पर्यवेक्षण कृत्य : प्रधान से यह अपेक्षा की गई है कि वह पंचायत समिति के समस्त कार्यों पर पर्यवेक्षण रखेगा तथा समय–समय पर मार्गदर्शन देगा। आरक्षित वर्गों से निर्वाचित सरपंचों एवं पंचों को प्रशिक्षण एवं मार्गदर्शन देने का दायित्व भी प्रधान को दिया गया है।

(2) साधारण कृत्य : स्थानीय समस्याओं को पहचान और सम्बन्धित जिला स्तरीय अधिकारियों को चर्चा हेतु और सार्वजनिक शिकायतों को दूर करने के लिए अगली पंचायत समिति बैठक में आमन्त्रित करना।

(3) विकास कृत्य : स्थानीय जनता की आवश्यकताओं की पहचान करना तथा विकास योजनाओं में जनता की भागीदारी के लिए स्थानीय जनता और स्वैच्छिक संगठनों को प्रोत्साहित करना।

(4) स्वयं के वित्तीय स्रोतों को जुटाना : नियम में प्रधान से यह भी अपेक्षा की गई है कि वह पंचायत समिति के अन्य सदस्यों से परामर्श कर राजस्व और गैर–कर राजस्व जुटाने के सभी प्रयास करेगा।

(पंचायत समिति के विकास अधिकारी व अन्य प्रसार अधिकारियों के विषय में आवश्यक विवरण अध्याय के आगामी पृष्ठों पर दिया जा रहा है।)

पंचायत समिति की बैठक, गणपूर्ति और प्रक्रिया

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार पंचायत समिति अपने कार्यों के संव्यवहार के लिए **एक मास में कम से कम एक बार** बैठक आयोजित करेगी। पंचायत समिति की प्रत्येक बैठक सामान्यतः पंचायत समिति के मुख्यालय पर आयोजित की जाएगी। अधिनियम यह भी निर्दिष्ट करता है कि पंचायत समिति की प्रथम बैठक की तारीख जिला कलेक्टर द्वारा नियत की जाएगी जिसकी अध्यक्षता जिला कलेक्टर द्वारा नियुक्त अधिकारी, जो राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी से नीचे के स्तर का अधिकारी नहीं होगा, के द्वारा की जाएगी। इसके पश्चात् होने वाली बैठक की तारीख भी इसी बैठक में नियत की जाएगी किन्तु प्रधान को यह अधिकार दिया गया है कि वह, पर्याप्त कारणों, से बैठक का दिन परिवर्तित कर सकेगा या उससे किसी पश्चात्वर्ती तारीख के लिए स्थगित कर सकेगा। प्रधान को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह जब कभी उचित समझे पंचायत समिति की विशेष बैठक आहूत कर सकता है और उसे पंचायत समिति के सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई सदस्यों के निवेदन पर, ऐसे निवेदन की प्राप्ति से 15 दिन के भीतर की किसी तारीख को, ऐसी विशेष बैठक बुलाने के लिए अधिकृत किया गया है। विशेष बैठक के लिए निवेदन करते समय उसमें उद्देश्यों को विनिर्दिष्ट किया जाना आवश्यक बनाया गया है। यदि प्रधान ऐसी विशेष बैठक बुलाने में विफल रहता है तो उप–प्रधान या सक्षम अधिकारी 15 दिन में ऐसी बैठक बुलाने और इस आशय का नोटिस विकास अधिकारी के माध्यम से सदस्यों को देने के लिए सक्षम होगा। किसी भी सामान्य बैठक के लिए पूर्ण 10 दिन का नोटिस और किसी विशेष बैठक के लिए पूर्ण सात दिन का नोटिस, ऐसी बैठक आयोजित किए जाने का समय और स्थान तथा उसमें विचार योग्य लिए जाने वाले मामलों को विनिर्दिष्ट करते हुए, सदस्यों को भेजा जाएगा और पंचायत समिति के सूचना पट्ट पर भी चिपकाया जाएगा। विशेष बैठक की सूचना वाले पत्रक में उन विषयों की सूचना भी दी जाएगी जिन पर विचार के लिए विशेष बैठक बुलाने की अभ्यर्थना की गई है।[39]

किसी भी पंचायती राज संस्था की बैठक के लिए गणपूर्ति हेतु सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई की उपस्थिति आवश्यक मानी गई है। नियत समय पर गणपूर्ति न होने पर बैठक की अध्यक्षता करने वाला प्राधिकारी 30 मिनट तक प्रतीक्षा करेगा और

यदि ऐसी कालावधि के भीतर गणपूर्ति नहीं होती है तो अध्यक्षता करने वाला प्राधिकारी बैठक को अगले दिन या ऐसे भावी दिन, जो वह नियत करे, तक के लिए स्थगित कर सकेगा। आगामी नियत बैठक का नोटिस सम्बन्धित पंचायती राज संस्था के कार्यालय में चिपका दिया जाएगा और इस बैठक में उन समस्त विषयों पर विचार किया जाएगा जो विगत बैठक में विचार योग्य लाये गए थे। इस बैठक में गणपूर्ति होती है या नहीं इसे विचार का विषय नहीं बनाया जाएगा।[40] बैठक की अध्यक्षता सम्बन्धित पंचायती राज संस्था के अध्यक्ष या उसकी अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष के द्वारा की जाएगी, और दोनों की अनुपस्थिति में उपस्थित सदस्य अपने में से किसी एक को अध्यक्षता के लिए चुनेंगे। बैठक में सभी प्रश्नों का विनिश्चय, उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा। अध्यक्षता करने वाला व्यक्ति अपने मत के अतिरिक्त, पक्ष और विपक्ष के मतों की संख्या बराबर होने की दशा में निर्णायक मत भी दे सकेगा। प्रत्येक बैठक की कार्यवाही कार्यवृत्त पुस्तिका में अभिलिखित की जाएगी और इसकी रिपोर्ट अगली बैठक में की जाएगी। पंचायत समिति का विकास अधिकारी इस कार्यवृत्त पुस्तिका का अभिरक्षक होगा।[41]

पंचायत समिति की स्थायी समितियाँ

पंचायत समिति के सुगम कार्य संचालन के लिए कतिपय स्थायी समितियों के गठन का निर्देश अधिनियम में दिया गया है। इस निमित्त अधिनियम प्रावधान करता है कि प्रत्येक पंचायत समिति निम्नलिखित विषय समूह में से प्रत्येक के लिए एक–एक स्थायी समिति गठित करेगी :

(क) प्रशासन एवं स्थापना
(ख) वित्त और कराधान,
(ग) उत्पादन कार्यक्रम, जिसमें कृषि, पशुपालन, लघु सिंचाई, सहकारिता, लघु उद्योग और अन्य सह–बद्ध विषय सम्मिलित हैं,
(घ) शिक्षा, जिसमें समाज शिक्षा सम्मिलित है, और
(च) समाज सेवा और सामाजिक न्याय, जिसमें ग्रामीण जल प्रदाय, स्वास्थ्य और सफाई, ग्रामदान, संचार, कमजोर वर्गों का कल्याण और सह–बद्ध विषय सम्मिलित हैं।[42]

कोई पंचायत समिति उपर्युक्त किसी भी समूह या समूहों में प्रगणित नहीं किए गए किन्हीं विषयों के लिए एक छठी स्थायी समिति भी गठित कर सकेगी।[43] प्रत्येक स्थायी समिति का गठन पंचायत समिति के निर्वाचित सदस्यों में से विहित रीति से निर्वाचित 5 सदस्यों से होगा।[44] पंचायत समिति का प्रधान प्रशासन, एवं स्थापना समिति का पदेन सदस्य और अध्यक्ष होगा।[45] यदि किसी स्थायी समिति के सदस्य के रूप में उप–प्रधान निर्वाचित हो और उस समिति में प्रधान सदस्य न हो तो ऐसी समिति का उप–प्रधान पदेन अध्यक्ष होगा।[46] प्रत्येक ऐसी अन्य स्थायी समिति के लिए, जिसका कोई भी पदेन अध्यक्ष नहीं हो, अध्यक्ष विहित रीति से निर्वाचित किया जाएगा।[47] समिति के कार्यकरण के दौरान यदि उसका अध्यक्ष उपस्थित नहीं हो, ऐसी बैठक के लिए समिति अपने सदस्यों में से

अध्यक्ष का निर्वाचन कर सकेगी।[48] सभी समितियाँ पंचायत समिति की ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कर्तव्यों का निर्वहन करेंगी जो ऐसी स्थायी समिति को समय–समय पर प्रत्यायोजित किए जाएं।[49] प्रत्येक स्थायी समिति की पदावधि एक वर्ष है।[50] यदि किसी स्थायी समिति का कोई सदस्य, उसके अध्यक्ष की पूर्व अनुज्ञा के बिना, स्थायी समिति की ऐसी पाँच क्रमवर्ती बैठकों में अनुपस्थित रहता है, जिनका उसे सम्यक् नोटिस था, तो स्थायी समिति में उसका स्थान रिक्त घोषित किया जा सकेगा। किन्तु, यदि अध्यक्ष स्वयं इस प्रकार अनुपस्थित रहता है तो वह ऐसी अनुपस्थिति के लिए प्रधान का अनुमोदन प्राप्त करेगा या यदि प्रधान स्वयं अध्यक्ष हो तो उसे पंचायत समिति का अनुमोदन प्राप्त करना होगा।[51]

इस प्रकार पंचायत समिति के कार्य संचालन के लिए स्थायी समितियों के गठन की व्यवस्था अधिनियम द्वारा की गई है। नवीन प्रावधानों के माध्यम से यह सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया गया है कि पंचायत समिति के व्यावहारिक कार्यकरण में उसकी स्थायी समितियों के माध्यम से गति लाई जा सकें और उसके सदस्यों में यह भाव जागृत किया जा सकेगा कि समितियों के माध्यम से वे पंचायत समिति के कामकाज और निर्णयों में सक्रिय भागीदारी निभाने में सक्षम हैं।

पंचायत समिति उसकी किन्हीं स्थायी समितियों के किसी भी विनिश्चिय के अभिलेख की परीक्षा कर सकेगी और ऐसे विनिश्चय को पुष्ट कर सकेगी या उसमें परिवर्तन कर सकेगी। किन्तु यह कार्यवाही स्थायी समिति के विनिश्चय की तारीख से तीन माह के भीतर की जाएगी।[52] यदि पंचायत समिति अपनी स्थायी समिति के विनिश्चय को उलटने या परिवर्तित करने का आदेश देना चाहती है तो ऐसा निर्णय पंचायत समिति अपने कुल सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से ही कर सकेगी जिसमें स्थायी समिति का विनिश्चय ही मान्य बना रहेगा।[53] स्थायी समितियों को अपनी बैठक और कार्य व्यवहार के संचालन के संबंध में ऐसी प्रक्रिया अपनाने का निर्देश अधिनियम में दिया गया है जो राज्य सरकार नियम बनाकर निश्चित करे।[54]

सतर्कता समिति

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में संशोधन 2000 के माध्यम से यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक पंचायत समिति क्षेत्र के लिए एक सतर्कता समिति का गठन राज्य सरकार द्वारा किया जाएगा। ऐसी समितियाँ पाँच सदस्यों से मिलकर बनेगी जिसमें से तीन सदस्य सम्बन्धित पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे तथा शेष राज्य सरकार द्वारा मनोनीत होंगे। इस प्रकार से गठित सतर्कता समिति सम्बन्धित पंचायती राज संस्था के संकर्मों, स्कीमों और अन्य क्रियाकलापों का पर्यवेक्षण करेगी। यह समिति संबंधित पंचायती राज संस्था के अध्यक्ष को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगी।

पंचायत समिति के कर्मचारिवृन्द

अधिनियम यह प्रावधान करता है कि राज्य सरकार प्रत्येक पंचायत समिति के लिए एक विकास अधिकारी और ऐसे अन्य प्रसार अधिकारी तथा लेखाकार एवं कनिष्ठ

लेखाकार नियुक्त करेगी जो वह आवश्यक समझे।[55] उपर्युक्त अधिकारी किसी ... सेवा के संवर्ग में सम्मिलित व्यक्ति या राज्य सरकार के अधीन पद धारण करने वाले व्यक्ति होंगे और ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों पर, जो विहित की जाएँ, पंचायत समिति में प्रतिनियुक्ति पर माने जाएंगे, और राज्य सरकार द्वारा उन्हें कभी भी स्थानान्तरित किया जा सकेगा।[56]

विकास अधिकारी (B.D.O.)

पंचायत समिति के प्रशासनिक दायित्वों के निष्पादन के लिए उसे आवश्यक प्रशासन तंत्र उपलब्ध कराया जाता है। खण्ड विकास अधिकारी इस प्रशासन तंत्र का प्रमुख या नियंत्रक अथवा सर्वोच्च अधिकारी होता है। भारतवर्ष में प्रायः सभी राज्यों में पंचायती राज का जो ढाँचा अपनाया हुआ है उसमें पंचायत समिति के नियंत्रक अधिकारी के रूप में पूरे भारतवर्ष में खण्ड विकास अधिकारी की एक स्वतंत्र प्रशासकीय छवि विकसित हुई है। जिले में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक अधिकारी यदि जिलाधीश हो तो खण्ड स्तर पर खण्ड विकास अधिकारी इसी शृंखला में दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जा सकता है।

विकास अधिकारी की नियुक्ति

खण्ड विकास अधिकारी की भर्ती या नियुक्ति की दो मुख्य प्रणालियाँ प्रचलित हैं। प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत कुछ राज्यों यथा असम, बिहार, उत्तर प्रदेश, जम्मू कश्मीर, उड़ीसा, पंजाब और हरियाणा में इस पद के लिए राज्य के लोक सेवा आयोग द्वारा प्रत्यक्ष भर्ती की जाती है। इस पद हेतु सामान्यतः 25 से 35 वर्ष की आयु के और कला, विज्ञान, कृषि तथा पशु चिकित्सा में स्नातक उपाधिधारी व्यक्ति योग्य समझे जाते हैं। इस प्रकार के अभ्यर्थियों के लिए कुछ न्यूनतम प्रशासनिक अनुभव निर्धारित किए जाते हैं। कर्नाटक में राजस्व कृषि, सहकारिता अथवा समाज कल्याण विभागों में 3 से 5 वर्ष तक का प्रशासनिक अनुभव इस पद हेतु आवश्यक माना गया है। इस प्रणाली के विपरीत कुछ अन्य राज्यों यथा आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, केरल और राजस्थान में दूसरी प्रथा प्रचलित है, जिसके अन्तर्गत राज्य सरकार में विभिन्न विभागों में पहले से ही नियुक्त और कार्यरत व्यक्तियों में से पद वृद्धि अथवा स्थानान्तरित या परावर्तन पर खण्ड विकास अधिकारी को लिया जाता है। खण्ड विकास अधिकारी को चूंकि अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रों मे विकास कार्यों का निरीक्षण करना होता है इसलिए इस पद पर नियुक्ति के लिए राजस्व विभाग या कृषि विभाग के अधीनस्थ अधिकारियों में से व्यक्तियों को परावर्तन पर माँगा जाता है। ऐसे सभी राज्यों में खण्ड विकास अधिकारी के कुछ प्रतिशत पद पंचायत समिति में कार्य कर रहे प्रसार अधिकारियों के लिए भी सुरक्षित रखे जाते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है जिससे खण्ड स्तर पर विकास कार्यों का निरीक्षण कर रहे इस अधिकारी को उन्नत कार्य करने की प्रेरणा मिल सके।

राजस्थान में राज्य सरकार द्वारा राजस्थान पंचायत समिति (विकास अधिकारियों, प्रसार अधिकारियों, तथा अन्य अधिकारियों की प्रतिनियुक्ति की शर्ते तथा अनुबंध) नियम बनाए गये हैं। इन नियमों में कहा गया है कि किसी व्यक्ति को जो राज्य सरकार के

सत्यापन में अनियमितताओं की शिकायतें आम तौर पर पाई जाती हैं। इसी प्रकार लेखा परीक्षण के लिए उत्तरदायी प्राधिकारी राज्य के वित्त सचिव के प्रशासकीय नियंत्रण में काम करता है। जो प्राधिकारी राज्य सरकार के सीधे नियंत्रण में कार्य करता हो वह राज्य सरकार द्वारा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। राज्य के स्वायत्त शासन विभाग के अधिकारियों ने यदि स्थानीय संस्थाओं के संचालकों को अनियमित रूप से प्रभावित किया हो तो राज्य सरकार के नियंत्रण में ही काम करने वाला कोई प्राधिकारी उन अधिकारियों के विरुद्ध प्रभावी जाँच कैसे कर सकता है? यदि स्थानीय संस्थाओं के काम–काज को पूर्णतः स्वस्थ और सक्षम बनाना लोकतंत्र के हित में अभीष्ट है तो उनके लेखा पालन एवं परीक्षण की गतिविधियों में आवश्यक सुधार किए जाने चाहिए। लेखा परीक्षकों द्वारा जिन प्राधिकारियों के कार्यों के संदर्भ में आपत्तियां या अनियमितताओं का विवरण खोजा जाता है उनके विरुद्ध उत्तरदायित्व का विनिश्चय कर अनुशासनिक कदम उठाए जाने की गंभीर स्थिति को टाला नहीं जाना चाहिए, क्योंकि यदि अनियमितता करने वाले कर्मचारी या प्राधिकारी उसके लिए दंडित नहीं किए जाएंगे तो प्रशासन तंत्र में अन्य लोगों का मनोबल बनाए नहीं रखा जा सकेगा। ऐसी स्थितियों में सुधार की पर्याप्त संभावनाएं विद्यमान हैं जिन पर प्रभावी कार्यवाही किए जाने की आवश्यकता उपर्युक्त विवरण से स्वयं सिद्ध है।

संदर्भ

1. **लोकल गवर्नमेंट रिफॉर्म, एनालिसिस ऑफ एक्सपीरियंस इन सलेक्टेड कन्ट्रीज**, यूनाइटेड नेशन्स, न्यूयार्क, 1975, पैरा 168
2. एम. ए. मुतालिब एवं मोहम्मद अकबर अली खान, **थ्योरी ऑफ लोकल गवर्नमेंट**, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1983, पृ. 180
3. **यूनाइटेड नेशन्स टेक्नीकल असिस्टेंस प्रोग्राम**, डिसेन्ट्रेलाइजेशन फार नेशनल एण्ड लोकल डवलपमेंट, न्यूयार्क, 1962, पृ. 55
4. मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 182
5. **रिपोर्ट ऑफ कमेटी ऑन बजटरी रिफार्म इन म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन**, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ वर्क्स एण्ड हाउसिंग, उद्धृत मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 184
6. **प्रथम राज्य वित्त आयोग का प्रतिवेदन वर्ष 1995-2000**, पृष्ठ 245
7. स्वायत्त शासन विभाग, राजस्थान **जयपुर का वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन वर्ष 2000–2001**, पृ. 14
8. **राजस्थान राज-पत्र विशेषांक भाग 6 (क) 22 नवम्बर, 2007** (29 अगस्त **2007 से प्रभावी)**
9. **राजस्थान राज-पत्र विशेषांक भाग 6 (क) 3 सितम्बर 2007** (29 अगस्त 2007 **से प्रभावी)**
10. **प्रथम राज्य वित्त आयोग का प्रतिवेदन वर्ष** 1995, पृ. 249

11. **सेन्ट्रल सर्विसेज टू लोकल ऑथोरिटीज**, पार्ट–4, द इन्टरनेशनल यूनियन ऑफ लोकल आथोरिटीज फार दि यूनाइटेड नेशन्स, द हेग 1962, पृ. 76
12. श्री राम माहेश्वरी, **पूर्वोक्त**, पृ. 280
13. स्वायत्त शासन विभाग राजस्थान **जयपुर का वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन वर्ष, 2000–2001**. पृ. 11
14. के. उर्सुला हिक्स, **डवलपमेंट फ्रॉम बिलो लोकल गवर्नमेंट एण्ड फायनेन्स इन डवलपिंग कन्ट्रीज ऑफ द कामनवेल्थ आक्सफोर्ड**, उद्धृत, मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 194
15. मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 194
16. आर. एम. जैक्सन, **द मशीनरी ऑव लोकल गवर्नमेंट**, मैकमिलन, न्यूयार्क 1965, पृष्ठ 182
17. मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त**, पृ. 196
18. **उपर्युक्त**, पृ. 196–197
19. श्री राम माहेश्वरी, **पूर्वोक्त**, पृ. 283
20. यूनाइटेड नेशन्स, **डिसेन्ट्रेलाइजेशन फॉर नेशनल एण्ड लोकल डवलपमेंट**, न्यूयार्क, 1962
21. पी. एल. भार्गव, **रिफार्म इन म्यूनिसिपल एकाउन्टिंग एण्ड ऑडिटिंग प्रोसिजर्स, नगर लोक**, अप्रैल–जून, 1972. पृ. 34–41

वालों की और तीसरी विचारधारा इन दोनों का संयुक्त मिश्रण कही जा सकती है अर्थात् इस सम्बन्ध में निम्नांकित तीन विचारधाराएं प्रचलित हैं:[2]

1. स्थानीय संस्थाओं के प्रति अभिमुखी विचारधारा;
2. सेवा या प्रशासनिक दक्षता के प्रति अभिमुखी विचारधारा, तथा
3. संतुलित विचारधारा।

1. स्थानीय संस्थाओं के प्रति अभिमुखी विचारधारा : नियंत्रण से सम्बन्धित इस प्रथम विचारधारा के प्रणेता जनतंत्रीय भावनाओं के समर्थक हैं। इनके विचार में नगरीय संस्थाओं में भी अनियंत्रित जनतंत्रीय परम्पराओं का विकास किया जाना चाहिए और इनमें राज्य का हस्तक्षेप अवांछनीय माना जाए। उनका मानना है कि इन संस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप लोकतंत्र को सीमित करता है। इस विचाराधारा के समर्थक विद्वज्जनों द्वारा निम्नांकित तर्क दिए जाते हैं :[3]

(अ) स्थानीय संस्थाओं की इकाइयां अधिनियम द्वारा सृजित, आवश्यक संसाधनों और क्षमता से युक्त स्वायत्त शासन की ऐसी संस्थाएं हैं जिन्हें अपने कार्यों और दायित्वों का स्वयं निष्पादन करने की पूरी छूट मिलनी चाहिए,

(ब) ये इकाइयां सरकार की नीति को क्रियान्वित करते समय और सरकारी अनुदान द्वारा प्राप्त राशि को व्यय करते समय केवल सरकारी विभागों की तरह काम नहीं करतीं,

(स) सरकार का नियंत्रण केवल उन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं तक सीमित रहना चाहिए जिनमें सरकारी नीति और वित्तीय प्रबन्ध के दायित्व निष्पादित किए जाने का मामला अन्तर्निहित हो।

2. सेवा या प्रशासनिक दक्षता के प्रति अभिमुखी विचारधारा : इन संस्थाओं की प्रशासनिक दक्षता के प्रति अभिमुखी विचारधारा इस बात पर बल देती है कि स्थानीय संस्थाएं, उनकी सेवाओं को उनके कार्य के प्रति सचेष्ट बनाए रखने के लिए निरन्तर पर्यवेक्षित, निर्देशित, नियंत्रित और कभी–कभी प्रताड़ित की जाती रहनी चाहिए। इस सम्बन्ध में स्थानीय स्वशासन मंत्री सम्मेलन ने यह संस्तुति की थी कि इस सम्मेलन की राय है कि प्रशासन की अपनी शाखाओं की भांति स्थानीय शासन के मामलों में भी जनता को अपनी इच्छाओं को कार्यान्वित करने का पूरा–पूरा अवसर दिया जाए किन्तु सरकार के हाथ में नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण की समुचित शक्तियाँ होनी चाहिए जिससे वह कुशल प्रशासन को सुनिश्चित कर सके, कुप्रशासन को रोक सके और आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था को छिन्न–भिन्न होने से बचा सके। इसी तरह करारोपण जाँच आयोग ने भी इन संस्थाओं पर नियंत्रण के औचित्य को स्वीकार किया था और यह माना था कि सरकार का नियंत्रण केवल निषेधात्मक नहीं है अपितु भावात्मक है और उसका कर्तव्य है कि वह स्थानीय निकायों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन दे और उनका विकास करे। किन्तु, राज्य का नियंत्रण इतना सूक्ष्म और व्यापक नहीं होना चाहिए कि स्थानीय निकायों की स्वायत्तता तथा स्वावलम्बन ही नष्ट हो जाए। राज्य के नियंत्रण का लक्ष्य यह होना चाहिए कि

स्थानीय स्वशासी संस्थाएं प्रशासन के कुशल और प्रभावी उपकरणों के रूप में विकसित हो सकें और वे नीति निर्धारण तथा उसे क्रियान्वित करने में सफल हो सकें।[4]

इस प्रकार स्थानीय संस्थाओं की प्रशासकीय कुशलता के निमित्त उन पर नियंत्रण को आवश्यक मानने वाली यह विचारधारा निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करती है :

1. स्थानीय शासन की संस्थाएं अनिवार्यतः सरकार की प्रशासनिक इकाइयां होती हैं जो कतिपय सेवाओं का निष्पादन करने के लिए गठित की जाती हैं;
2. इन संस्थाओं की पूर्णतः जाँच इस दृष्टि से की जानी चाहिए कि कितनी मितव्ययता और प्रभावी तरीके से उन सेवाओं का निष्पादन कर रही हैं, जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है।
3. सरकार की स्थानीय शासन के प्रति नीतियों का विनिश्चय इस तरीके से किया जाता है कि उनके माध्यम से एक उत्तरदायी स्थानीय शासन के कार्यकरण को सुनिश्चित किया जा सके और इस हेतु उन पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जा सके।
4. इसलिए उपर्युक्त कारणों से इन संस्थाओं पर सरकार वित्तीय और अन्य तरीकों से व्यापक नियंत्रण रख सकती है।

3. संतुलित विचारधारा : उक्त दोनों ही विचारधाराएँ दो अतिवादी दृष्टिकोणों पर आधारित प्रतीत होती हैं। यह कहा जा सकता है कि उक्त दोनों ही विचार दो विपरीत स्तम्भ हैं। वस्तुतः सार्थक और सही दृष्टिकोण इन दोनों विपरीत धाराओं का मध्यम मार्ग ही है। न तो स्थानीय संस्थाओं को किसी उदार लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए नियंत्रण से एकदम मुक्त किया जा सकता है और न ही दक्षता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इन संस्थाओं को इतना अधिक नियंत्रित किया जाना चाहिए कि वे अपना स्वायत्त अस्तित्व भी न रख सकें। **यद्यपि प्रशासनिक दक्षता और लोकतंत्रीकरण के बीच स्वाभाविक विरोध नहीं है फिर भी लोकतंत्र के लिए दक्षता को तिलांजलि नहीं दी जा सकती है।**

स्थानीय संस्थाओं की व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व में पाई जाती है किन्तु कहीं भी ये संस्थाएं नियंत्रण से मुक्त पूर्णतः स्वायत्तशासी स्तर का उपयोग करती प्रतीत नहीं होती हैं।[5] आर. एम. जैक्सन ने भी यही माना है कि, "स्थानीय इकाइयां वास्तव में पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकतीं क्योंकि ऐसा होने से वे स्वयं राज्य बनकर स्थानीय शासन की परिधि से मुक्त हो जाएँगी।"[6]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नागरिकों के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए स्थानीय शासन पर उचित नियंत्रण की व्यवस्था अनिवार्य है और इसलिए नियंत्रणकारी सत्ता और नियंत्रित इकाइयों के बीच एक गहरा और निकट का सम्बन्ध पाया जाना स्वाभाविक है। वस्तुतः इन संस्थाओं के कार्यों का चूंकि देशव्यापी महत्त्व होता है इसलिए इन पर नियंत्रण की व्यवस्था की गई है। कोई भी नगर निगम या नगरपालिका

किसी कानून के द्वारा बनाई जाती है और इस प्रकार यह सरकार की कार्यपालिका शाखा से भिन्न अस्तित्व रखती है। प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य से तथा इसके दैनन्दिन कार्यों में सरकार का कोई हस्तक्षेप न हो, इनके पृथक् अस्तित्व का एक यह भी उद्देश्य है। किन्तु यदि इन संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण अत्यधिक मात्रा में होगा तो निश्चय ही इन संस्थाओं की रचना का मूलभूत उद्देश्य समाप्त हो जाएगा।[7]

नियंत्रण के कारण

प्रो. ए. अवस्थी ने इन संस्थाओं पर नियंत्रण के निम्नलिखित कारण बताए हैः[8]

1. चूंकि स्थानीय संस्थाएं राज्य की वैधानिक कृति होती हैं, अतः राज्य इन पर नियंत्रण का स्वाभाविक अधिकार रखता है।
2. स्थानीय संस्थाओं के पास उतनी तकनीकी क्षमता, ज्ञान और अनुभव नहीं होता जितना राज्य सरकार के पास होता है। इन संस्थाओं का अनुभव निश्चित क्षेत्र तक सीमित होता है जबकि राज्य सरकार के पास अपनी सभी स्थानीय इकाइयों का अनुभव तथा स्थायी विशेषज्ञों का ज्ञान होता है जो इन संस्थाओं की दक्षता स्तर और सफलता को बढ़ाने के लिए नियंत्रण के माध्यम से उपलब्ध होता रहता है।
3. स्थानीय संस्थाएं चूंकि एक निश्चित, सीमित क्षेत्र का प्रशासन सम्भालती हैं, अतः पूरे देश के विकास कार्यक्रमों की एकरूपता तथा राष्ट्र निर्माण की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में सामंजस्य तथा समन्वय बिठाने के लिए राज्य सरकार की भूमिका अपरिहार्य हो जाती है।
4. राज्य सरकार द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता का ठीक ढंग से उपयोग हो रहा है या नहीं, इस हेतु भी राज्य का नियंत्रण आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य कारण हैं जिनसे इन संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण आवश्यक हो जाता है :

1. आजकल नगरीय संस्थाओं द्वारा निष्पादित की जाने वाली सेवाओं का स्तर निम्न होने के कारण सेवाओं की उचित कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए भी सरकारी नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। यदि पड़ौसी संस्थाएं किसी काम में ढील दे रही हों तो उसका यह उदाहरण दूसरी संस्थाओं के अधिकारी सरलता से अपना लेते हैं ऐसी स्थिति में पड़ोसी संस्था का निम्न स्तर ही उस सेवा का मापदण्ड बन जाता है। राज्य प्रशासन इस प्रकार के निकृष्ट उदाहरणों को फैलने से रोकता है और यह देखता है कि इन संस्थाओं के द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न हो तथा सेवाओं का न्यूनतम स्तर बना रहे।

2. स्थानीय संस्थाओं के कार्यकरण में कई बार स्थानीय निहित स्वार्थ भी शक्तिशाली बाधक तत्त्व बन जाते हैं। अतः ऐसे स्वार्थों पर नियंत्रण रखने के लिए कोई बाह्य शक्ति का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।

3. प्रायः स्थानीय संस्थाएं नगर के लोगों के सीधे जान पहचान और सम्पर्क में होती हैं, अतः उन पर कर लगाने में वे हिचकिचाती हैं। करों के अभाव में आर्थिक रूप से कमजोर संस्था क्या कर पाएगी? अतः राज्य सरकार कभी–कभी तो यह शर्त भी रख देती हैं कि जितनी वित्तीय सहायता उन्हें सरकार से मिली है उतनी ही व्यवस्था वह अपने साधनों से भी करें जिससे पालिका या निगम की आर्थिक स्थिति का उचित स्तर रह सके।

4. राज्य द्वारा नियंत्रण के फलस्वरूप कई बार इन संस्थाओं की त्रुटियां प्रारम्भिक अवस्था में ठीक कर दी जाती हैं। इन्हें राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता, अनुदान, ऋण आदि के कारण भी यह आवश्यक हो जाता है कि इसकी उचित आर्थिक स्थिति को बनाए रखने के लिए इनकी गतिविधियों पर नियंत्रण रहे।

नियंत्रण का स्वरूप

सरकार की इस नियंत्रणकारी भूमिका का अर्थ केवल निषेधात्मक नहीं है। वह इस बात तक सीमित नहीं है कि लेखा परीक्षण एवं सामयिक जाँच द्वारा स्थानीय निकायों को शक्ति का दुरुपयोग करने से रोका जाए, अपितु उसकी भूमिका भावात्मक है और उसका कर्तव्य है कि वह स्थानीय निकायों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन दे। किन्तु राजकीय नियंत्रण इतना सूक्ष्म और व्यापक नहीं होना चाहिए कि उससे स्थानीय निकायों की स्वायत्तता तथा स्वावलम्बन ही नष्ट हो जाए। राज्य के प्रयत्नों तथा राजकीय नियंत्रण का लक्ष्य यह होना चाहिए कि स्थानीय स्वशासी संस्थाएं प्रशासन के कुशल उपकरण के रूप में विकसित हो सकें और वे नीति निर्धारित करने तथा उसे कार्यान्वित करने में समर्थ बन सकें।[9]

स्थानीय संस्थाओं को राज्य के द्वारा नियंत्रित किया जाना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में दो बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए :

1. प्रथम बात तो यह है कि ये नगरीय संस्थाएं स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से युक्त जनतांत्रिक संस्थाएं होती हैं। अतः ये जनतांत्रिक प्रक्रिया में कार्यपालिका की शक्ति प्रदर्शन का शिकार नहीं होनी चाहिए।
2. दूसरे, चूंकि ये संस्थाएं स्वायत्त होती हैं, अतः इनकी स्वायत्तता में नियंत्रण के नाम पर अधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

नियंत्रण के प्रकार

नगरीय संस्थाओं पर, सभी लोकतांत्रिक राज्यों में सरकार के तीनों निकायों– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका–द्वारा नियंत्रण किया जाता है। अतः इन संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है :

1. विधायी नियंत्रण,
2. न्यायिक नियंत्रण,
3. प्रशासकीय नियंत्रण, और
4. वित्तीय नियंत्रण

इन चारों प्रकार के नियंत्रणों का, उसके क्रम में यत्किंचित् परिवर्तन के साथ, वर्णन किया जा रहा है। इसे **चार्ट संख्या 15.1** द्वारा सरलता से आत्मसात् किया जा सकता है।

1. विधायी नियंत्रण : उपर्युक्त सभी प्रकार के नियंत्रणों में व्यवस्थापिका द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि स्थानीय संस्थाएं विधायिका के अधिनियम द्वारा ही अस्तित्व में आती हैं। विधायिका के इसी अधिनियम द्वारा इन संस्थाओं के कार्य का न केवल आधार तैयार किया जाता है अपितु उनके स्वरूप और कार्यकरण का एक परिवेश भी प्रस्तुत किया जाता है। एक ऐसी संस्था जो, स्थानीय निकायों से सम्बन्धित कानून बना सकती है, उसे संशोधित कर सकती है, और उसे रद्द कर सकती है, निश्चित ही स्थानीय संस्थाओं के संदर्भ में व्यापक नियंत्रण का उपयोग करने की स्थिति होती है। ब्रिटेन की भांति, जिन देशों में संविधान इन इकाइयों की प्रकृति को निर्धारित नहीं करता है, उन देशों में तो स्थानीय निकायों के शक्ति के स्रोत के रूप में विधि निर्मात्री संस्था विधायिका ही सर्वोच्च स्थिति में होती है।

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में व्यक्त किया जा चुका है, स्थानीय शासन और उनकी इकाइयां राज्य सरकार की सृष्टि होती हैं। राज्य के विधानांग द्वारा पारित अधिनियम के आधार पर उसका निर्माण किया जाता है। राज्य विधान मंडल स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में आवश्यक विधान पारित करके, संविधानों का संशोधन करके तथा उनके कार्यों पर विवाद और विचार–विमर्श करके उनको नियंत्रित करता है। राज्य विधान मंडल ही इन संस्थाओं को वैधानिक स्तर प्रदान करता है और इनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण करता है। विधान मंडल द्वारा नगरीय कानूनों में परिवर्तन किया जा सकता है, उन्हें दी गई शक्तियाँ वापिस ले सकता है और समय–समय पर नए कर्तव्यों के निर्वाह के दायित्व सौंप सकता है। विधान सभा के सदस्य पालिका/निगम की विभिन्न गतिविधियों, उनके चुनावों, अधिक्रमण प्रशासकों की नियुक्ति, वित्तीय स्थिति, अनुदान तथा सामान्य प्रशासन एवं दैनिक प्रकृति की गतिविधियों, त्रुटियों आदि के लिए विधानसभा में सरकार से प्रश्न पूछकर विधायी नियंत्रण को सार्थक बनाते रहते हैं।

नगरीय स्वायत्त शासन संस्थाएं एक निर्दिष्ट क्षेत्र में कुछ प्रशासकीय कार्य करती हैं। यद्यपि इन संस्थाओं को अपने क्षेत्र एवं अपनी कार्य सीमा में कार्य करने की स्वतंत्रता होती है, पर वास्तव में इन संस्थाओं को राज्य सरकार से प्रत्यायोजित शक्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। अतः राज्य सरकार तथा विधान सभा का यह दायित्व होता है कि वह देखें कि इन संस्थाओं द्वारा प्रशासन के निर्धारित नियमों का पालन हो रहा है या नहीं।[10]

राज्यों की विधानसभाएं जो कानून इन संस्थाओं के लिए बनाती हैं, उनके अन्तर्गत राज्य सरकार उप–नियम तथा अन्य आदेश भी जारी कर सकती है। उदाहरणार्थ राजस्थान सरकार द्वारा बनाए गए नियम राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित किए जाते हैं तथा प्रकाशित किए जाने की तिथि के एक महीने के पश्चात् उन्हें कानून के समान मान्यता प्राप्त हो जाती है।

चार्ट - 15.1
नगरीय संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण

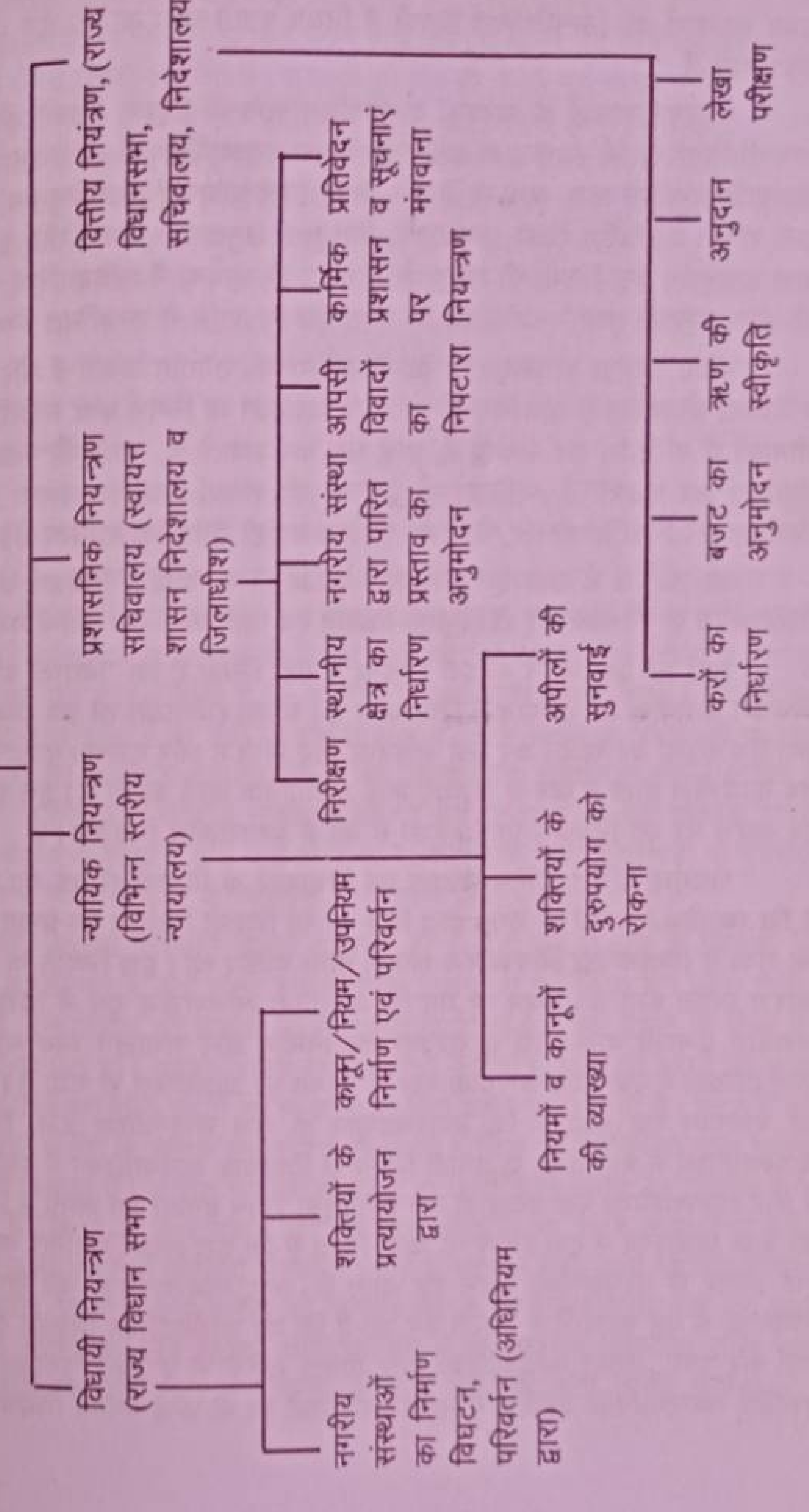

राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय निकायों को आदेश देने के संदर्भ : साधारणतः राज्य सरकारों को निम्नलिखित विषयों में नियम बनाने तथा आदेश देने के अधिकार प्राप्त होते हैं :[11]

नगरपालिकाओं के सदस्यों के निर्वाचन सम्बन्धी नियम, बैठकों की कार्यविधि सम्बन्धी नियम, राज्य सरकार के अधिकारियों द्वारा नगरपालिकाओं को परामर्श आदि देने, नगरपालिकाओं के आय–व्यय के हिसाब, विकास की योजनाएं तथा अनुमान, पालिकाओं द्वारा संपत्ति की खरीद बिक्री, करारोपण, वित्त तथा अनुदान, भविष्य निधि, इन संस्थाओं द्वारा उपनियम बनाने सम्बन्धी शक्ति पर नियंत्रण के सम्बन्ध में अधिकारियों, कर्मचारियों की सेवा सम्बन्धी तथा नगरपालिकाओं के वर्गीकरण आदि से सम्बन्धित नियम।

राज्य सरकार ही प्रायः इन विधायी शक्तियों का उपयोग करती हैं और अपने इन्हीं अधिकारों के अधीन ये आवश्यकतानुसार नई पालिका या निगम बना सकती हैं, उनकी सीमाओं में परिवर्तन कर सकती हैं, उन्हें भंग कर सकती हैं, वार्डों की संख्या व सीमा निर्धारण कर सकती हैं, पालिका के सदस्यों की संख्या निर्धारित करना तथा उनके निर्वाचन को नियंत्रित करना भी राज्य सरकार का ही वैधानिक दायित्व है।

प्रो. हार्ट के ये शब्द इन संस्थाओं पर विधायी व न्यायिक नियंत्रण के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है "नियंत्रण की दो विधियां–विधायी एवं न्यायिक – अब पुरानी पड़ गई हैं।"[12]

यहाँ प्रो. अवस्थी ने भी इस सम्बन्ध में यही लिखा है कि "विधायी और न्यायिक नियंत्रण यदाकदा ही उपयोग में लिए जाते हैं। पहला (विधायी) तो तब जब कि किसी स्थानीय संस्था का सृजन कर उसे अधिकार दिए जाते हैं और दूसरा (न्यायिक) नियंत्रण तब कार्यशील होता है जब ये संस्थाएं कोई अवैधानिक कार्य करती हैं। इन संस्थाओं पर हर कदम पर जो नियंत्रण प्रभावी हुआ है वह है प्रशासकीय नियंत्रण।[13]

उपर्युक्त वर्णित विभिन्न विद्वानों एवं विचारकों के विचारों से यह मत स्पष्ट होता है कि स्थानीय निकायों पर राज्य द्वारा किए जा रहे विधायी नियंत्रण का प्रभाव उतना नहीं रह गया है जितना वह औपचारिक रूप से होना चाहिए था। इस स्थिति के स्पष्टतः दो कारण प्रतीत होते हैं। **प्रथम** तो यह कि आधुनिक लोकतंत्रीय युग में विशेष तौर पर, संसदीय प्रणाली वाले देशों में सरकार का निर्माण और संचालन व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में एक ही राजनीतिक दल के बहुमत पर अवलम्बित हो गया है। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ है कि व्यवस्थापिका के उस राजनीतिक दल, जिसका कि व्यवस्थापिका में बहुमत है, के प्रभावी किस्म के विधायक कार्यपालिका में स्थान पा जाते हैं और व्यवस्थापिका एक प्रकार से एक प्रभावशून्य सदन बनकर रह जाती है। इस स्थिति को कुछ विचारकों ने इस प्रकार भी व्यक्त किया है कि इस तरह विनिर्मित व्यवस्थापिका एक प्रकार से परमुखापेक्षी सदन रह जाता है। अतः व्यवस्थापिका की सभी संसदीय लोकतंत्रों में यह स्वाभाविक नियति बन गई है कि वह कार्यपालिका निकाय को नियंत्रित नहीं कर पाती, अपितु कार्यपालिका प्रायः विभिन्न तरीके से उसे ही नियंत्रित करती है। इसलिए व्यवस्थापिका व्यवहार में नगरीय संस्थाओं पर भी कोई प्रभावी नियंत्रण कर पाने

में सफल नहीं हो पा रही है।

व्यवस्थापिका के नियंत्रण की शिथिलता का **दूसरा** सबसे बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि व्यवस्थापिका में चुनकर जाने वाले सदस्य अपने दायित्वों का वैसा निर्वाह नहीं करते जैसा उनसे अपेक्षित है। सदस्यों की विधायी कार्यों एवं अध्ययन तथा स्वाध्याय के प्रति घटती रुचि ने उन्हें कार्यपालिका निकाय और उसके द्वारा नियंत्रित प्रशासनिक विभागों के कार्य कलाप पर नियंत्रण में शिथिलता ला दी है। होना तो यह चाहिए कि समस्त विधायकों को अपने निर्वाचकों की सामान्य भावनाओं और समाचारपत्रों में व्यक्त पीड़ा को विधायिका में अपने मुखर व्यवहार द्वारा व्यक्त करना चाहिए। किन्तु ऐसा हो नहीं रहा है और इसका एक मात्र कारण यह है कि विधायक राजनीतिक कार्य–कलापों में अधिक व्यस्त रहने लगे हैं तथा अपने विधायी दायित्वों के प्रति उतने सचेष्ट और समर्पित नहीं रहते हैं। इन दोनों ही स्थितियों का परिणाम यह हुआ है कि नगरीय संस्थाओं पर विधायी नियंत्रण प्रभावी नहीं रह गया है। **सम्भवतः विधायी नियंत्रण की यही गंभीर सीमा कही जा सकती है।**

2. न्यायिक नियंत्रण : नगरीय स्थानीय संस्थाओं पर नियंत्रण का यह दूसरा प्रकार इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यदि स्थानीय संस्थाओं द्वारा किसी व्यक्ति के साथ कोई अनियमित और अन्यायपूर्ण व्यवहार हो जाए तो न्यायपालिका उसे उचित संरक्षण प्रदान कर सकती है। यद्यपि न्यायपालिका यह संरक्षण तभी प्रदान कर पाती है जब कोई प्रभावित व्यक्ति अपने साथ घटित अन्याय के विरुद्ध न्यायालय में वाद प्रस्तुत करता है। वस्तुतः न्यायपालिका यह देख सकती है कि नगरीय निकाय द्वारा सम्पन्न कार्य निर्धारित कार्य विधि के अनुसार हुआ है या नहीं या इस प्रक्रिया में किसी व्यक्ति के अधिकारों का हनन तो नहीं हुआ है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह न्यायिक संरक्षण न केवल व्यक्ति को ही प्राप्त है अपितु स्वयं नगरीय संस्थाओं को भी न्यायपालिका का यह संरक्षण प्राप्त है जिसके अन्तर्गत ये संस्थाएं यदि चाहें तो राज्य सरकार द्वारा उसकी शक्तियों के दुरुपयोग की स्थिति में न्यायपालिका का संरक्षण और शरण प्राप्त कर सकती हैं।

सभी नगरीय संस्थाएं केवल वे कार्य ही सम्पन्न कर सकती हैं जिनके लिए सम्बन्धित अधिनियम में उन्हें स्पष्ट रूप से शक्ति प्रदान की गई हो या इन प्रदत्त शक्तियों में शक्तियाँ अन्तर्निहित हों अथवा निश्चित उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए ऐसी शक्तियाँ आवश्यक हों। न्यायपालिका इन संस्थाओं को इनके अनिवार्य कार्यों को सम्पन्न करने और अधिकारातीत कार्यों को न करने के लिए बाध्य कर सकती है। कानूनी दृष्टि से ये संस्थाएं व्यक्ति के समान इकाइयां मानी जाती हैं जिन पर या जिनके द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है। समस्त नगरीय संस्थाओं से कार्य करते समय यह विधिक अपेक्षा की जाती है कि वे अपने दायित्वों का निष्पादन करते समय अपने आपको सम्बन्धित अधिनियम द्वारा स्थापित सीमाओं में रखेंगी। यदि ये संस्थाएं विधि द्वारा प्रवर्तित अधिकार क्षेत्र के बाहर जाकर कार्य करेंगी तो उनका वह कार्य गैर–कानूनी होने के कारण अवैधानिक माना जाएगा। इसका अभिप्राय यह है कि नगरीय संस्थाओं द्वारा उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर किए गए किसी भी कार्य को यदि कोई व्यक्ति चुनौती दे तो

न्यायपालिका उसे अवैधानिक घोषित करते हुए रद्द कर सकती है। न्यायपालिका की इसी शक्ति को न्यायिक नियंत्रण की संज्ञा दी जाती है।

न्यायपालिका द्वारा किया जाने वाला यह न्यायिक नियंत्रण भी कई तरह से रखा जा सकता है :

1. न्यायालय अधिनियम, नियमों, उप–नियमों की व्याख्या करते हैं और विधानसम्मत न पाए जाने पर उन्हें अवैध करार दे सकते हैं।
2. यदि ये संस्थाएं अपने निश्चित अधिकारों से अधिक शक्तियों का उपयोग करें तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। यह हस्तक्षेप प्रायः निषेध आज्ञाओं के माध्यम से किया जाता है।
3. न्यायालय इन संस्थाओं के कार्यों के विरुद्ध प्रभावित व्यक्तियों की अपीलों की सुनवाई भी करता है और दोनों पक्षों को सुनने के पश्चात् आदेश पारित करता है।

न्यायिक नियंत्रण की इस विधि या तकनीक के द्वारा न्यायपालिका नगरीय प्रशासन की इन इकाइयों को न केवल उनके अनिवार्य दायित्वों को निष्पादित करने के लिए सचेष्ट करती रहती है अपितु इन संस्थाओं को विधि द्वारा स्थापित सीमाओं में कार्य करने के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार इन संस्थाओं के द्वारा लिए गए किसी भी प्रशासनिक निर्णय से यदि कोई नागरिक प्रभावित होता है तो उस नागरिक के साथ हुए अन्याय के लिए प्रस्तुत वाद की न्यायपालिका विधि सम्मत तरीके से परीक्षा करती है और प्रशासनिक कार्यों द्वारा हुए अन्याय का प्रतिकार करने का आदेश देती है। यद्यपि न्यायपालिका इस तरह का कोई आदेश पारित करते समय अपनी ओर से कोई पहल नहीं करती और प्रभावित व्यक्ति द्वारा वाद प्रस्तुत किए जाने पर ही ऐसा आदेश देती है। न्यायालय इस वाद के लिए सक्षम है कि इन संस्थाओं पर राज्य सरकार द्वारा पारित आदेशों की वैधानिकता की वह जाँच करे। राज्य सरकार नगरपालिकाओं को भंग करने में सक्षम है किन्तु किसी नगरपालिका को अधिक्रमित किए जाने का आदेश कितना न्यायसंगत है इस बात की जाँच न्यायपालिका कर सकती है बशर्ते कि राज्य सरकार के ऐसे किसी आदेश को सम्बन्धित न्यायपालिका में चुनौती दी गई हो।

न्यायपालिका द्वारा जो हस्तक्षेप नगरीय संस्थाओं के काम–काज में किया जाता है वह भिन्न–भिन्न प्रकृति का हो सकता है। हस्तक्षेप की यह प्रकृति प्रस्तुत वाद की विषयवस्तु पर निर्भर करती है। कोई भी व्यक्ति नगरीय संस्थाओं द्वारा किए गए कार्य में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को अपनाए जाने के कारण न्यायिक हस्तक्षेप की प्रार्थना कर सकता है, या नगरीय संस्था द्वारा दिए गए आदेश की वैधानिकता को चुनौती दे सकता है अथवा उसके द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले अनिवार्य कार्य को न कर पाने की स्थिति में उसे किए जाने के लिए परमादेश की प्रार्थना कर सकता है। कोई नागरिक इस बात के लिए भी वाद प्रस्तुत कर सकता है कि नगरीय संस्थाओं के प्राधिकारी प्रवर्तित कानूनों की मन–मर्जी से एक पक्षीय व्याख्या कर रहे हैं। अतः ऐसी स्थिति में कानून की सही व्याख्या के लिए भी वाद प्रस्तुत हो सकता है। इस प्रकार न्यायपालिका द्वारा नगरीय

संस्थाओं के काम–काज में हस्तक्षेप, उन पर नियंत्रण की प्रकृति प्रभावित व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले वाद की विषय वस्तु द्वारा निर्धारित होती है।

न्यायपालिका का यह नियंत्रण भी विधायी नियंत्रण की भांति ही कुछ कम प्रभावी बन पड़ा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नगरीय संस्थाओं द्वारा किए गए गलत काम को यदि चुनौती दी जाए तो न्यायपालिका अपने दायित्वों को भली प्रकार निभाती रही है और अन्याय के प्रतिकार का एक सक्षम उपकरण भी सिद्ध हुई है। किन्तु न्यायिक नियंत्रण की यह तकनीक अपने विलम्बकारी व्यवहार एवं खर्चीली तथा जटिल होने के कारण अनेक सीमाओं से ग्रस्त प्रतीत होती है। भारत जैसे विकासशील देश में न्यायपालिका का हस्तक्षेप आमंत्रित करने के लिए लोगों में उत्सुकता की इसलिए कमी दिखाई देती है क्योंकि एक बार मामला न्यायपालिका में आ जाने के पश्चात् वर्षों तक उसके सुलझने की आशा प्रायः समाप्त हो जाती है। एक के बाद एक, दूसरे न्यायालय में अपील का जो क्रम चलता है तो कई दशक बीत जाते हैं और प्रभावित व्यक्ति न्याय की आशा में कभी–कभी दम भी तोड़ देते हैं। इस कारण न्यायपालिका का यह नियंत्रण नगरीय संस्थाओं पर नियंत्रण की प्रभावी और सशक्त विधि नहीं बन सका है।

3. प्रशासनिक नियंत्रण : नगरीय संस्थाओं पर नियंत्रण के सन्दर्भ में उक्त विवरण में विधायी और न्यायिक नियंत्रण से सम्बन्धित जिन विधियों का विश्लेषण किया गया है वे इन संस्थाओं पर नियंत्रण की प्राथमिक विधियां हैं। समीक्षकों की ऐसी मान्यता है कि ये दोनों ही विधियां मूलतः स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियों और कार्यकलापों की समस्याओं पर नियंत्रण के सम्बन्ध में प्रभावी उपकरण के रूप में अभिकल्पित नहीं की गई है।[14] इसी कारण प्रशासनिक नियंत्रण की यह विधि विशेष रूप से इन संस्थाओं पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करने की दृष्टि से ही विकसित की गई है। प्रशासनिक नियंत्रण की इस विधि की प्रभावशीलता के पक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि प्रशासनिक नियंत्रण के माध्यम से इन संस्थाओं पर सरकार के नियंत्रण की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। अभी भी स्थानीय संस्थाएँ कोई अनुचित या अवैधानिक निर्णय ले लेती हैं तो अपने प्रशासनिक नियंत्रण के उपागम के माध्यम से राज्य सरकार इन संस्थाओं को तुरन्त नियंत्रित करने की स्थिति में होती है। स्थानीय संस्थाओं के गलत निर्णयों को स्थगित करते हुए उनके क्रियान्वयन पर रोक लगाने का आदेश उच्च प्रशासनिक अधिकारी दे सकते हैं।

प्रशासनिक नियंत्रण को दूसरे शब्दों में कार्यपालिका द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण भी कहा जाता है। यह नियंत्रण स्थानीय संस्थाओं पर नियंत्रण की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इन संस्थाओं का प्रजातांत्रिक ढंग से निर्वाचन होता है और ये संस्थाएं वेतनभोगी विशेषज्ञों की सेवाएं और विशिष्ट तकनीकी सलाह प्राप्त करती हैं फिर भी विद्वानों का यह मानना है कि इन्हें अपनी नागरिक सेवाओं की व्यवस्था के लिए स्वतंत्र छोड़ देना बुद्धिमानी नहीं है।[15]

विगत कुछ दशकों में, जब से लोक कल्याणकारी अवधारणा से प्रेरित होकर राज्य सरकार ने विकास की परियोजनाओं के निष्पादन में स्थानीय संस्थाओं का व्यापक स्तर

पर सहयोग लेना आरम्भ किया है, तब से इन संस्थाओं के कार्यकरण और उनकी गतिविधियों पर राज्य सरकार द्वारा किए जाने वाले प्रशासनिक नियंत्रण की आवश्यकता और भी अधिक अनुभव की जाने लगी है। इस प्रकार की विकास योजनाएं जिनका निष्पादन स्थानीय निकायों के माध्यम से किया जाता है, उनमें पर्याप्त धनराशि व्यय की जाती है। इसलिए अब इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियों पर राज्य सरकार के प्रशासनिक विभाग के माध्यम से श्रेष्ठतर प्रशासनिक नियंत्रण किया जाना चाहिए। वस्तुतः इन संस्थाओं में राज्य सरकार के नियंत्रण के माध्यम से, प्रशासनिक कुशलता की वृद्धि की जा सकती है। राज्य सरकार इन संस्थाओं द्वारा निष्पादित की जाने वाली सेवाओं के न्यूनतम प्रशासनिक मानकों का निर्धारण कर सकती है। इसके पश्चात् वह यह सुनिश्चित कर सकती है कि प्रशासनिक कुशलता के हित में निर्धारित उन मानकों की पालना की जाए और ये संस्थाएं नागरिकों को जो सेवाएँ उपलब्ध कराती हैं उनका स्तर उस निर्धारित सीमा से नीचे न गिरने पाए। समीक्षकों की यह मान्यता है कि स्थानीय संस्थाओं के द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा और सफाई इत्यादि ऐसी महत्त्वपूर्ण सेवाओं का निष्पादन किया जाता है जिनकी कुशलता अनिवार्य रूप से बनाए रखना देश के लोकतांत्रिक और लोककल्याणकारी स्वरूप को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। ये ऐसी सेवाएँ है जो नागरिकों और देश के भविष्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु इन सेवाओं का स्तर केवल इसलिए कमजोर नहीं होना चाहिए कि उनका संचालन सरकारी पद सोपान की सबसे निचली प्रशासनिक इकाई के द्वारा किया जा रहा है। राज्य और केन्द्रीय सरकार की अपेक्षा तो इन संस्थाओं से यह रही है कि उनके द्वारा निष्पादित सेवाओं में न केवल एकरूपता बनी रहे अपितु राज्य सरकार निरन्तर उनकी सेवाओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करती रही है। राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं को उनकी सेवाओं के कुशल संचालन के लिए जो आर्थिक अनुदान दिए जाते हैं उसके व्यय के औचित्य पर राज्य सरकार का नियंत्रण बना रहे इस हेतु राज्य सरकार विभिन्न प्रशासनिक उपायों के माध्यम से इन संस्थाओं की गतिविधियों को नियंत्रित करती है। राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं पर किए जाने वाले प्रशासनिक नियंत्रण को आगामी पंक्तियों में, उसके प्रारम्भ से अन्त तक की कार्यविधियों सहित व्यक्त किया जा रहा है।

भारतवर्ष में प्रायः सभी नगरपालिका कानूनों में यह व्यवस्था होती है कि राज्य सरकार किसी भी स्थानीय क्षेत्र को नगरपालिका का स्तर प्रदान कर सकती है, नई पालिका और नियमों का निर्माण कर सकती है, उनकी सीमाओं में परिवर्तन–परिसीमन, परिवर्द्धन कर सकती है और किसी भी ऐसे निकाय को भंग कर सकती है। राज्य सरकार ही ऐसे निकायों की अधिकार सीमाओं का निर्धारण करती है। निगम, पालिका अथवा ऐसे ही नगरीय क्षेत्र को वार्डों में विभक्त करती है, चुनावों की तिथियां घोषित करती है, पार्षदों की कुल संख्या, पदाधिकारियों की संख्याओं का अन्तिम निर्णय करती है। सरकार को यह भी अधिकार होता है कि राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नियमों, कानूनों, उपकानूनों और निर्दिष्ट आज्ञाओं की पालना न कर पाने या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने के कारण

किसी भी निकाय के अध्यक्ष, सदस्य या पदाधिकारी को निलम्बित कर सकती है। यदि कोई निकाय अपनी व्यवस्था ठीक ढंग से नागरिक सेवाओं को सुचारु रख पाने में सफल नहीं रह पाता है तो राज्य सरकार उसे भंग कर नये निर्वाचन की घोषणा कर सकती है या प्रशासक नियुक्त कर सकती है। हर पार्षद नगरपालिका की सम्पत्ति की उस हानि, अपव्यय अथवा अनुचित प्रयोग के लिए स्वयं उत्तरदायी माना जाता है जिसमें उसका हाथ होता है और ऐसी स्थिति में राज्य सरकार पार्षद को कर्तव्य अवहेलना के कारण हटा सकती है।

किसी भी निकाय द्वारा पारित प्रस्ताव या उपविधि को निरस्त या स्थगित करने का अधिकार भी राज्य सरकार प्रयोग में लाती है अर्थात् स्थानीय निकाय कोई भी नियम या उपविधि तभी बना सकती है जब उसे सरकार की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। राज्य सरकार का यह अन्तिम अधिकार है कि ऐसे किसी प्रस्ताव, आदेश या कानून को स्वीकृति दे या न दे। प्रशासनिक नियंत्रण की यह भी एक महत्त्वपूर्ण विधा है कि नगरीय कानून के अन्तर्गत इन निकायों को अपनी सभी भावी योजनाएँ व प्रस्ताव राज्य सरकार की पूर्व स्वीकृति के लिए भी पेश करने होते हैं तभी उन्हें विचारार्थ लिया जाता है और पारित करने के उपरांत भी राज्य सरकार की स्वीकृति लेनी होती है।

राज्य सरकार विभिन्न स्थानीय निकायों के आपसी विवादों का निपटारा भी करती है जो सभी पक्षों के लिए निर्णायक और बाध्यकारी होता है। राज्य सरकार इन संस्थाओं से विभिन्न प्रकार के प्रतिवेदन, करों का वितरण, कार्मिक वर्ग का वार्षिक विवरण, वार्षिक प्रतिवेदन एवं अन्य महत्त्वपूर्ण जानकारियों के विवरण आदि प्राप्त करने के माध्यम से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक नियंत्रण रखती है।

राज्य सरकार अपने अधिकारियों के द्वारा स्थानीय संस्थाओं की नगरीय गतिविधियों, सम्पत्ति और निर्माण कार्यों का निरीक्षण करने में सक्षम है। साधारणतः जिलाधीश को निरीक्षण के व्यापक अधिकार मिले होते हैं।

नगरपालिका के कार्मिक वर्ग के सम्बन्ध में भी राज्य सरकार नियंत्रण का अधिकार रखती है। पालिका अथवा निगम में उच्च पदाधिकारियों सचिव, कमिश्नर या अधिशासी अधिकारियों की नियुक्ति और सेवा शर्तें राज्य सरकार ही तय करती है। कर्मचारियों की संख्या, उनके वेतनमान, सेवा की शर्तें, भविष्य निधि आदि पर भी राज्य सरकार का नियंत्रण रहता है।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त भी नगरीय स्थानीय निकायों पर नियंत्रण के सम्बन्ध में राज्य सरकार को निम्नांकित अधिकार प्राप्त हैं :

1. किसी नगरपालिका द्वारा अधिकृत अचल सम्पत्ति में प्रवेश करना तथा उसका निरीक्षण करना,
2. किसी पालिका के क्षेत्र में उसके नियंत्रण में चल रहे कार्य का निरीक्षण करना,

3. पालिका अथवा उसकी समिति की कार्यवाही के किसी दस्तावेज को मांगना तथा उसका निरीक्षण करना,
4. किसी नक्शे, विवरण, हिसाब अथवा रिपोर्ट का अवलोकन करना,
5. किसी निकाय के किसी काम के विरुद्ध आपत्ति हो तो उस निकाय को उस आपत्ति पर विचार करने का आदेश देना,
6. जनहित के प्रतिकूल कार्य को स्थगित करना,
7. आम जनता के स्वास्थ्य और सुरक्षा के हित में किसी कार्य को करने का आदेश देना,
8. नगर प्रशासन के किसी मामले की जाँच करवाना,
9. संस्था द्वारा कर्तव्य पालना में अवहेलना की जाँच कर उसे पूरा करने की अवधि निश्चित करना,
10. पालिका के किसी निर्णय को निरस्त करना,
11. पालिका के निर्वाचित सदस्यों का निलम्बन,
12. किसी नगर निकाय को भंग कर नए चुनाव करवाना अथवा किसी पालिका को अधिकार देना,
13. किसी भी आपात स्थिति के संदर्भ में यदि जिलाधीश यह अनुभव करते हैं कि यह कार्य तुरन्त निष्पादित किया जाना आम जनता के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए अनिवार्य है तो ऐसे कार्य को स्थानीय निकाय के व्यय पर निष्पादित करने का आदेश जिलाधीश दे सकते हैं।

4. वित्तीय नियंत्रण : स्थानीय निकायों पर राज्य सरकार का वित्तीय नियंत्रण इतना विस्तृत है कि इन निकायों की कार्यक्षमता काफी हद तक इस नियंत्रण की प्रकृति (कठोर या सरल) पर निर्भर करती है। सभी नगरीय संस्थाएँ, राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार ही अपने करों का निर्धारण करती हैं। पालिकाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपना वार्षिक बजट सरकार के समक्ष विचारार्थ रखेंगी, राज्य सरकार उसमें आवश्यक परिवर्तन और काट–छांट कर सकती है। सभी राज्यों में राज्य सरकार नगरपालिका द्वारा ऋण लेने की शर्त पर नियंत्रण रखती हैं। सरकारें यह भी देखती हैं कि ऋणग्रस्त पालिकाएँ समय पर मूल एवं सूद की किश्तें अदा करती रहें।

इन संस्थाओं को अनुदान राशि स्वीकृत करते समय राज्य सरकार कई शर्तें लागू कर देती हैं जो अन्ततः राज्य के नियंत्रण का ही माध्यम प्रमाणित होती हैं। इन संस्थाओं के लेखा परीक्षण के लिए राज्य सरकार स्थानीय निधि लेखा परीक्षकों की नियुक्ति करती है। इन संस्थाओं पर राज्य के नियंत्रण का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपागम है।

यदि राज्य सरकार स्थानीय निकाय द्वारा पारित किसी कर या करों को जन–कल्याण की दृष्टि से आपत्तिजनक अथवा हानिकारक समझे तो वह उस कर या करों की उगाही को स्थगित कर सकती है या वह किसी निकाय को किसी कर को लगाने का आदेश भी दे सकती है।

इन निकायों पर वित्तीय नियन्त्रण के संदर्भ में राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 के अन्तर्गत कतिपय प्रावधान किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. अधिनियम की धारा 91 के अन्तर्गत राज्य सरकार से अपेक्षा की गई है कि वह **'नगरपालिका लेखा निर्देशिका'** के नाम से एक निर्देशिका तैयार करेगी जिसमें नगर निकायों से सम्बन्धित समस्त वित्तीय मामलों और प्रक्रियाओं का विवरण अन्तर्विष्ट होगा। इसी प्रकार धारा 92 में नगर निकायों के मुख्य कार्यपालक अधिकारियों से अपेक्षा की गई है कि वे वित्तीय वर्ष की समाप्ति के तीन मास के भीतर उस नगर निकाय का एक ऐसा वित्तीय विवरण विहित प्रपत्र में तैयार करेंगे, जिसमें पूर्ववर्ती वित्तीय वर्ष के आय–व्यय, प्राप्तियों और संदाय का लेखा होगा। ऐसा विवरण (धारा 93) नगर निकाय की वित्त समिति के समक्ष विचारार्थ रखा जायेगा जो उसे लेखा परीक्षक को प्रेषित करेगी।

अधिनियम की धारा 94 के अनुसार नगर निकायों के लेखा परीक्षण का कार्य लेखा परीक्षकों द्वारा, राजस्थान स्थानीय निधि संपरीक्षा अधिनियम, 1954 के उपबन्धों के अनुसार किया जायेगा। राज्य सरकार के अनुरोध पर भारत का नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक नगर पालिकाओं के लेखाओं के उचित संधारण के लिए तकनीकी मार्गदर्शन उपलब्ध करा सकेगा। लेखा परीक्षकों द्वारा जो रिपोर्ट तैयार की जायेगी, उसे वित्तीय समिति के विचारार्थ प्रेषित किया जायेगा जिस पर वह त्वरित कार्यवाही करेगी और उत्तरदायी व्यक्तियों पर आवश्यक कार्यवाही भी की जायेगी। अधिनियम के प्रावधान (धारा 96) यह अपेक्षा भी करते हैं कि नगर निकायों के मुख्य कार्यपालक अधिकारी निकायों के वित्तीय विवरण और उस पर लेखा परीक्षकों की रिपोर्ट को नगरपालिका द्वारा अंगीकार करने और उस पर की गई कार्यवाही का प्रतिवेदन राज्य सरकार को भेजेंगे। यदि लेखा परीक्षकों की रिपोर्ट में उल्लिखित त्रुटियों या अनियमितताओं को दूर करने के लिए नगर निकाय विहित कालावधि के भीतर कोई कार्यवाही नहीं करते है तो लेखा संपरीक्षक द्वारा ऐसे मामले को राज्य सरकार के ध्यान में लाया जायेगा जिस पर राज्य सरकार का विनिश्चय अन्तिम और बाध्यकारी होगा। राज्य सरकार को अपने ऐसे आदेशों की पालन कराने की शक्ति भी अधिनियम (धारा 97) प्रदान करता है। अधिनियम के अन्तर्गत (धारा 98) राज्य सरकार यदि आवश्यक समझे तो किसी भी नगर निकाय के लेखाओं की विशेष संपरीक्षा भी करा सकती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सभी नगरीय निकायों पर राज्य के नियंत्रण की प्रकृति एक सी नहीं होती। छावनी मंडल पर राज्य सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि ये केन्द्रीय केन्टोनमेन्ट बोर्ड अधिनियम से प्रशासित होते हैं। इनका प्रशासनिक नियंत्रण केन्द्रीय सरकार के रक्षा मंत्रालय द्वारा होता है।

नियंत्रणकारी संस्था

स्थानीय संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण के उपर्युक्त विवरण में अंकित चारों विधियों में प्रायः यह स्पष्ट हो चुका है कि राज्य सरकार जब इन विधियों में से नियंत्रण हेतु किसी एक विधि को अपनाती है तो उससे सम्बन्धित शीर्षस्थ निकाय उस नियंत्रण

विधि को अपनाने के लिए अधिकृत होते हैं। विधायी नियंत्रण के सम्बन्ध में भारतवर्ष में राज्यों की विधानसभाएँ और न्यायिक नियंत्रण के संदर्भ में अधीनस्थ न्यायपालिका से लेकर हमारी एकीकृत न्यायपालिका के सर्वोच्च शिखर पर उच्चतम न्यायालय भी न्यायिक नियंत्रण करने वाली संस्थाओं के रूप में कार्यशील होता है। इसी तरह इन संस्थाओं पर प्रशासनिक नियंत्रण को कार्यान्वित करते समय राज्य की कार्यपालिका और उसके अधीनस्थ कार्यरत समूचा प्रशासन तंत्र, विशेष तौर से वे प्रशासनिक संस्थाएं जो इस हेतु निर्मित की गई हैं, सक्रिय होती हैं।

भारतवर्ष में नगर निगमों पर नियंत्रण का अधिकार प्रायः राज्य सरकार में अन्तर्निहित होता है और सभी राज्यों में मध्यस्तरीय वे प्राधिकारी जो आम तौर पर अन्य नगरीय संस्थाओं को नियंत्रित करते हैं, उनके नियंत्रण से नगर निगम मुक्त होता है। इसी संदर्भ में जिलाधीश और नगरीय शासन का निदेशालय नगर निगमों पर नियंत्रण की उस विधायी शक्ति से प्रायः वंचित होता है जो अन्य नगर निकायों के संदर्भ में उन्हें प्रदान की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि नगर निगमों पर प्रायः राज्य सरकार के स्वायत्त शासन विभाग द्वारा प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया जाता है। नगर निगमों में इस स्थिति का अपवाद एक ही है। केवल दिल्ली नगर निगम एक ऐसा निगम है जिसका सृजन चूँकि केन्द्रीय संसद के अधिनियम द्वारा किया गया है इसलिए उस पर नियंत्रण भी केन्द्र सरकार द्वारा ही किया जाता है।[16]

नगर निगम के अतिरिक्त अन्य सभी नगरीय संस्थाओं पर प्रशासनिक नियंत्रण की विधि का सूत्रपात राज्य सरकार के स्वायत्त शासन विभाग से होता है। यह विभाग इन संस्थाओं के व्यवस्थित कार्य संचालन हेतु आवश्यक नीति बनाता है और राज्य भर में उसके निष्पादन के लिए समय–समय पर आवश्यक दिशा–निर्देश जारी करता है। राज्य सरकार के इस विभाग की प्रभावहीनता के विषय में यह कहा गया है कि इसके अन्तर्गत कोई भी व्यापक क्षेत्रीय इकाइयां नहीं हैं जो समय पर इन संस्थाओं का निरीक्षण तथा मार्गदर्शन कर सकें। **यहीं नहीं विभिन्न राज्यों में राज्य के मुख्यालय पर भी ऐसी किसी विशिष्ट संस्था का अभाव अनुभव किया जाता रहा है जो इन संस्थाओं की तकनीकी विकास परियोजनाओं में सलाह या निर्देश दे सके।**

नियंत्रण का प्रवर्तित परिवेश और स्वरूप

स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएं चूंकि स्वायत्तशासी इकाइयां होती हैं इसलिए चिन्तकों की यह मान्यता दिनों–दिन बलवती होती जा रही है कि स्थानीय संस्थाओं को किस सीमा तक नियंत्रित किया जाना चाहिए और कभी–कभी तो यह प्रश्न भी उभरने लगता है कि इन्हें नियंत्रित भी किया जाना चाहिए या नहीं। किन्तु विचार विमर्श और विश्लेषण के पश्चात् इस संदर्भ में निष्कर्ष यह उभरता है कि अनेक विधिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और सामाजिक बाध्यताएँ हैं जिनके कारण सरकार का यह उत्तरदायित्व बनता है कि वह इन संस्थाओं को नियंत्रित करे। विधिक दृष्टि से सरकार अपने ही द्वारा विनिर्मित अधिनियम के अंतर्गत कर्तव्यबद्ध है कि इन संस्थाओं के व्यवस्थित कामकाज को सुनिश्चित करे। राजनीतिक दृष्टि से भी सरकार यह अनुभव करती है कि स्थानीय

लोकतंत्र में इन संस्थाओं की निरन्तरता बनाई रखी जा सके। दूसरी ओर, इन संस्थाओं के सीमित आकार, सीमित आय के साधनों तथा सीमित मात्रा में उपलब्ध तकनीकी ज्ञान के कारण इन समस्त क्षेत्रों में आवश्यक सहायता उपलब्ध कराना राज्य सरकार अपना लोकतांत्रिक दायित्व समझती है। इसी तरह सरकार यह भी अनुभव करती है कि विगत प्रशासनिक इतिहास में जिन स्वतंत्र परम्पराओं का सूत्रपात कर दिया गया है उन परम्पराओं को समाज, राज्य और राष्ट्र के हित में न केवल बनाए रखा जाना चाहिए अपितु उन्हें विकसित करने हेतु सरकार का सम्बल और समर्थन मिलना चाहिए। समग्र रूप से यह माना जा सकता है कि विभिन्न स्थानीय संस्थाओं की गुणवत्ता के एक न्यूनतम स्तर को बनाए रखने, उनके प्रशासनतंत्र को व्यवस्थित रखने, राष्ट्रीय एवं स्थानीय विकास कार्यक्रमों में सामंजस्य रखने तथा स्थानीय संस्थाओं द्वारा किसी संभावित अतिचार से नागरिकों को बचाने के लिए इन संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण को प्रायः अपरिहार्य माना जाता है।

किन्तु, इस संदर्भ को दृष्टिगत रखते हुए स्थानीय संस्थाओं पर राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार ने जो नियंत्रण किया है उसमें अन्यान्य कारणों से केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति देखने को मिल रही है। स्थानीय संस्थाओं पर नियंत्रण व्यवस्था का बढ़ता हुआ केन्द्रीकरण कुल मिलाकर स्थानीय स्वायत्तता को सीमित करता है।

यह स्थिति लोकतंत्र को भी सीमित और संकुचित करती है। समीक्षकों की यह मान्यता है कि स्थानीय संस्थाओं पर किया जाने वाला राजकीय नियंत्रण, जो सकारात्मक होना चाहिए था, वह नकारात्मक अधिक हो गया है। **परिवर्तित लोकतांत्रिक स्वरूप यह माँग करता है कि उच्चतर संस्था द्वारा इन संस्थाओं के साथ मार्गदर्शक जैसा व्यवहार होना चाहिए। इस संदर्भ में यह माना जाता है कि राज्य सरकार को इन संस्थाओं के प्रति मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक जैसा व्यवहार करना चाहिए।**

नियंत्रण व्यवस्था पर संविधान संशोधन का प्रभाव

74वें संविधान संशोधन के पूर्व भारतवर्ष में नगरीय शासन की संस्थाओं को उनकी कालावधि के पूर्ण होने के पूर्व विघटन करने की राज्य सरकार की शक्तियों का प्रायः सभी राज्यों में गम्भीर दुरुपयोग हुआ था। इस दुरुपयोग के विरुद्ध न्यायालयों ने भी अनेक बार न केवल राज्य सरकारों के निर्णयों को असंवैधानिक घोषित किया अपितु राज्य सरकारों के प्रतिकूल कड़ी टिप्पणियां भी की। राज्य सरकारों के नियंत्रण के अधिकार ने अनियंत्रित झड़पों का रूप धारण कर नियंत्रण की प्रक्रिया को निषेधात्मक मार्ग प्रदान कर दिया।

74वें संविधान संशोधन के पश्चात् राज्य सरकारों के इस अनियंत्रित और अमर्यादित व्यवहार पर एक निर्णायक अंकुश लग गया है। अब राज्य सरकार यदि नगरीय निकायों को उनकी निर्धारित अवधि से पूर्व भंग करेंगी तो, भंग किए जाने की तिथि से छः माह की अवधि में उनका चुनाव कराया जाना आवश्यक हो गया है। यही नहीं, इस प्रकार पुनः चुना गया निकाय अपने मूल कार्यकाल की शेष अवधि के लिए काम करेगा। वस्तुतः इन दोनों प्रावधानों के कारण राज्य सरकारों ने नगरीय निकायों को भंग करने

की पुरानी परिपाटी से अपने आपको प्रायः अलग कर लिया है।

किन्तु जयपुर नगर निगम में संविधान संशोधन के पश्चात् सन् 2000 में हुए द्वितीय निर्वाचन के पश्चात् एक दल विशेष के बहुमत में गठित निकाय को राज्य सरकार ने एक नूतन तरीका अपनाकर नियंत्रित करना आरम्भ कर दिया है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान संशोधन के जरिए नगर निकायों पर राज्य सरकारों के मनमाने नियंत्रण की प्रक्रिया को रोकने के लिए जो उपाय किए गए थे वे निष्फल किए जा रहे हैं। आयुक्त या मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त "अति उत्साही आई. ए. एस. अधिकारी" के माध्यम से निर्वाचित निकाय अर्थात् परिषद् और उसके पदाधिकारी मेयर व उप मेयर के लोकतांत्रिक महत्त्व को चुनौती दी जा रही है। निर्वाचित निकाय/पदाधिकारियों द्वारा की गई किसी शिकायत पर राज्य सरकार कोई कार्यवाही न कर लोकतांत्रिक संस्था की अपेक्षा नौकरशाही का पक्ष पोषण करती प्रतीत हो रही है। समीक्षक ऐसा अनुभव करते हैं कि एक दल की राज्य सरकार, दूसरे दल के निकाय के प्रति नियंत्रण का जो उक्त तरीका अपना रही है उससे 74वें संविधान संशोधन द्वारा दिए गए स्थानीय निकायों के लोकतांत्रिक महत्त्व को अपूरणीय क्षति पहुँच रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इन संस्थाओं पर नियंत्रण करते समय इनके लोकतांत्रिक स्वरूप को कोई क्षति नहीं पहुंचे। इस बात को सुनिश्चित करने की आवश्यकता शासन–प्रशासन के सभी पक्षों को अनुभव करनी चाहिए।

सुधार हेतु सुझाव

यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें और राज्य के नियंत्रण को सार्थक बनाना चाहें तो नियंत्रण की इस व्यवस्था को राज्य सरकार में संस्थागत रूप देना होगा। राज्य सरकार के पास इन संस्थाओं के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के विषय में पूर्णतः चिन्तन होना चाहिए। नगरीय संस्थाओं के प्रति यदि राज्य सरकार की व्यापक नीति है तब ही नियंत्रण व्यवस्था सकारात्मक हो सकती है अन्यथा जैसी अभी परम्परा है, राज्य का नियंत्रण अस्थायी उद्देश्यों के लिए किसी भी प्रकार एवं किसी भी सीमा तक जारी रह सकता है।[17]

नगरीय संस्थाओं के सामान्यतः दो उद्देश्य होते हैं :

1. लोकतंत्र को सामान्य धरातल से विकसित होने में मदद देना, तथा
2. नगरों में रहने वाले नागरिकों के लिए कतिपय नागरिक सेवाओं का निष्पादन करना।

यदि इन दोनों लक्षणों के विषय में आम सहमति है तो यह कहा जा सकता है कि राज्य के नियंत्रण का उद्देश्य इन लक्ष्यों को प्राप्त करना ही तो है। यदि राज्य सरकार इन संस्थाओं के लिए सेवाओं के न्यूनतम स्तर का निर्धारण कर दे तथा एक समयबद्ध योजना इन संस्थाओं के कार्यकरण के लिए निश्चित कर दे तो इन पूर्व निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में यह संस्थाएँ कहाँ तक सफल रह पाई हैं, इस बात की जाँच करने से ही राज्य के नियंत्रण को सकारात्मक दिशा मिल सकेगी।

प्रो. मोहित भट्टाचार्य का यह मत है कि कर निर्धारण से लेकर सभी नागरिक सेवाओं के निष्पादन के अधिकतम कीर्तिमान या लक्ष्य पहले से ही निश्चित कर देने चाहिए और नियंत्रणकारी संस्था को चाहिए कि निश्चित कालावधि में इन संस्थाओं का निश्चित कालान्तर में इस आशय से निरीक्षण किया जाता रहे कि वे अपने लक्ष्यों को पाने में कितनी दूर तक चल पाई हैं। इस व्यवस्था से एक लाभ यह होगा कि राज्य की सभी नगरपालिकाएँ परस्पर प्रतियोगिता के आधार पर लक्ष्यों को शीघ्रता से प्राप्त करने का प्रयास करेंगी और राज्य सरकार को भी यह लाभ होगा कि वर्ष के अन्त में लक्ष्यों की प्राप्ति में सफलता या असफलता का तुलनात्मक मूल्यांकन करके आगामी वर्ष के लिए विगत वर्ष के अनुभव के आलोक में लक्ष्य तय करेगी।

इन सुझावों के अतिरिक्त नियंत्रण व्यवस्था को अधिक सकारात्मक बनाने के लिए प्रायः निम्न सुझाव भी दिए जाते हैं :

1. इन संस्थाओं पर नियंत्रण के क्षेत्र में अधिक कल्पनाशील एवं सृजनात्मक उपाय किए जाने चाहिए।

2. नियंत्रण की व्यवस्था में निकाय के विरुद्ध दंडात्मक कार्यवाही करने के लिए जोर न दिया जाए। सरकार की भूमिका के सम्बन्ध में धारणा बदलनी चाहिए, उसका काम नियंत्रण का न होकर सलाह देना, मार्ग–दर्शन करना एवं सहायता करना होना चाहिए।

3. इन संस्थाओं को अनुदान राशि की बैसाखी के सहारे नहीं चलाया जाना चाहिए। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के साथ–साथ वित्तीय विकेन्द्रीकरण करते हुए इन संस्थाओं को इतने अधिकार दिए जाने चाहिए कि वे अपनी आवश्यकता के अनुरूप साधन जुटा सकें।

4. इन्हें अपने बजट के निर्माण एवं क्रियान्वयन में पर्याप्त स्वतंत्रता होनी चाहिए, इस क्षेत्र में राज्य सरकार का हस्तक्षेप अनुचित है।

5. इन संस्थाओं के मार्गदर्शन के लिए एक आचरण संहिता का निर्माण किया जाना चाहिए जिसका उल्लंघन करने पर ही राज्य सरकार का हस्तक्षेप वांछनीय हो।

6. बढ़ती हुई लोकतांत्रिक आकांक्षाओं के अनुरूप इन संस्थाओं को अधिक अधिकार सम्पन्न बनाया जाना चाहिए।

7. प्रो. मोहित भट्टाचार्य के इस सुझाव को भी कार्यान्वित किया जाना चाहिए कि राज्य सरकार और इन संस्थाओं के मध्य एक ऐसे प्रबन्ध सूचना–तंत्र का विकास किया जाना चाहिए जो इन संस्थाओं की वांछित सूचनाएँ राज्य सरकार को देता रहे ताकि सरकार समय पर इन संस्थाओं के कार्य में सहयोग कर सकें।[18]

तत्वतः इस तथ्य पर कोई विवाद नहीं है कि राज्य सरकार का नियंत्रण होना चाहिए या नहीं, अपितु यह नियंत्रण कैसा, कितना और किस तरह का हो, बदलते जनतांत्रिक परिवेश में इसकी भूमिका अधिक सही रूप में स्वीकार की जानी चाहिए। इस आशय का आग्रह सभी क्षेत्रों से उठ रहा है।

विकासशील देशों के जीवन के लिए प्रजातंत्र से अच्छी पद्धति नहीं हो सकती और प्रजातंत्र स्थानीय शासन बिना अधूरा है क्योंकि सच्चे प्रजातंत्र की नींव ये ही संस्थाएँ हैं। अतः जब तक इन संस्थाओं की प्रशासनिक कार्यक्षमता लोक कल्याणकारी भावना के अनुकूल नहीं बढ़ाई जाएगी तब तक प्रजातंत्र की सफलता के समक्ष प्रश्न चिन्ह् बने रहेंगे? नियंत्रण की व्यवस्था अधिक सकारात्मक, लाभकारी, उद्देश्यमूलक और स्वस्थ तथा लोकतांत्रिक बने, इस दिशा में ईमानदारी से प्रयत्न किए जाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. **राज्य सूची की प्रविष्टि**, संख्या 5.
2. एम. ए. मुतालिब एवं खान, **पूर्वोक्त** पृ. 229.
3. **उपर्युक्त**, पृ. 230.
4. श्रीराम माहेश्वरी, **पूर्वोक्त**, पृ. 287.
5. एस. आर. निगम, **लोकल गवर्नमेंट**, एस. चाँद एण्ड कंपनी, नई दिल्ली, 1987, पृ. 231.
6. आर. एम. जेकसन **मशीनरी ऑव ब्रिटिश लोकल गवर्नमेंट पूर्वोक्त।**
7. मोहित भट्टाचार्य–**म्युनिसिपल गवर्नमेंट प्राब्लम्स एण्ड प्रोस्पैक्ट्स।**
8. ए. अवस्थी–**म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया**, पृ. 32.
9. **करारोपण जाँच आयोग प्रतिवेदन**, पृ. 374 से श्रीराम माहेश्वरी द्वारा उद्धृत।
10. वी. एम. सिन्हा : **पूर्वोक्त**, पृ. 227–230.
11. **उपर्युक्त।**
12. सर विलियम हार्ट "इन्ट्रोडक्शन टू द ला ऑफ लोकल गवर्नमेंट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन "पृ. 227, ए अवस्थी–**म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया।**
13. प्रो. अवस्थी **पूर्वोक्त**।
14. हार्ट, सर विलियम, **इंट्रोडक्शन टू द ला ऑफ लोकल गवर्नमेंट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन**, उद्धृत, मुतालिब एवं खान, पूर्वोक्त, पृ. 249.
15. एल. गोल्डिंग, उद्धृत एस. के. भोगले, **लोकल गवर्नमेंट एण्डमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया**, परिमल प्रकाशन, औरंगाबाद, 1977, पृ. 303.
16. दिल्ली नगर निगम की रचना केन्द्रीय संसद द्वारा पारित दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 द्वारा की गई है।
17. मोहित भट्टाचार्य, **म्युनिसिपल गवर्नमेंट प्रॉब्लम्स एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स, पूर्वोक्त**।
18. **उपर्युक्त।**

16

पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण

भारत में ग्रामीण स्थानीय प्रशासन अर्थात पंचायती राज की संस्थाएं हमारे शासन की त्रिस्तरीय संरचना का निम्नतम और तीसरा सोपान हैं।

विगत अध्याय में स्थानीय संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण के सैद्धांतिक पक्ष एवं उसके उद्देश्यों का तथा उसके औचित्य के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं सहित विश्लेषण किया जा चुका है। **इस संदर्भ में, यहाँ यह व्यक्त करना पर्याप्त है कि ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं के नियंत्रण के संदर्भ में भी विगत अध्याय का यह विवरण समान रूप से उपयोगी है।**

स्थानीय संस्थाओं के **स्वायत्तशासी स्वरूप के पक्षधर लोगों का ऐसा मत है** कि पंचायती राज संस्थाओं या स्थानीय संस्थाओं पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण की राजकीय व्यवस्था इन संस्थाओं के मूल स्वरूप पर कुठाराघात करती है, इसलिए यह अनुचित है। उनका ऐसा मत है कि यदि स्थानीय शासन की संस्थाओं को नियंत्रित किया जाता है तो उनका स्वायत्त स्वरुप नष्ट हो जाएगा और इसलिए उनके स्वायत्तशासी स्वरूप को बनाए रखने के लिए नियंत्रण की किसी भी व्यवस्था का यह वर्ग विरोध करता है। **किन्तु समीक्षकों का एक दूसरा वर्ग** इस मत से पूर्णतः असहमत रहते हुए इसे अमान्य कर देता है। उनकी मान्यता है कि किसी भी प्रकार के निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियंत्रण से स्वशासन सीमित नहीं होता। वस्तुतः स्थानीय स्वशासन की रचना चूंकि राज्य के किसी अधिनियम से की जाती है इसलिए इन संस्थाओं पर पर्यवेक्षण और नियन्त्रण का अधिकार राज्य सरकार को स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। इस वर्ग की यह मान्यता है कि पंचायती राज की संस्थाएं जनता द्वारा निर्वाचित संस्थाएं हैं इसलिए यह परमावश्यक है कि इन संस्थाओं के कार्यकरण पर उच्चतर लोकतांत्रिक व्यवस्था का पर्यवेक्षण और नियंत्रण अनवरत रूप से बना रहे। इस वर्ग का यह मानना भी है कि चूंकि ये संस्थाएं अधिकतर राजकीय अनुदान पर निर्भर करती हैं और स्वयं जो कर लगाती हैं उनसे उन्हें कम आमदनी होती है ऐसी स्थिति में इन संस्थाओं को, अनुदान प्रदान करने वाले उच्चतर

निकाय से, आवश्यक रूप से नियंत्रित होना पड़ेगा। **कुल मिलाकर इन संस्थाओं के स्वतंत्र प्रशासनिक अभिकरणों के रूप में विकसित होने, राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सशक्त माध्यम बनने, जनता में राजनीतिक चेतना सृजित करने के उत्तम अभिकरण सिद्ध होने और राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों तथा कार्यक्रमों को प्रभावी तरीके से कार्यान्वित करने के सटीक प्रशासनिक यंत्र के रूप में विकसित होने के लिए, इन संस्थाओं पर, ऐसी उच्चतर संस्था का नियंत्रण आवश्यक है जो स्वयं भी लोकतांत्रिक तरीके से निर्वाचित हो।**

पंचायती राज संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण के औचित्य को यदि राजस्थान राज्य के संदर्भ में देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि राजस्थान चूंकि एक ऐसा राज्य है जिसने अपनी पंचायती राज की इकाइयों को बहुत सी सहायता और शक्तियाँ हस्तान्तरित कर दी हैं, इसलिए राज्य सरकार पर यह दायित्व आ जाता है कि वह उनके कार्यों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण करेगी। नियंत्रण की आवश्यकता, दो चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों के कारण और भी अधिक प्रखर हो जाती है। **प्रथम** तो यह कि लोकतंत्र की इन प्राथमिक इकाइयों को लोकतांत्रिक दृष्टि से जो शक्तियाँ प्रदान कर दी गई हैं उनको निभाने का दायित्व ऐसे प्रतिनिधियों को मिला है जो न केवल नए हैं अपितु स्थानीय हित समूहों के एक ऐसे परिवेश में काम करते हैं जहाँ उनके निर्णय लेने की शक्ति अनेक सीमाओं से प्रतिबंधित हुई रहती है। **द्वितीयतः** इसलिए कि इन संस्थाओं को अनेक कार्यों का प्रत्यायोजन किया गया है। राज्य के विभिन्न विकास विभागों द्वारा विकास के अनेक कार्यक्रम सीधे पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से कार्यान्वित कराए जाने लगे हैं। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि नूतन रूप से विकसित ग्रामीण क्षेत्र के नेतृत्व में, विकास के जिन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दायित्व दिया जाता है उन पर सरकार का उचित पर्यवेक्षण और नियंत्रण इसलिए आवश्यक है कि न केवल आवश्यक होने पर उनका मार्गदर्शन किया जा सके अपितु उनके स्तर पर उत्पन्न होने वाली किसी प्रकार की स्वेच्छाचारिता को भी लोकतांत्रिक तरीके से मर्यादित रखा जा सके।

भारत में, ग्रामीण स्थानीय संस्थाएँ, जो आमतौर पर **पंचायती राज संस्थाओं** के नाम से जानी जाती हैं, राज्य सरकारों के द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। राज्यों में इन संस्थाओं पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण की व्यवस्था में एकरूपता का अभाव पाया जाता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी, सम्पूर्ण देश में इन संस्थाओं पर राजकीय नियंत्रण के कुछ सामान्य लक्षण निम्नांकित चार तत्त्वों के रूप में बताये जाते हैं :[1]

1. नियंत्रण का आधार : देश के समस्त राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं पर नियन्त्रण का आधार वह अधिनियम होता है जिसके माध्यम से इन संस्थाओं की रचना की जाती है। उदाहरणार्थ प्रारम्भ में यह नियन्त्रण राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 तथा राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम, 1959 के माध्यम से निर्धारित होता था और अब यह नियन्त्रण 1994 के राजस्थान पंचायत राज अधिनियम द्वारा निर्धारित होता है। अधिनियम के अन्तर्गत राज्य को नियंत्रण की उन्हीं शक्तियों के अनुरूप कार्य करना होता है जो अधिनियम द्वारा उन्हें प्रदान की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अधिनियम

के अन्तर्गत जो नियम राज्य सरकार द्वारा बनाए जाते हैं वे भी राज्य सरकार को इन संस्थाओं पर नियंत्रण का आधार प्रस्तुत करते हैं।

2. नियंत्रण की प्रकृति और दायित्व : सम्बन्धित अधिनियमों के अनुसार इन संस्थाओं पर नियंत्रण का यह दायित्व सरकार के विभिन्न कार्यकारी विभागों पर होता है। पंचायती राज संस्थाओं का कार्य और कार्यक्षेत्र इतना सीमित होता है कि इन संस्थाओं के अन्तर्गत आंतरिक नियंत्रण की कोई व्यवस्था प्रायः विकसित नहीं हो पाई है। यही कारण है कि इन संस्थाओं के बाहर की संस्थाएँ ही इन पर नियंत्रण के लिए सम्बन्धित अधिनियम और नियमों के अनुसार अधिकृत की जाती हैं या राज्य सरकार का पंचायती राज विभाग, पंचायती राज के निदेशक और जिलाधीश इन संस्थाओं पर नियंत्रण की प्रकृति को निश्चित करते हैं। इसके अतिरिक्त पंचायत राज संस्थाओं को जिन विकास कार्यों के साथ संबद्ध किया जाता है, ऐसी विकास परियोजनाओं को प्रसारित करने वाले सरकारी विभाग भी उन पर कार्यक्रमों के पर्यवेक्षण की सीमा तक नियंत्रण करते हैं। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि सबसे निम्न स्तरीय इकाई ग्राम पंचायत पर पंचायत समिति और पंचायत समिति पर जिला परिषद् पर्यवेक्षण का दायित्व निभाती है।

नियंत्रण के दायित्वों के संदर्भ में व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की भूमिका भी प्रासंगिक बनती है। यद्यपि पंचायती राज संस्थाओं पर इन दोनों निकायों का नियंत्रण सीमित प्रकृति का होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विधान मंडल पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित विधान पारित कर उन्हें वैधानिक आधार प्रदान करते हैं वहीं न्यायपालिका भी उस अधिनियम के प्रावधानों सहित देश में प्रवर्तित आवश्यक वैधानिक प्रावधानों की एक वांछनीय सीमा तक पालना सुनिश्चित करती है। व्यवस्थापिका तो इन संस्थाओं पर अपने नियंत्रणों को तब और अधिक प्रभावी बना सकती है जब पंचायती राज विभाग के कार्यकलापों पर बजट प्रस्तावों के दौरान और प्रश्नकाल इत्यादि के माध्यम से बहस का अवसर उसे प्राप्त होता है। जहाँ तक पंचायत राज संस्थाओं का सम्बन्ध है उनके वार्षिक प्रतिवेदन इत्यादि यदि विधायिका के समक्ष रखे भी जाते हैं तो वह मात्र एक औपचारिकता होती है। इस प्रकार, पंचायती राज संस्थाओं पर इन दोनों संस्थाओं का नियंत्रण सम्बन्धी दायित्व एक सीमित मात्रा में ही सफल हुआ है।[2]

3. नियंत्रण के स्तर : पंचायती राज संस्थाओं पर देश के प्रायः सभी राज्यों में जिन संस्थाओं के द्वारा नियंत्रण किया जाता है वह लम्बवत् और समतल दोनों प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ ग्राम पंचायत पर पंचायत समिति का तथा पंचायत समिति पर जिला परिषद् का तथा इन तीनों संस्थाओं पर राज्य सरकार का नियंत्रण लम्बवत् नियंत्रण की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसी प्रकार जिला स्तरीय इकाई जिला परिषद् पर जिला प्रशासन के नियन्ता जिलाधीश का नियंत्रण समतल नियंत्रण की श्रेणी में आता है। इस तरह पंचायती राज संस्थाओं पर विभिन्न इकाइयों के माध्यम से जो नियन्त्रण किया जाता है, उसके तीन स्तर– राज्य, क्षेत्रीय तथा स्थानीय – हो सकते हैं। यद्यपि आमतौर पर यह नियंत्रण जिला परिषद् के माध्यम से क्षेत्रीय रूप में और राज्य सरकार के माध्यम से राज्यस्तरीय अधिक होता है। स्थानीय स्तर के नियंत्रण के रूप में ग्रामसभा द्वारा ग्राम

पंचायत के कार्यकलापों पर किए जाने वाले नियंत्रण को हम स्थानीय नियंत्रण की परिधि में सम्मिलित कर सकते हैं।

4. नियंत्रण के प्रकार : जहाँ तक पंचायती संस्थाओं पर नियंत्रण के विविध प्रकारों का सम्बन्ध है वह मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है :[3] (इसे अगले पृष्ठ पर दिए गए चार्ट में दर्शाया गया है) :

(अ) संस्थागत नियंत्रण,
(ब) प्रशासनिक नियंत्रण,
(स) तकनीकी नियंत्रण; तथा
(द) वित्तीय नियंत्रण।

ग्रामीण स्थानीय निकायों पर नियंत्रण के इन चारों रूपों का अध्ययन की दृष्टि से, व्यवस्थित और विस्तृत विवरण देना यहाँ प्रासंगिक है :

(अ) संस्थागत नियंत्रण

संस्थागत नियंत्रण से अभिप्राय उस नियंत्रण से है जो सरकार और उसके द्वारा अधिकृत संस्थाओं अथवा इकाइयों द्वारा किया जाता है। स्थानीय संस्थाओं के नाम, उनके क्षेत्र, सीमाओं, स्वायत्तता, क्षेत्राधिकार, संगठन और संरचना तथा उनके चुनाव इत्यादि के विषय में प्रावधान आमतौर पर राज्य सरकार द्वारा किया जाता है और समय–समय पर इन समस्त स्थितियों में उसी के द्वारा आवश्यक परिवर्तन भी किया जाता है। राज्य सरकार के, इन संस्थाओं के विषय में, इसी अधिकार को संस्थागत नियंत्रण कहा जाता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि पंचायती राज संस्थाएँ अपने आप अस्तित्व में नहीं आती अपितु राज्य सरकार के निर्णय के अनुरूप राज्य की विधानसभा द्वारा इनके संगठनात्मक स्वरूप, क्षेत्राधिकार, कार्यक्षेत्र इत्यादि निश्चित किए जाते हैं। राज्य के विधान मंडल के अधिनियम और उसके अधीन विधि के माध्यम से जब इस प्रकार के प्रावधान किए जाते हैं तो इन प्रावधानों के परिवर्तन के पश्चात् यह भी सुनिश्चित करते हैं कि आने वाले वर्षों में उन प्रावधानों का उसी रूप में निरन्तर कार्यान्वयन भी होता रहे। राज्य की व्यवस्थापिका को इन संस्थाओं के संदर्भ में अपने ही द्वारा पारित पूर्व प्रावधानों में किसी भी समय संशोधन करने का अधिकार रहता है।

राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं पर जो संस्थागत नियंत्रण किया जाता है, वह आमतौर पर इन संस्थाओं के निम्न पक्षों के विषय में होता है :[4]

1. इन संस्थाओं का क्षेत्र और क्षेत्राधिकार,
2. शक्ति, संरचना और चुनाव का तरीका,
3. कार्यों की प्रकृति,
4. पंचायती राज कर्मचारियों की संख्या, वेतन और सेवा शर्तें;
5. अन्तर–संस्थागत विवाद और उनका समाधान;
6. पंचायती राज संस्थाओं के अभिलेखों, कागजों और सम्पत्ति सम्बन्धी नियंत्रण।

चार्ट - 16.1

पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य का नियन्त्रण

- संस्थागत
  - क्षेत्र व क्षेत्राधिकार का निर्धारण
  - शक्ति, संरचना व चुनाव के तरीके का निर्धारण
  - कार्यों की प्रकृति का निर्धारण
  - कार्मिक प्रशासन पर नियन्त्रण
  - अन्तर–संस्थागत विवादों का समाधान
  - अभिलेखों व सम्पत्ति पर नियन्त्रण
- प्रशासनिक
  - निरीक्षण व जाँच
  - निर्देशों का प्रसारण
  - कर्तव्यों के निर्वाह में विफल रहने पर नियन्त्रण
  - अविश्वास प्रस्तावों का कार्यान्वयन
  - पदाधिकारियों और सदस्यों को पद मुक्त करना
  - पारित प्रस्तावों का स्थगन या निरस्तीकरण
  - संस्थाओं को निलम्बित एवं भंग करना
- तकनीकी
  - तकनीकी अनुमोदन
  - निरीक्षण व दौरे
  - सामयिक बैठकें
  - प्रतिवेदन निरीक्षण
  - तकनीकी कार्मिकों के वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन का निरीक्षण
- वित्तीय
  - आय का नियमन
  - बैंकिंग व्यवस्था का नियमन
  - बजट के सिद्धान्तों का नियमन
  - लेखा संधारण
  - अंकेक्षण

(i) पंचायती राज संस्थाओं के क्षेत्र व क्षेत्राधिकार का निर्धारण

पंचायती राज संस्थाएँ चूंकि हमारी प्रशासकीय संरचना की इकाइयां हैं, जो स्वतः विकसित नहीं होतीं अपितु उनकी रचना के मूल में राज्य के विधान मंडल का कोई अधिनियम उत्तरदायी होता है। यही अधिनियम इनके भौगोलिक या सीमा सम्बन्धी क्षेत्राधिकार का निर्धारण करता है। अधिनियम में यह व्यवस्था होती है कि इन संस्थाओं की सीमा में कोई भी परिवर्तन राज्य सरकार या उसके द्वारा अधिकृत इकाई अपनी ओर से कर सकती है। भारत के प्रायः सभी राज्यों में इसी तरह की स्थिति पाई जाती है। राजस्थान पंचायत राज अधिनियम, 1994 राज्य सरकार को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह इन संस्थाओं की संख्या घटा–बढ़ा सकती है और जब चाहे इनकी भौगोलिक सीमा में परिवर्तन का निर्णय ले सकती है।

(ii) शक्ति, संरचना व चुनाव के तरीकों का निर्धारण

इसी प्रकार पंचायती राज संस्थाओं के विभिन्न स्तरों पर गठित होने वाली इकाइयों की शक्तियों, संगठन और चुनाव की विधियों का निर्धारण भी उसी अधिनियम के माध्यम से किया जाता है जिसके द्वारा इन संस्थाओं की रचना की जाती है। सभी अधिनियम यह प्रावधान करते हैं कि किस संस्था के कितने सदस्य जनता द्वारा चुने जाएँगे, सदस्यों के चुनाव की विधि क्या होगी, कार्यकाल क्या होगा, आरक्षण कितना होगा, इत्यादि सभी बिन्दु अधिनियम द्वारा ही निर्धारित किए जाते हैं।

(iii) कार्यों की प्रकृति का निर्धारण

जहाँ तक पंचायती राज संस्थाओं द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में यह अनुभव किया गया है कि पंचायती राज की संस्थाओं के द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों का निर्धारण प्रायः सम्बन्धित अधिनियम के माध्यम से राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। अब तो 73वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़कर पंचायत राज संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों का उल्लेख संविधान में ही कर दिया गया है। इस संशोधन के अनुसरण में राजस्थान सरकार द्वारा 1994 में प्रवर्तित राजस्थान पंचायत राज अधिनियम में भी इन संस्थाओं के कार्यों का संकेत उक्त अनुसूची के माध्यम से किया गया है। वस्तुतः जो कार्य अधिनियम के माध्यम से राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं को दिए जाते हैं उनके निर्धारण अथवा स्वीकृति में पंचायती राज संस्थाओं की कोई भूमिका नहीं होती। इन संस्थाओं की स्थिति तो यह होती है कि वह राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त कार्यों को स्वीकार करने से मना भी नहीं कर पाती हैं। जब से इन संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है तब से ही राज्य सरकार इन संस्थाओं को कुछ ऐसी परियोजनाएं भी स्थानान्तरित करने लगी है जिन्हें ग्रामीण विकास के प्रयोजन से या तो केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित किया जाता है या राज्य सरकार अपने स्तर पर उनका निर्माण करती है। ऐसी परियोजनाओं की संख्या और प्रकृति राज्य और केन्द्र में सरकारों के परिवर्तन से बदलती रहती है तथापि यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ी है और इसके बढ़ते रहने की संभावना भी दिखाई देती है।

(iv) कार्मिक प्रशासन पर नियंत्रण : पंचायती राज के कार्मिकों पर नियंत्रण के संदर्भ में प्रायः सभी राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों में आवश्यक प्रावधान सम्मिलित किए जाते हैं। इन प्रावधानों के माध्यम से इन संस्थाओं में कर्मचारियों की संख्या, स्तर और सेवा शर्तों का निर्धारण किया जाता है। इस संदर्भ में राज्य सरकार का सर्वाधिक नियंत्रण तो इस बात से परिलक्षित होता है कि पंचायती राज संस्थाओं में कितने कर्मचारी किस स्तर के होंगे, इसकी स्वीकृति राज्य सरकार के द्वारा ही दी जाती है। जिन कर्मचारियों की नियुक्ति पंचायती राज संस्थाओं द्वारा करने की छूट दी जाती है उनके विषय में भी अधिनियमों में प्रायः यह प्रावधान किया जाता है कि उनकी नियुक्तियां तथा सेवा शर्तों का निर्धारण राज्य सरकार करेगी। जो कर्मचारी इन संस्थाओं में प्रतिनियुक्ति पर लिए जाते हैं उनकी प्रतिनियुक्ति की शर्तें भी इन संस्थाओं से बिना विचार–विमर्श किए राज्य सरकार के द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। प्रतिनियुक्ति पर जो कर्मचारी इन संस्थाओं में आते हैं उनकी सेवाओं के विषय में भी पंचायती राज संस्थाओं को प्रायः सन्तोष नहीं होता है। प्रतिनियुक्ति पर आने वाले कर्मचारी न तो पंचायती राज संस्थाओं के साथ कोई लगाव अनुभव कर पाते हैं और न ही ये संस्थाएं उस कर्मचारी को अपना मान पाती हैं। ऐसी मानसिक स्थिति में प्रतिनियुक्ति पर कार्य करने वाले ये कर्मचारी कभी–कभी तो ऐसा भी मानते हैं कि प्रतिनियुक्ति की उनकी अवधि एक प्रकार से अनुशासनिक कार्यवाही की अवधि है और जैसे ही उन्हें कोई उपयुक्त अवसर मिलता है वे इन संस्थाओं को छोड़ जाते हैं। पंचायती राज संस्थाओं में, यहाँ तक कि उसके परम्परागत पदों पर नियुक्ति इत्यादि के विषय में राज्य सरकार प्रायः एक तरफा निर्णय लेती हैं चाहे राज्य सरकार के उस निर्णय से उन संस्थाओं की कार्यकुशलता ही प्रभावित क्यों न हुई हो?

पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारियों पर राज्य सरकार का यह नियंत्रण इन संस्थाओं की कार्यकुशलता और गरिमा के विरुद्ध तो है ही अपितु इससे यह भी प्रमाणित होता है कि राज्य सरकार ने इन संस्थाओं के स्वतंत्र विकास के लिए किसी तरह की सुव्यवस्थित कार्मिक नीतियों के विकास को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया है। इससे यह स्थिति स्पष्ट है कि पंचायती राज संस्थाओं में कार्मिक वर्ग की उचित व्यवस्था के लिए न तो राज्य सरकार चिन्तित है और न ही पंचायती राज की संस्थाओं को इस स्थिति की ओर कोई चिन्ता है। यहाँ यह व्यक्त करना भी आवश्यक है कि राज्य सरकार की इन संस्थाओं को नई–नई परियोजनाएं कार्यान्वित करने के लिए दे दी जाती हैं किन्तु इन परियोजनाओं के कार्यान्वयन हेतु जितना कार्मिक वर्ग उन्हें उपलब्ध कराया जाना चाहिए उसका एक हिस्सा भी उपलब्ध नहीं कराया जाता। स्थिति यह है कि एक लोक कल्याणकारी सरकार, गरीबों के हित में अपनाई जाने वाली और निर्मित की जाने वाली नीतियों तथा कार्यक्रमों को पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से कार्यान्वित तो करना चाहती है किन्तु उनके प्रभावी निष्पादन को सुनिश्चित करने के लिए वह सकारात्मक दिशा में सोचना भी नहीं चाहती।

इन संस्थाओं में कर्मचारियों के सेवा–संदर्भ में पंचायती राज संस्थाओं के पदाधिकारियों और अधिकारियों के द्वारा जो नीतियां अपनाई जाती हैं वे तो और भी

अशक्त प्रतीत होती हैं। वैसे तो इन संस्थाओं में कार्यरत कर्मचारियों के लिए, राज्य सरकार के समान स्तरीय पदों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए प्रवर्तित सेवानियमों को ही प्रभावी माना जाता है। किन्तु इन संस्थाओं में राजनीतिक आपाधापी और अधिकारियों के मनमानेपन की स्थिति यह है कि जब चाहे किसी कर्मचारी पर नाराज होकर उसे निलम्बित कर दिया जाता है और वर्षों तक उसे कोई आरोप–पत्र नहीं दिया जाता। निर्वाचित पदाधिकारियों का इतना आतंक रहता है कि सम्बन्धित कर्मचारी वर्षों तक अन्याय के विरुद्ध कोई लड़ाई भी शुरु नहीं कर पाते हैं। इन संस्थाओं के कर्मचारियों को नियमानुसार जो लाभ देय होना चाहिए उन लाभों को भी ये संस्थाएं कर्मचारियों को समय पर उपलब्ध नहीं करा पातीं। इस संदर्भ में सबसे विचित्र बात यह है कि इन संस्थाओं के कर्मचारियों की बीमारी इत्यादि पर व्यय की गई राशि का पुनर्भुगतान भी वर्षों तक लम्बित पड़ा रहता है। राज्य सरकार से जो अनुदान इत्यादि मिलता है वह वेतन एवं अन्य स्थापना व्यय के लिए स्वीकृत होता है। इस मध्य, बढ़ी हुई मंहगाई के निमित्त भत्तों और इसी प्रकार के अन्य परिलाभों के लिए राशि का प्रबन्ध इन संस्थाओं को अपने स्थानीय कोष से करना होता है। इन संस्थाओं की आर्थिक स्थिति ऐसी होती है कि उनका स्वयं का आर्थिक कोष प्रायः निर्बल होने से कर्मचारियों के उचित हितों का अथवा उन्हें देय लाभों का समय पर निस्तारण नहीं हो पाता। इससे कर्मचारियों का न केवल मनोबल टूटता है अपितु सामान्य तौर पर इन संस्थाओं के प्रति वे एक नकारात्मक वातावरण भी समाज में उत्पन्न करते हैं।

(v) अन्तर-संस्थागत विवादों का समाधान : संस्थागत नियंत्रण के अपने दायित्व के अन्तर्गत राज्य सरकार प्रायः सभी राज्यों में पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं के मध्य उत्पन्न आन्तरिक मतभेदों और विवादों को सुलझाने का काम भी करती हैं। अधिकांश राज्यों के अधिनियमों में राज्य सरकार को इन संस्थाओं के आपसी विवादों के लिए अंतिम निर्णायक मध्यस्थ के रूप में अधिकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त अधिनियम में यह व्यवस्था भी की गई है कि पंचायती राज की प्रत्येक उच्च इकाई अपनी अधीनस्थ इकाई के कार्यों की समीक्षा और समन्वय कर सकती है। इस प्रक्रिया से ये इकाइयां अधीनस्थ संस्थाओं में व्याप्त विवादों का समाधान भी कर सकती हैं।

(vi) अभिलेखों व सम्पत्ति सम्बन्धी नियंत्रण : भारत के उन सभी राज्यों में, जिनमें पंचायती राज को अपनाया गया है, प्रायः अधिनियम यह प्रावधान करते हैं कि राज्य सरकार पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं के कागज पत्र, अभिलेख और सम्पत्तियों का स्वयं या अपने प्राधिकारियों के माध्यम से अवलोकन कर सकती हैं और आवश्यकता होने पर अभिलेख अपने यहाँ मंगवा सकती है। राज्य सरकार के पंचायती राज विभाग और पंचायत निदेशालय के उच्च पदाधिकारियों को यह अधिकार होता है कि पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं के कुशल कार्यकरण को सुनिश्चित करने की दृष्टि से वे उन संस्थाओं के काम–काज को निर्देशित कर सकते हैं, आवश्यकता पड़ने पर किसी प्रकार का निर्णय लेने अथवा न लेने का निर्देश दे सकते हैं और किसी भी प्रकार की पत्रावली अपने यहाँ मंगवा सकते हैं। राज्य सरकार और निदेशालय के प्राधिकारी इन संस्थाओं का नियमित

पर्यवेक्षण और निरीक्षण भी करते हैं। राज्य सरकार द्वारा इस हेतु कुछ निश्चित प्रपत्र जारी किए गए हैं जिनमें विभिन्न सूचनाओं की पूर्ति करते हुए ऐसा निरीक्षण प्रतिवेदन प्राधिकृत अधिकारियों द्वारा राज्य सरकार को प्रस्तुत करना होता है। राज्य सरकार के ये विभाग, जो ग्रामीण विकास से सम्बन्धित कार्य करते हैं, तथा वे विभाग जो कुछ परियोजनाएं कार्यान्वयन हेतु इन संस्थाओं को देते है, भी पंचायती राज संस्थाओं से किसी भी प्रकार की सूचनाएं मंगवाने के लिए निर्देश भेज सकते हैं।

पंचायती राज की संस्थाओं पर जो संस्थागत नियंत्रण राज्य सरकार द्वारा किया जाता है उसमें एक तथ्य यह भी परिलक्षित होता है कि इस नियंत्रण की प्रकृति विकासात्मक होने की अपेक्षा नियामकीय अधिक रही है। इसलिए चिन्तकों द्वारा यह सवाल उठाया जाता रहा है कि इन संस्थाओं पर जो संस्थागत नियंत्रण अब तक किया जाता रहा है वह हमारे विकास के लिए समर्पित प्रजातांत्रिक परिवेश में कहाँ तक संगत है और यदि वह संगत नहीं तो इस पर पुनर्विचार का आग्रह किया गया है।[5]

(ब) प्रशासनिक नियंत्रण

पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण में संस्थाओं की "नीति" और "प्रशासन" दोनों पर नियंत्रण सम्मिलित है।[6] इस प्रकार के नीतिगत और प्रशासन सम्बन्धी नियंत्रण का उद्देश्य इन संस्थाओं को उस ढांचे में कार्यशील रखना होता है जिन उद्देश्यों के लिए इन संस्थाओं की स्थापना की जाती है। यदि पंचायती राज की संस्थाएँ राज्य सरकार द्वारा घोषित प्राथमिक लक्ष्यों और उद्देश्यों के विरुद्ध आचरण करती हैं तो राज्य सरकार उन संस्थाओं के विरुद्ध आवश्यक अनुशासनिक कार्यवाही कर सकती है। इस नियंत्रण का उद्देश्य यह भी होता है कि इन संस्थाओं में जो निर्वाचित पदाधिकारी हैं उनकी शक्तियों पर राज्य सरकार द्वारा एक लोकतांत्रिक मर्यादा रखी जा सके। राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं पर निम्न उपागमों विधियों के माध्यम से यह प्रशासनिक नियंत्रण, कार्य रूप में किया जाता है:

(i) निरीक्षण एवं जाँच : प्रायः सभी राज्यों में राज्य सरकार पंचायती राज संस्थाओं के काम–काज पर नियंत्रण रखने के लिए उनका सामान्य या आकस्मिक निरीक्षण करते हुए जाँच कर सकती है। यह एक ऐसा तरीका है जिसके माध्यम से इन संस्थाओं पर संस्थागत, प्रशासनिक, तकनीकी और वित्तीय सभी प्रकृति का नियंत्रण संभव हो जाता है। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक अधीनस्थ पंचायत राज संस्था पर उसकी उच्चस्तरीय इकाई में कार्यरत प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा निरीक्षण और जाँच के माध्यम से नियंत्रण रखा जा सकता है। इस प्रकार निरीक्षण करने वाले ये प्रशासनिक अधिकारी सभी दृष्टियों से यह जाँच करते हैं कि अधीनस्थ इकाई उन उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में निरन्तर कार्य कर रही है या नहीं जिनको प्राप्त करने की अपेक्षा उससे की जाती है। वे अपने निरीक्षण के दौरान इस बात पर ध्यान रखते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित विधान मंडल द्वारा पारित अधिनियमों में जिन कार्यों को करने का निर्देश इन संस्थाओं को दिया जाता है उन कार्यों को ये संस्थाएँ निष्ठा से कर रही हैं

या नहीं कर रही हैं? ऐसे निरीक्षण के दौरान ये पदाधिकारी अधीनस्थ संस्था के अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा किए जा रहे कार्यों के विवरण, उनके द्वारा किए जा रहे दौरों के प्रतिवेदन, उनके द्वारा व्यय की जा रही लागत, उनके द्वारा दिए जा रहे आदेश और निर्देशों तथा उनके नियंत्रण में काम कर रहे कर्मचारियों के अभाव अभियोगों इत्यादि का अवलोकन करते हैं और उनके सम्बन्ध में जो भी आवश्यक हो वह निर्देश उन संस्थाओं को देते हैं। यह निरीक्षण आमतौर पर दो प्रकार का होता है, नियमित और आकस्मिक। नियमित निरीक्षण प्रायः उन अधिकारियों के द्वारा किया जाता है, जो इस हेतु अधिकृत होते हैं। ऐसा करते समय वे निर्धारित प्रक्रिया प्रपत्रों और विधियों को ही माध्यम बनाते हैं किन्तु आकस्मिक निरीक्षण सम्बन्धित पदाधिकारी कभी भी, जब वे ऐसा करना आवश्यक समझें, कर सकते हैं। दोनों निरीक्षणों में अन्तर यह है कि आकस्मिक निरीक्षण करते समय पदाधिकारियों का ध्यान इस तथ्य पर रहता है कि सामान्य काम–काज साधारणतः ठीक तरह से चल रहा है या नहीं किन्तु जब नियमित निरीक्षण किया जाता है तो निरीक्षण किए जाने वाले संस्थाओं के कामकाज की समस्त दृष्टिकोण से व्यापक जाँच की जाती है। यह जाँच सूक्ष्म तथा नियमों के अनुसार की जाती है तथा छोटी से छोटी बात और तथ्यों को ध्यान से देखा व समझा जाता है। दोनों ही प्रकार के निरीक्षणों का प्रतिवेदन अधिकारियों के द्वारा स्थानीय संस्थाओं को भेजना होता है जिसमें यह अंकित किया जाता है कि उनके निरीक्षण के दौरान उन संस्थाओं के कामकाज के विषय में अधिकारियों ने क्या महसूस किया है और क्या कमियां पाई गई हैं?

यद्यपि, नियंत्रण करने वाले पदाधिकारियों के विषय में सामान्य तौर पर यह अनुभव किया गया है कि वे, उनके लिए निर्धारित संख्या में न्यूनतम निरीक्षणों को भी प्रायः नहीं कर पाते हैं। अब राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 की धारा 100 के अन्तर्गत, राज्य सरकार या उसके द्वारा प्राधिकृत अधिकारियों को विभिन्न स्तरों की पंचायत राज संस्थाओं के निरीक्षण का अधिकार दिया गया है। पंचायती राज के अपनाए जाने के आरम्भिक वर्षों में राजस्थान में जिला विकास अधिकारी और उप जिला विकास अधिकारियों ने अपने निरीक्षण और जाँच के इस अधिकार का बहुत उत्साहपूर्वक निर्वाह करते हुए इन संस्थाओं के पदाधिकारियों में भी कार्यकुशलता और उत्साह संचरित किया था।[7] किन्तु निरीक्षण के संदर्भ में यह उत्साह आगामी वर्षों में बना नहीं रह सका है। यदि पंचायती राज संस्थाओं के कामकाज को नागरिकों के हित में गतिशील बनाए रखना अभीष्ट है तो राज्य सरकार को इस ओर पर्याप्त ध्यान देना होगा कि अधिकारियों द्वारा अधीनस्थ संस्थाओं पर निरीक्षण और जाँच को कैसे अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। चिन्तकों की यह मान्यता है कि प्रभावी निरीक्षण, विशेष तौर पर आकस्मिक निरीक्षण, के माध्यम से प्रशासनिक संस्थाओं की कार्यकुशलता में निर्णायक सुधार लाया जा सकता है।

(ii) सामान्य निर्देशों का प्रसारण : विधान मंडल द्वारा पारित पंचायत राज से सम्बन्धित अधिनियम राज्य सरकार को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह पंचायत राज संस्थाओं को उनके कामकाज की दशाओं में सुधार तथा उनके नियमसंगत संचालन को सुनिश्चित करने हेतु समय–समय पर दिशा–निर्देश जारी कर सकती है।

अपने इस अधिकार का उपयोग करते हुए राज्य सरकार के समस्त वे विभाग जो किसी न किसी रूप में पंचायत राज के कार्यों से सम्बन्धित होते हैं, पंचायती राज की संस्थाओं को आवश्यक आदेश, निर्देश विभिन्न परिपत्रों के माध्यम से देते रहते हैं। पंचायत राज संस्थाओं के विषय में विश्लेषकों का यह अनुभव रहा है कि राज्य सरकार द्वारा जारी किए जाने वाले इस प्रकार के निर्देशों के निष्पादन के प्रति अरुचि होते हुए भी इन संस्थाओं के पदाधिकारियों ने उन्हें किसी प्रकार की चुनौती देने का रुझान व्यक्त नहीं किया है।[8] राज्य सरकार के पंचायत राज विभाग द्वारा इन संस्थाओं के प्रशासनिक कार्य संचालन हेतु विभिन्न परिपत्रों और प्रक्रियाओं का निर्धारण कर दिया जाता है। इन संस्थाओं से राज्य सरकार यह अपेक्षा करती है कि अपने प्रशासनिक कामकाज को संचालित करते समय वे उनका आवश्यक विवरण उन परिपत्रों में रखें। इस प्रकार के परिपत्रों के राज्य सरकार द्वारा प्रसारण का परिणाम यह होता है कि पंचायत राज संस्थाएँ भी नौकरशाही की उसी प्रक्रिया का अनुसरण करने लगती हैं जो प्रक्रिया उच्चतर राजकीय प्रशासनिक संस्थाओं में अपनाई जाती है। इसका एक नकारात्मक परिणाम यह भी हुआ है कि इन संस्थाओं को अपनी जनता की अपेक्षाओं के अनुरूप अपने प्रशासनिक कामकाज को गति प्रदान करने में कोई स्वायत्तता नहीं मिल सकी है और ये संस्थाएँ अनायास ही स्थानीय जनता की सेवा के कार्य में नौकरशाही की जटिल व उलझनपूर्ण प्रक्रिया का शिकार हो गई हैं।

(iii) कर्तव्यों के निर्वाह में विफल रहने पर नियंत्रण : पंचायत राज संस्थाओं से जिन अनिवार्य कार्यों को सम्पन्न कराने की अपेक्षा सम्बन्धित अधिनियम में की जाती है यदि ये संस्थाएँ उन अनिवार्य कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकें तो राज्य सरकार को अधिनियमों में यह शक्ति दी गई है कि वह इन संस्थाओं को ऐसे अनिवार्य कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अवधि निश्चित कर सकती है। यदि अवधि निश्चित किए जाने के पश्चात् भी ये संस्थाएँ उस कार्य को नहीं कर पाईं तो राज्य सरकार किसी उचित और सक्षम संस्था को वह कार्य करने का निर्देश दे सकती है और ऐसे कार्य को सम्पन्न करने पर जो व्यय हुआ है वह उन संस्थाओं को दिए जाने वाले अनुदान में से काटा जा सकता है।

राजस्थान में नए अधिनियम राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1994 में भी पंचायत समिति या जिला परिषद् के इस प्रकार के व्यतिक्रम की स्थिति में कर्तव्यों की पालना कराने हेतु शक्ति राज्य सरकार में निहित की गई है।[9] यह अधिनियम प्रावधान करता है कि यदि कोई पंचायती राज संस्था, अधिनियम द्वारा आरोपित किसी कर्तव्य का पालन करने में असफल रहती है तो राज्य सरकार लिखित आज्ञा द्वारा उस कर्तव्य पालन के लिए एक अवधि नियत कर सकेगी तथा ऐसी आज्ञा तुरन्त सम्बन्धित इकाई को सूचित की जाएगी।[10] इसी प्रकार यदि इस नियत अवधि के भीतर सम्बन्धित संस्था के द्वारा उक्त कर्तव्य का पालन नहीं किया जाता है तो राज्य सरकार किसी व्यक्ति या संस्था को उसका पालन करने के लिए नियुक्त कर सकेगी और निर्देश दे सकेगी कि ऐसे कर्तव्य के पालन में हुआ व्यय उसके लिए नियुक्त व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक सहित सम्बन्धित पंचायत समिति या जिला परिषद् द्वारा तुरन्त चुकाया जाएगा।[11] यदि इस प्रकार किया गया व्यय और पारिश्रमिक सम्बन्धित संस्था द्वारा नहीं चुकाया जाए तो राज्य सरकार ऐसे व्यक्ति को,

जिसकी अभिरक्षा में उन संस्थाओं की निधि की राशि शेष हो, उक्त व्यय और पारिश्रमिक या उनका ऐसा भाग, जिनका भुगतान उक्त शेष राशि में संभव हो, चुकाने का निर्देश देते हुए आज्ञा जारी कर सकती है।[12]

(iv) अविश्वास प्रस्तावों का कार्यान्वयन : पंचायत राज की विभिन्न संस्थाओं के गैर सरकारी अर्थात् निर्वाचित पदाधिकारियों के विरुद्ध प्रस्तुत किए जाने वाले अविश्वास प्रस्तावों की प्रक्रिया का विवरण नए अधिनियम की धारा 37 में स्पष्ट रूप से दिया गया है। इस प्रकार अविश्वास प्रस्ताव जब नियमानुसार पारित हो जाता है तो उसके कार्यान्वयन का दायित्व प्रायः राज्य सरकार पर आ जाता है। अविश्वास प्रस्ताव के पारित होने की प्रक्रिया और उसके पारण के पूर्व भी पदाधिकारियों द्वारा अपने पद पर बने रहने के प्रयासों तथा पारित सूचना के पश्चात् भी न्यायपालिका द्वारा हस्तक्षेप के कारण इस प्रकार की प्रक्रिया में पदाधिकारियों को हटाने की समस्या अपने आप में जटिल स्वरूप धारण कर लेती है। ऐसी समस्त परिस्थितियों में अनेक बार राज्य सरकार के समक्ष भी विकट संकट उपस्थित हो जाता है क्योंकि एक ओर तो नियमानुसार अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाता है और दूसरी ओर प्रस्ताव के पारित होने की प्रक्रिया के पूर्व और पश्चात् न्यायालय द्वारा स्थगन आदेश जारी कर दिए जाते हैं।

राजस्थान के नवीन पंचायत राज अधिनियम, 1994 में प्रावधान है कि ग्राम पंचायत के सरपंच व उपसरपंच, पंचायत समिति के प्रधान और उपप्रधान तथा जिला परिषद् के प्रमुख और उपप्रमुख के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव का लिखित नोटिस निर्धारित प्रपत्र में सदस्यों के कम से कम एक–तिहाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित, सक्षम प्राधिकारी को प्रस्तुत किया जाएगा। इसके पश्चात् सक्षम प्राधिकारी उसकी सूचना सम्बन्धित लोगों को देगा और उस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए निश्चित तरीके से सम्बन्धित पंचायत राज संस्था की बैठक तीस दिन के भीतर आमंत्रित करेगा। इस प्रकार की बैठक के लिए सदस्यों को 15 दिन की सूचना भी दी जाएगी। ऐसी बैठक की अध्यक्षता स्वयं सक्षम प्राधिकारी या उसके द्वारा अधिकृत अधिकारी करेगा। यह प्रस्ताव यदि कुल सदस्यों के दो–तिहाई सदस्यों के समर्थन से पारित हो जाता है तो पारित प्रस्ताव की सूचना कार्यालय के नोटिस बोर्ड पर लगाई जाएगी तथा उसी दिन से सम्बन्धित पदाधिकारी अपना पद रिक्त कर देंगे।

(v) पदाधिकारियों और सदस्यों को पदमुक्त करना : पंचायत राज से सम्बन्धित अधिनियमों में इन संस्थाओं के सदस्यों की योग्यता का भी उल्लेख किया जाता है। यदि सदस्यगण निर्वाचित होते समय या उसके पश्चात निर्धारित योग्यताओं में से किसी अयोग्यता के शिकार हो जाते हैं तो राज्य सरकार और उसके अधिकृत पदाधिकारियों को अधिनियम यह शक्ति प्रदान करता है कि वे उनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही कर सकते हैं। राजस्थान में पंचायत राज अधिनियम, 1994 में ग्राम पंचायत के पंच व अन्य सस्थाओं में सदस्यों के लिए अर्हताओं का उल्लेख किया गया है।[13]

अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि यदि समुचित जाँच के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि सम्बन्धित पदाधिकारियों एवं सदस्यों ने अधिनियमों के प्रावधान

और राज्य सरकार द्वारा प्रवर्तित नियमों का उल्लंघन किया है या किसी प्रकार का दुराचार, जिसमें नैतिक दुराचार भी सम्मिलित है, के दोषी पाए जाते हैं, या अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं या उन्होंने निरन्तर कार्य करना बंद कर दिया है तो राज्य सरकार उन्हें पद मुक्त करने का निर्देश दे सकती है। अधिनियम के अन्तर्गत राजस्थान में यह शक्ति राज्य के पंचायत एवं ग्रामीण विकास विभाग में निहित है जिसका प्रयोग यह सम्बन्धित जिलाधीश और उपजिला विकास अधिकारी के माध्यम से करता है। राजस्थान में सदस्यों के सम्बन्ध में भी कार्यवाहियों के सम्बन्ध में अधिनियम की धारा 20, 21, 22, 37, 38, 39 व 40 के प्रावधान सभी पंचायती राज संस्थाओं के सदस्यों व पदाधिकारियों पर लागू होते है।[14] इस संदर्भ में अब तक जो निर्णय न्यायालय द्वारा किए गए हैं उन निर्णयों में सदस्यों की योग्यता में निर्दिष्ट इस शर्त को स्पष्ट किया गया है कि सदस्यों को साधारणतया उस क्षेत्र में रहने का अर्थ क्या लगाया जाता है? इसी प्रकार किसी सदस्य द्वारा दो पद धारण न करना, निर्वाह सम्बन्धी अयोग्यता, लगातार पाँच बैठकों में अनुपस्थित रहना, तथा जिला परिषद् द्वारा अध्ययन केन्द्र पर प्रशिक्षण के लिए मनोनीत किए जाने पर न जाना इत्यादि कारणों से सदस्यों की अपात्रता का स्पष्टीकरण भी इन नियमों में दिया गया है।[15]

(vi) पंचायती राज संस्थाओं द्वारा पारित प्रस्तावों का स्थगन/निरस्तीकरण: राज्य सरकार का नियंत्रण सम्बन्धी अधिकार है कि वह पंचायती राज की संस्थाओं द्वारा पारित प्रस्तावों के कार्यान्वयन को जिला विकास अधिकारी के माध्यम से या तो स्थगित कर सकती है या आवश्यकता होने पर उन्हें निरस्त भी करवा सकती है। यद्यपि इस आशय के अन्तिम आदेश राज्य सरकार द्वारा ही पारित किए जाते हैं, किन्तु तत्काल कार्यवाही करने के लिए इस सम्बन्ध में, सम्बन्धित जिलाधीश को अधिकृत किया जाता है। राजस्थान में, अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि राज्य सरकार लिखित आज्ञा द्वारा पंचायत समिति या उसकी किसी स्थायी समिति द्वारा, पारित किसी भी संकल्प अथवा आज्ञा को रद्द कर सकेगी, यदि उसकी राय में ऐसा संकल्प विधिवत् पारित नहीं किया गया है या उन शक्तियों के अतिरेक या दुरुपयोग की आशंका है जो अधिनियम द्वारा इस संस्था को प्रदान की गई है। ऐसा संकल्प राज्य सरकार उस परिस्थिति में भी निलम्बित कर सकती है यदि उसके निष्पादन से, मानव जीवन, स्वास्थ्य अथवा सुरक्षा का भय पैदा होने की संभावना हो या उससे शांति भंग हो जाने की आशंका हो।[16] राज्य सरकार ऐसी कार्यवाही करने से पूर्व, पंचायती राज संस्था को, स्पष्टीकरण हेतु युक्तियुक्त अवसर देगी।[17] इसी प्रकार अधिनियम यह व्यवस्था भी करता है कि यदि, कलेक्टर की राय में, किसी संकल्प को इस आधार पर, कि उसके निष्पादन से मानव जीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने की संभावना है या शांति भंग होने की आशंका है, निलम्बन करने हेतु तत्काल कार्यवाही करना आवश्यक है तो वह लिखित आज्ञा द्वारा उस संकल्प को निलम्बित कर सकेगा और राज्य सरकार को रिपोर्ट कर सकेगा, जिसका विनिश्चय उस पर अन्तिम होगा।[18]

पंचायती राज संस्थाओं द्वारा जो संकल्प पारित किए जाते हैं उनके सम्बन्ध में यदि कोई कानूनी मतभेद हो तो उस पर अन्तिम निर्णय करने की शक्ति राज्य सरकार को दी गई है। पंचायत समितियों के प्रस्तावों के संदर्भ में तो निरस्तीकरण की कार्यवाही, उनके नियम विरुद्ध होने पर, राज्य सरकार को प्रदान की गई है किन्तु जिला परिषद के प्रस्तावों को निरस्त करने के सम्बन्ध में अब तक राजस्थान में जिलाधीश ने सरकार को सुझाव प्रेषित करने में संयम का ही परिचय दिया है। राज्य सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में जो रुझान स्पष्ट किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि इन संस्थाओं द्वारा पारित संकल्पों के नियम विरुद्ध होने के परिवादों पर राज्य सरकार सतर्क होकर जाँच करती है और बहुत ही आवश्यक होने पर इन प्रस्तावों को निलम्बित कर निरस्त करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करती है।

(vii) संस्थाओं को निलम्बित एवं भंग करना : पंचायती राज संस्थाओं को उनके कार्य निष्पादन में शिथिल या असफल रहने के कारण राज्य सरकार पंचायती राज अधिनियम, 1994 के अन्तर्गत भंग कर सकती है। इस सम्बन्ध में राजस्थान पंचायती राज अधिनियम निम्नांकित परिस्थितियों में इन संस्थाओं को अधिक्रमण या विघटन किए जाने के लिए राज्य सरकार को अधिकार प्रदान करता है :[19]

1. अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में या अपने कर्तव्यों का पालन करने में असफल रहने पर, या यदि किसी कारण से, किसी पंचायती राज संस्था में रिक्तियों की संख्या कुल स्थानों की संख्या के दो–तिहाई से अधिक है तो वह अपने कर्तव्यों के पालन में सक्षम नहीं होगी।
2. उसने इस अधिनियम या अन्य किसी प्रवर्तित कानून के द्वारा या उनके अधीन की गई शक्तियों में से किसी का अधिक प्रयोग किया है या उनका दुरुपयोग किया है।

उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों में पंचायती राज इकाइयों की असफलता, अतिरेक या दुरुपयोग को दूर करने के लिए, या उसे संतोषजनक स्पष्टीकरण देने के लिए राज्य सरकार उस पंचायती राज संस्था को निर्देश देती है और ऐसे निर्देश की पालना न किए जाने पर उस संस्था को अधिकतम छः माह के लिए अधिक्रमित कर सकती है या निश्चित तिथि से उसे विघटित करने का आदेश दे सकती है। इस प्रकार इन संस्थाओं को अधिक्रमित या विघटित करने की, राज्य सरकार की शक्ति एक प्रकार से इन संस्थाओं पर नियंत्रण की अन्तिम शक्ति है जिसका प्रयोग राज्य सरकार कर सकती है।

राज्य सरकार अधिनियम की धारा 10 के अनुसार किसी भी पंचायती राज संस्था की सीमाओं में परिवर्तन भी कर सकती है।

(स) तकनीकी नियंत्रण

पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार का तकनीकी परिवर्तन लाना सरकार का एक प्रमुख उद्देश्य रहता है। भारतवर्ष चूंकि कृषि प्रधान देश है जिसकी कृषि की व्यवस्था पुरानी तकनीक पर आधारित रहती है। इसलिए भारतवर्ष

की प्रगति की कोई भी कल्पना तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि उसकी कृषि की आधारभूत तकनीक में उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से कोई तकनीकी परिवर्तन नहीं किया जावे। सर्वप्रथम भारतवर्ष में 1952 में जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम को लागू किया गया था उस समय ही यह उद्देश्य निर्धारित कर लिया गया था कि ग्रामीण क्षेत्रों की कृषि व्यवस्था को अधिक उत्पादनकारी बनाने के लिए, कृषि हेतु विकसित तकनीक को अपनाना होगा। इसके पश्चात् जब देश के विभिन्न राज्यों में पंचायतीराज की संस्थाओं का विकास हुआ तो पंचायत समितियों में अनेक प्रसार अधिकारी नियुक्त किए गए जो किसी न किसी क्षेत्र में विशेषज्ञ थे। किन्तु इन विषय–विशेषज्ञों की सेवाएं एक सामान्यज्ञ प्रशासनिक खंड विकास अधिकारी के अधीन रखी गई हैं। पंचायत समितियों में उस प्रकार नियुक्त तकनीकी प्रसार अधिकारी दोहरी नियंत्रण व्यवस्था के अन्तर्गत रखे गए। तकनीकी रूप से इन अधिकारियों पर उनके विशेषज्ञ उच्चाधिकारी का और प्रशासकीय दृष्टि से उन पर खंड विकास अधिकारी का नियंत्रण स्थापित किया गया। पंचायती राज संस्थाओं में जो भी तकनीकी विषय विशेषज्ञ नियुक्त किए जाते हैं वे मूलतः राज्य सरकार के विभिन्न विभागों में सेवारत कर्मचारी होते हैं और पंचायत राज की संस्थाओं में उन्हें प्रतिनियुक्त किया जाता है। राज्य सरकार अपने सम्बन्धित विभागीय उच्चाधिकारियों के माध्यम से इन अधिकारियों पर तकनीकी नियंत्रण का प्रयोग करती है।

तकनीकी पर्यवेक्षण और नियंत्रण के तरीके

पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना के पश्चात् ऐसी अनेक तकनीकी योजनाओं के कार्यान्वयन का दायित्व उन्हें पूर्ण रूप से या आंशिक तौर पर दे दिया गया जिनके निष्पादन के लिए पूर्व में राज्य सरकार के विभिन्न तकनीकी विभाग उत्तरदायी होते थे। इस तरह, तकनीकी विभागों के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को हस्तान्तरित तकनीकी कार्यों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण के लिए प्रायः निम्नांकित विधियों का प्रयोग किया जा रहा है :[20]

(i) योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए तकनीकी अनुमोदन प्रदान करना : पंचायती राज के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत तकनीकी संस्थाएं जो कार्यक्रम और योजनाएं बनाती हैं, प्रायः उन सभी को राज्य की प्रशासनिक और तकनीकी स्वीकृति के लिए भेजना होता है। सरकार और उसके तकनीकी विभाग इन संस्थाओं द्वारा प्रेषित ऐसे कार्यक्रमों को तकनीकी दृष्टि से परीक्षण करने के पश्चात् उन्हें स्वीकृति या अस्वीकृति प्रदान करते हैं। राजस्थान में पंचायती राज की मध्यवर्ती इकाई 'पंचायत समिति' जो कि विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने की कार्यकारी संस्था है, कोई भी ऐसा तकनीकी कार्यक्रम, जिसकी लागत तीन हजार से ऊपर हो, अपने स्तर पर जब तक क्रियान्वित नहीं कर सकती जब तक, उसे राज्य सरकार के तकनीकी विभाग की स्वीकृति इस हेतु प्राप्त न हो जाए। इस प्रावधान का व्यवहार में परिणाम यह होता है कि प्रायः सभी तकनीकी कार्यक्रम जो पंचायत समिति के द्वारा तैयार किए जाते हैं उनकी लागत चूंकि तीन हजार से प्रायः ऊपर ही होती है इसलिए उनकी स्वीकृति के लिए राज्य सरकार को प्रेषित करना ही होता है। इन संस्थाओं द्वारा राज्य सरकार को जो कार्यक्रम प्रेषित किए जाते हैं उनके

विषय में यह अनुभव किया गया है कि इन संस्थाओं के स्तर पर तकनीकी रूप से कुशल व्यक्तियों के अभाव के कारण अच्छे कार्यक्रम नहीं बन पाते हैं। ऐसी स्थिति में प्राथमिक रूप से जो कार्यक्रम राज्य सरकार की स्वीकृति हेतु आते हैं उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन करने के सुझाव राज्य सरकार के तकनीकी विभाग द्वारा इन संस्थाओं को दिए जाते हैं। इस प्रक्रिया में पंचायती राज की संस्थाओं द्वारा तैयार की गई तकनीकी योजनाओं के अनुमोदन में काफी समय लग जाता है। इस कारण यह सुझाव विद्वज्जनों द्वारा दिया जाता रहा है कि पंचायती राज संस्थाओं के स्तर पर तकनीकी रूप से कुशल और योग्य अधिकारियों की नियुक्ति की जाए तो तकनीकी योजनाओं का प्रभावी निरूपण करने में सक्षम हो सकें जिससे पंचायती राज के माध्यम से ग्रामीण विकास के तकनीकी कार्यक्रमों के निरूपण और कार्यान्वयन में किसी प्रकार का कोई विलम्ब न होने पाए।

(ii) **निरीक्षण, दौरे और व्यक्तिगत भ्रमण :** जिन तकनीकी कार्यक्रमों का अनुमोदन राज्य सरकार के तकनीकी विभागों द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से कार्यान्वयन हेतु किया जाता है उनके कार्यान्वयन की स्थिति पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से सम्बन्धित अधिकारियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे समय–समय पर पंचायती राज संस्थाओं में निरीक्षण हेतु दौरे करें। राज्य सरकार ने इस नियंत्रण को सटीक और प्रभावी बनाने की दृष्टि से ऐसे प्रपत्रों का निर्धारण किया हुआ है जिनको निरीक्षणकर्ता अधिकारियों को निरीक्षण के पश्चात् भरना होता है। इस प्रकार के प्रपत्र राज्य सरकार या विभागाध्यक्ष के स्तर पर तैयार किए जाते हैं जिसमें उन तकनीकी परियोजनाओं के व्यवहार में कार्यान्वयन की क्षमताओं का निरीक्षण के माध्यम से पता लगाया जाता है। ऐसे निरीक्षण और दौरे करने का अधिकार राज्य सरकार के सचिव से लेकर उसके अधीन कार्यशील विभागाध्यक्ष और क्षेत्रीय या जिला या खंड स्तर के अधिकारियों इत्यादि सभी को मिला हुआ है। इन अधिकारियों को एक न्यूनतम संख्या में ऐसे दौरे करने के निश्चित प्रावधान भी किए हुए हैं जिनमें अधिकारियों से यह आशा की जाती है कि वे न केवल औपचारिक दौरा करेंगे अपितु क्षेत्रीय कार्यालयों में तथा पंचायती राज की संस्थाओं में रात्रि विश्राम भी करेंगे। राजस्थान एक ऐसा प्रान्त है जिसमें पंचायती राज संस्थाओं में क्रियान्वित की जा रही तकनीकी परियोजनाओं के मूल्यांकन में इस प्रकार के अधिकारियों ने पर्याप्त रुचि दिखाई है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ के वर्षों में जो उत्साह इस प्रकार के दौरे में तकनीकी अधिकारियों द्वारा प्रदर्शित किया गया था वह पश्चात्वर्ती काल में नहीं रह सका और इस प्रकार के निरीक्षण, भ्रमण और दौरों की संख्या में निराशाजनक परिवर्तन दिखाई दे रहा है।

(iii) **कर्मचारियों की सामयिक बैठकें :** पंचायती राज संस्थाओं के तकनीकी कार्यक्रमों के निरूपण अथवा कार्यान्वयन हेतु जिन अधिकारियों और कर्मचारियों को नियुक्त किया हुआ है उनकी सामयिक बैठकों का आयोजन भी इस प्रकार के नियंत्रण की एक सशक्त विधा है। पंचायती राज के अधिनियमों में यद्यपि इस प्रकार की बैठकों के आयोजन का कोई प्रावधान नहीं होते हुए भी कुछ तकनीकी विभागों के अधिकारियों की सामयिक बैठकों का आयोजन किया जाता रहा है। कृषि विभाग, पशुपालन तथा सहकारिता विभाग ऐसे

महत्त्वपूर्ण विभाग हैं जिनके प्राधिकारी पंचायत समिति के स्तर पर अपने–अपने विभागों के प्रसार कार्यक्रमों को गति देने का कार्य करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान में कृषि विभाग, पशुपालन और सहकारिता विभाग द्वारा राज्य स्तर की समस्त पंचायती राज संस्थाओं में कार्यरत तकनीकी अधिकारियों के सम्मेलन आयोजित किए जाते रहे हैं। राज्य स्तर पर आयोजित इस प्रकार के सम्मेलन दो–तीन दिन तक चलते रहते हैं और उनमें जो विचार–विमर्श होता है उससे राज्य भर के तकनीकी अधिकारी और कर्मचारी एक–दूसरे के विचारों से लाभान्वित हो रहे हैं। राज्य के कृषि विभाग ने ऐसे विचार विमर्श के परिणामस्वरूप राजस्थान के दूरवर्ती क्षेत्रों में नियुक्त प्राधिकारियों के अनुभव से पर्याप्त अनुभव ग्रहण किया है और उनके इस अनुभव के आधार पर कुछ सामान्य समस्या स्थलों को रेखांकित करते हुए भविष्य में उन्हें दूर करने के उपायों को खोजने का प्रयत्न भी किया है। लोक प्रशासन में सुधार की दृष्टि से सम्बन्धित तकनीकी कर्मचारियों की इस प्रकार की सामयिक बैठकों का आयोजन अपने आप में इन कार्यक्रमों को व्यावहारिक गति देने के लिए एक अच्छा उपागम सिद्ध हो सकता है।

(iv) **संस्थाओं के प्रतिवेदन मांगना :** राज्यस्तरीय पंचायत एवं विकास विभाग तथा पंचायती राज के निदेशालय द्वारा राज्य की पंचायती राज संस्थाओं से उनके द्वारा निष्पादित कार्यक्रमों की निष्पत्ति का प्रतिवेदन सामान्यतः मंगाया जाता है। विभिन्न विभागों द्वारा ऐसे प्रतिवेदन भिन्न–भिन्न अन्तराल से मंगाए जाते हैं। यह प्रतिवेदन पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक तथा कभी–कभी साप्ताहिक भी होते हैं। इन प्रतिवेदनों में सम्बन्धित संस्थाएं न केवल अपने द्वारा अर्जित उपलब्धियों का ही विवरण प्रस्तुत करती हैं अपितु इनके माध्यम से अनुभूत समस्याओं से भी उच्चस्तरीय संस्थाओं को अवगत कराने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु उच्च प्रशासनिक स्तर पर जो प्रशासकीय अकुशलता बढ़ती जा रही है उसका परिणाम यह हुआ है कि इस प्रकार के प्रतिवेदनों में व्यक्त विचारों का पूर्ण रूप से न तो अवलोकन किया जाता है और न ही उन अनुभवों से भविष्य में सीखने के लिए कोई प्रयत्न होता है। यदि इस प्रकार प्रस्तुत सामयिक प्रतिवेदनों को सही तरीकों से देखा जाए तो पंचायती राज संस्थाओं के स्तरों पर क्रियान्वित किए जा रहे कार्यक्रमों की गुणवत्ता में सुधार किया जा सकता है।

(v) **तकनीकी अधिकारियों के वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करना :** जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, पंचायती राज संस्थाओं में जो तकनीकी अधिकारी नियुक्त होते हैं वे प्रायः दोहरे नियंत्रण में कार्य करते हैं। तकनीकी रूप से वे अपने पैतृक विभाग के प्राधिकारियों द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं किन्तु प्रशासनिक दृष्टि से वे पंचायत समिति अथवा जिला परिषद् में सम्बन्धित प्रशासनिक अधिकारी के नियंत्रण में कार्य करते हैं। तकनीकी विभागों के विभागाध्यक्ष द्वारा अपने विभाग में प्रतिनियुक्त किए गए अधिकारियों के वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन उन संस्थाओं से मंगवाए जाते हैं जहाँ वे प्रतिनियुक्ति पर होते हैं। पंचायत समिति के विकास अधिकारी द्वारा तकनीकी प्रसार अधिकारियों के गोपनीय प्रतिवेदन तैयार किए जाते हैं और उन पर विभाग के उच्च अधिकारियों द्वारा टिप्पणी लिखी जाती है। अधिकारियों के वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन चूंकि इस प्रकार के

तकनीकी प्रशासकीय नियंत्रणकर्ता अधिकारियों द्वारा आरम्भिक रूप से भरे जाते हैं इसलिए इन कर्मचारियों को सदैव यह ध्यान रखना होता है कि क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से वे पंचायत समिति या जिला परिषद् में प्रतिनियुक्ति पर हैं अतः उनका यह प्राथमिक दायित्व है कि वे अपने प्रशासकीय नियंत्रणकर्ता अधिकारी के आदेश का पालन करें। इस प्रकार जो वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन संस्थाओं से भरकर आगे भेजे जाते हैं। उनके माध्यम से उन कर्मचारियों के भविष्य में पदोन्नति इत्यादि के अवसर निर्धारित होते हैं।

(द) वित्तीय नियंत्रण

यह सुविदित है कि वित्त किसी भी संगठन के संचालन में ईंधन का कार्य करता है। पंचायती राज संस्थाओं के सम्बन्ध में भी वित्त की भूमिका उनकी सफलता और असफलता के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। राज्य सरकार चूंकि पंचायती राज संस्थाओं की रचना करती है इसलिए इनके कुशल कार्य निष्पादन के लिए अनुदान के रूप में न केवल वित्तीय सहायता देती है अपितु इन संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले करारोपण के प्रस्तावों को पूर्व स्वीकृति भी प्रदान करती है। इसी कारण राज्य सरकार इन संस्थाओं पर वित्तीय पर्यवेक्षण के माध्यम से भी नियंत्रण कर पाने में सक्षम होती है। इन संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन पर नियंत्रण के लिए अंकेक्षण विभाग एक प्रकार से ऐसा नियंत्रण प्रदान करता है जिसे हम किसी बाह्य संगठन द्वारा प्रतिपादित नियंत्रण का तरीका मान सकते हैं।

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं के प्रशासन को निर्धारित करने वाले राजस्थान पंचायत राज अधिनियम, 1994 इन संस्थाओं के करारोपण और निधि ग्रहण की शक्ति, आय तथा व्यय, ऋण देने और लेने की शक्ति, बजट तथा लेखे और अंकेक्षण अर्थात् उनके लेखा परीक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक प्रावधान करता है। इस सम्बन्ध में ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं के "आय–व्यय" से सम्बन्धित अध्याय में वांछित विवरण विस्तार से दिया जा चुका है।

राजस्थान में राज्य सरकार द्वारा पंचायती राज संस्थाओं पर वित्तीय नियंत्रण हेतु निम्नांकित तरीके अपनाये जाते हैं :

(i) आय का नियमन : राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं की आय के समस्त स्रोतों का सम्बन्धित अधिनियम में प्रावधान किया गया है। इन संस्थाओं के द्वारा किन करों का आरोपण किया जाएगा, उन्हें राजकीय अनुदान और वित्तीय सहायता, उनकी सम्पत्ति के प्रबन्ध से आय, उधार, दान इत्यादि स्रोतों से अधिनियम के अनुसार पंचायती राज संस्थाओं को आय हो सकती है और कोई भी संस्था उनसे भिन्न साधनों से आय नहीं कर सकती। यद्यपि करों के अतिरिक्त साधनों से होने वाली आय का अधिनियम में विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है और इस सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा निर्मित जिन नियमों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्हीं के माध्यम से आय को विनियमित किया जाता है। जहाँ तक करारोपण की शक्ति का सम्बन्ध है उनके विषय में अधिनियम यह स्पष्ट प्रावधान करता है कि पंचायती राज की विभिन्न संस्थाएं किन–किन करों को आरोपित कर सकती

हैं और उन्हें आरोपण से पूर्व वे राज्य सरकार की अनुमति भी प्राप्त करती हैं। इन संस्थाओं की आय–व्यय के सम्बन्ध में जो प्रावधान अधिनियम और नियमों में किए गए हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि राज्य सरकार इन संस्थाओं की आय के साधनों का अपने द्वारा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत संचालन देखना चाहती है। इस तरह इन नियमों और विनियमों के माध्यम से राज्य सरकार और उसकी प्रशासनिक इकाइयां पंचायती राज की संस्थाओं पर वित्तीय नियंत्रण कर पाने में सक्षम होती हैं।

(ii) बैंकिंग व्यवस्था का नियमन : पंचायती राज संस्थाओं की आय जिस कोष में रखी जाती है उसके विनियमन के लिए भी अधिनियम में प्रावधान किया गया है। ग्राम पंचायत स्तर पर आमदनी चूंकि कम होती है इसलिए सरपंच को आमदनी की अभिरक्षा के लिए उत्तरदायी बनाया गया है किन्तु पंचायत समिति तथा जिला परिषद् के स्तर पर कोष (ट्रेजरी) की व्यवस्था को लागू किया गया है। ग्राम पंचायत के सरपंच के लिए भी नियमों में यह निर्देश दिये गए हैं कि यदि उसके क्षेत्र में कोई बैंक या पोस्ट ऑफिस हो तो ग्राम पंचायत से होने वाली आमदनी को वह उसमें रखेगा।

(iii) बजट के सिद्धांतों का विनियमन : केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार की भांति ही पंचायती राज संस्थाओं में भी वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक होता है। इस वित्तीय वर्ष में आय–व्यय को विनियमित करना और बजट तथा उसके प्रशासन के लिए आवश्यक प्रावधान अधिनियम के माध्यम से किए हुए हैं। राजस्थान में अधिनियम में बजट सम्बन्धी प्राथमिक सिद्धांतों और रीति–नीति का विवरण तथा उल्लेख कर दिया गया है। पंचायती राज के तीनों ही स्तर पर कार्यरत संस्थाओं द्वारा उनका बजट तैयार करने के लिए राज्य सरकार ने नियमों में अलग–अलग प्रपत्र निर्धारित कर दिया है और इन संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे अपना बजट निर्धारित प्रपत्र में तैयार कर उच्चस्तरीय संस्था की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करेंगी। अधिनियम में बजट अनुमान तैयार करना, उन्हें स्वीकृति देने वाली उच्चसत्ता को प्रस्तुत करना, उच्चसत्ता द्वारा उन्हें आवश्यक संशोधनों के साथ वापस लौटाना और इस सम्बन्ध में समय सीमा का निर्धारण कर दिया गया है।

(iv) लेखा संधारण : पंचायती राज अधिनियम के माध्यम से राज्य सरकारों को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वे इन संस्थाओं के आय–व्यय के लेखों का संधारण करने के लिए आवश्यक रीति का निर्धारण कर सकती हैं। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, राजस्थान के अधिनियम के माध्यम से लेखों के निर्धारण के लिए जो शक्ति राज्य सरकार को दी गई है राज्य सरकार ने उसका प्रयोग करते हुए इस हेतु नियम बनाए हैं और इन नियमों में ऐसे आवश्यक प्रपत्र विनिश्चित कर दिये गए हैं जिन प्रपत्रों में पंचायती राज की संस्थाओं को अपने आय और व्यय के लेखों का विवरण रखना अपेक्षित होता है। ऐसी व्यवस्था इसलिए की जाती है जिससे सम्पूर्ण राज्य में पंचायती राज की समस्त इकाइयों के द्वारा आय–व्यय का जो विवरण रखा जाये उसमें एकरूपता बनी रह सके। राजस्थान में जो नियम इस हेतु बनाए गए हैं उनमें इन संस्थाओं के रोकड़ के विनियमन, रसीद बुकों के हिसाब, प्रतिभूति तथा कर्मचारियों के वेतन और भत्ते, राशि

संस्थाएँ न तो लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का सटीक माध्यम बन सकेंगी और न ही वे जन आकांक्षाओं की पूर्ति कर पाएंगी।

संदर्भ

1. इकबाल नारायण, सुशील कुमार, पी. सी. माथुर एण्ड एसोसिएट्स, **पंचायती राज एडमिनिस्ट्रेशन-ओल्ड कन्ट्रोल्स एण्ड न्यू चेलेन्जेज**, द इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, 1970 पृ. 46.
2. उपर्युक्त पृष्ठ 49–50
3. उपर्युक्त पृष्ठ 51–55
4. उपर्युक्त पृष्ठ 60
5. उपर्युक्त पृष्ठ 78
6. उपर्युक्त पृष्ठ 79
7. उपर्युक्त।
8. उपर्युक्त पृष्ठ 96
9. **राजस्थान पंचायत राज अधिनियम**, 1994, धारा 93
10. उपर्युक्त 93 (1)
11. उपर्युक्त, 93 (2)
12. उपर्युक्त, 93 (3)
13. **राजस्थान पंचायत राज अधिनियम 1994** की धारा 19 के प्रावधान इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं।
14. द्रष्टव्य अधिनियम की धारा 20 से 22 व 37 से 40
15. विस्तृत विवरण के लिए **राजस्थान पंचायत राज अधिनियम, 1994** द्रष्टव्य।
16. अधिनियम की धारा 92 (1)
17. उपर्युक्त, धारा 92 (2)
18. उपर्युक्त, धारा 92 (3)
19. **राजस्थान पंचायत राज अधिनियम**, 1994 की धारा 94
20. इकबाल नारायण एण्ड अदर्स, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 112
21. **रिपोर्ट ऑफ दी हाई पावर कमेटी ऑफ पंचायती राज** सामुदायिक विकास एवं पंचायत विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर, 1973 पृ. 121–24

17

नगरीय स्थानीय संस्थाओं का निदेशालय

नगरीय स्थानीय संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण से सम्बन्धित अध्याय में, इन संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण की वर्तमान स्थिति और उसकी प्रकृति के विषय में विस्तार से विचार किया जा चुका है। इसमें नगरीय संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण की विभिन्न विधियों का विवरण दिया जा चुका है तथापि प्रशासकीय नियन्त्रण के अधीन निदेशालय द्वारा किए जा रहे नियन्त्रण को पृथक् से विश्लेषण किए जाने हेतु छोड़ दिया गया था। प्रस्तुत अध्याय में नगरीय स्थानीय संस्थाओं पर स्थानीय स्वायत्त शासन निदेशालय द्वारा किए जा रहे संस्थागत नियन्त्रण की प्रकृति और उपागमों तथा उनकी सीमाओं का विश्लेषण किया जा रहा है। स्थानीय स्वायत्त शासन के सैद्धान्तिक विश्लेषण को स्पष्टता देने की दृष्टि से राजस्थान में कार्यरत निदेशालय का उदाहरण के रूप में प्रयोग किया जा रहा है।

भारत भर में नगरीय स्थानीय शासन की राज्य स्तरीय नीतियों का निर्धारण करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक स्थानीय स्वायत्त शासन विभाग होता है। कुछ राज्यों में राज्य स्तरीय इस अभिकरण को नगरीय विकास एवं आवासन विभाग के नाम से भी जाना जाता है। यह विभाग एक केबिनेट स्तरीय मन्त्री के अधीन कार्य करता है जिसकी सहायता के लिए राज्य मन्त्री भी नियुक्त किया जाता है। विभाग के प्रशासनिक ढांचे के शीर्ष पर भारतीय प्रशासनिक सेवा का एक वरिष्ठ लोक सेवक "सचिव" के रूप में नियुक्त किया जाता है। सचिव की सहायता के लिए आवश्यकतानुसार प्रत्येक राज्य में उपसचिव, सहायक सचिव या अवर सचिव नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार गठित यह सचिवालय स्तरीय संरचना राज्य में नगरीय विकास और तत्सम्बन्धी शासन की नीति के निर्धारण का कार्य करने के लिए उत्तरदायी होती है। राज्य में नगरीय विकास से सम्बन्धित नीतियों का निर्माण, सम्बन्धित मंत्री से आवश्यक परामर्श और राज्य मंत्रिपरिषद् में उस नीति का

अनुमोदन करने के लिए आवश्यक व्यवस्था तथा आधार तैयार करना सचिवालय के नगरीय विकास विभाग का मूल दायित्व होता है। यह संरचना नगरीय विकास एवं शासन से सम्बन्धित प्रस्तावित विधेयकों का प्रारूप तैयार करवा कर उसे विधान मण्डल से पारित करवाने तक का दायित्व भी निभाती है। सचिवालय में स्थित इस स्वायत्त शासन विभाग द्वारा राज्य की समस्त नगरीय संस्थाओं के कार्यकलापों के लिए अपने मन्त्री के माध्यम से विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह भी किया जाता है।

दूसरी ओर, नगरीय संस्थाओं पर प्रशासकीय नियन्त्रण रखने वाला एक राज्य स्तरीय अभिकरण निदेशालय (स्थानीय स्वायत्त शासन) होता है। इस निदेशालय का मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होता है कि नगरीय शासन के लिए सचिवालय स्तर पर जिन नीतियों का निर्धारण किया गया है उनका राज्य की नगरीय संस्थाओं द्वारा सही ढंग से क्रियान्वयन हो रहा है। इस तरह निदेशालय, राज्य के नगरीय निकायों पर नियन्त्रण व पर्यवेक्षण की नीति निर्धारण करने वाला प्रशासनिक संगठन है। राज्य का नगरीय विकास विभाग या स्वायत्त शासन विभाग राज्य में नगरीय संस्थाओं के लिए जिन नीतियों का निरूपण करता है उनके कार्यान्वयन हेतु वह उन नीतियों को निदेशालय को भेज देता है। निदेशालय भी यद्यपि कोई कार्यान्वयनकारी संस्था अपने आप में नहीं है तथापि यह एक ऐसी पर्यवेक्षणकारी व नियन्त्रणकारी प्रशासनिक संस्था है जो उन नीतियों के राज्य की नगरीय संस्थाओं द्वारा कार्यान्वयन की प्रगति पर प्रभावी पर्यवेक्षण और नियन्त्रण करती है। भारत भर में जिन राज्यों में स्थानीय स्वायत्त शासन के निदेशालय की स्थापना हुई है उनमें केवल राजस्थान ही एक ऐसा राज्य है जिसमें निदेशालय की स्थापना 1951 में ही कर दी गई थी।[1] आन्ध्र प्रदेश ऐसा दूसरा राज्य था जहाँ इस निदेशालय की स्थापना 1961 में की गई।[2] यद्यपि इन दोनों राज्यों में निदेशालय की स्थापना के बीच के इन दस वर्षों में, देश भर में विभिन्न क्षेत्रों में निदेशालय की स्थापना के कार्य में विचार विमर्श होता रहा। इसी सन्दर्भ में पंजाब स्थानीय शासन (नगरीय) जांच समिति 1957 ने स्थानीय शासन के निदेशालय की स्थापना के समर्थन में निम्नांकित तर्क दिए:[3]

1. समिति की मान्यता थी कि स्थानीय निकायों के कार्यकलापों का पर्यवेक्षण करने और राज्य सरकार को नगरीय शासन के सम्बन्ध में नीतियों तथा कार्यक्रमों के निरूपण में सलाह देने के लिए स्थानीय निकाय निदेशालय की स्थापना की जानी चाहिए।

2. निदेशालय की स्थापना नगरपालिका विधि तथा अन्य संवैधानिक नियमों, आदेशों इत्यादि की परिपालना को सुनिश्चित करने के लिए की जानी चाहिए।

3. सभी विषयों के लिए आदर्श उपविधियों का विकास करना तथा स्थानीय निकायों को मानक योजना प्रदान करना, और

4. स्थानीय निकायों द्वारा प्रारम्भ की गई विकास परियोजनाओं तथा निर्माण कार्यों पर पर्यवेक्षण और उस प्रक्रिया में जो कठिनाई आए उन्हें दूर करने के लिए स्थानीय निकाय निदेशालय की स्थापना की जानी अपेक्षित है।

इसी प्रकार मध्य प्रदेश नगरीय स्थानीय स्वशासन समिति (1959) का भी विचार

था कि स्थानीय निकायों का प्रत्यक्ष रूप से पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन करने के लिए एक स्थानीय निकाय निदेशालय स्थापित करने की आवश्यकता अपरिहार्य है।[4]

ग्रामीण–नगरीय सम्बन्ध समिति ने भी अभिशंसा की थी कि राज्य स्तर पर एक ऐसा सुसंगठित निदेशालय, जिसका प्रभावकारी क्षेत्रीय निरीक्षक वर्ग हो, स्थानीय निकायों के पर्यवेक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण व्यवस्था को सुधारने में बहुत कुछ सहायक होगा। उसे चाहिए कि स्थानीय निकायों को उनके वर्तमान तथा भविष्य की समस्याओं को हल करने में मार्गदर्शन तथा सहायता प्रदान करे और सम्बद्ध विभागों के समक्ष उनके पक्ष का समर्थन करे।[5]

स्पष्ट है कि स्थानीय निकायों के लिए निदेशालय की स्थापना का सुझाव आम तौर पर इसलिए दिया गया है जिससे निदेशालय उन परियोजनाओं के कार्यान्वयन को सुनिश्चित कर सके जो या तो केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रवर्तित की जाती हैं या राज्य सरकार द्वारा वित्त पोषित होती हैं। कुल मिलाकर 1951 में राजस्थान में स्थापित निकायों के निदेशालय के पश्चात् देशभर में विभिन्न राज्यों में नियुक्त विभिन्न समितियों और केन्द्रीय स्तर पर नियुक्त समिति ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि राज्यों में कार्यरत नगरीय स्थानीय संस्थाओं के सुव्यवस्थित कार्यकरण को गति प्रदान करने की दृष्टि से उन पर **श्रेष्ठतर पर्यवेक्षण और नियन्त्रण** के लिए स्थानीय शासन निदेशालय की स्थापना की जानी चाहिए।

राजस्थान में निदेशालय

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थान में 1949 में मुख्य पर्यवेक्षक (जिला बोर्ड कार्यालय व नगरपालिका) नामक प्राधिकारी की नियुक्ति जिला बोर्ड व नगरपालिकाओं के नियमन व पर्यवेक्षण हेतु की गई थी। उल्लेखनीय है कि जिला बोर्ड के अन्तर्गत जिले की समस्त पंचायतों को संगठित किया गया था जबकि नगरों में प्रत्येक नगर में जहाँ भी नगरपालिकाएं थीं उनका स्वतन्त्र अस्तित्व था। 1949 में मुख्य पर्यवेक्षक (जिला बोर्ड कार्यालय व नगरपालिका) की स्थापना व नियुक्ति सम्पूर्ण राज्य में कार्यरत पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं पर पर्यवेक्षण और नियन्त्रण के लिए की गई थी। उस समय राज्य में दस जिला बोर्ड और 144 नगरपालिकाएं इसके नियन्त्रण क्षेत्र में कार्यरत थे।[6] 1951 में इस विभाग का नाम परिवर्तित कर निदेशक, स्थानीय निकाय कर दिया गया।[7] स्थानीय निकायों का यह निदेशालय 1959 तक राज्य में कार्यरत जिला बोर्डों और उसके अधीनस्थ पंचायती राज की संस्थाओं तथा राज्य में क्रियाशील समस्त नगरपालिकाओं पर नियन्त्रण और पर्यवेक्षण का कार्य करता रहा। किन्तु 1959 में जब राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण करते हुए पंचायती राज का दीप प्रज्वलित किया गया तो इसके अनुसरण में त्रिस्तरीय पंचायती राज की संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस परिवर्तन के कारण 21 नगरपालिकाओं ने पंचायतों में बदलना स्वीकार किया जिसके परिणामस्वरूप नगरपालिकाओं की संख्या घटकर मात्र 137 रह गई और जिला बोर्ड भी समाप्त कर दिए गए।[8]

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम 2009 का प्रवर्तन

नवीन राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 के माध्यम से प्रवर्तित नगरपालिका कानून में नियन्त्रण से सम्बन्धित चौदहवे अध्याय में यह संकेत किया गया है कि निरीक्षण और पर्यवेक्षण से सम्बन्धित शक्तियों का उपयोग राज्य सरकार द्वारा साधारण या विशेष आदेश द्वारा नियुक्त निदेशक का प्राधिकृत प्राधिकारी करेंगे।[9]

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 के अध्याय चौदहवें की धारा 310 व 311 में उन प्रावधानों को संकलित किया गया है जो राज्य की नगरीय संस्थाओं पर राज्य सरकार के निरीक्षण और पर्यवेक्षण से सम्बन्धित हैं।[10]

निदेशालय का संगठन

1951 में जब यह निदेशालय निदेशक, स्थानीय निकाय विभाग के रूप में स्थापित किया गया, तब उपलब्ध सूत्रों के अनुसार इसका संगठन इस प्रकार था:[11]

निदेशक	एक पद
सहायक निदेशक	एक पद

निदेशालय की यह संरचना केवल अधिकारियों का संकेत करती है। निश्चय ही निदेशालय के कार्य संचालन के लिए आवश्यक मंत्रालयिक कर्मचारी भी नियुक्त रहे होंगे किन्तु उनकी संख्या इत्यादि के विषय में उस समय की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है। वर्ष 1959 में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना के कार्यान्वित होने तक यही संरचना कार्यशील रही। 1962 में सरकार ने मितव्ययता हेतु उठाए गए कदमों के अन्तर्गत सचिवालय स्थित स्वायत्त शासन विभाग को समाप्त कर निदेशालय में मिला दिया व निदेशक व उपनिदेशक क्रमशः पदेन शासन उपसचिव एवं अवर शासन सचिव, स्वायत्त शासन भी बना दिए गए। तभी से यह विभाग निदेशालय के अतिरिक्त उपर्युक्त निर्दिष्ट सचिवालय सम्बन्धी दायित्वों का निष्पादन भी करता है।[12]

1969 में राजस्थान नगरपालिका सेवा के गठन के पश्चात निदेशालय के गठन में किंचित् परिवर्तन परिलक्षित हुआ। निदेशक के पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी के स्थान पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की गई। निदेशक के अलावा सहायक निदेशक के तीन पद निदेशालय के लिए स्वीकृत किए गए। इनमें से 30 अक्टूबर, 1968 के पश्चात एक पद को उप निदेशक के पद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। निदेशालय की लेखा–शाखा के प्रभारी के रूप में एक लेखाधिकारी और उसके अधीन आवश्यक लेखा कर्मचारी सेवारत रहे। कालान्तर में नगरीय स्थानीय संस्थाओं की संख्या में वृद्धि के साथ–साथ कर्मचारियों की संख्या में भी वृद्धि हुई।

वर्तमान में स्वायत्त शासन विभाग, राजस्थान, जयपुर के वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन वर्ष 2009-2010 के अनुसार निदेशालय में आयोजना भिन्न एवं आयोजना के अन्तर्गत स्वीकृत पदों (राजपत्रित एवं अराजपत्रित) का विवरण निम्नानुसार है :

क्र. सं.	नाम पद	स्वीकृत पदों की संख्या	
		आयोजना	आयोजना भिन्न
	(अ) राजपत्रित अधिकारी		
1.	निदेशक	–	1
2.	अतिरिक्त निदेशक	–	1
3.	अधीक्षण अभियन्ता	–	1
4.	परियोजना निदेशक	1	–
5.	मुख्य लेखाधिकारी	–	1
6.	उपनिदेशक	1	1
7.	क्षेत्रीय उपनिदेशक	–	6
8.	जिला परियोजना अधिकारी	6	–
9.	सहायक निदेशक	–	2
10.	वरिष्ठ लेखाधिकारी	1	1
11.	परियोजना अधिकारी	3	–
12.	सहायक अभियन्ता	–	1
13.	सहायक विधि परामर्शी	–	1
14.	मुख्य विधि सहायक	–	2
15.	जन सम्पर्क अधिकारी	1	–
16.	भूमि एवं भवन कर अधिकारी	–	1
17.	निजी सचिव	–	1
	योग - अ	13	20
	(ब) अधीनस्थ सेवा के कर्मचारी		
1.	विधि सहायक	–	3
2.	सांख्यिकी सहायक	26	1
3.	अन्वेषण सहायक	1	–
4.	लेखाकार	–	10
5.	कनिष्ठ लेखाकार	3	4
6.	संगणक	–	2
7.	डाटा एन्ट्री ऑपरेटर	–	–
	योग - ब	30	20

क्रमशः ....

शासन की नगरीय इकाइयों से करवाना चाहती है उनसे सम्बन्धित आदेश सर्वप्रथम निदेशालय में ही भेजे जाते हैं। निदेशालय में इस प्रकार के आदेशों के प्राप्त होने पर निदेशक का यह प्रशासनिक दायित्व हो जाता है कि राज्य भर में कार्यरत समस्त नगरीय संस्थाओं को उन आदेशों–निर्देशों और कानूनों की भावना तथा नियमों व उपनियमों से औपचारिक रूप से सूचित करें तथा उस सम्बन्ध में उनकी पालनार्थ उन्हें आवश्यक निर्देश दें। यही नहीं, इस प्रकार के नियमों की पालना में नगरीय संस्थाओं के द्वारा भी किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव की जाए तो ऐसे मामलों में निदेशक उन संस्थाओं को आवश्यक सलाह, मार्गदर्शन और परामर्श उपलब्ध कराता है।

निदेशक के रूप में कार्य करते हुए उससे यह अपेक्षा की जाती है कि नगरीय संस्थाओं को स्थानीय शासन की कुशल इकाइयां बनाने के लिए वह उन्हें आवश्यक प्रशासनिक नेतृत्व प्रदान करे। समस्त नगरीय संस्थाओं में नियुक्त प्रशासनिक अधिकारी, प्रशासक या आयुक्त समय–समय पर राज्य सरकार द्वारा प्राप्त निर्देशों की पालना के लिए निदेशक से मार्गदर्शन और निर्देश प्राप्त करते रहते हैं। निदेशक से यह अपेक्षा की जाती है कि इन संस्थाओं की प्रशासकीय स्थिति को कुशलता और त्वरित स्वरूप प्रदान करने के लिए समय–समय पर उनको संसूचित करे या उनका आकस्मिक निरीक्षण करे। ऐसे निरीक्षण के पश्चात् अपने निरीक्षण प्रतिवेदन में वह उन संस्थाओं को उन समस्त छोटी बातों और न्यूनताओं से अवगत कराए जो निरीक्षण के दौरान उसके द्वारा अनुभव की गई है। निदेशक के रूप में राज्य की नगरीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति की समीक्षा करना और उसमें सुधार करने के लिए भी निदेशक प्रशासनिक स्तर पर नेतृत्व प्रदान करता है। राज्य की विभिन्न नगर परिषदों और नगरपालिकाओं के प्रशासनिक प्राधिकारियों के द्वारा जो प्रशासनिक निर्णय और आदेश पारित किए जाते हैं यदि सम्बन्धित जनता और पक्षकार उन आदेशों और निर्णयों से असन्तुष्ट हैं तो उनके विरुद्ध निदेशक के यहाँ अपील करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रकार प्राप्त समस्त प्रशासनिक अपीलों की उसके द्वारा सुनवाई कर निस्तारण किया जाता है।

राज्य के स्वायत्त शासन निदेशालय के शीर्षस्थ प्रशासनिक अधिकारी के रूप में उससे यह अपेक्षा की जाती है कि राज्य भर में नगरीय संस्थाओं की स्वच्छ और कुशल छवि बनाने के लिए वह योजनाएं बनाए। देशभर में नगरीय संस्थाओं की छवि अकुशल संस्थाओं के रूप में प्रतिष्ठित हो गई हैं। ऐसे वातावरण में स्थानीय निकाय के निदेशक का यह दायित्व और गुरुतर एवं गम्भीर हो जाता है। वस्तुतः निदेशक के प्रशासनिक नेतृत्व, कौशल, व्यक्तित्व, त्वरित निर्णय, निष्पक्ष छवि और प्रशासकीय योग्यता पर राज्य की नगरीय संस्थाओं की कुशलता निर्भर करती है। समीक्षकों द्वारा यह राय व्यक्त की जाती रही है कि किसी भी राज्य की नगरीय संस्थाओं की कार्यकुशलता को निर्धारित करने में निदेशालय के निदेशक के प्रशासनिक नेतृत्व का निर्णायक योगदान होता है।

अतिरिक्त निदेशक

निदेशालय में आयोजना भिन्न मद में कार्यरत अधिकारियों/कर्मचारियों के

संस्थापन कार्यों के प्रभारी अधिकारी अतिरिक्त निदेशक हैं। राजस्थान नगरपालिका सेवा के अधिकारियों, आयुक्त, अधिशासी अधिकारी, राजस्व अधिकारी, लेखाधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी, विधि अधिकारी, मुख्य अग्निशमन अधिकारी (जो आयोजना भिन्न मद में है) के संस्थापन/पदस्थापन/स्थानान्तरण/पदोन्नति सम्बन्धी कार्यों का प्रभारी अधिकारी अतिरिक्त निदेशक है। साथ ही राज्य की विभिन्न नगर पालिकाओं/परिषदों/निगमों द्वारा राजस्थान नगर पालिका (नगरीय भूमि निष्पादन) नियम, 1974 के विभिन्न नियमों के अन्तर्गत खांचा भूमि, स्कूलों, सार्वजनिक संस्थाओं, केन्द्रीय/राजकीय कार्यालय व आवासीय भवन निर्माण हेतु भूमि आवंटन/विक्रय के प्रस्ताव प्राप्त होने पर उनको राज्य सरकार को स्वीकृति/निर्णयार्थ प्रस्तुत कर उनका निष्पादन करने का कार्य भी अतिरिक्त निदेशक द्वारा किया जाता है। निदेशक की अनुपस्थिति में **अतिरिक्त निदेशक** निदेशालय के कार्य संचालन के लिए उत्तरदायी होता है। इस पर नियुक्त अधिकारी भी राजस्थान प्रशासनिक सेवा का अधिकारी होता है।

उपनिदेशक

नगरपालिका प्रस्थापना प्रकोष्ठ के प्रभारी अधिकारी उपनिदेशक हैं। इस पद पर नियुक्त अधिकारी भी राजस्थान प्रशासनिक सेवा के होते हैं। इनके द्वारा निम्न कार्य देखे जा रहे हैं :

1. राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक) सेवा नियम, 1963 के अन्तर्गत विभिन्न नगर निगम/परिषद्/पालिका में कार्यरत अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक संवर्ग के सभी कर्मचारियों के प्रस्थापना सम्बन्धी प्रकरणों का निस्तारण/आवश्यक प्रशासनिक स्वीकृतियां जारी करना;
2. राजस्थान नगरपालिका चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी सेवा नियम, 1964 के अन्तर्गत समस्त नगर निकायों के चतुर्थ श्रेणी संवर्ग कर्मचारियों के प्रस्थापना सम्बन्धी प्रकरणों का निस्तारण व प्रशासनिक स्वीकृतियां जारी करना;
3. उक्त दोनों संवर्गों के स्थानान्तरण सम्बन्धी प्रकरण;
4. राजस्थान नगर पालिका कर्मचारी फेडरेशन व अखिल भारतीय सफाई मजदूर कांग्रेस से प्राप्त माँग पत्रों का निस्तारण;
5. आवास विकास संस्थान के अधिशेष कर्मचारियों को नगरपालिका में समायोजना सम्बन्धी कार्य;
6. नगरपालिका/परिषद्/निगम में सफाई व्यवस्था अनुबन्ध पर श्रमिक रखने की स्वीकृति सम्बन्धी कार्य;
7. प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्य; तथा
8. कर प्रकोष्ठ एवं विधानसभा प्रकोष्ठ से सम्बन्धित कार्य।

निदेशालय में उपनिदेशक के दो पद स्वीकृत हैं। अतः उपनिदेशक के अतिरिक्त दूसरा उपनिदेशक परियोजना अधिकारी के अधीन कार्य करते हुए उसकी सहायता करता है।

परियोजना निदेशक

परियोजना निदेशक के अधीन परियोजना प्रकोष्ठ की स्थापना वर्ष 1989 में की गई थी। परियोजना निदेशक के अधीन एक उपनिदेशक एवं एक लेखाधिकारी का पद मुख्यालय पर तथा 13 जिला परियोजना/परियोजना अधिकारी के पद स्वीकृत हैं।[11] परियोजना निदेशक के पद पर प्रायः राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को नियुक्त किया जाता है। कभी–कभी सांख्यिकी सेवा के अधिकारी को भी इस पद पर नियुक्त की जाती रही है। परियोजना निदेशक के अधीन कार्यरत उपनिदेशक सांख्यिकी सेवा के अधिकारी होते हैं जो कि परियोजना निदेशक को उनके कार्य निष्पादन में सहायता देते हैं। परियोजना निदेशक के अधीन कार्यरत परियोजना प्रकोष्ठ के निम्नांकित कार्य हैं :

(1) आयोजना मद के अन्तर्गत स्वीकृत अधिकारियों/कर्मचारियों का संस्थापन कार्य;

(2) शहरी गरीबी उन्मूलन हेतु चलाई जा रही योजनाओं यथा स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना, राष्ट्रीय योजना, राष्ट्रीय मलिन बस्ती विकास कार्यक्रम, बालिका समृद्धि योजना [केन्द्र प्रवर्तित (विशेष केन्द्रीय सहायता)] तथा सहभागी नगर विकास योजना (राज्य योजना) अन्तर्गत केन्द्र/राज्य सरकार से राशि प्राप्त कर नगर निकायों/जिला कलेक्टरों को आवंटित करना,

(3) भौतिक तथ्यों का निर्धारण करना;

(4) इन योजनाओं के अन्तर्गत हुई वित्तीय एवं भौतिक प्रगति की समीक्षा हेतु जिला परियोजना/परियोजना अधिकारियों की बैठक प्रति माह आयोजित करना;

(5) योजनाओं की क्रियान्विति में आने वाली समस्याओं के निराकरण एवं प्रभावी क्रियान्वयन के लिए उच्चस्तरीय नीति निर्धारण समिति एवं उच्चस्तरीय कार्यकारी समिति की बैठकें आयोजित कराना, बैठकों में लिए गए निर्णयों की क्रियान्विति सुनिश्चित कराना;

(6) राशियों के उपयोगिता प्रमाण पत्र केन्द्र सरकार को भिजवाना;

(7) यूनिसेफ सहायतित प्रशिक्षण कार्यक्रमों की योजना तैयार करना तथा नगर निकायों के अधिकारियों/जिला परियोजना/परियोजना अधिकारियों, सीडीएस, अध्यक्षाओं तथा समुदाय संगठकों के प्रशिक्षण राज्यस्तरीय प्रशिक्षण संस्थान में एवं संभाग तथा जिला स्तर पर भी आयोजित कराना।

सहायक निदेशक

निदेशालय में सहायक निदेशक के दो पद स्वीकृत हैं। निदेशालय में नियुक्त ये दोनों सहायक निदेशक क्रमशः सतर्कता व सांख्यिकी प्रकोष्ठ के प्रभारी अधिकारी हैं। इनके द्वारा निम्न कार्य देखे जा रहे हैं :

(अ) सहायक निदेशक (सतर्कता) : राज्य की समस्त नगर निगम/ परिषद्/ पालिकाओं में वित्तीय अनुशासन व सुदृढ़ प्रशासन बनाए रखने हेतु सतर्कता प्रकोष्ठ के माध्यम से कार्य करता है। इस प्रकोष्ठ के प्रभारी सहायक निदेशक सतर्कता हैं। इसके निम्नांकित कार्य हैं :

1. विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत नगर निगम/परिषद्/पालिकाओं को विभिन्न मदों में दी गई अनुदान/अन्य सहायता का उपयोग ठीक प्रकार से हो व उचित मद में व्यय हो, इस हेतु समय–समय पर पालिकाओं का आकस्मिक निरीक्षण करना;
2. नगर निगम/परिषद्/पालिकाओं के चुने हुए जनप्रतिनिधि यदि पद का दुरुपयोग करते हैं तथा वित्तीय अनियमितता या भ्रष्टाचार करते हैं तो उनके विरुद्ध नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 63 के अन्तर्गत कार्यवाही करता है तथा अध्यक्ष/सदस्यों को निलम्बित कर निष्कासन की कार्यवाही करता है।
3. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 26 में उन चुने हुए जनप्रतिनिधियों को सदस्यता से निष्कासित करने का प्रावधान रखा गया है, जिन जनप्रतिनिधियों के दिनांक 27 नवम्बर, 1995 के पश्चात् पूर्व में दो संतान होने के उपरांत अतिरिक्त संतान होती है; इस हेतु सर्तकता प्रकोष्ठ तुरन्त कार्यवाही करता है तथा ऐसे प्रतिनिधियों को निष्कासित करने की कार्यवाही करता है।
4. नगर निगम/परिषद्/पालिकाओं के आयुक्तों/अधिशासी अधिकारियों एवं अधीनस्थ कर्मचारियों के विरुद्ध शिकायत प्राप्त होने पर प्राथमिक जाँच करना;
5. राजस्थान राज्य अन्वेषण ब्यूरो द्वारा नगर निगम/परिषद्/पालिकाओं के अध्यक्ष/उपाध्यक्ष/आयुक्त पार्षद/अधिशासी अधिकारी एवं कर्मचारियों के विरुद्ध अभियोजन की स्वीकृति चाहे जाने पर प्रकरण तैयार कर राज्य सरकार को प्रेषित करना;

इस पद पर भी राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की जाती है।

सहायक निदेशक (सांख्यिकी)

इस पद पर सांख्यिकी सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। सहायक

निदेशक (सांख्यिकी) के निम्नांकित कार्य हैं :

1. वार्षिक योजना, पंचवर्षीय योजना के प्रस्तावों को समेकित कर आयोजना विभाग को भिजवाना;
2. निदेशालय के योजना से सम्बन्धित प्रकोष्ठों से वित्तीय भौतिक प्रगति प्राप्त कर आयोजना विभाग में आयोजित बैठकों में भाग लेना;
3. नगर निकायों के आय–व्यय के आंकड़ों का संकलन;
4. वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन तैयार करना;
5. विशिष्ट संघटक योजना एवं जनजाति उपयोजना क्षेत्र की योजना के प्रस्ताव तैयार करना तथा उनकी वित्तीय भौतिक उपलब्धियों की सूचना सम्बन्धित विभाग को प्रेषित करना;
6. महामहिम राज्यपाल महोदय के अभिभाषण/बजट सम्बन्धित टिप्पणी तैयार करना; तथा
7. अनुपालना रिपोर्ट समेकित करना।

मुख्य लेखाधिकारी

निदेशालय में वित्तीय कार्यों की देखरेख और नियंत्रण हेतु मुख्य लेखाधिकारी का एक पद सृजित किया हुआ है। निदेशालय में मुख्य लेखाधिकारी के अधीन एक लेखाधिकारी एवं 7 कनिष्ठ लेखाकार कार्यरत हैं। मुख्य लेखाधिकारी द्वारा निदेशालय के उन वित्तीय दायित्वों का निर्वाह किया जाता है जो निदेशालय को राज्य में कार्यरत नगरीय संस्थाओं के लिए निभाने होते हैं। मुख्य लेखाधिकारी के दायित्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. निदेशालय का बजट, लेखे व अंकेक्षण तथा लेखा सम्बन्धी समस्त कार्य;
2. नगर निगमों/परिषदों एवं द्वितीय श्रेणी की नगरपालिकाओं के बजटों (आय–व्ययक अनुमानों) को स्वीकृत करना। उल्लेखनीय है कि नगर निगमों के बजट माननीय मंत्री महोदय के स्तर पर, नगर परिषदों के बजट शासन सचिव महोदय के स्तर पर एवं द्वितीय श्रेणी की नगरपालिकाओं के बजट निदेशक के स्तर पर पारित किए जाते हैं;
3. नगर निगमों/परिषदों/पालिकाओं को प्रदत्त अधिकारों से अधिक की क्रय आदि की वित्तीय स्वीकृतियाँ जारी करना;
4. लेखा शाखा द्वारा सामान्य अनुदान, विशेष अनुदान, अन्य सहायता (सार्वजनिक नलों के उपभोक्ताओं के लिए) राज्य वित्त आयोग अवार्ड के अनुदान, ग्यारहवें वित्त आयोग के तहत अग्निशमन सेवाओं के सुदृढ़ीकरण हेतु अनुदान, कोर सेवाओं के लिए अनुदान एवं चुंगी समाप्ति पर चुंगी पुनर्भरण हेतु अनुदान की स्वीकृतियां जारी करना;
5. समय–समय पर दिए गए अनुदान के लेखों का संधारण करना;
6. वित्त आयोग की अनुदान राशि के उपयोगिता प्रमाण–पत्र केन्द्र सरकार को भिजवाना;

7. महालेखाकार के अंकेक्षण आक्षेप एवं ड्राफ्ट पैराज् की अनुपालना सुनिश्चित करना;
8. नगरपालिकाओं द्वारा की गई गंभीर वित्तीय अनियमितताओं की जाँच करना;
9. नगर निकायों का जो अंकेक्षण, स्थानीय निधि अंकेक्षण विभाग द्वारा किया जाता है, के प्रतिवेदनों की पालना करना;
10. लोक लेखा समिति, अनुमान समिति, वित्त आयोग व अन्य वित्तीय समितियों के कार्यों का निष्पादन;
11. महालेखाकार से अंकमिलान व समायोजन;
12. प्रशासकों के यात्रा बिलों पर प्रतिहस्ताक्षर;
13. सामान्य वित्तीय व लेखा नियमों में निर्धारित कर्तव्य;
14. नगर परिषदों/बोर्डों का निरीक्षण जो निदेशक महोदय द्वारा आवंटित किए जावें व अन्य कार्य जो बताए जावें; तथा
15. पेंशन प्रकरणों का कार्य

अधीक्षण अभियंता

नगरपालिकाओं को उनके विकास कार्यों के निर्माण हेतु तकनीकी राय देने तथा स्थानीय निकायों द्वारा निदेशालय में प्रस्तुत तकनीकी प्रस्तावों और अनुमानों पर तकनीकी स्वीकृति की प्रक्रिया को संभव बनाने की दृष्टि से एवं निर्माण कार्यों के संदर्भ में प्राप्त शिकायतों की जाँच और अभियांत्रिकी सेवाओं में सुधार के लिए 1979 से निदेशालय में एक अभियांत्रिकी प्रकोष्ठ स्थापित किया गया था। इस प्रकोष्ठ का प्रभारी एक अधीक्षण अभियंता स्तर के अधिकारी को बनाया गया है। यह अधिकारी अभियंता (इंजीनियर) होता है जिसके अधीन एक सहायक अभियंता भी उसकी सहायता के लिए नियुक्त किया गया है।

अधीक्षण अभियंता के दायित्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. नगरपालिकाओं की योजनाओं व निर्माण कार्यों व अनुमानों का तकनीकी अनुमोदन, उनका निरीक्षण व पर्यवेक्षण;
2. निर्माण कार्यों की शिकायतों की जाँच;
3. पर्यावरण सुधार कार्यक्रम, कच्ची बस्ती सुधार कार्यक्रम;
4. पंद्रह लाख रुपयों से अधिक के तकनीकी अनुमानों की स्वीकृति देना;
5. माउन्ट आबू में भवन निर्माण की स्वीकृति देने हेतु गठित समिति का कार्य;
6. बाढ़/अतिवृष्टि से हुई क्षति से सम्बन्धित कार्य;
7. सूखे शौचालयों को जल प्रवाही शौचालयों में परिवर्तन सम्बन्धी कार्य;
8. नगरपालिकाओं द्वारा वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेने हेतु प्रस्तावों के संदर्भ में परीक्षण;

9. नगरपालिकाओं के विकास कार्यों के सम्बन्ध में आने वाली कठिनाइयों सम्बन्धी परामर्श;
10. भारत सरकार/राज्य सरकार से प्राप्त तकनीकी मामलों का संधारण;
11. मुख्यमंत्री रोजगार योजना से सम्बन्धित कार्य;
12. नगरपालिकाओं की आवश्यकतानुसार अभियंताओं के स्वीकृत पदों के तहत उन्हें उपलब्ध कराना व कार्यरत अभियंताओं की सेवा से सम्बन्धित मामलों का निस्तारण करना आदि।
13. अन्य कार्य जो निदेशक द्वारा बताए जाएँ।

इसी प्रकार अधीक्षण अभियंता के अधीन नियुक्त **सहायक अभियंता के दायित्व** भी निर्धारित हैं जो इस प्रकार हैं :

1. कार्यालय भवन, फर्नीचर, प्रकाश, जल व्यवस्था आदि का संधारण;
2. कार्यालय भवन के निर्माण कार्यों की देखरेख, फर्नीचर, जल, प्रकाश, सजावट आदि का समस्त कार्य;
3. नगरपालिका के निर्माण कार्यों का निरीक्षण, शिकायतों की जाँच जो निदेशक द्वारा निर्दिष्ट की जाए।
4. अन्य कार्य जो अधीक्षण अभियंता/निदेशक द्वारा बताए जाएँ।

कार्यालय अधीक्षक

निदेशालय के मंत्रालयिक कार्यों, गतिविधियों और कर्मचारियों पर नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण करने की दृष्टि से एक कार्यालय अधीक्षक का पद सृजित किया गया है। कार्यालय अधीक्षक के लिए विनिश्चित किए गए दायित्वों का विवरण इस प्रकार हैं :

1. कर्मचारियों पर पर्यवेक्षण, उनमें अनुशासन बनाए रखना, उपस्थिति की जाँच, समय पर उपस्थिति की पालना करवाना व कार्यालय प्रस्थापना का समस्त कार्य;
2. कार्यालय पद्धति का क्रियान्वयन करवाना, विचाराधीन पत्रों की सामयिक जाँच कराना, कार्यालय के चालू अभिलेख का समुचित रूप से संधारण करवाना;
3. कार्यालय के समस्त अनुभागों का सम्यक् निरीक्षण व अनुशंसाएं।
4. पत्र प्राप्ति व प्रेषण की व्यवस्था, डाक वितरण, टाइपिंग व्यवस्था करना, डुप्लीकेटिंग व्यवस्था व उन पर पर्यवेक्षण;
5. टेलीफोनों की व्यवस्था, पर्यवेक्षण व टेलीफोन पंजिकाओं का संधारण करवाना व टेलीफोन बिलों का सामयिक भुगतान करवाना;
6. पुस्तकालय, स्टोर व रिकार्ड का पर्यवेक्षण व भंडार से सामग्री जारी करना व भंडार पर्यवेक्षक का कार्य;
7. निर्णयों की प्रामाणिक प्रतिलिपियां जारी करना, उपस्थिति प्रमाण–पत्र देना व रिकार्ड रखना;

8. कार्यालय भवन में दिन–प्रतिदिन की सामान्य सफाई, जल, प्रकाश व अन्य आवश्यक व्यवस्थाओं तथा कार्यालय भवन के निर्माण की देखरेख, जल, प्रकाश, सजावट आदि कार्यों में सहायक अभियंता को सहयोग;
9. निदेशक व अधिकारीगण द्वारा निर्दिष्ट गोपनीय कार्य व अतिरिक्त निदेशक प्रशासन तथा उपनिदेशक (एस. एम. ई.) को प्रस्थापना के कार्यों में सहयोग;
10. मंत्रिमंडलीय निर्णयों का क्रियान्वयन;
11. निदेशक व अन्य अधिकारीगण द्वारा भेजे गए प्रकरणों का परीक्षण;
12. कार्यालय पद्धति में निर्धारित समस्त कर्तव्य व अन्य कार्य जो निदेशक व अधिकारीगण द्वारा बताए जावें।

क्षेत्रीय कार्यालय एवं क्षेत्रीय उपनिदेशक

स्थानीय शासन निदेशालय के दायित्वों का अधिक प्रभावी तरीके से निष्पादन करने के उद्देश्य से उसके कार्यों का विकेन्द्रीकरण किया गया है। विकेन्द्रीकरण की यह योजना 1977–78 में क्रियान्वित की गई जिसके परिणामस्वरूप जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में निदेशालय के तीन क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किए गए और इन कार्यालयों का दायित्व तीन क्षेत्रीय सहायक निदेशकों को प्रदान किया गया।[14] इस योजना के माध्यम से निदेशालय ने यह प्रयत्न किया है कि राज्य भर की नगरीय संस्थाओं पर चूंकि जयपुर से पर्यवेक्षण, नियंत्रण और मार्गदर्शन करना प्रभावी नहीं हो पा रहा था इसलिए क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित कर उन्हें यह दायित्व दिया गया कि वे अपने क्षेत्राधिकार में आने वाली नगरपालिकाओं का निरीक्षण, पर्यवेक्षण और आवश्यक मार्गदर्शन करें। क्षेत्रीय कार्यालयों को यह अधिकार दिया गया है कि उनके क्षेत्राधिकार में आने वाली तृतीय/चतुर्थ श्रेणी की नगरपालिकाओं के बजट की जाँच कर अनुमोदन करें। बाद में इस व्यवस्था को प्रभावी बनाने हेतु सहायक निदेशक से क्रमोन्नत कर क्षेत्रीय उप निदेशक के पद सृजित किए गए। साथ ही अजमेर, बीकानेर तथा कोटा में भी क्षेत्रीय कार्यालय एवं क्षेत्रीय उपनिदेशक के पद सृजित किए गए। इस प्रकार वर्तमान में स्थानीय शासन निदेशालय के अधीन 6 क्षेत्रीय कार्यालय एवं 6 उपनिदेशक क्षेत्रीय के पद सृजित हैं। ये कार्यालय एवं पद जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, अजमेर, बीकानेर एवं कोटा में हैं। स्थानीय स्वायत्त शासन का जयपुर स्थित निदेशालय इन सभी क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से राजस्थान की समस्त नगरीय संस्थाओं पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण का कार्य करता है। निदेशालय अपनी सुविधा तथा इन क्षेत्रीय कार्यालयों की आवश्यकतानुसार इन्हें अपने बजट में से कुछ हिस्सा प्रशासनिक व्यय के लिए स्वीकृत करता है। अब क्षेत्रीय कार्यालयों को अपने अधीन कार्यक्षेत्र में आने वाली नगरीय इकाइयों पर पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण के अतिरिक्त नगरपालिकाओं की आय के स्रोतों, करारोपण, चुंगी, भवन व भूमि कर इत्यादि के कार्यों में भी निदेशालय द्वारा निर्देशित भूमिका प्रदान की गई है।

क्षेत्रीय कार्यालयों की प्रशासनिक संरचना में एक उपनिदेशक, एक कार्यालय सहायक, एक कनिष्ठ लेखाकार तथा एक वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक तथा चतुर्थ

श्रेणी कर्मचारी के पद स्वीकृत हैं।

निदेशालय की आन्तरिक संरचना

निदेशालय की आन्तरिक संरचना का विश्लेषण चार्ट पृ. 343 पर है। इसके अनुसार जयपुर स्थित निदेशालय की संगठनात्मक संरचना को प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से कुल 9 प्रकोष्ठों में संयोजित किया गया है।

निदेशालय के कार्य निष्पादन की निर्धारित प्रक्रिया

राजस्थान सरकार के स्वायत्त शासन विभाग द्वारा राजस्थान सरकार के कामकाज के नियम (रूल्स ऑफ बिजनेस) 21 व 22 के अनुसरण में निदेशालय द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों की प्रक्रिया और विभिन्न मदों पर निर्णय लेने की शक्ति का विनिश्चय किया जाता है। स्वायत्त शासन विभाग समय–समय पर अपने इन आदेशों में परिवर्तन करता रहता है। वर्तमान में जिस आदेश द्वारा स्वायत्त शासन विभाग में कामकाज के निष्पादन की जो प्रक्रिया निर्धारित की हुई है, वह इस प्रकार है :[15]

आय–व्यय के नियमन के संदर्भ में इस परिपत्र द्वारा यह निर्देशित है कि निदेशालय, स्थानीय निकाय विभाग के आय–व्यय के अनुमान की जाँच उपसचिव द्वारा की जाएगी और उसे अनुमोदन हेतु स्वायत्त शासन विभाग के सचिव एवं मंत्री तक भेजा जाएगा। इसी प्रकार नगर परिषदों के आय–व्यय के अनुमान की प्रारम्भिक जांच उपसचिव द्वारा और उसका निष्पादन सचिव द्वारा किया जाएगा। द्वितीय श्रेणी की नगरपालिकाओं के अनुमान की जाँच उप–सचिव द्वारा और स्वीकृति सचिव द्वारा दी जाती है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ श्रेणी की नगरपालिकाओं के बजट की जाँच क्षेत्रीय उपनिदेशक द्वारा की जाती है और उसकी अग्रिम जाँच अपर सचिव तथा स्वीकृति उपसचिव द्वारा दी जाती है। कर, विधि कार्य, नियम व उपनियम, रिट याचिका इत्यादि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक तौर पर उप सचिव प्रस्तावों की जाँच करता है और उन पर स्वीकृति सचिव के द्वारा दी जाती है। आवश्यक होने पर प्रस्तावों पर मंत्री, स्वायत्त शासन विभाग की अनुमति प्राप्त की जाती है।

इसी प्रकार कामकाज के नियमों के अन्तर्गत जारी इन आदेशों में यह भी कहा गया है कि द्वितीय व तृतीय श्रेणी की नगरपालिकाओं की पुनरीक्षण और पुनरावलोकन याचिकाओं पर मामलों की जाँच उपसचिव द्वारा और स्वीकृति हेतु उन्हें सचिव तथा राज्य मंत्री को प्रस्तुत किया जाएगा। इन निर्देशों में कहा गया है कि नगरपालिका बोर्ड के आदेश इत्यादि के निष्पादन को निलम्बित करने की शक्ति प्रारम्भिक तौर पर उपसचिव में निहित की गई है किन्तु ऐसे मामलों में सचिव व राज्यमंत्री की अनुमति भी प्राप्त की जाती है और आवश्यकतानुसार उन पर मंत्री की स्वीकृति प्राप्त की जाती है। नगर परिषदों या मंडलों की कालावधि में परिवर्तन, उन्हें भंग करना, उनके गठन तथा सीमाओं में वृद्धि करने सम्बन्धी प्रस्तावों की जाँच उपसचिव द्वारा की जाती है और सचिव तथा मंत्री के अनुमोदन से ऐसे आदेश जारी किए जाते हैं।

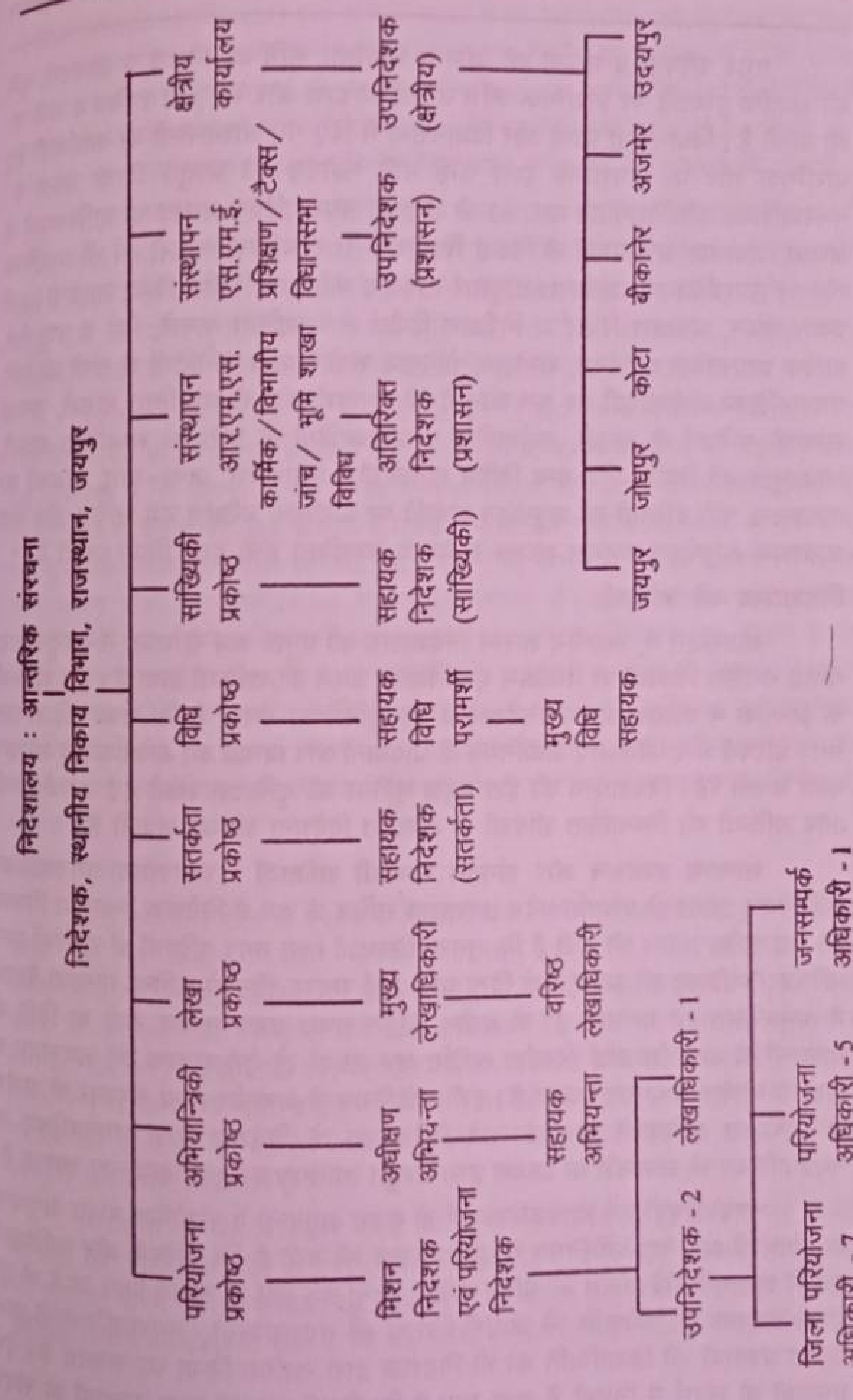

नगर परिषदों व मंडलों को ऋण व सहायता, भूमि का विक्रय व आवंटन, भूमि की अवाप्ति इत्यादि पर प्रारम्भिक जाँच उपसचिव द्वारा और स्वीकृति सचिव व मंत्री की ली जाती है। विधानसभा प्रश्नों और विधानसभा में दिए गए आश्वासनों पर कार्यवाही हेतु प्रारम्भिक तौर पर उपसचिव द्वारा उन्हें मंत्री महोदय को प्रस्तुत किया जाता है। नगरपालिका अधिनियम की धारा 63 के अन्तर्गत नगर परिषद् अध्यक्ष या पालिकाओं के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष व सदस्यों के विरुद्ध शिकायतों से सम्बन्धित मामलों को भी प्रारम्भिक तौर पर उपसचिव और आवश्यकतानुसार सचिव व मंत्री द्वारा निर्णीत किया जाता है। इसी प्रकार गबन, अंकेक्षण रिपोर्ट व निरीक्षण रिपोर्ट से सम्बन्धित मामले, मेले व पशु मेले, वार्षिक प्रशासनिक प्रतिवेदन, सम्मेलन, सेमिनार, संगोष्ठियां व समितियों के संघों की मांगें, नगरपालिका कर्मचारियों पर श्रम कानूनों की प्रभावशीलता से सम्बन्धित मामले, सफाई सम्बन्धी श्रमिकों के मामले, कर्मचारियों व अधिकारियों के प्रशिक्षण सम्बन्धित मामले, लोकायुक्त की रिपोर्ट और अन्य विविध मामले जैसे वृक्षारोपण, जन्म–मृत्यु, सड़कों का नामकरण, गंदी बस्तियों का अनुमोदन इत्यादि पर प्रारम्भिक परीक्षण उप सचिव और यथा आवश्यक अनुमोदन स्वायत्त शासन सचिव व सम्बन्धित मंत्री द्वारा किया जाता है।[16]

निदेशालय की शक्तियाँ

राजस्थान में, स्थानीय शासन निदेशालय को प्रमुख रूप से राज्य में कानून द्वारा गठित नगरीय निकायों पर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण करने की शक्तियाँ प्राप्त हैं। इन शक्तियों के आलोक में स्वायत्त शासन निदेशालय यह सुनिश्चित करता है कि राज्य की समस्त नगर परिषदें और पालिकाएं अधिनियम के प्रावधानों और जनता की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य करती रहें। निदेशालय की इस प्रमुख भूमिका को दृष्टिगत रखते हुए उसके कार्यों और शक्तियों की निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना की जा सकती है :

सामान्य प्रशासन और संगठन सम्बन्धी शक्तियाँ : राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 के अन्तर्गत पदेन उपशासन सचिव के रूप में निदेशक, स्थानीय निकाय को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि नगरपालिकाओं तथा नगर परिषदों के सदस्यों द्वारा परिषद्/पालिका की अनुमति के बिना यदि कोई सदस्य तीन से अधिक सामान्य बैठकों में अनुपस्थित रहे या धारा 37 के अधीन विहित शपथ ग्रहण न कर सके या विधि के प्रावधनों के अन्तर्गत कोई निरर्हता अर्जित कर ली हो तो ऐसे सदस्य की सदस्यता से अयोग्य घोषित किया जा सकता है। इसी अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार के आदेश से प्राधिकृत अधिकारी होने के नाते निदेशालय के निदेशक द्वारा नगरपरिषद या नगरपालिका के सभापति या अध्यक्ष द्वारा प्रस्तुत त्यागपत्र स्वीकृत किया जा सकता है।

नगरपरिषदों एवं नगरपालिकाओं के बजट अनुमानों व संशोधित बजट अनुमानों के संदर्भ में अब नए अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी है कि परिषदें और पालिकाएँ इनकी सूचनाएँ निदेशालय को प्रेषित करेंगी, किन्तु नए पदों के सृजन किए जाने के पूर्व राज्य सरकार की स्वीकृति ली जाएगी। राज्य की नगरपरिषदों/नगरपालिकाओं द्वारा पारित प्रस्तावों की क्रियान्विति को भी निदेशक द्वारा स्थगित किया जा सकता है। ऐसे प्रस्तावों के संदर्भ में नियमों में कहा गया है कि किन्ही सदस्यों द्वारा प्रस्तावों के संदर्भ में विमति (Note of Dissent) दर्ज कराया जाता है तो ऐसे प्रस्ताव को निदेशक के स्तर पर ही स्थगित किए जाने का निर्णय किया जा सकता है और अन्य मामलों में शक्ति राज्य सरकार को दी गयी है।[17] राज्य की समस्त नगरपरिषदों और नगरपालिका बोर्डों के रिकार्ड को मंगाने, उनके आदेशों का परीक्षण करने और उन्हें निरस्त या संशोधित करने का अधिकार भी राज्य सरकार द्वारा अधिकृत किए जाने के कारण निदेशालय को होता है।

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत नगर परिषदों एवं नगरपालिकाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि परिषदों की बैठकों में जो प्रस्ताव पारित किए जाते हैं उनकी एक प्रतिलिपि वे स्वायत्त शासन निदेशालय के निदेशक को प्रेषित करेंगे। ऐसे प्रस्ताव प्राप्त होने के पश्चात् निदेशक को यह अधिकार भी है कि प्रस्ताव को पारित करने सम्बन्धी बैठक की कार्यवाही का अभिलेख अपने यहां मंगवा सकता है।[18]

उपशासन सचिव के रुप में निदेशक को निदेशालय के सामान्य प्रशासन को नियंत्रित करने के लिए कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। उसे यह अधिकार है कि वह राज्य की समस्त नगरपालिकाओं का, उनकी जनसंख्या और आय के अनुपात में वर्गीकरण कर सकता है। इसके अतिरिक्त नगरीय संस्थाओं के संदर्भ में वह कुछ आपातकालीन ऐसी शक्तियों का उपयोग भी करता है जिनके माध्यम से गलत काम करने वाली नगरपालिकाओं पर अंकुश लगता है। अपने सामान्य पर्यवेक्षकीय अधिकार के अन्तर्गत वह किसी भी नगरपालिका का सामान्य निरीक्षण कर सकता है या किसी नगरपालिका/परिषद् में चलने वाले निर्माण कार्य की देखरेख के लिए जा सकता है। वह नगरपालिकाओं/परिषदों की बैठकों के रिकार्ड मंगवा सकता है। वह नगरपालिका द्वारा पारित किसी प्रस्ताव को निलम्बित कर सकता है। वह विभिन्न नगरीय इकाइयों को उनके खातों के अंकेक्षण के प्रतिवेदनों पर कार्यवाही करने के लिए आवश्यक निर्देश दे सकता है।

वित्तीय शक्तियाँ

वित्त स्थानीय स्तर के प्रशासन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है इसलिए राज्य इस पर कठोर नियंत्रण करने का प्रयत्न करता है। निदेशक को सभी नगरनिगमों/परिषदों/पालिकाओं के व्यय हेतु दो करोड़ रुपए तक की सामग्री क्रय करने व अनुबंधों की स्वीकृति देने का अधिकार है।[19] निदेशक को समस्त नगर निगमों/परिषदों/पालिकाओं के निर्वाचित सदस्यों को जन समस्याओं के त्वरित गति से निराकरण व कार्य में गति प्रदान करने के लिए सम्बन्धित नगर निगम/परिषद्/पालिकाओं के स्वयं की अर्जित आय में से निम्नांकित मासिक भत्ता व अन्य सुविधाएँ स्वीकृत करने का अधिकार है।[20]

निदेशक को यह अधिकार भी है कि वह नगरीय निकायों द्वारा किए गए किसी भी व्यय को, जिसके माध्यम से नगरवासियों की आर्थिक स्थिति, जन स्वास्थ्य और सुरक्षा को सुरक्षित करने के उपाय किए गए हैं, स्वीकृति दे सकता है। राज्य सरकार ने निदेशक को यह विशेष अधिकार दे रखा है कि वह राज्य सरकार द्वारा नगरीय संस्थाओं के लिए

स्वीकृत और जारी अनुदान के विषय में समस्त नगरीय इकाइयों को संसूचित करता है और समस्त नगरीय इकाइयों से भी सरकारी नियमों में यह अपेक्षा की गई है कि उस अनुदान की राशि को जिस वाउचर के माध्यम से राजकोष से प्राप्त करें उसके क्रमांक और तिथि से निदेशक को अवगत कराएंगें।[21]

			टेलिफोन	स्टेशनरी	वाहन भत्ता	मीटिंग में भाग लेने का पारिश्रमिक
नगर निगम	मेयर	10,000 रु प्रतिमाह	1000	1500		300 रुपए प्रति मीटिंग
	अन्य सदस्य	1050 रु प्रतिमाह	375	750		(अधिकतम 1000 रुपए)
नगर परिषद्	सभापति	7,500 रु प्रतिमाह	500	1000		250 रुपए प्रति मीटिंग
	अन्य सदस्य	750 रु प्रतिमाह	300	525		(अधिकतम 750 रुपए)
नगरपालिका	अध्यक्ष	5,000 रु प्रतिमाह	250	250		200 रुपए प्रति मीटिंग
(II,III,IV श्रेणी)	अन्य सदस्य	450 रु प्रतिमाह	225	375		(अधिकतम 500 रुपए)

राज्य की नगरपालिकाओं/परिषदों से नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत यह अपेक्षा की जाती है कि यदि वे अपने नागरिकों पर कोई नया कर आरोपित करना चाहें तो उसकी स्वीकृति उन्हें राज्य सरकार से लेनी होगी।[22] राजस्थान नगरपालिका सेवा के पदाधिकारियों के आर्थिक लाभों यथा वार्षिक वेतन वृद्धि, पेंशन, ग्रेच्युटी, भविष्य निधि और अन्य आर्थिक लाभों एवं भत्तों की स्वीकृति के आदेश निदेशालय द्वारा ही जारी किए जाते हैं।[23] निदेशालय के प्रभारी होने के नाते निदेशक का यह दायित्व माना जाता है कि यदि राज्य में किसी भी नगरपालिका/परिषद् के अधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा नगरीय निकायों के कोष से कोई गबन इत्यादि हो गया है तो उसकी रिपोर्ट मंगवा सकता है और उस पर आवश्यक कार्यवाही किए जाने का निर्देश दे सकता है। इस प्रकार निदेशक को राज्य की नगरीय संस्थाओं के वित्तीय कार्यकलापों के सम्बन्ध में व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

कार्मिक शक्तियाँ

राज्य की नगरीय संस्थाओं के कार्मिक प्रशासन के क्षेत्र में भी निदेशालय और निदेशक को पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त हैं। प्रत्येक वर्ष के अन्त में निदेशक द्वारा इस बात की समीक्षा की जाती है कि नगरपालिकाओं/परिषदों के किस सेवा संवर्ग में कितने पद रिक्त हैं और उन पर नियुक्ति किस तरीके से की जानी है।[24]

नगरीय संस्थाओं में की जाने वाली नियुक्तियों के संदर्भ में निदेशक को व्यापक अधिकार इन नियमों के अन्तर्गत दिए गए हैं। ऐसे उच्च पदों को छोड़कर जिनकी नियुक्ति राज्य सरकार के द्वारा की जाती है, निदेशक को ही नियुक्ति देने के लिए अधिकृत किया गया है। ऐसे पदों में नगरपालिका आयुक्त, स्वास्थ्य अधिकारी, इंजीनियर

तथा प्रथम व द्वितीय श्रेणी की नगरपालिकाओं के अधिशासी अधिकारी आते हैं जिनकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। इन अधिकारियों से अधीनस्थ सभी अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार निदेशक, स्थानीय निकाय को प्राप्त है। नगरपालिकाओं में कर निर्धारकों की नियुक्ति जारी करने से पूर्व निदेशक की अनुमति आवश्यक होती है।[25] सेवा नियमों के अन्तर्गत उसे विभिन्न पदों पर 6 माह के लिए अस्थायी नियुक्तियां करने का अधिकार है।[26] निदेशालय के प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी होने के कारण वह इस दायित्व का निर्वाह भी करता है कि समस्त नगरीय संस्थाओं में विभिन्न सेवा संवर्गों में पदोन्नति हेतु पात्र कर्मचारियों की सूची तैयार करता है और उसे पदोन्नति समिति, जिसका वह भी एक सदस्य होता है, के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करता है।[27] वह निदेशक के रूप में अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत सेवा अभिलेख की समीक्षा करता है और उसके उपरांत पदोन्नति समिति के समक्ष उस अभिलेख को प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया में वह अधीनस्थ अधिकारियों की उच्च पद पर पदोन्नति हेतु वरिष्ठता सूची तैयार करवाता है और उस पर आवश्यक कार्यवाही को गति प्रदान करता है। चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के अतिरिक्त वह समस्त कर्मचारियों का नगरीय इकाइयों में स्थानान्तरण करने हेतु भी सक्षम होता है।

राजस्थान नगरपालिका सेवा नियमों के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि नगरपालिकाओं/परिषदों में काम करने वाले झाड़ूकश (स्वीपर) इत्यादि के विरुद्ध यदि कार्यपालिका अधिकारी द्वारा सेवा से हटाने या पदच्युत करने के आदेश पारित कर दिए गए हैं तो ऐसे कर्मचारी निदेशक को अपील कर सकते हैं। निदेशक ऐसी अपील की सुनवाई के पश्चात् यदि यह अनुभव करे कि दिए गए आदेश न्यायपूर्ण नहीं हैं तो पदच्युति के आदेश को निरस्त कर सकता है।[28] इसी प्रकार नियमों में यह व्यवस्था भी की गई है कि यदि कर निर्धारक, सफाई निरीक्षक, निरीक्षक, लेखाकार और मंत्रालयिक सेवा के अन्य अधीनस्थ कर्मचारियों के विरुद्ध पदच्युति या इसी प्रकार सेवा से हटाए जाने इत्यादि का दण्डनात्मक आदेश नियुक्तिकर्ता अधिकारियों द्वारा जारी कर दिया जाए तो वे उसकी अपील निर्धारित अवधि में निदेशक को कर सकते हैं।[29] निदेशक को सभी प्रकार के कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार के अवकाशों की स्वीकृति देने का अधिकार है।[30] कार्मिकों से सम्बन्धित निदेशालय और निदेशक की शक्तियों का अधिक विस्तृत विवरण नगरीय निकायों के कार्मिक प्रशासन से सम्बन्धित स्वतंत्र अध्याय में दिया जा चुका है।

परामर्शदात्री शक्तियाँ

जैसा कि पूर्व में भी संकेत किया जा चुका है कि निदेशक, स्थानीय निकाय, राज्य सरकार के नगरीय विकास और आवासन विभाग का पदेन उपसचिव भी होता है और इस रूप में वह विभाग की नीतियों के निरूपण और निर्णय-निर्माण में अपनी सलाह तथा परामर्श राज्य सरकार को उपलब्ध करवाता है। जब कभी भी नगरीय विकास और आवासन मंत्री उन्हें नगरीय विकास एवं प्रशासन से सम्बन्धित किसी विषय और समस्या विशेष पर परामर्श देने के लिए कहें, तब उस विषय और समस्या विशेष पर निदेशक अनुभव, ज्ञान और अर्जित विशेषता के आधार पर आवश्यक परामर्श उन्हें देता है।

निदेशालय की शक्तियों के उपर्युक्त विवरण–विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि निदेशालय का प्रमुख कार्य राज्य में नगरीय संस्थाओं के कार्यकलापों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण करना है। राजस्थान के सन्दर्भ में एक द्वैध अभी तक यह बना हुआ है कि राज्य सरकार अभी भी इस विषय में अपना मानस स्पष्ट नहीं बना पाई है कि किस प्रकार की शक्तियाँ निदेशालय को पूरी तरह हस्तांतरित की जानी चाहिए और किन शक्तियों को राज्य सरकार द्वारा संरक्षित रखा जाना चाहिए। यद्यपि यह तो स्पष्ट ही है कि निदेशालय अपने आप में राज्य सरकार की एक क्षेत्रीय इकाई है जिस पर राज्य के नगरीय विकास एवं स्वायत्त शासन विभाग द्वारा विनिर्मित नीतियों को निष्पादित करने का प्रमुख दायित्व होता है। यह अपने आप में राज्य सरकार नहीं है। निदेशालय का निदेशक यद्यपि नगरीय विकास एवं आवासन विभाग का पदेन उपसचिव होता है किन्तु इस नाते वह यह सुनिश्चित करता है कि निदेशालय और राज्य सरकार के कार्यकलापों में कोई विसंगतियां नहीं हो तथा आवश्यक सामंजस्य बना रहे। किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि निदेशक के पदेन उपसचिव होने से निदेशालय की शक्तियों, सम्मान और प्रतिष्ठा में कोई वृद्धि हो गई है।

निदेशालय के कार्य और भूमिका

इस अध्याय के प्रारम्भ में यह विवरण दिया जा चुका है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में राजस्थान ऐसा प्रथम राज्य था जिसने 1951 में ही अपने यहाँ स्थानीय निकाय निदेशालय की स्थापना कर ली थी। राजस्थान के पश्चात् अन्य राज्यों आंध्र प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा इत्यादि ने अपनी स्थानीय संस्थाओं के संवर्धन के उद्देश्य से स्थानीय शासन निदेशालय की स्थापना की थी। राज्य में कार्यरत नगरीय संस्थाओं को सहायता और वांछित परामर्श उपलब्ध करना और इन संस्थाओं पर राज्य के नियंत्रण को अधिक प्रभावी बनाना स्थानीय शासन निदेशालय की स्थापना का प्राथमिक उद्देश्य रहा है। यहाँ यह संकेत करना, पुनरावृत्ति की आशंका होते हुए भी आवश्यक प्रतीत होता है कि स्थानीय निकाय निदेशालय की स्थापना का निर्णय करते समय नीति निर्माताओं और निर्णयकर्ताओं के मन में यह संकल्प भी प्रमुख प्रेरणा का कारक रहा है कि यह निदेशालय नगरीय विकास की नीति के निरूपण में शासकीय सचिवालय को सहायता उपलब्ध कराएगा। शासन सचिवालय चूंकि अन्यान्य सरकारी दायित्वों के निष्पादन में अत्यंत व्यस्त रहता है। अतः वह नीति निर्माण करते समय कदाचित, स्थानीय निकायों की व्यावहारिक समस्याओं से अवगत नहीं हो पाएगा। अतः इसी शून्य की पूर्ति के निमित्त स्थानीय शासन निदेशालय की अभिकल्पना की गई प्रतीत होती है।

स्थानीय शासन निदेशालय से एक साथ दोहरी भूमिका के निर्वाह की सैद्धांतिक अपेक्षा की गई है। एक ओर तो निदेशालय से नगरीय संस्थाओं को मित्रवत् मार्गदर्शन और आवश्यक परामर्श तथा सामान्य पर्यवेक्षण और नियंत्रण करने की अपेक्षा की गई है। दूसरी ओर निदेशालय से राज्य की समस्त नगरीय संस्थाएं यह अपेक्षा करती हैं कि निदेशालय उनकी व्यावहारिक समस्याओं को अनुभव करेगा और उन्हें राज्य सरकार को

सम्प्रेषित कर यथासंभव शीघ्रता से उनका समाधान करवाने का प्रयत्न करेगा।

जहाँ तक निदेशालय के कार्यों और उसके द्वारा निष्पादित भूमिका का प्रश्न है उसका कुछ संकेत तो निदेशालय और निदेशक की शक्तियों के उपर्युक्त विवरण में मिल चुका है। फिर भी निदेशक की भूमिका को अधिक स्पष्टता देने की दृष्टि से राजस्थान के निदेशालय को आधार मानकर उसके कार्यों के विभिन्न आयामों को निम्नांकित शीर्षकों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है :

1. नगरीय संस्थाओं पर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण

स्थानीय स्वायत्त शासन निदेशालय का प्रमुख कार्य राज्य भर की नगरीय संस्थाओं का पर्यवेक्षण और नियंत्रण करना है। निदेशालय द्वारा किए जाने वाले नियंत्रण को दो भागों में बांटा जा सकता है :

(क) सामान्य प्रशासकीय पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण; तथा
(ख) तकनीकी नियंत्रण

(क) सामान्य प्रशासकीय पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण : निदेशालय राज्य भर की नगरपालिकाओं/परिषदों के सामान्य कामकाज पर प्रशासकीय पर्यवेक्षण और नियंत्रण करता है। निदेशालय यह सुनिश्चित करता है कि राज्य सरकार द्वारा जारी स्थानीय स्वायत्त शासन विषयक उन स्थायी और तदर्थ अनुदेशों की नगरीय निकायों द्वारा सही–सही पालना की जा रही है जिसके माध्यम से नगरीय निकायों द्वारा निष्पादित सेवाओं के न्यूनतम स्तर को बनाया जा सके। इस निमित्त निदेशालय में एक निदेशक, दो उपनिदेशक, तीन सहायक निदेशक और अनेक अधीनस्थ अधिकारी नियुक्त हैं जिन पर यह दायित्व होता है कि वे यह आश्वस्त करें कि राज्य की नगरीय संस्थाएं नगरपालिका अधिनियम के प्रावधानों और समय–समय पर राज्य सरकार के स्वायत्त शासन विभाग और स्वयं इस निदेशालय द्वारा जारी निर्देशों के अनुरूप कार्य करती रहें। इस कार्य को और अधिक प्रभावी तरीके से निष्पादित करने के लिए राज्य भर में निदेशालय के छः क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किए गए हैं। क्षेत्रीय कार्यालय के प्रभारी प्रशासक उपनिदेशक के माध्यम से उन क्षेत्रों के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली नगरीय संस्थाओं पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण किया जाता है। क्षेत्रीय कार्यालय एक ओर तो राज्य सरकार तथा निदेशालय के निर्देशों को नगरीय संस्थाओं तक सम्प्रेषित करते हैं और दूसरी ओर अपने क्षेत्र की नगरीय संस्थाओं की समस्याओं से निदेशालय और राज्य सरकार को संसूचित करते हैं।

सामान्य पर्यवेक्षण और नियंत्रण के अपने इस दायित्व के निर्वाह के संदर्भ में निदेशालय उन समस्त प्रस्तावों का परीक्षण करता है जो अधिनियम की अपेक्षाओं के अनुरूप राज्य की नगरीय संस्थाओं द्वारा नवीन कार्यकलापों के संदर्भ में निदेशालय को प्रेषित किए जाते हैं। राज्य की नगरपालिकाओं/परिषदों में नियुक्त अधिशासी अधिकारियों के कार्य का मूल्यांकन किया जाता है। नगरीय संस्थाओं द्वारा निष्पादित कार्यों की गुणवत्ता का निदेशालय के क्षेत्रीय या मुख्यालय के अधिकारियों द्वारा आकस्मिक या

नियमित निरीक्षण किया जा सकता है। निदेशालय इन संस्थाओं के सेवा के स्तर को बनाए रखने या उसमें वृद्धि करने हेतु आवश्यक निर्देश भी दे सकता है।

(ख) तकनीकी नियंत्रण : राज्य की समस्त नगरपालिकाओं/परिषदों द्वारा जो भी निर्माण कार्य कराए जाते हैं उनकी तकनीकी गुणवत्ता का स्तर बनाए रखने के लिए निदेशालय में एक अभियांत्रिकी अनुभाग स्थापित किया गया है। इस अनुभाग का नियंत्रण एक अधीक्षण अभियंता स्तर के अधिकारी द्वारा किया जाता है। उसके अधीन एक सहायक अभियंता व कुछ तकनीकी कर्मचारी कार्य करते हैं। यह अनुभाग राज्य नगरपालिकाओं द्वारा प्रस्तुत योजनाओं व निर्माण कार्यों के अनुमानों का तकनीकी परीक्षण करते हुए उनका अनुमोदन करता है। यह अनुभाग नगरपालिका के पर्यावरण सुधार कार्यक्रमों, शहरी विकास से सम्बन्धित योजनाओं, बाढ़ राहत कार्यक्रमों, सुलभ शौचालयों में परिवर्तन सम्बन्धी तकनीकी परियोजनाओं इत्यादि का तकनीकी दृष्टि से अनुमोदन करता है तथा इन कार्यों की प्रगति पर सतत् पर्यवेक्षण करता है। इसके अतिरिक्त कार्यालय भवन के निर्माण, उसमें फर्नीचर, प्रकाश और जल–व्यवस्था आदि का संधारण नगरपालिकाओं के निर्माण कार्यों का निरीक्षण व तद्विषयक शिकायतों आदि की जाँच का कार्य किया जाता है।

निदेशालय राजस्थान नगरपालिका सेवा के प्रशासनिक व तकनीकी अधिकारियों की प्रस्थापना के समस्त कार्य करता है। राजस्थान की समस्त नगरपालिकाओं के नगरपालिका सेवा के अधिकारियों और विभिन्न श्रेणी के उन कर्मचारियों, जिनका स्थानान्तरण सभी नगरपालिकाओं में हो सकता है, के वार्षिक मूल्यांकन प्रतिवेदन से सम्बन्धित कार्य, इन अधिकारियों व कर्मचारियों के विरुद्ध प्राथमिक व विभागीय जाँच, आरोप–पत्र, दंड इत्यादि से सम्बन्धित मामले निदेशालय द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। नगरपालिकाओं/परिषदों में प्रशासकों की नियुक्ति, उनकी शिकायतें, विभागीय जाँच, क्षेत्रीय कार्यालयों के उप निदेशकों से सम्बन्धित कार्य, नगरपालिकाओं के निरीक्षण प्रतिवेदन, बैठकों की कार्यवाही, असहमति टिप्पणियां तथा नगरपालिकाओं के कार्मिक संघों की मांगों व उनकी हड़तालों सम्बन्धित प्रकरणों का निस्तारण निदेशालय द्वारा निष्पादित प्रस्थापन सम्बन्धी दायित्वों में समाहित है।

2. कर्मचारियों से सम्बन्धित कार्य

राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम, 1963 के अन्तर्गत नगरपालिकाओं/परिषदों में कर्मचारियों की भर्ती के तीन तरीके बताए गए हैं :

(क) प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा,
(ख) पदोन्नति द्वारा, और
(ग) स्थानान्तरण द्वारा।

इन नियमों के अन्तर्गत राजस्थान में नगरपालिका में कुछ तकनीकी कर्मचारी जैसे राजस्व अधिकारी ग्रेड-1, ग्रेड-2, कर निर्धारक, चुंगी निरीक्षक, नाकेदार, उप–नाकेदार, सफाई निरीक्षक, टीका लगाने वाला कम्पाउण्डर, कनिष्ठ परिचारिका, प्रथम एवं

द्वितीय श्रेणी वैद्य, पैरोकार प्रथम व द्वितीय वर्ग, मोटरघर अधीक्षक, अग्निशमन अधिकारी, कार्यालय अधीक्षक, प्रधान लिपिक, वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक, स्टेनोग्राफर तथा प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के लेखाकार इत्यादि को मिलाकर अधीनस्थ सेवाओं का राज्य स्तर पर निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त राजस्थान नगरपालिका सेवा का निर्माण भी 1963 से किया गया है जिसमें प्रशासनिक पक्ष के कार्यकारी अधिकारी और सचिव तथा कुछ तकनीकी अधिकारी यथा राजस्व अधिकारी, नगरपालिका अभियंता आदि होते हैं।

राजस्थान नगरपालिका सेवा के इन अधिकारियों की भर्ती का कार्य राजस्थान लोक सेवा आयोग द्वारा होता है और अधीनस्थ सेवाओं के कर्मचारियों की ऊपर दी गई सूची पर काम करने वाले कर्मचारियों की भर्ती हेतु एक नगरपालिका चयन सेवा आयोग बनाया गया था। दोनों ही वर्ग के अधिकारियों या कर्मचारियों की भर्ती के सम्बन्ध में निदेशालय की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती तथापि अधिकारी वर्ग के स्थानांतरण के कार्य में निदेशक स्थानीय निकाय राज्य सरकार को जहाँ परामर्श देता है वहीं कर्मचारियों के स्थानांतरण के कार्य में वह स्वयं सक्षम अधिकारी है। इसी तरह कर्मचारियों की पदोन्नति, जिसके लिए सेवा नियमों में पदोन्नति समिति का गठन किया है, के कार्य को भी निदेशालय सम्पन्न करता है। इन समस्त कर्मचारियों के सम्बन्ध में अनुशासनात्मक कार्यवाही और सेवा निवृत्ति लाभों के प्रायः वे सभी नियम नगरपालिकाओं/परिषदों के कर्मचारियों पर लागू होते हैं जो राज्य सरकार में तत्सम पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों पर प्रवर्तित हैं। कार्मिक प्रशासन क्षेत्र में निदेशालय स्वयं अपने कर्मचारियों पर पर्यवेक्षण रखते हुए उन पर अनुशासन बनाए रखने और कार्यालय प्रस्थापना सम्बन्धी कार्य करता है। निदेशालय अपने कर्मचारियों पर सतत् नियंत्रण करता है।

3. वित्त एवं लेखा संबंधी कार्य

यह निदेशालय राज्य की समस्त नगरपालिकाओं और नगरपरिषदों द्वारा प्रस्तुत बजट प्रस्तावों की जाँच कर उन्हें स्वीकृति प्रदान करता है। नगरपरिषदों के बजट प्रस्ताव अन्तिम स्वीकृति के लिए राज्य सरकार को भी प्रेषित किए जाते हैं जबकि अन्य श्रेणी की जो नगरपालिकाएं है उनके बजट प्रस्ताव अन्तिम रूप से निदेशालय द्वारा ही स्वीकृत किए जाते हैं। निदेशालय स्वयं अपना बजट, लेखे व अंकेक्षण सम्बन्धी कार्य करता है। इसके अतिरिक्त नगरपालिकाओं के अंकेक्षण प्रतिवेदन व उनकी अनुपालना, अंकेक्षण आपत्तियों का निष्पादन, गबन, आन्तरिक अंकेक्षण, नगरपालिकाओं के अनुदान व उनके ऋण के मामले, नगरपालिकाओं के विज्ञापन व बैंकों की स्वीकृतियां, जन लेखा समिति, अनुमान समिति व वित्त आयोग व अन्य वित्त समितियों के कार्य, महालेखाकार सम्बन्धित कार्य, नगरपालिका के विभिन्न कर्मचारियों के ऋण और सामान्य वित्तीय एवं लेखा नियमों में निर्धारित कर्तव्यों का निर्वाह करता है। यह निदेशालय अपने कर्मचारियों को देय समस्त आर्थिक लाभों एवं नगरपालिकाओं/परिषदों की सामान्य वित्तीय एवं आर्थिक स्थिति पर भी सतत् पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखता है।

4. भूमि सम्बन्धी कार्य

राज्य में कार्यरत सभी नगरीय संस्थाओं द्वारा भूमि अवाप्ति सम्बन्धी कार्यों, भूमि पर अतिक्रमण, पुराने कब्जे, भूमि विनियमन, अनधिकृत निर्माण आदि के प्रकरण, भूमि से सम्बन्धित नगरपालिकाओं की संपत्ति इत्यादि के मामले जो भी निदेशालय को प्रेषित किए जाते हैं उनके निष्पादन हेतु निदेशालय में उपनिदेशक (भूमि) को अधिकृत किया हुआ है। यह अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से भूमि सम्बन्धी इस प्रकार के विवादास्पद प्रकरणों का निस्तारण करता है।

5. शिकायत संबंधी कार्य

राज्य में कार्यरत 198 नगरीय संस्थाओं के द्वारा स्थानीय शासन के कुशल संचालन हेतु जिस भूमिका का निर्वाह किया जाता है उसके प्रति कभी–कभी नागरिकों के मन में रोष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने नगरपालिकाओं/परिषदों की भूमिका को और विस्तृत बना दिया है। इस कारण नगरपालिकाओं के निर्णयों और कार्यों के प्रति परिवादों की बढ़ती संख्या को देखते हुए निदेशालय में एक शिकायत अनुभाग स्थापित किया है। यह अनुभव करते हुए कि किसी लोकतांत्रिक प्रशासन को नागरिक परिवादों के प्रति अधिक संवदेनशील होना चाहिए, इस अनुभाग के निर्देशन का कार्य सहायक निदेशक (सतर्कता) को दिया गया है। इस प्राधिकारी के नेतृत्व में यह अनुभाग व इसमें कार्य करने वाले कर्मचारी राज्य भर की नगरीय संस्थाओं के निर्णयों के विरुद्ध प्रस्तुत शिकायतों का समयबद्ध निस्तारण करने का प्रयत्न करते हैं।

6. विधिक कार्य

राजस्थान का यह निदेशालय अनेक विधिक कार्यों का भी निष्पादन करता है। निदेशालय में इस निमित्त एक सहायक निदेशक को उत्तरदायी बनाया गया है जो नगरीय संस्थाओं से सम्बन्धित समस्त रिट याचिकाओं, सिविल या दूसरे प्रकार के वाद तथा सेवा अधिकरण में की गई अपीलों व निदेशालय में लम्बित समस्त प्रकार के प्रकरणों की देखरेख और उन पर की जाने वाली प्रशासनिक कार्यवाही के लिए उत्तरदायी है। निदेशालय में इस हेतु निर्मित अनुभाग के अधिकारियों व कर्मचारियों से अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य की नगरीय संस्थाओं के अन्तर्गत लम्बित विधि मामलों में विधि सलाहकारों, पैनल अधिवक्ताओं व प्रभारी अधिकारियों की नियुक्ति के प्रकरणों के अतिरिक्त राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 285 व 300 के प्रकरणों की जाँच की कार्यवाही व अधिनियम के संशोधन/परिवर्तन तथा उसके अन्तर्गत नियमों, उपविधियों, विनियमों, स्पष्टीकरण व व्ययों के प्रकरणों का परीक्षण व अभिशंसाओं से सम्बन्धित विधिक कार्य करेंगे। यह शाखा सुनिश्चित करती है कि राज्य की नगरीय संस्थाओं द्वारा अनिवार्य करारोपण, चुंगी, भवन व भूमि कर, व्यापार व व्यय करने व अन्य समस्त ऐसे ही निर्णयों में किसी प्रकार की विधि के उल्लंघन का मामला न बने। निदेशालय राज्य भर की नगरीय संस्थाओं को उनके द्वारा किसी प्रकार की विधिक सलाह मांगे जाने पर

उन्हें यह उपलब्ध कराने का कार्य भी करता है।

7. अनुसंधान, सूचना संग्रहण तथा वार्षिक प्रतिवेदन से सम्बन्धित कार्य

निदेशालय में उसकी एक शाखा अनुसंधान, सूचना संग्रहण तथा निदेशालय के वार्षिक प्रतिवेदन की तैयारी एवं उसके प्रशिक्षण से सम्बन्धित कार्य करती है। यह प्रकोष्ठ आवश्यक आंकड़ों का संकलन, सूचना संग्रहण व डाटा बैंक के रूप में कार्य करते हुए अनुसंधान सम्बन्धी अपने निर्धारित कर्तव्यों का निष्पादन करता है। यही शाखा समस्त सामान्य समितियों की बैठकों, राज्यस्तरीय समितियों की बैठकों, सम्मेलनों, संगोष्ठियों एवं वर्कशॉप के आयोजन के सम्बन्ध में भी आवश्यक तैयारी करती है। निदेशालय अथवा राज्य में नगरीय संस्थाओं से सम्बन्धित गठित विभिन्न प्रकार की समितियों तथा राजस्थान स्वायत्त शासन संस्था के तत्वावधान में आयोजित बैठकों के प्रस्तावों के परीक्षण इत्यादि कार्य भी इसी के द्वारा किया जाता है। निदेशालय न केवल वर्ष भर में उसके स्वयं के द्वारा सम्पन्न गतिविधियों तथा कार्यकलापों का वार्षिक प्रतिवेदन प्रकाशित करता है अपितु राज्य में कार्यरत नगरपरिषद्/पालिकाओं से उनके द्वारा वर्ष भर में सम्पन्न गतिविधियों का प्रतिवेदन अपने यहाँ मंगवाता है। निदेशालय का अनुसंधान प्रकोष्ठ नगरीय संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत इन वार्षिक प्रगति प्रतिवेदनों में व्यक्त आंकड़ों एवं प्रस्तुत सूचनाओं का परीक्षण और पुनरीक्षण इस दृष्टि से करता है कि उन संस्थाओं ने अपने कार्यकलापों में राज्य सरकार की नगरीय विकास की नीति एवं इसी संदर्भ में निदेशालय द्वारा प्रेषित निर्देशों की पालना की है या नहीं? यह प्रकोष्ठ राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर प्रस्तावित बीस सूत्री एवं इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रमों की प्रगति व क्रियान्विति का भी कार्य देखता है।

उपर्युक्त समस्त कार्यों के अतिरिक्त निदेशालय राज्य में नगरीय विकास हेतु कार्यशील समस्त नगरीय संस्थाओं एवं सफाई इत्यादि के लिए उत्तरदायी संस्थाओं की गतिविधियों और कार्यकलापों का मूल्यांकन करता है और यदि आवश्यक हो तो उन संस्थाओं को सहायता व सलाह उपलब्ध कराता है। निदेशालय उन समस्त प्रश्नों का उत्तर भी तैयार करता है जो नगरीय संस्थाओं के सम्बन्ध में राज्य की विधानसभा के माननीय सदस्यों द्वारा उठाए जाते हैं। यह सुविदित है कि नगरीय संस्थाओं के द्वारा सम्पन्न किसी भी कार्य के विषय में यदि विधानसभा में कोई प्रश्न उठाया गया है तो स्थानीय निकायों के निदेशालय व निदेशक के रूप में उनका उत्तर निदेशालय के स्तर पर ही तैयार करना पड़ता है। निदेशक चूंकि राज्य सरकार के पदेन उपसचिव भी होते हैं इसलिए इस रूप में वह राज्य सरकार में नगरीय संस्थाओं से सम्बन्धित संस्थाओं की सूचना पहुँचाता है और राज्य सरकार के दृष्टिकोण से नगरीय संस्थाओं को भी अवगत कराता है।

समीक्षा

राज्य के स्थानीय निकाय निदेशालय द्वारा जो भूमिका राजस्थान में निष्पादित की जाती है यदि तटस्थ भाव से उसका मूल्यांकन किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि निदेशालय अपनी अपेक्षित भूमिका का प्रभावी निष्पादन नहीं कर पा रहा है। निदेशालय

से राज्य सरकार एवं नगरीय संस्थाओं के मध्य सम्बन्ध हेतु अथवा पुल का कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। एक ओर तो निदेशालय से राज्य की समस्त नगरीय संस्थाएं मार्गदर्शन की अपेक्षा करती हैं और दूसरी ओर राज्य सरकार भी ऐसा अनुभव करती है कि राज्य की स्थानीय संस्थाओं की समस्त समस्याओं से निदेशालय उन्हें अवगत कराएगा। किन्तु समीक्षकों की राय में व्यावहारिक स्थिति यह है कि आज निदेशालय इन दोनों भूमिकाओं का प्रभावी निष्पादन नहीं कर पा रहा है। निदेशालय की कार्य प्रणाली का ऐसा यंत्रीकरण हो गया है कि वर्षों से नगरपालिकाओं की समस्याओं का आकलन करने के लिए उसने कोई राज्यस्तरीय सम्मेलनों का आयोजन नहीं किया है।

निदेशालय के निदेशक पद पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा का अधिकारी नियुक्त किया हुआ है जबकि राज्य की जयपुर जैसी कतिपय ऐसी नगर निगम/परिषदें भी हैं जिनके प्रशासक के पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी नियुक्त हैं। यह एक विचित्र विसंगति है कि निदेशालय के शीर्ष पर एक कनिष्ठ सेवा का प्राधिकारी नियुक्त है जबकि उसके नेतृत्व व नियंत्रण में कार्य करने वाली नगर निगमों/परिषदों में उससे उच्च सेवा का प्राधिकारी नियुक्त किया हुआ है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के ये प्राधिकारी स्वाभाविक रूप से अपने से कनिष्ठ सेवा के अधिकारियों, चाहे वह पद क्रम में उच्च स्थान पर ही नियुक्त क्यों न हो, के निर्देशों की कितनी पालना करते होंगे यह स्पष्ट करने की अधिक आवश्यकता नहीं है। राज्य भर की नगरीय संस्थाओं को अब अनेक तकनीकी कार्यों का निष्पादन करना होता है और स्थिति यह है कि उनके निष्पादन के लिए नगरीय संस्थाओं के पास कोई तकनीकी रूप से प्रशिक्षित और दक्ष कर्मचारी पर्याप्त मात्रा में नहीं होते हैं। परिषदें ऐसा अनुभव करती हैं कि राज्य का स्थानीय निकाय निदेशालय उनकी समस्याओं को न तो राज्य सरकार तक प्रभावी ढंग से पहुँचा पा रहा है और न ही उन्हें समयोचित मार्गदर्शन दे पा रहा है। व्यावहारिक रूप से अनुभूत इस स्थिति का प्रतिकार राज्य सरकार के स्तर पर ही किया जा सकता है।

संदर्भ

1. मोहित भट्टाचार्य, **स्टेट डाइरेक्ट्रेट्स ऑफ म्युनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन** द इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, 1969, पृ. 12.
2. **उपर्युक्त।**
3. श्रीराम माहेश्वरी, **भारत में स्थानीय प्रशासन**, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1984, पृ. 295
4. रिपोर्ट ऑफ **दी अरबन लोकल सैल्फ गवर्नमेंट कमेटी**, भोपाल, गवर्नमेंट सेन्ट्रल प्रेस, 1959, पृ. 73
5. ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध समिति के ये अंश मध्यप्रदेश शासन की उपर्युक्त समिति के प्रतिवेदन में पृ. 120 पर उद्धृत किए गए हैं।

6. निदेशालय स्थानीय निकाय विभाग द्वारा तैयार एक प्रगति प्रतिवेदन, (अप्रकाशि जिसमें निदेशालय के 1950 से लेकर 1994 तक 44 वर्षों के विभागीय कार्यकला का प्रगति विवरण दिया गया है, से प्राप्त जानकारी पर आधारित।
7. **उपर्युक्त।**
8. **उपर्युक्त।**
9. राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009, धारा 309 (1)
10. **उपर्युक्त,** धारा 310 व 311
11. स्वायत्त शासन विभाग राजस्थाान जयपुर के 1982–83 के प्रगति प्रतिवेदन में पृ 1 पर दी गई सूचना पर आधारित।
12. **उपर्युक्त।**
13. निदेशालय, स्वायत्त शासन विभाग का वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन, वर्ष 2009-2010 परिशिष्ट - II
14. निदेशालय का वार्षिक प्रतिवेदन 1977–78
15. राजस्थान सरकार, स्वायत्त शासन के परिपत्र संख्या ओ इ/एफ 19 (29)/डी. एल. बी./63/5775–69 दिनांक 25.10.79
16. **उपर्युक्त।**
17. द्रष्टव्य राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 की धारा 39 (1)
18. राजस्थान सरकार की अधिसूचना सं. एफ 8/84/एल. एस. जी./62–1, 6 अगस्त, 1962 जो राजस्थान के विशेष गजट में 10 अगस्त, 1962 को प्रकाशित, उद्धृत, होशियार सिंह, **स्टेट सुपरविजन ओवर म्यूनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन,** ए केस स्टडी ऑफ राजस्थान, एसोसिएटेड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1979, पृ. 22.
19. राजस्थान सरकार की अधिसूचना सं. एफ 8। (एम. आई. एस.) एल. एस. जी. /95/1449/जी. एस. आर. 20 दिनांक 21.5.1996 जो राजस्थान के विशेष गजट में, दिनांक 28.5.1996 को प्रकाशित, पृष्ठ, 37
20. स्वायत्त शासन विभाग के परिपत्र क्रमांक लेखा/प. 6/ड./विविध/नि.प./स्था. नि./97/4188, दिनांक 4/12/2009
21. स्वायत्त शासन विभाग, राजस्थान सरकार के परिपत्र संख्या एफ. 14 (13) डी. एल. बी./65–66/42944–43107 दिनांक 1 जनवरी, 1996
22. **राजस्थान नगरपालिका अधिनियम 1959,** धारा 108 (सी)
23. राजस्थान सरकार के परिपत्र एफ. 8 (84) एल. एस. जी./62 दिनांक 24 अगस्त, 1962

24. राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम, 1961 के अंतर्गत यह अधिकार निदेशक में निहित है। नियम 7 नियुक्तियों के तीन तरीकों का विवरण दिया गया है। विस्तृत विवरण हेतु यह नियम द्रष्टव्य है।
25. **राजस्थान म्यूनिसिपल सर्विस रूल्स, 1961**, धारा 114 और 310
26. **उपर्युक्त**, धारा 26 पार्ट चतुर्थ।
27. **उपर्युक्त**, धारा 49 पार्ट आठ।
28. **उपर्युक्त**, धारा 86
29. **उपर्युक्त**, धारा 310, 51
30. निदेशक को यह अधिकार राजस्थान सरकार, स्वायत्त शासन विभाग के परिपत्र संख्या एफ 8 (84) एल. एस. जी./62 दिनांक 24 अगस्त, 1962 के अन्तर्गत प्राप्त है।

18 पंचायती राज विभाग

राजस्थान में ग्रामीण अंचलों के विकास और पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित राज्य स्तरीय प्रशासनिक विभाग को ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग के नाम से जाना जाता था। राजस्थान में पंचायत विभाग एवं विकास विभाग दो पृथक्–पृथक् विभागों के रूप में कार्य कर रहे थे जिन्हें 1959 में, पंचायत एवं विकास विभाग के रूप में संयुक्त किया गया तथा 1982 में राज्य सरकार के एक निर्णय द्वारा इस विभाग का नाम परिवर्तित कर ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग कर दिया गया था। **अब पुनः इसका नाम परिवर्तित कर पंचायती राज विभाग कर दिया गया है।** इस विभाग की वर्तमान संरचना और कार्यकरण पर विचार करने से पूर्व इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत होना सुसंगत होगा।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का प्रादुर्भाव उसकी देशी रियासतों के काल से ही होने के संकेत मिलते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व, बीकानेर ऐसी पहली देशी रियासत थी जहाँ 1928 में ही ग्राम पंचायत अधिनियम पारित करके ग्राम पंचायत को वैधानिक आधार प्रदान कर दिया गया था।[1] इसी प्रकार तत्कालीन जयपुर राज्य में भी ग्राम पंचायत अधिनियम, 1938 में पारित किया गया जिसे 1943 की संविधान सुधार समिति के सुझावों के अनुरूप 1944 में संशोधित रूप में पुनः पारित करके कार्यान्वित किया गया। इसी प्रकार तत्कालीन सिरोही राज्य में 1943 में, भरतपुर में 1944 में और करौली राज्य में 1949 में ग्राम पंचायत अधिनियम पारित किया गया।[2]

सन् 1937 में अधिकांश प्रान्तों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सरकार बनने तथा सुप्रसिद्ध रिपन प्रस्ताव के पारित होने के बाद ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रान्तों और मैसूर तथा बड़ौदा जैसी देशी रियासतों में पंचायतों के निर्माण के लिए सक्रिय कदम उठाए गए। राजस्थान में सादिक अली पंचायती राज अध्ययन दल ने अपनी रिपोर्ट में यह अंकित किया है कि इन प्रान्तों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए राजस्थान की अनेक रियासतों

ने ग्राम स्तर पर जनप्रतिनिधि संस्थाओं के महत्त्व और आवश्यकता को अनुभव किया। इसी आवश्यकता के अनुरूप जोधपुर, भरतपुर, जयपुर, सिरोही, उदयपुर, करौली, बीकानेर, कोटा, बूंदी, झालावाड़, टोंक और शाहपुरा की देशी रियासतों ने इन संस्थाओं के गठन की दिशा में कदम उठाए थे, यद्यपि उनका दृष्टिकोण व्यापक नहीं था।[3]

राजस्थान स्वतन्त्रता के पश्चात् ऐसा प्रथम राज्य नहीं है जिसने पंचायती राज को सर्वप्रथम अपनाने में पहल की अपितु स्वतन्त्रता के पूर्व भी राजस्थान में पंचायत प्रणाली का सशक्त आधार विद्यमान था और नए राज्य को विरासत में, चाहे अनियमित सी ही सही, पंचायतों की एक प्रणाली अवश्य प्राप्त हुई थी।[4]

राजस्थान में 1949 में 'मुख्य पंचायत अधिकारी' के अधीन पंचायत विभाग की स्थापना की गई। फरवरी, 1950 में राजस्थान सरकार ने अपने एक आदेश द्वारा पंचायत विभाग का सहकारी विभाग में समामेलन कर दिया।[5] इसके परिणामस्वरूप 'रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों' का नाम परिवर्तित कर 'रजिस्ट्रार सहकारी समितियाँ और ग्राम पंचायत' रख दिया गया। 1950 में संविधान के प्रवर्तित होने के पश्चात् और विशेष तौर से 1951–52 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने पर देश में ग्रामीण उत्थान हेतु ग्राम विकास के कार्यक्रमों को जो सरकारी प्रोत्साहन मिला उसके परिणामस्वरूप पंचायत विभाग के कार्यों में भारी वृद्धि हो गई। इस परिवर्तित स्थिति का प्रभाव यह हुआ कि पंचायत विभाग को सहकारी समितियों से हटाकर पुनः मुख्य पंचायत अधिकारी के अधीन कर दिया गया। जिसे दूसरे दर्जे के विभागाध्यक्ष का स्तर प्रदान किया गया। पंचायत विभाग के लिए जो पद रजिस्ट्रार (सहकारी समितियाँ) के यहाँ सृजित किए गए थे उन्हें भी यथारूप नए विभाग को स्थानान्तरित कर दिया गया।

1951 में पंचायत विभाग का सर्वोच्च अधिकारी मुख्य पंचायत अधिकारी था जिसके अधीन कुल 5 राजपत्रित अधिकारी कार्यशील थे। इन अधिकारियों के अधीनस्थ मंत्रालयिक सेवा के कार्मिकों में एक कार्यालय अधीक्षक, 12 वरिष्ठ लिपिक और 24 कनिष्ठ लिपिक भी कार्यशील थे।[6] 1953 तक राजस्थान के विभिन्न भागों में एक से अधिक पंचायत अधिनियम प्रवर्तित होने से अनेक प्रशासनिक कठिनाइयां विद्यमान थीं। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से राजस्थान की विधानसभा ने राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 पारित किया जिसे राष्ट्रपति के अनुमोदन के पश्चात् 1 जनवरी, 1954 से राज्य में प्रभावी माना गया है।[7] इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य में ग्राम पंचायतों का गठन किया गया है। 1954 में इस विभाग में 24 निरीक्षक और 30 सहायक निरीक्षक कार्य कर रहे थे जिनकी संख्या 1958 में बढ़कर क्रमशः 27 और 52 हो गई।

सन् 1958 में विभाग की प्रशासनिक संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इन परिवर्तनों के अनुसार विभाग के शीर्षस्थ अधिकारी मुख्य पंचायत अधिकारी का पदनाम परिवर्तित कर निदेशक पंचायत कर दिया गया। 1958 के परिवर्तन के पश्चात् इस विभाग में एक उपनिदेशक, दो पंचायत सहायक निदेशक, 20 जिला पंचायत अधिकारी, 19 वरिष्ठ लिपिक, 8 कनिष्ठ लिपिक तथा लेखापाल, स्टेनो, सांख्यिकी सहायक इत्यादि के एक–एक नए पदों का सृजन किया गया।[8]

विकास विभाग

राष्ट्रीय स्तर पर जब 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरम्भ किया गया तो इस कार्यक्रम को राजस्थान राज्य में गति देने के निमित्त राज्य सरकार ने विकास विभाग की स्थापना की। तत्कालीन वित्त सचिव को ही इस विभाग के शीर्षस्थ स्तर पर विकास आयुक्त भी मनोनीत किया गया। पूरे राज्य में विकास के कार्यक्रमों को प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर गति प्रदान करने के लिए कुछ अधिकारियों को उत्तरदायी बनाया गया। इस क्रम में राज्य स्तर पर विकास आयुक्त, जिला स्तर पर जिलाधीश, खंड स्तर पर विकास अधिकारी और ग्राम स्तर पर ग्राम सेवक को दायित्व दिए गए। राज्य स्तर पर विकास विभाग के सर्वोच्च प्राधिकारी विकास आयुक्त को विकास कार्यक्रमों से सम्बद्ध समस्त विभागों के मध्य सहयोग और समन्वय बनाए रखने का प्रमुख उत्तरदायित्व सौंपा गया। यही नहीं विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए एक विकास निदेशालय भी बनाया गया जिसका प्रमुख अधिकारी विकास निदेशक था। यह अधिकारी सचिवालय और निदेशालय दोनों के दायित्वों का एक साथ निर्वाह करता था। इसलिए इसे निदेशक के साथ–साथ पदेन उपसचिव का दर्जा भी प्रदान किया गया और उसकी सहायता के लिए उप–निदेशक तथा अन्य प्राधिकारी भी नियुक्त किए गए।[9]

1953 में जब राजस्थान का पुनर्गठन हुआ तो तत्कालीन सरकार ने राज्य के विकास की महत्ता को रेखांकित करते हुए वित्त सचिव से विकास आयुक्त का पद पृथक् कर नियोजन आयुक्त का एक पद सृजित कर दिया और उसे राज्य के विकास कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व दे दिया। नियोजन आयुक्त की सहायता के लिए विकास निदेशक और संयुक्त निदेशक राज्य स्तर पर तथा जिलाधीश को पदेन जिला विकास अधिकारी का दायित्व भी दे दिया। इसी प्रकार सब–डिवीजन स्तर पर सब–डिवीजन अधिकारी के लिए सहायक जिलाधीश और प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की सहायता के के लिए और सेवाएं भी उपलब्ध कराई गईं ताकि ये अधिकारी सब डिवीजन स्तर पर संचालित किए जा रहे विकास कार्यक्रमों में प्रभावी समन्वय एवं सहयोग स्थापित कर सकें। सब–डिवीजन स्तर से नीचे तहसील स्तर पर भी तहसीलदार और अतिरिक्त तहसीलदार को इस कार्य से इसलिए सम्बद्ध किया गया ताकि ये दोनों अधिकारी विकास कार्यक्रमों का प्रभावी पर्यवेक्षण और समन्वय कर सकें।

पंचायत एवं विकास विभाग की स्थापना

राजस्थान सरकार ने 28 मार्च, 1959 को जारी अपने आदेश के माध्यम से पंचायत विभाग का विकास विभाग में विलय कर दिया और पंचायत विभाग के अधीन कार्यरत सचिवालय स्तर पर अधिकारी एवं क्षेत्रीय कर्मचारियों की सेवाएं विकास विभाग को हस्तान्तरित कर दी गईं।[10] पंचायत एवं विकास विभाग का समामेलन होने पर पंचायत निदेशक को पहले तो उपविकास आयुक्त बनाया गया और बाद में उसे संयुक्त विकास आयुक्त का स्तर प्रदान किया गया। इन दोनों विभागों के विलयन के आदेश यद्यपि 1959 में जारी कर दिए गए थे किन्तु विलयन की प्रक्रिया 13 अगस्त, 1962 को पूर्ण हुई।

पंचायती राज विभाग

राजस्थान सरकार ने 1982 में पंचायत एवं विकास विभाग का नाम परिवर्तित कर ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग कर दिया।[11] 73वें संविधान संशोधन की अनुपालना में राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 के प्रावधानों के तहत राजस्थान पंचायती राज नियम, 1996, 30 दिसम्बर, 1996 से लागू किए गए तथा ग्रामीण विकास सम्बन्धी कार्य पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से क्रियान्वित करने हेतु न्यायिक, वित्तीय और प्रशासनिक ढांचे में फेरबदल किया गया है। इस क्रम में विशिष्ट योजना एवं एकीकृत ग्रामीण विकास विभाग का नाम अब ग्रामीण विकास विभाग तथा ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग का नाम 'पंचायती राज विभाग' कर दिया गया है।

विभाग भी और निदेशालय भी

यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पंचायती राज से सम्बन्धित यह विभाग सचिवालय परिसर में दक्षिणांचल के एक विशेष भवन में स्थित है। इसकी संरचना से यह तथ्य उद्घटित होता है कि इसके द्वारा एक साथ दो भूमिकाओं का निर्वाह किया जा रहा है। एक ओर तो, राजस्थान सरकार के पंचायती राज विभाग तथा दूसरी ओर पंचायती राज के निदेशालय की भूमिका दोनों इसमें संयुक्त कर दी गई हैं। आगामी संगठनात्मक विवरण में दिए जा रहे चार्ट के माध्यम से यह तथ्य और अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट किया जा रहा है कि सचिवालय स्थित विभाग की संरचना में ही निदेशालय की संरचना का समामेलन भी हो गया है।

ऐसा नहीं है कि सचिवालय स्तरीय प्रशासनिक विभाग और उसके निदेशालय की यह संयुक्त भूमिका केवल इसी विभाग के द्वारा निभाई जाती है। वस्तुतः यही स्थिति स्थानीय निकाय विभाग और निदेशालय, पर्यावरण विभाग और उसका निदेशालय तथा कुछ और विभागों के सन्दर्भ में पाई जाती है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि राज्यस्तरीय प्रशासनिक विभाग तथा पंचायती राज निदेशालय की भूमिकाओं को संयुक्त कर दिया गया है। राजस्थान सरकार के पंचायती राज विभाग तथा पंचायत राज का निदेशालय दोनों एक ही संरचना में संयुक्त हो गए हैं और इसमें नियुक्त पदाधिकारियों को निदेशालय तथा प्रशासनिक विभाग दोनों के पद, नाम और दायित्व दिए गए हैं। इसी के अनुरूप संयुक्त भूमिका का निर्वाह करने की अपेक्षा उनसे की जाती है।

वर्तमान संगठन

जहाँ तक पंचायती राज विभाग के संगठन का प्रश्न है इसके संगठन में अधिकारियों और कर्मचारियों की संख्या यत्किंचित् परिवर्तन के पश्चात् वही है जो 1959 में थी। उसके पश्चात् आवश्यक होने पर यत्र–तत्र किंचित् परिवर्तन किया जाता रहा है। वर्तमान में इस विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष एक पंचायती राज मंत्री है। यह मंत्री केबिनेट स्तर का और कभी राज्यमंत्री स्तर का होता है। उपर्युक्त चार्ट के माध्यम से इस विभाग के नवीनतम प्रशासनिक संगठन को भली–भांति आत्मसात् किया जा सकता है।[12]

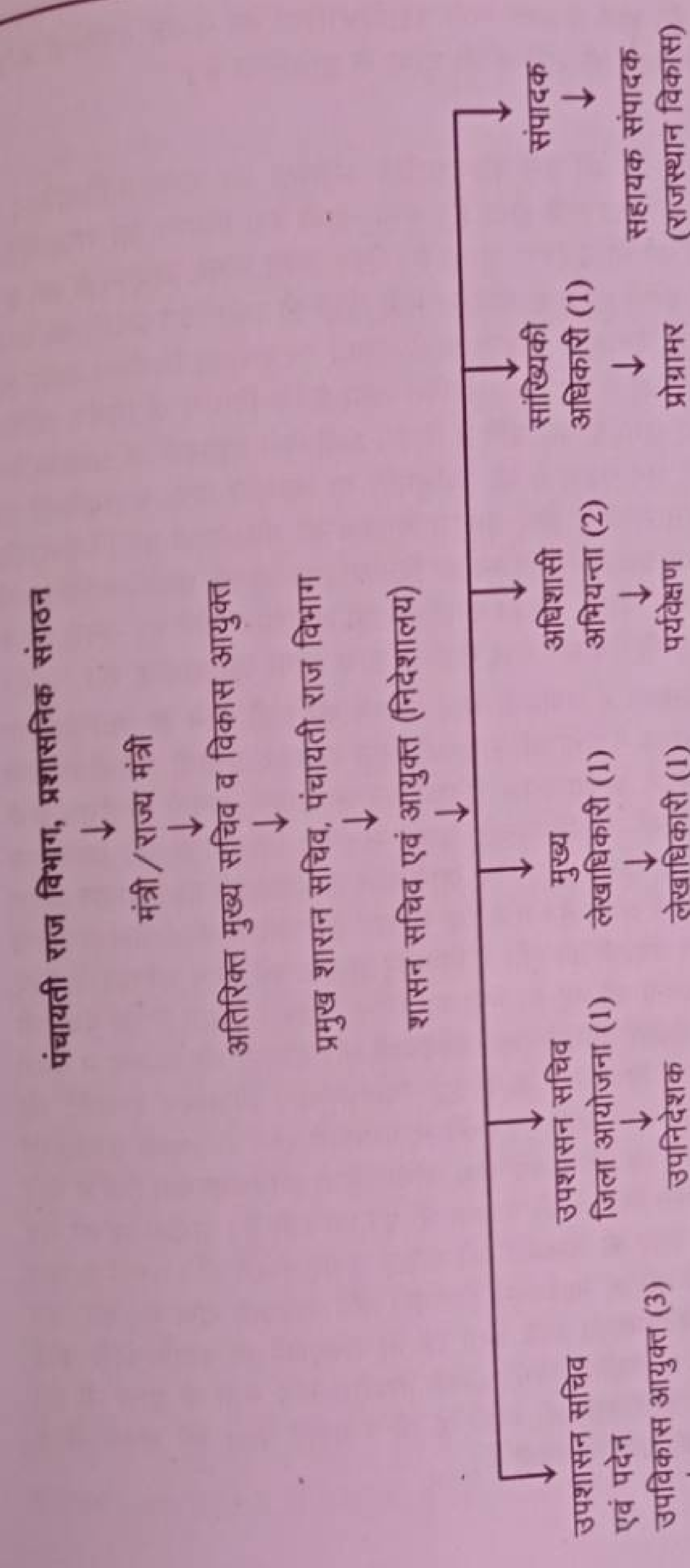

चार्ट के माध्यम से पंचायती राज विभाग का नवीनतम संगठन या उसकी संरचना पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। चार्ट में व्यक्त सभी पदाधिकारियों का उनके दायित्वों सहित संक्षिप्त विवरण देना अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रासंगिक है।

मंत्री, पंचायती राज

पंचायती राज विभाग की इस राज्यस्तरीय संरचना का राज्य मंत्रिपरिषद् में राजनीतिक प्रभारी एक केबिनेट मंत्री होता है। कभी–कभी इस विभाग का राजनीतिक नेतृत्व किसी राज्य मंत्री को भी दे दिया जाता है। ऐसा करते समय राज्यमंत्री को इस विभाग का स्वतंत्र प्रभारी बनाते हुए प्रायः केबिनेट मंत्री जैसी ही स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। मंत्री होने के नाते इस विभाग के समस्त कार्यकलापों पर उसका नियंत्रण रहता है। किसी भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में यह एक सुविदित तथ्य है कि विभाग के निर्णय अन्तिम रूप से मंत्री द्वारा ही लिए जाते हैं और यदि वे निर्णय अधीनस्थ प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा भी लिए जाते हैं तो उन पर मंत्री की पूर्वानुमति या सहमति प्रायः पत्रावलियों पर ले ली जाती है। राजस्थान राज्य के लिए ग्रामीण विकास की योजनाओं का निर्माण और उनकी कार्यान्विति के लिए आवश्यक संगठन का विकास तथा उनके पदाधिकारियों और कर्मचारियों की भर्ती, उनके निर्देशन, उनका समन्वय तथा आवश्यक होने पर उनसे उनके कार्यकलापों का प्रतिवेदन भी पंचायत राज मंत्री के द्वारा माँगा जा सकता है।

इसी प्रकार, राजस्थान में पंचायती राज विभाग का मंत्री होने के नाते वह यह सुनिश्चित करता है कि राज्य में पंचायती राज की सभी संस्थाएं प्रभावी तरीके से काम करें। पंचायती राज संस्थाओं के सामयिक चुनावों का आयोजन, उनके निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन, पदाधिकारियों की शिकायतें, उनमें समन्वय, संस्थाओं को आवश्यक धनराशि उपलब्ध कराना तथा उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यकलापों पर नियंत्रण करना उसके कार्यक्षेत्र की परिधि में आता है। मंत्री यह देखता है राज्य में कार्यशील पंचायती राज की सभी संस्थाएं उन उद्देश्यों की पूर्ति में निरन्तर संलग्न रहें जिन उद्देश्यों के लिए उनकी रचना और अभिकल्पना की गई है। मंत्री यह भी सुनिश्चित करता है कि पंचायती राज की संस्थाओं के पदाधिकारी नियमानुसार कार्य करें और नियमों की पालना न करने की स्थिति में निर्वाचित पदाधिकारियों के विरुद्ध नियमानुसार निलम्बन इत्यादि की कार्यवाही भी उनके द्वारा की जा सकती है। संक्षेप में, पंचायती राज के प्रभावी कार्यकरण को सुनिश्चित करने के लिए वह अपने अधीनस्थ अधिकारियों को आवश्यक निर्देश देता है और यह देखता है कि उन निर्देशों की पालना भी की जा रही है। समीक्षकों की यह भी मान्यता है कि पंचायती राज की संस्थाओं को सक्रिय बनाए रखने और उनमें उत्साह का संचार करने में मंत्री की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। यदि पंचायती राज का मंत्री उन संस्थाओं के कार्यकलापों में अनवरत रुचि लेता रहे तो संस्थाओं के पदाधिकारी कोई अनियमित कार्यवाही करने में संकोच करेंगे। इसके विपरीत यदि मंत्री के द्वारा भी इन संस्थाओं के कार्यकरण में रुचि नहीं ली जाती है तो पंचायती राज की संस्थाओं में अव्यवस्था परिव्याप्त होने की आशंका रहती है।

अतिरिक्त मुख्य सचिव एवं विकास आयुक्त

जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है, विकास आयुक्त, विकास विभाग का सर्वोच्च प्रशासनिक प्राधिकारी है। वह पंचायती राज विभाग का ऐसा प्रभावी वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी है जो इस विभाग के सम्बन्ध में मंत्री का प्रमुख परामर्शदाता होता है। ग्रामीण विकास की नीतियों के निर्धारण और पंचायती राज संस्थाओं में कुशल कार्यकरण हेतु आवश्यक नीतियां बनाने और उसके विषय में मंत्री को सलाह तथा परामर्श उपलब्ध कराना उसका प्रमुख कार्य होता है। विकास आयुक्त का पद एक ऐसा पद है जो अन्य प्रशासनिक विभागों की गतिविधियों को भी प्रभावित करता है। वस्तुतः राज्य में विकास हेतु अभिप्रेरित जितने भी प्रशासनिक विभाग राज्य स्तर पर कार्यरत हैं उन सबको किसी न किसी स्तर पर विकास विभाग से सम्बन्ध रखना होता है। सिंचाई, विद्युत, कृषि, खाद्य, नागरिक आपूर्ति, परिवहन, संचार, यातायात, चिकित्सा आदि ऐसे प्रशासनिक विभाग हैं जिन्हें अपनी विकासात्मक गतिविधियों में किसी न किसी स्तर पर विकास आयुक्त से परामर्श करना होता है और कभी–कभी कुछ परियोजनाओं पर उसकी आंशिक अनुमति भी लेनी होती है। सरकार का प्रमुख परामर्शदाता होने के नाते ग्रामीण विकास के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री भी उससे परामर्श की अपेक्षा रखते हैं और आवश्यक होने पर प्रशासनिक समन्वय की दृष्टि से उसी को निर्देश देते हैं। विकास आयुक्त का पद इतना महत्त्वपूर्ण है कि राज्य की प्रशासनिक संरचना में भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठतम अधिकारियों में से इस पद पर नियुक्ति की जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विकास आयुक्त का पद एक ऐसा पद है जो पंचायती राज विभाग के शीर्ष पर सचिवालयी संरचना का अनन्य अंग है। इस पद का पंचायती राज के निदेशालय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, यद्यपि निदेशालय उसके नियंत्रण में निर्देशित होता है।

शासन सचिव या निदेशक/आयुक्त

पंचायती राज विभाग के निदेशालय की संरचना का यह सर्वोच्च प्रशासनिक पद है। इस पद पर भी भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी को ही नियुक्त किया जाता है। इस पद का धारक एक साथ दोहरे दायित्वों का निष्पादन करता है। एक ओर तो वह पंचायती राज के निदेशालय का शीर्षस्थ प्राधिकारी अर्थात् निदेशक का दायित्व निभाता है तथा दूसरी ओर वह राज्य के पंचायती राज विभाग की सचिवालय स्थिति शासकीय संरचना के शासन सचिव की भूमिका का निर्वाह भी करता है। इन दोनों भूमिकाओं का निर्वाह करते हुए उसे यह सुनिश्चित करना होता है कि राज्य सरकार द्वारा ग्रामीण विकास की जो नीतियाँ बनाई जाएँ वे क्रियान्वयन की दृष्टि से व्यावहारिक बन सकें। वह विकास आयुक्त के अनवरत निर्देशन में रहते हुए उन्हें परामर्श और सूचनाएँ उपलब्ध कराता है कि राज्य में किस प्रकार के विकास कार्यक्रमों की आवश्यकता किन–किन क्षेत्रों में है। विकास के कार्यक्रमों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक सूचनाएं वह राज्य में कार्यरत अधीनस्थ अधिकारियों से मंगवाता है और आवश्यकता होने पर अपने उच्चाधिकारियों

अर्थात् विकास आयुक्त को प्रस्तुत करता है।

पंचायती राज विभाग का आयुक्त होने के नाते उसका गुरुतर दायित्व है कि वह समस्त पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकरण की कुशलता और प्रभावशीलता में वृद्धि हेतु आवश्यक उपाय करे। पंचायती राज की सभी स्तरों की संस्थाओं का निर्देशन, पर्यवेक्षण और समय–समय पर उनका नियंत्रण करता है। पंचायती राज संस्थाएं अपने कार्य प्रतिवेदन भी निदेशक को प्रस्तुत करती हैं। निदेशक से यह आशा की जाती है कि वह राज्य में कार्यशील समस्त पंचायती राज संस्थाओं, विशेष तौर से जिला परिषदों तथा निष्पादकीय इकाई पंचायत समितियों का वर्ष में आवश्यकतानुसार दौरा कर यह सुनिश्चित करे कि उनके द्वारा निष्पादित की जा रही भूमिका जनता और सरकार की अपेक्षाओं के अनुरूप हो।

पंचायती राज से सम्बन्धित इस पंचायत विभाग पर वह पूर्ण प्रशासकीय नियंत्रण रखता है। इस विभाग और निदेशालय की संरचना में कार्य करने वाले समस्त अधिकारी और कर्मचारी उसके सीधे नियंत्रण और अनुशासन में कार्य करते हैं। सभी पंचायती राज संस्थाओं के नियमानुसार वार्षिक बजट के निर्माण और अनुमोदन की प्रक्रिया को समयानुकूल निश्चित और निर्धारित करता है। पंचायती राज संस्थाओं के द्वारा विकास के जिन कार्यक्रमों का निष्पादन किया जाता है उनके लक्ष्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित प्रतिवेदन समय–समय पर उनसे मंगवाता रहता है और उनके द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों की सूचनाओं का संकलन करते हुए विकास आयुक्त के माध्यम से मंत्री को आवश्यकता होने पर प्रस्तुत करता है। पंचायती राज निदेशालय का निदेशक/आयुक्त होने के नाते वह यह भी देखता है कि इन संस्थाओं के कार्य को गति प्रदान करने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार को किस तरह की सहायता और मदद लेने के लिए प्रस्ताव भेजे जा सकते हैं। वह अन्य राज्यों के साथ भी पंचायती राज की संरचना और कार्यकरण के सम्बन्ध में आवश्यक समन्वय रखता है।

विभाग का शीर्षस्थ प्राधिकारी होने के नाते राज्य की समस्त जिला परिषदों में और पंचायत समितियों में क्रमशः कार्यकारी अधिकारियों तथा विकास अधिकारियों की नियुक्ति के आदेश उसी के माध्यम से जारी किए जाते हैं। राज्य में कार्यशील पंचायत समितियां और जिला परिषदें तथा यदि आवश्यक हो तो ग्राम पंचायतें भी, उनके द्वारा अनुभूत समस्याओं पर अपने प्रतिवेदन निदेशालय को भेजती हैं। इस सन्दर्भ में उनका यह कर्तव्य है कि ऐसे प्राप्त प्रतिवेदनों पर आवश्यक कार्यवाही करे। समीक्षकों की मान्यता है कि राज्य में पंचायती राज की संस्थाओं को गतिशील बनाए रखने में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इस पद पर नियुक्त अधिकारी यदि सक्रिय, गतिशील और उत्साही हो तो राज्य भर की पंचायती राज संस्थाओं में भी प्राण संचारित करता है और यदि इस पद पर नियुक्त अधिकारी शिथिल हो तो पंचायती राज के कार्यों की गति में शिथिलता भी आ सकती है।

राज्य में पंचायती राज संस्थाओं के सम्बन्ध में जो अधिनियम प्रवर्तित हुए हैं उनमें अनुभूत कठिनाइयों के संशोधन के लिए राज्य सरकार को वह आवश्यक सुझाव प्रेषित

करता है और यदि राज्य सरकार निर्देश दे तो संशोधन के प्रारूप बनाकर उसी के द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। राज्य के सांसद और राज्य विधानसभाओं में निर्वाचित जन प्रतिनिधि भी पंचायती राज संस्थाओं की समस्याओं के विषय में निदेशक, पंचायती राज को ही प्राथमिक रूप से सम्पर्क करते हैं और उसके उत्तर से असन्तुष्ट होने के पश्चात् ही वे मंत्री का हस्तक्षेप आमन्त्रित करते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समस्त पंचायती राज संस्थाएं, उनमें कार्यशील पदाधिकारी, जन प्रतिनिधि और आम जनता पंचायती राज से सम्बद्ध समस्याओं के निदान के लिए निदेशक से सम्पर्क करती हैं और यह प्राधिकारी भी अपनी सीमाओं में रहते हुए यथाशक्ति उनका समाधान करने की चेष्टा करता है।

मंत्री, विकास आयुक्त तथा आयुक्त एवं शासन सचिव ये तीन ऐसे शीर्षस्थ प्राधिकारी हैं जो ग्रामीण विकास और पंचायती राज की नीतियों का निर्धारण करते हैं और उन निर्धारित नीतियों के निष्पादन की प्रक्रिया पर प्रभावी पर्यवेक्षण और नियंत्रण करते हैं। इन प्राधिकारियों के अधीन निदेशालय एवं विभाग की संरचना में अन्य अनेक वरिष्ठ अधिकारी कार्यशील हैं जिनके दायित्वों का विवरण, राज्य सरकार के कार्य विभाजन आदेश के अनुसार आगामी विवरण में प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपसचिव एवं पदेन उपविकास आयुक्त (प्रशासन - 1)

यह पद इस विभाग के आयुक्त के अधीन सबसे महत्त्वपूर्ण पद है। इस पद पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा का कोई वरिष्ठ अधिकारी नियुक्त किया जाता रहा है। विभागीय कार्य विभाजन निर्देशों के अनुसार यह पदधारी निम्नांकित कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाया गया है:[13]

1. शिक्षा, योजना, न्यायालय और नीतिगत निर्णयों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मामले;
2. शिक्षा प्रसार अधिकारियों व अध्यापकों के स्थानान्तरण सम्बन्धी मामले;
3. जिला परिषद् में नियुक्त मुख्य कार्यकारी अधिकारियों एवं पंचायत समितियों के विकास अधिकारियों से सम्बन्धित संस्थापन एवं जाँच से सम्बन्धित मामले;
4. जन अभाव अभियोगों का अनुश्रवण (मॉनीटर करना), मंत्रिमंडल के निर्णयों, सचिवों की बैठकों और ओ. एण्ड. एम. तथा प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित मामले;
5. पंचायत समितियों और जिला परिषद् के अधिकारियों को वाहन उनके क्षेत्राधिकार से बाहर ले जाने की अनुमति से सम्बन्धित मामले;
6. दौरे और मुख्य अधिशाषी अधिकारी के निरीक्षण प्रतिवेदन से सम्बन्धित मामले;
7. वार्षिक प्रगति विवरण की समीक्षा से सम्बन्धित अनुभाग के मामले;
8. विकास आयुक्त एवं निदेशक व आयुक्त पंचायती राज द्वारा निरीक्षण टिप्पणियों से सम्बन्धित मामले; और

9. सभी कार्मिक संघों की माँगों से सम्बन्धित मामले।

यह अधिकारी विभागीय कार्य विभाजन आदेशों के अनुसार उपर्युक्त समस्त मामलों के निस्तारण के लिए औपचारिक रूप से उत्तरदायी बनाया गया है। इन मामलों के साथ ही वह उन समस्त कार्यों को निष्पादित करने के लिए भी उत्तरदायी है जो उसे समय–समय पर निदेशक या विकास आयुक्त या मंत्री महोदय द्वारा निर्दिष्ट किए जाएँ।

उपसचिव व पदेन उपविकास आयुक्त (प्रशासन - 2)

यह अधिकारी निम्नांकित कार्यों के लिए उत्तरदायी है:[14]

1. पंचायती राज संस्थाओं के कार्मिकों यथा विकास अधिकारियों, मंत्रालयिक कर्मचारियों, ग्राम विस्तार कार्यकर्ताओं, चालकों, पशुपालन एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के संस्थापन सम्बन्धी मामले;
2. पंचायत विस्तार अधिकारियों, प्रगति प्रसार अधिकारियों व सहकारिता प्रसार अधिकारियों से सम्बन्धित समस्त संस्थापन मामले;
3. मुख्यालय पर नियुक्त कर्मचारिवृंद से सम्बन्धित सभी संस्थापन मामले यथा नियुक्ति, पदस्थापन, स्थानान्तरण, जाँच, दंड, विभागीय पदोन्नति समिति इत्यादि।
4. विभाग में नियुक्त सभी सहायक अभियंताओं तथा कनिष्ठ अभियंताओं के संस्थापन सम्बन्धी मामले;
5. वाहनों का आवंटन और संधारण, कार्यालय भवन का संधारण और टेलीफोन उपलब्ध कराने से सम्बन्धित मामले;
6. विविध संस्थापन मामले;
7. सामान्य प्राप्ति और प्रेषण इत्यादि।

उपसचिव और पदेन विकास आयुक्त (प्रशिक्षण और आयोजना)

यह प्राधिकारी विभागीय कार्य वितरण आदेशों के अनुसार निम्नांकित कार्यों को निष्पादित करने के लिए उत्तरदायीं है:[15]

1. मुख्यमंत्री के यहाँ से प्राप्त होने वाले सन्दर्भ पत्रों पर कार्यवाही;
2. सभी अनुभागों के मध्य समन्वय;
3. पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारिवृंद अर्थात् विकास अधिकारियों विस्तार अधिकारियों, अध्यापकों, ग्राम स्तरीय कार्यकर्ताओं तथा जिला स्तरीय अधिकारियों के राजस्थान में और राजस्थान से बाहर प्रशिक्षण सम्बन्धी मामले;
4. युवा कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण;
5. पंचायती राज संस्थाओं के गैर सरकारी अधिकारियों अर्थात् जिला प्रमुख, प्रधान, पंचायत समितियों के सदस्यों, सरपंचों और उपसरपंचों के प्रशिक्षण सम्बन्धी मामले;

6. जिला परिषद् के मुख्य कार्यकारी अधिकारियों की बैठकों से सम्बन्धित मामले;
7. अध्ययन भ्रमण और प्रशिक्षण शिविर से सम्बन्धित मामले;
8. पंचायती राज की एन. आर ई. पी., आई. आर. डी. पी. जैसी योजनाओं का पंचायती राज संस्थाओं को हस्तांतरण और उनके कार्यान्वयन का अनुश्रवण (मॉनीटर करना);
9. अकाल राहत कार्यों के अन्तर्गत कार्यों का आवंटन;
10. अतिविशिष्ट व्यक्तियों और अध्ययन दलों के कार्यक्रम;
11. पंचवर्षीय योजनाओं का निरूपण एवं अनुश्रवण;
12. संगोष्ठियों और सम्मेलनों से सम्बन्धित मामले;
13. संसद और विधानसभा के प्रश्नोत्तर और सभी विविध कार्यों से सम्बन्धित मामले;
14. आहरण, वितरण, स्टोर और वाहन पूल से सम्बन्धित मामले,
15. पुराने रिकार्ड की छँटाई से सम्बन्धित मामले; तथा
16. विविध कार्य।

उपविकास आयुक्त (विधि एवं न्यायिक)

विधि सम्बन्धी एवं न्यायिक मामलों के प्रभारी से, विभागीय निर्देशों के अन्तर्गत, निम्नांकित कार्यों के निष्पादन की अपेक्षा की गई है :

1. विभाग के विधि एवं न्यायिक अनुभाग तथा सम्बन्धित अधिनियमों में आवश्यक संशोधनों से सम्बन्धित मामले;
2. पंचायत समितियों के परिसीमन एवं मुख्यालय के परिवर्तन से सम्बन्धित मामले;
3. जिला परिषदों एवं पंचायत समितियों के प्रस्तावों के निलम्बन या निरस्तीकरण से सम्बन्धित मामले;
4. ग्रामसभा और ग्रामदानी गाँवों से सम्बन्धित मामले;
5. आबादी भूमि का विक्रय;
6. पंचायत समिति के टैंक से सम्बन्धित मामले;
7. पंचायत समिति एवं जिला परिषद् की अचल संपत्ति के अधिग्रहण एवं उसका व्ययन इत्यादि से सम्बन्धित मामले।

उपविकास आयुक्त (जाँच)

यह अधिकारी निम्नांकित कार्यों की देखरेख के लिए उत्तरदायी है :

1. पंचायत समितियों के प्रधानों, उपप्रधानों, सदस्यों, पंचायतों के सरपंच और पंचों के विरुद्ध जाँच;
2. वाद से सम्बन्धित नोटिस, फौजदारी वाद, रिट याचिकाओं तथा ऐसी रिट याचिकाएं जो पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों के विरुद्ध

संसूचित की गई हैं;

3. पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम की धारा 85 के अन्तर्गत पुनरीक्षण सम्बन्धी मामले; तथा
4. अधिनियम की विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत अपील।

मुख्य लेखाधिकारी

विभाग का मुख्य लेखाधिकारी समस्त लेखा सम्बन्धी मामलों के लिए उत्तरदायी है। कार्य वितरण आदेशों के अनुसार उससे निम्नांकित कार्यों के औपचारिक निर्वाह की अपेक्षा की जाती है :

1. जिला परिषद्, पंचायत समिति, प्रशिक्षण केन्द्र तथा मुख्यालय को बजट आवंटन;
2. वित्त विभाग की सहमति से वित्तीय मामलों की स्वीकृतियां जारी करना;
3. जिला परिषद्/पंचायत समिति की स्वयं की आय का पर्यवेक्षण;
4. महालेखाकार/स्थानीय अंकेक्षण विभाग के निरीक्षण प्रतिवेदनों की पालना सुनिश्चित करना;
5. जन लेखा समिति से सम्बन्धित मामले;
6. जिला परिषद्/पंचायत समिति के गबन प्रकरणों में सम्बन्धित कार्मिकों के विरुद्ध कार्यवाही करना;
7. अग्रिम और ऋणों पर नियंत्रण व वसूली;
8. पेन्शन से सम्बन्धित वादों के मामले;
9. महालेखाकार कार्यालय से लेखों का मिलान;
10. बकाया अग्रिमों का समायोजन;
11. वित्त आयोगों (केन्द्रीय वित्त आयोग तथा राज्य वित्त आयोग) की अभिशंसाओं के आधार पर पंचायत समितियों/जिला परिषदों को कोषों का आवंटन।

उपविधि परामर्शी

यह पदाधिकारी निम्नांकित कार्यों को निष्पादित करता है :

1. अधिनियम व नियमों में संशोधन के प्रस्ताव;
2. अधिकारियों और कर्मचारिवृंद द्वारा प्रस्तुत रिट याचिकाओं, सिविल वाद, नोटिस और अन्य वादों से सम्बन्धित मामले,
3. पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव और उससे उत्पन्न होने वाले निर्वाचन वाद से सम्बन्धित मामले; तथा
4. राजस्थान पंचायती राज अधिनियम की धारा 97 के अन्तर्गत किसी पंचायती राज संस्था के अभिलेखों की विधिकता या औचित्य के लिए मंगाए जाने वाले अभिलेखों से सम्बन्धित मामले।

अधीक्षण अभियंता (हैण्ड पम्प)

अधीक्षण अभियंता (हैण्ड पम्प), द्वारा पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों द्वारा हैण्ड पम्प संधारण कार्य का पर्यवेक्षण किया जाता है। कार्य वितरण आदेशों के अनुसार दसवें वित्त आयोग के अन्तर्गत पंचायती राज संस्थाओं को दिए जाने वाले विकास अनुदान की राशि का हस्तान्तरण एवं बालिका समृद्धि योजना के पर्यवेक्षण के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। इसके अतिरिक्त 'अतिरिक्त मुख्य नगर नियोजक' की अनुपस्थिति में, अतिरिक्त मुख्य नगर नियोजक का कार्य भी इन्हीं के द्वारा किया जाता है।

अधीक्षण अभियंता (प्रशिक्षण समन्वयक)

यह अधिकारी निम्नांकित कार्यों की देखरेख के लिए उत्तरदायी है :

1. प्राथमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पोषाहार कार्यक्रम से सम्बन्धित मामले;
2. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम से सम्बन्धित मामले;
3. राष्ट्रीय स्वच्छता कार्यक्रम से सम्बन्धित मामले;
4. राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम से सम्बन्धित मामले; तथा
5. चारागाहों से सम्बन्धित मामले,

सांख्यिकी अधिकारी

सांख्यिकी अधिकारी का मुख्य कार्य, विभाग की मुख्य सूचनाओं का संकलन, योजनाओं से सम्बन्धित समस्त कार्य, विभिन्न योजनान्तर्गत जिलेवार प्रगति विवरण प्राप्त कर उन्हें समन्वित कर अग्रेषित करना व लक्ष्यों में धीमी प्रगति होने पर पूर्ति हेतु आवश्यक पत्राचार करते रहना इन्हीं का उत्तरदायित्व है।

सम्पादक (राजस्थान विकास)

पंचायती राज विभाग, पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकलापों, उनकी समस्याओं और ग्रामीण विकास से सम्बन्धित विचारों और चिन्तन को गति प्रदान करने तथा उसमें आवश्यक समन्वय एवं प्रचार–प्रसार की दृष्टि से एक पत्रिका "राजस्थान विकास" का प्रकाशन करता है। विभाग में इस पत्रिका के सम्पादन हेतु एक सम्पादक और उसकी सहायतार्थ एक सहायक संपादक का पद स्वीकृत है। ये दोनों अधिकारी **राजस्थान विकास** नामक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन कर राज्य की समस्त पंचायती राज संस्थाओं एवं अन्य इच्छुक संस्थाओं व व्यक्तियों को पहुँचाने के लिए उत्तरदायी होते हैं।

इस प्रकार, विभाग के उपर्युक्त समस्त प्राधिकारी ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज से सम्बन्धित कार्यक्रमों को सरकार के निर्देशों और जन आकांक्षाओं के अनुरूप गति प्रदान करते हैं।

विभाग के कार्य

जैसा कि इस विभाग के नाम से ध्वनित होता है, इसके कार्यों का सीधा सम्बन्ध ग्रामीण जनता, उनके विकास और उनके स्वायत्त शासन के लिए विनिर्मित उनकी पंचायती राज संस्थाओं से है। इससे पूर्व अधिकारियों के दायित्वों का जो विवरण दिया

गया है उससे भी इस विभाग के द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों का बिम्ब उभरता है। फिर भी विभाग के कार्यों के संकलित प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से उन्हें विभिन्न शीर्षकों में आबद्ध करना उपयुक्त प्रतीत होता है :

1. पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित कार्य : पंचायती राज विभाग प्राथमिक रूप से तो राजस्थान में ग्रामीण विकास कार्यक्रमों की क्रियान्विति के लिए समर्पित है साथ ही यह पंचायती राज संस्थाओं के संचालन से सम्बन्धित कार्य को भी समान महत्त्व देता है। इस सम्बन्ध में यह विभाग निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करता है :

1. पंचायती राज संस्थाओं के सामयिक चुनावों के आयोजन में राज्य निर्वाचन आयोग की सहायता;
2. ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषदों का गठन, पुनर्गठन और उनका नाम परिवर्तन;
3. पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्ष और उपाध्यक्षों के चुनाव और रिक्त पदों की पूर्ति के मामले;
4. पंचायती राज संस्थाओं की सदस्यता, सह सदस्यता, सहवरण और अतिरिक्त सदस्यता के मामलों का निस्तारण;
5. पंचायती राज संस्थाओं के सदस्यों के चुनावों से सम्बन्धित विवादों के निस्तारण की विधि सम्मत व्यवस्था;
6. पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकाल, सदस्यता सम्बन्धी अयोग्यता तथा सदस्यता समाप्ति के मामले;
7. पंचायती राज संस्थाओं के पदों की आकस्मिक रिक्तियों को भरने, इनके अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सदस्यों के त्यागपत्र, इनकी समितियों का गठन और समितियों के कार्य संचालन नियमों से सम्बन्धित मामलों में राज्य निर्वाचन आयोग को सामयिक सूचना का संप्रेषण;
8. पंचायत समिति और जिला परिषदों के बजट पर नियमानुसार स्वीकृति;
9. पंचायत समिति और जिला परिषदों के कार्मिक मामलों पर नियमानुसार कार्यवाही;
10. पंचायत समितियों तथा जिला परिषदों द्वारा योजना का कार्यान्वयन तथा नए कार्यक्रमों से सम्बन्धित मामले;
11. पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा अधिकारी वर्ग के प्रशिक्षण से सम्बन्धित मामले;
12. पंचायती राज संस्थाओं को वाहन उपलब्ध कराना;
13. पंचायती राज के अध्ययन दलों के भ्रमण कार्यक्रमों के समय उनकी सहायता का आवश्यक प्रबन्ध करना;

14. पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारिवृंद की सेवा शर्तों और अनुशासन के नियमों का संधारण,
15. पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच और उन पर आवश्यक अनुवर्ती कार्यवाही;
16. पंचायती राज द्वारा आरोपित किए जाने वाले नए करों की पूर्व स्वीकृति एवं उन पर अपीलों की सुनवाई;
17. पंचायती राज संस्थाओं पर प्रशासनिक एवं कार्यपालक नियंत्रण,
18. पंचायत एवं पंचायत समितियों के मध्य या पंचायत समिति एवं जिला परिषद् या नगर मंडल के मध्य विवादों से सम्बन्धित मामले;
19. पंचायत राज संस्थाओं और उनकी समितियों के प्रस्तावों का निलम्बन या निरस्तीकरण से सम्बन्धित मामले;
20. पंचायत समिति एवं जिला परिषदों के कर्मचारिवृंद के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही;
21. दंडनीय अपराधों पर पंचायती राज संस्थाओं में कार्य कर रहे कर्मचारिवृंद पर अभियोग चलाने की स्वीकृति देना;
22. पंचायती राज संस्थाओं के लिए भूमि की अवाप्ति;
23. ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषदों के पी. डी. खातों में निधियां, ऋणों द्वारा सहयोग, अनुदानों का आवंटन;
24. पंचायती राज संस्थाओं द्वारा अंकेक्षण प्रतिवेदनों की अनुपालना;
25. राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में संशोधन हेतु आवश्यक कार्यवाही;
26. विधानसभा या संसद में पंचायती राज संस्थाओं के विषय में पूछ गए प्रश्नों के उत्तर;
27. पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारी वर्गों की माँगों से सम्बन्धित मामलों का निस्तारण;
28. पंचायती राज संस्थाओं की अचल संपत्ति के अधिग्रहण एवं व्ययीकरण से सम्बन्धित मामलों का निस्तारण;
29. पंचायती राज संस्थाओं में चल रहे निर्माण कार्यों का पर्यवेक्षण, निर्देशन और नियंत्रण;
30. पंचायती राज संस्थाओं द्वारा राज्य भर में संचालित पोषण कार्यक्रमों का निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियंत्रण; तथा
31. पंचायती राज संस्थाओं द्वारा संचालित प्राथमिक शिक्षा का पर्यवेक्षण, निदेशन और नियंत्रण।

उपर्युक्त विवरण में संकलित समस्त बिन्दुओं में उन कार्यों को समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है जो पंचायती राज संस्थाओं के संदर्भ में इस विभाग द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। यह सूची अपने आप में, उन कार्यों की सम्पूर्ण सूची नहीं मानी जा सकती जिनका निष्पादन यह विभाग पंचायती राज की त्रिस्तरीय संस्थाओं के संदर्भ में करता है अपितु यह सूची दृष्टांतपरक है। इसके माध्यम से विभाग द्वारा पंचायती राज से सम्बन्धित निष्पादित कार्यों की परिगणना करने का प्रयत्न किया गया है।

किन्तु, उपर्युक्त विवरण का अभिप्राय यह नहीं है कि यह विभाग केवल पंचायती राज से सम्बन्धित भूमिका ही निभाता है। वस्तुतः पंचायती राज की संस्थाओं को सारे देश में और विशेषतः राजस्थान में ग्रामीण क्षेत्रों में विकास से सम्बन्धित नूतन दायित्व दिए जाने की प्रवृत्ति कुछ वर्षों से द्रष्टव्य हो रही है। लोकतांत्रिक चिन्तकों की मान्यता यह है कि जब शासन के उच्च स्तर–केन्द्र व राज्य–का संचालन निर्वाचित जन प्रतिनिधियों द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है तो फिर शासन के इस तीसरे स्तर का संचालन निर्वाचित जन प्रतिनिधियों द्वारा प्रभावी तरीके से क्यों नहीं किया जा सकता?

लोकतांत्रिक चिन्तकों की यह मान्यता उनके लोकतांत्रिक दर्शन की व्यापक अवधारणा को प्रसारित करती है, यद्यपि यह भी संभव है कि कुछ लोगों को उनके इस चिन्तन से असहमति हो। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भिक चरणों में कठिनाइयां आती हैं यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पंचायती राज संस्थाओं को अधिक अधिकार देना, अधिक दायित्व दिया जाना और उनकी भूमिका में विस्तार किए जाने से उनके सामने अनेक प्रकार की प्रशासनिक, वित्तीय, कार्मिक और निष्ठाजन्य समस्याएं उपस्थित होती हैं जिनके कारण कभी–कभी यह प्रतीत होने लगता है कि पंचायती राज संस्थाएं अभी विस्तृत दायित्वों का निर्वाह करने में सक्षम नहीं है। इस बिन्दु पर विस्तार से विचार करना यहां अभीष्ट भी नहीं, किन्तु इस बहस के जारी रहने के पश्चात् भी राजस्थान एक ऐसा राज्य है जिसने पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास से सम्बन्धित अनेकानेक दायित्व दिए हैं।

2. अन्य विभागों द्वारा हस्तान्तरित कार्य

पंचायती राज संस्थाओं को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए संविधान के अनुच्छेद 243–जी के अन्तर्गत 11वीं अनुसूची में वर्णित 29 विषयों में से प्रारम्भिक शिक्षा, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, ऊर्जा, जलदाय, समाज कल्याण, कृषि, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, लघु सिंचाई, पशुपालन, ग्रामीण विकास, वन, महिला बाल विकास विभाग से सम्बन्धित विषयों की कुछ गतिविधियों के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व पंचायती राज संस्थाओं को सौंपा गया है जिनका विभागवार विवरण निम्नानुसार है :[16]

(1) चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग : जिला प्रमुख को जिला स्वास्थ्य समिति का अध्यक्ष बनाया गया है। जन स्वास्थ्य व परिवार कल्याण के कार्यक्रमों की प्रभावी क्रियान्विति का उत्तरदायित्व मुख्य कार्यकारी अधिकारी (जिला परिषद्) को सौंपा गया है तथा इन कार्यक्रमों की वार्षिक योजनाओं का अनुमोदन भी जिला परिषद् द्वारा ही किया जाना है।

(2) परिवार कल्याण : महिला स्वास्थ्य संघ उप केन्द्र की वार्षिक कार्य योजना का अनुमोदन ग्राम पंचायत द्वारा किया जाएगा।

(3) आयुर्वेद विभाग : जिले की आयुर्वेद योजना का अनुमोदन जिला परिषद् द्वारा किया जायेगा तथा, जिला परिषद् के सदस्य आयुर्वेद केन्द्रों का आकस्मिक निरीक्षण करने हेतु अधिकृत किए गए हैं।

(4) ऊर्जा विकास अभिकरण : जिला प्रमुख की अध्यक्षता में एकीकृत ग्रामीण ऊर्जा कार्यक्रम के अन्तर्गत जिलास्तरीय समितियों का गठन किया गया है।

(5) वन विभाग : ग्राम वन सुरक्षा व प्रबन्ध समिति के कार्य संचालन हेतु कार्य समिति के सदस्यों के चयन का अधिकार (ग्राम वन सुरक्षा एवं प्रबन्ध समिति के सदस्यों में से) ग्रामसभा को दिया गया है।

(6) पशुपालन विभाग : 1,727 पशु उप केन्द्र व 'घ' श्रेणी के 835 जलाशयों (मछली पालन) को पंचायती राज विभाग को हस्तांतरित किया गया है।

(7) ग्रामीण विकास विभाग : एकीकृत ग्रामीण विकास योजनाओं के अधीन जल ग्रहण क्षेत्र विकास के कार्य में पूर्ण रूप से पंचायती राज संस्थाओं की सहभागिता सुनिश्चित की गई है तथा इन कार्यों के क्रियान्वयन हेतु सर्वप्रथम प्राथमिकता पंचायती राज संस्थाओं को दी गई है।

(8) कृषि विभाग : कृषि विस्तार, उद्यान विकास, जलग्रहण विकास व भू–संरक्षण कार्यक्रम में कार्यरत कृषि पर्यवेक्षकों की पंचायती राज में सहभागिता व ग्राम पंचायतों से बेहतर समन्वय स्थापित करने हेतु इनकी उपस्थिति का प्रमाणन का अधिकार ग्राम पंचायतों को दिया गया है।

(9) खाद्य व नागरिक रसद विभाग : ग्रामीण क्षेत्रों में राशन कार्ड बनाने व पूर्व में बने राशन कार्डों में किए गए परिवर्तनों का ब्यौरा तथा उचित मूल्य की दुकान के आवंटन/निरस्तीकरण के प्रस्ताव, ग्राम सभा में रखे जाएँगे व ग्राम सभा की अभिशंसा के अनुसार ही उन पर नियमानुसार कार्यवाही की जाएगी।

(10) समाज कल्याण विभाग : समाज कल्याण विभाग द्वारा संचालित राजकीय छात्रावासों की प्रबन्ध निदेशन समिति में क्षेत्रीय पंचायत समिति के प्रधान को उपाध्यक्ष व ग्राम पंचायत के सरपंच व पंचायत समिति के विकास अधिकारी को सदस्य बनाया गया है। इसी प्रकार प्रधान व विकास अधिकारी को उनके क्षेत्र में स्थित समस्त छात्रावासों के पर्यवेक्षण व निरीक्षण का अधिकार दिया गया है।

(11) महिला व बाल विकास विभाग : समेकित बाल विकास सेवा कार्यक्रमों का पर्यवेक्षण, कार्यकर्ताओं/सहायिकाओं का चयन एवं आंगनबाड़ी केन्द्र की स्थापना का कार्य ग्राम पंचायतों को सौंपा गया है।

(12) सिंचाई विभाग : 200 एकड़ तक के लघु सिंचाई कार्यों का हस्तान्तरण मय वर्क चार्ज स्टॉफ/टी. एण्ड पी. उपकरण आदि के साथ पंचायत/पंचायत समिति की

सहमति के प्रस्ताव पर इन संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दिया जाएगा।

(13) जन स्वास्थ्य अभियांत्रिकी विभाग : राज्य में हैण्ड पम्प संधारण व्यवस्था का दायित्व पंचायत का (जन स्वास्थ्य अभियांत्रिकी विभाग के माध्यम से) होगा व हैण्ड पम्प मरम्मत के कार्य की देखभाल व समीक्षा पंचायत समिति स्तर पर माह में कम से कम एक बार की जानी है।

(14) प्रारम्भिक शिक्षा व साक्षरता : प्रारम्भिक शिक्षा एवं साक्षरता के क्षेत्र में संचालित विभिन्न योजनाओं में समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से जिला स्तर पर इन सभी गतिविधियों के लिए जिला प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी व ब्लॉक स्तर पर ब्लॉक प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी इनके प्रभारी बनाए गए हैं।

3. विकास से सम्बन्धित कार्य

पंचायती राज विभाग द्वारा ग्रामीण विकास हेतु निम्नलिखित कार्यक्रम/योजनाएँ चलाई जा रही हैं।[17]

(1) रियायती दर पर आवासीय भूखंड का आवंटन : यह विभाग आर्थिक दृष्टि से कमजोर व पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों को राजस्थान पंचायती राज नियम 158 में किये गये संशोधन के अन्तर्गत 300 वर्ग गज तक (आवास विहीन परिवारों को) रियायती दर पर भूमि का आवंटन करने हेतु पंचायतों को निर्देश देता है। आवासीय भूखंड प्राप्ति के लिए विभाग का यह निर्देश है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के भूमिहीन परिवार, ग्रामीण कारीगर, लघु व सीमान्त कृषक, गाड़िया लुहार, घुमक्कड़ जाति के परिवार तथा विकलांग, जो ग्राम में स्थायी निवास कर रहे हों तथा ऐसे परिवार जो गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हों, उन्हें प्राथमिकता दी जाए। वर्ष 2000–01 के दौरान 30,000 रियायती दर आवासीय भूखण्डों के लक्ष्यों के विरुद्ध माह फरवरी, 2001 तक 25,951 परिवारों को आवासीय भूखंड आवंटित कर लाभान्वित किया जा चुका है जिसमें अनुसूचित जाति के 11,214 परिवारों को व अनुसूचित जनजाति के 3,449 परिवारों को लाभान्वित किया गया है।

(2) निःशुल्क आवासीय भूखण्ड आवंटन : राज्य सरकार के वार्षिक प्रतिवेदन 2009-10 में दी गयी सूचना के अनुसार पंचायतों को सशक्त करने की दृष्टि से राज्य सरकार ने गरीबी रेखा (बी.पी.एल. में चयनित) के नीचे जीवनयापन कर रहे परिवारों, घुमक्कड़ भेड़पालकों के परिवारों को निःशुल्क भूखण्ड आवंटन करने की शक्तियाँ पंचायतों को दिए जाने के आदेश जून 2007 में प्रदान कर दिए हैं। इसी प्रकार महिला सशक्तीकरण के लिए भी राज्य सरकार ने यह आदेश दिया है कि पंचायत क्षेत्र में ऐसे नियमन के पट्टे केवल महिलाओं के नाम से ही जारी किए जाएँगे।

(3) पिछड़ा क्षेत्र अनुदान कार्यक्रम : भारत सरकार द्वारा शत प्रतिशत वित्त पोषित यह कार्यक्रम राजस्थान के 12 जिलों– सवाईमाधोपुर, बाँसवाड़ा, डूंगरपूर, करौली, टोंक, उदयपुर, जैसलमेर, चितौड़गढ़, जालौर, सिरोही, बाड़मेर एवं झालावाड़ में ढाँचागत विकास एवं दक्षता निर्माण हेतु समेकित आर्थिक एवं सामाजिक विकास हेतु (सन् 2006

से) चलाया जा रहा है।

(4) निर्बन्ध राशि योजना : 11वीं पंचवर्षीय योजना में यह योजना अभिकल्पित की गयी थी जिसे राजस्थान में वित्त वर्ष 2007-08 से लागू किया जा सका। योजना के अन्तर्गत चयनित (राज्य के सभी) जिलों को 1-1 करोड़ रुपए निर्बन्ध राशि के रुप में उपलब्ध कराए जाते हैं।

(5) ग्राम स्वराज योजना : केन्द्र प्रवर्तित इस योजना में 75% राशि भारत सरकार द्वारा और 25 प्रतिशत राशि राज्य सरकार द्वारा वहन की जाती है। जिन गाँवों में पंचायत भवन नहीं है वहाँ नवीन भवनों का निर्माण और उनके विस्तार या जीर्णोद्वारा के कार्य इस योजना में कराए जाते हैं। राज्य के 16 जिलों की 88 ग्राम पंचायतों में नवीन भवन के निर्माण और 158 ग्राम पंचायतों में विस्तार या जीर्णोद्वारा का कार्य वर्ष 2009-10 में इस योजना के अन्तर्गत किया गया।

(6) बैकुण्ठ मुक्तिधाम योजना : मृतकों के गरिमामय दाह संस्कार के लिए यह योजना वर्ष 2007-08 में राज्य में लागू की गयी है।

(7) निर्मल घाट योजना : महिलाओं की निजता बनाए रखने के लिए नदियों व तालाबों के साथ घाट बनाने के लिए यह योजना 2007-08 में शुरु की गयी थी।

(8) निर्मल ग्राम पुरस्कार योजना : सम्पूर्ण स्वच्छता कार्यक्रम के अन्तर्गत यह पुरस्कार प्राप्त करने वाली पंचायतों को राज्य सरकार की ओर से 1 लाख रुपये का पुरस्कार पंचायत क्षेत्र में स्थायी विकास कार्य करवाने हेतु दिया जाता है।

(9) शांतिप्रिय ग्राम-अनुदान योजना : प्रदेश की ऐसी ग्राम पंचायतें जिनमें आपसी मतभेद बातचीत से निपटाए जाते हैं वहाँ की सुख शान्ति को बनाए रखने के लिए स्थायी प्रकृति का कार्य कराने हेतु 1 लाख रुपए का विशेष अनुदान दिया जाता है।

(10) ग्रामीण आवास निर्माण सहायता कार्यक्रम : समाज के कमजोर वर्ग के परिवारों को रियायती आवासीय भूखंड उपलब्ध कराना ही विभाग ने पर्याप्त नहीं समझा है अपितु निर्माण के लिए उन्हें सहायता देने का संकल्प भी व्यक्त किया है। इस हेतु उपयुक्त परिवारों के चयन एवं सहायता वितरण तथा गृह निर्माण का कार्य पंचायत समितियों एवं ग्राम पंचायतों की देखरेख में सम्पन्न किया जाता है। चयन की इस प्रक्रिया में पंचायतों एवं पंचायत समितियों को इसलिए संयुक्त किया जाता है, क्योंकि उन्हें अपने क्षेत्र के विषय में सही जानकारी होती है और उपयुक्त परिवारों का चयन करने में वे सरकार की पूर्ण सहायता करती हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 1985 से लेकर अब तक प्रति वर्ष लगभग 30 हजार परिवारों को लाभान्वित किया गया है।

(11) ग्रामीण शौचालय एवं ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम : ग्रामीण क्षेत्रों में शौचालयों की समस्या तथा इस संदर्भ में लोक शिक्षण और लोक जागृति के अभाव को दूर करने के लिए छठी, सातवीं पंचवर्षीय योजना काल से राजस्थान में ग्रामीण क्षेत्रों में यह कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। इसके अन्तर्गत घरों व संस्थाओं में पृथक् शौचालयों के निर्माण का कार्य कराया जा रहा है। योजना का लाभ अनुसूचित जाति व जनजाति

तथा गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों को दिया जाता है। इसके अन्तर्गत अनुदान, सहायता के साथ–साथ भारत सरकार के केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम के अन्तर्गत भी अनुदान सहायता उपलब्ध कराई जाती है। योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्यप्रद जीवन बनाने एवं ग्रामीण जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यकलापों की जानकारी उपलब्ध कराना है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेष तौर से बच्चों एवं महिलाओं में स्वच्छ जीवन के प्रति जागृति उत्पन्न की जा सके।

(12) राष्ट्रीय परिवार लाभ योजना : यह कार्यक्रम शत–प्रतिशत केन्द्रीय सहायता से चलाया जा रहा है। इस योजना के अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले 18 से 64 वर्ष की आयु के मुख्य जीविकोपार्जक की प्राकृतिक या दुर्घटना में मृत्यु की दशा में 1 अगस्त, 1998 से दस हजार रुपए की आर्थिक सहायता दी जाती है।

(13) राष्ट्रीय पोषाहार मिड डे मील कार्यक्रम : यह कार्यक्रम 2 अक्टूबर, 1995 से लागू है जिसके अन्तर्गत राजकीय/अनुदानित प्राथमिक/उच्च प्राथमिक शालाओं/राजीव गाँधी पाठशालाओं में कक्षा 1 से 8 में अध्ययनरत छात्रों की उपस्थिति 80 प्रतिशत से अधिक होने पर 3 किलो गेहूँ प्रतिमाह दिया जाता है। इसका उद्देश्य अध्ययन के प्रति पात्र/योग्य बालक–बालिकाओं का शिक्षा के प्रति रुझान उत्पन्न करना व अध्ययनरत विद्यार्थियों का ठहराव सुनिश्चित करना है।

(14) बालिका समृद्धि योजना : शत–प्रतिशत केन्द्रीय अंश की यह योजना 2 अक्टूबर, 1997 से लागू की गई है जिसके अन्तर्गत गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों में 15 अगस्त, 1997 के बाद जन्मी प्रत्येक बालिका (दो लड़कियों की सीमा तक) को 500 रुपये की अनुदान सहायता दी जाती है।

(15) उन्नत चूल्हा कार्यक्रम : ग्रामीण अंचलों में ईंधन संरक्षण और गृहिणियों को धुंए से बचाने के लिए उन्नत चूल्हा कार्यक्रम वर्ष 1984–85 से राज्य भर में संचालित है। इसी परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम के अन्तर्गत चेतक/उदयराज चूल्हों का निर्माण कराया जा रहा है जो न केवल ईंधन की बचत करता है वरन् धुंए को पाइप द्वारा बाहर निकल जाने से निर्धूम रसोई वाला वातावरण भी बनाता है। साथ ही महिलाओं व बच्चों को धुएं से होने वाली विभिन्न बीमारियों से भी बचाता है।

सारांशतः पंचायती राज विभाग राजस्थान में न केवल ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में अपनी भूमिका निभाता है अपितु इन कार्यक्रमों को निष्पादित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित पंचायती राज संस्थाओं के विकास और उनके कुशल कार्यकरण हेतु आवश्यक प्रबन्ध भी करता हैं।

सन्दर्भ

1. एच. डी. मालवीया, **"विलेज पंचायत इन इंडिया,"** 1965, उद्धृत, डॉ. रविन्द्र शर्मा, **ग्रामीण स्थानीय प्रशासन**, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर 1985, पृ. 105.
2. उपर्युक्त।

3. सादिक अली, **पूर्वोक्त**, प्रतिवेदन, पृ. 7.
4. **उपर्युक्त।**
5. राजस्थान सरकार, आदेश सं. एफ 1 (3) इन्स्टी/ए/50 दि. 23, फरवरी, 1950
6. डॉ. रविन्द्र शर्मा, **पूर्वोक्त**, पृ.106.
7. सादिक अली **पूर्वोक्त**, पृ. 7–8.
8. राजस्थान सरकार, आदेश सं. पी. डी. एडम/59–10992 दि. 6 फरवरी, 1959
9. डॉ. रविन्द्र शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 107–8.
10. राजस्थान सरकार, सामान्य प्रशासन विभाग, आदेश सं. एफ (13) जीए/ए/59 दिनांक 28 मार्च, 1959
11. राजस्थान सरकार, आदेश सं. एफ 24 (2) मंत्रिमंडल (82) जयपुर दिनांक 22 जून, 1982
12. राजस्थान सरकार, ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग का निष्पादन आय व्ययक 2010–2011 पृष्ठ 2
13. राजस्थान सरकार, ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग कार्य विभाजन आदेश सं. एफ. 17 (ई) कार्य वि./प्रशा./ग्रा. वि./99/2077 दि. 22 मई, 1999.
14. **उपर्युक्त।**
15. **उपर्युक्त।**
16. राजस्थान सरकार, ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग का वार्षिक प्रगति विवरण, 2000–2001
17. राजस्थान सरकार, ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग का वार्षिक प्रतिवेदन, 2009-10

किया गया है कि स्थानीय शासन में कर्मचारी वर्ग की भर्ती से लूट खसोट की प्रवृत्ति को बल मिला है। ब्रिटेन तथा भारत में अधिनस्थ स्तर के कर्मचारी वर्ग के सम्बन्ध में नगरीय संस्थाओं में इस प्रणाली को अपनाया गया है।

2. एकीकृत कार्मिक प्रणाली

इस पद्धति के अन्तर्गत नगरीय निकायों के कतिपय पदों या सभी प्रकार के कार्मिक पदों के लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए एक सेवा होती है जिसका प्रशासनिक विनियमन और नियंत्रण सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। इस प्रणाली में राज्य स्तर पर नगरीय निकाय के विभिन्न सेवा संवर्गों के लिए कर्मचारियों की भर्ती की जाती है और उन्हें राज्यों के कार्यकुशल नगरीय निकायों में कहीं भी नियुक्त और स्थानान्तरित किया जा सकता है। ये कर्मचारी केवल नगरीय प्रशासन के लिए ही नियोजित किए जाते हैं और नगरीय प्रशासन की इकाइयों में ही पूरे राज्य में कहीं भी स्थानान्तरित हो सकते हैं।

इस प्रणाली में चूंकि नगरीय संस्थाओं में कर्मचारी राज्य स्तर पर राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जिससे इन संस्थाओं को योग्य कर्मचारियों की सेवाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु इस प्रणाली की आलोचना यह की जाती है कि इस प्रणाली को अपनाए जाने से स्थानीय शासन इकाइयों की स्वायत्तता निर्णायक सीमा तक राज्य सरकार के नियंत्रण में हो जाती है। इस प्रणाली की एक कमी यह भी है कि ऐसे कर्मचारी किसी एक संस्था के प्रति अपनी निष्ठा विकसित नहीं कर पाते और जब किसी एक इकाई में कार्य करते समय वे उसके कार्य को पूरी तरह समझकर अपनी ओर से तात्विक योगदान करने की स्थिति में होते हैं तो ऐसे समय उनके किसी अन्य इकाई में स्थानान्तरण के आदेश हो जाते हैं। श्रीलंका, तंजानिया, कीनिया, भारत में राजस्थान, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश इत्यादि ऐसे राज्य हैं जिन्होंने इस प्रणाली को अपनाया है।

3. समन्वित कार्मिक प्रणाली

इस पद्धति के अन्तर्गत नगरीय निकायों के कर्मचारियों के लिए कोई विशेष प्रणाली नहीं अपनाई जाती अपितु राज्य सरकार के विभिन्न प्रशासकीय विभागों और स्थानीय निकायों में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारी एक ही संवर्ग से लिए जाते हैं। समूचे राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था में से कर्मचारियों को स्थानीय निकायों में भेजा जाता है और उन्हें स्थानीय निकायों से राज्य प्रशासन के किसी अन्य विभाग में नियुक्त और स्थानान्तरित किया जा सकता है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि राज्य सरकार का कर्मचारी वर्ग और स्थानीय निकाय का कर्मचारी वर्ग एक ही सेवा के अंग होते हैं और उनका स्थानान्तरण स्थानीय निकायों में ही नहीं अपितु राज्य सरकार के विभिन्न प्रशासकीय विभागों में कहीं भी किया जा सकता है।

इस प्रणाली को अपनाए जाने से स्थानीय संस्थाओं को प्रशासनिक सेवा के दक्ष अधिकारियों की सेवा का उपयोग करने का अवसर मिल जाता है और उनकी प्रशिक्षित दक्षता से स्थानीय इकाइयां अपनी सेवाओं में सुधार करने में सफल रहती हैं। किन्तु इस

प्रणाली के अपनाए जाने से स्थानीय इकाइयों का नौकरशाहीकरण हो जाता है और स्थानीय शासन के माध्यम से लोकतांत्रिक भावना का जो विस्तार धरातल तक किए जाने की आकांक्षा स्थानीय स्वशासन की अवधारणा में की जाती है वह फलीभूत नहीं हो पाती। भारत एवं फ्रांस में इस प्रणाली को अपनाया गया है।

प्रश्न यह नहीं है कि नगर निकायों को उपर्युक्त वर्णित कार्मिक प्रणालियों में से किस कार्मिक प्रणाली को अपनाना चाहिए। इसके विपरीत मूल प्रश्न यह है कि वह कौन सी कार्मिक प्रणाली है जो कर्मचारी वर्ग की दृष्टि से उन गुणों या आदर्शों की पूर्ति करती है जो किसी कुशल और सक्षम कार्मिक व्यवस्था में अपेक्षित होते हैं। यदि कोई देश अपने यहाँ लोकतंत्र के गुणों को आम आदमी तक पहुँचाना चाहता है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि उस देश को अपनी स्थानीय शासन की प्रणाली को लोकतांत्रिक स्वरूप देना होगा। लोकतांत्रिक स्वरूप को सुदृढ़ करने के लिए यह अपरिहार्य है कि स्थानीय शासन की इकाइयों की प्रशासकीय व्यवस्था कुशल और सक्षम बने। इसीलिए यह विचारणीय है कि स्थानीय शासन की इकाइयों में अपनाई जाने वाली कार्मिक प्रणाली में कौन से गुण होने चाहिए जिससे उसकी परिगणना कुशल और योग्य कार्मिक प्रणाली में की जा सकती है। विद्वानों ने कुशल और योग्य कार्मिक प्रणाली के निम्नांकित गुण बताए हैं[4]

1. स्थानीय शासन के पद, वेतन एवं पदोन्नति की संभावना की दृष्टि से उतने ही आकर्षक होने चाहिए जितने कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के पद होते हैं।

2. भर्ती का एक मात्र आधार योग्यता को बनाया जाना चाहिए। इसके साथ–साथ प्रत्याशी के चारित्रिक गुणों, विशेष रूप से ईमानदारी को भी पर्याप्त महत्त्व दिया जाना चाहिए।

3. सेवा में योग्यता तथा वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति प्राप्त होने की प्रत्याशा होनी चाहिए।

4. कर्मचारियों को इस बात के लिए भी आश्वस्त किया जाना चाहिए कि उन्हें राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के दबावों के कारण सताया नहीं जाएगा।

5. कर्मचारी वर्ग स्थानीय शासन की इकाइयों में परस्पर स्थानान्तरित हों क्योंकि ऐसा होने से उन्हें विविध प्रकार का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि यदि अधिकारियों/कर्मचारियों तथा निर्वाचित पदाधिकारियों में किन्हीं कारणों से समन्वय और सहयोग नहीं बन पा रहा है तो स्थानांतरण के माध्यम से कर्मचारियों का स्थान बदला जाना संभव हो ताकि इन दोनों वर्गों के पारस्परिक संबंधों को कटु होने से बचाया जा सके। यद्यपि इस प्रक्रिया में यह सुनिश्चित किया जाना भी आवश्यक है कि कर्मचारियों का स्थानान्तरण केवल राजनीतिक आधार पर नहीं किया जाएगा और स्थानांतरण की आवृत्ति भी विवेकपूर्ण तरीके से सीमित रखी जाएगी।

6. अधिकारियों/कर्मचारियों को उनके सेवाकाल की अवधि में प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्थाएं की जाए जिससे कि वे नागरिक सेवाओं का प्रभावी निष्पादन करने के लिए अपनी क्षमताओं में यथोचित वृद्धि कर सकें।

अधीन किसी पद पर है, पंचायत समिति में प्रतिनियुक्ति पर विकास अधिकारी या अन्य अधिकारी, प्रसार अधिकारी या अन्य अधिकारी के रूप में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जा सकेगा। इस प्रकार प्रतिनियुक्ति पर लिए गए अधिकारी अपने पैतृक संवर्ग में उसी प्रकार वार्षिक वृद्धि या पदोन्नति पाते रहेंगे जिस प्रकार वह तब पाते जब प्रतिनियुक्ति पर नहीं होते। वह अधिकारी उन्हीं सेवा नियमों से शासित रहेगा जो उस सेवा पर लागू होते हैं जिससे कि वह सम्बद्ध है। उसकी प्रतिनियुक्ति की अवधि सम्बन्धित नियुक्ति अधिकारी द्वारा या राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाएगी यदि उसके अपने पैतृक विभाग में उसकी पदोन्नति देय हो गई है या अन्य प्रशासनिक कारणों से उसे वापस बुलाया जाना उचित जान पड़ता है तो संबंधित विभाग भी उसे वापस बुलाने की कार्यवाही कर सकता है।

राजस्थान सरकार द्वारा, राजस्थान पंचायत समिति विकास अधिकारियों का चयन नियम, 1968 विनिर्मित और प्रकाशित किए गए हैं। इन नियमों में यह कहा गया है कि विकास अधिकारी की नियुक्ति के लिए चयन करते समय राजस्थान पशुपालन सेवा के समूह–ग–11 में पद धारण करने वाले अधिकारियों, जिन्हें 5 वर्ष की सेवा का अनुभव, जिसमें कम से कम 2 वर्ष पशु प्रसार अधिकारी के पद का अनुभव सम्मिलित हो, तथा राजस्थान कृषि अधीनस्थ सेवा के सदस्यों, जिन्हें भी 5 वर्ष का अनुभव हो, को प्राथमिकता दी जाएगी। इन्हीं नियमों में ऐसे अधिकारियों को विकास अधिकारी नियुक्त करने के लिए भी प्रावधान रखा गया जो इन नियमों के प्रकाशन के पूर्व इस पद पर कार्य का अनुभव रखते थे। इस तरह सहकारिता प्रसार अधिकारियों, शिक्षा प्रसार अधिकारी तथा अन्य प्रसार अधिकारियों, महिला पोषाहार प्रसार अधिकारियों सहित जिन्हें पंचायत समिति में कम से कम 5 वर्ष की सेवा का अनुभव हो, को भी इस पद पर नियुक्त करने का प्रावधान किया गया है। नियमों में राज्य सरकार को यह अधिकार भी दिया गया है कि यदि वह आवश्यक समझे, तो राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को विकास अधिकारी के पदों पर अस्थायी रूप से नियुक्त कर सकती है। विकास अधिकारी के रूप में नियुक्ति के लिए व्यक्तियों को चयन करते समय उसके व्यक्तिगत चरित्र, व्यवहार कुशलता, बुद्धि तथा ऊर्जा, दौरे करने की क्षमता, सत्यनिष्ठा, तकनीकी योग्यता तथा ज्ञान, सेवा का पुराना अभिलेख और कार्य के पिछले अनुभव, विशेष रूप से पंचायत समितियों में, का ध्यान रखते हुए किए जाने का उल्लेख किया गया है।

राजस्थान पशुपालन सेवा से या कृषि विभाग से विकास अधिकारियों के पद पर चयन हेतु निर्दिष्ट की गई प्रक्रिया में कहा गया है कि विकास अधिकारियों के रिक्त पदों को इन विभागों के अधीनस्थ अधिकारियों में से नियमानुसार भरने हेतु सम्बन्धित विभाग के निदेशक को पात्र अधिकारियों की सूची भेजते समय सम्बन्धित विभाग के निदेशक को उन अधिकारियों की, जिनके नाम उस सूची में किए गए हैं, गोपनीय पंजिकाएं भी विकास विभाग को भेजेगा। ऐसे अधिकारियों का चयन करने वाले विकास विभाग के स्तर पर जो समिति है उसमें लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष या उसका प्रतिनिधि इस समिति का अध्यक्ष होगा। समिति के सदस्यों में कृषि विभाग का विशिष्ट शासन सचिव, शासन सचिव (कार्मिक) या उसका प्रतिनिधि जो उप शासन सचिव से निम्न श्रेणी का न हो और निदेशक

कृषि, निदेशक पशुपालन, यथास्थिति तथा निदेशक सामुदायिक विकास एवं पंचायत इसके सदस्य सचिव के रूप में होंगे। यह समिति विचारणीय प्रस्तुत नामों पर उपर्युक्त वर्णित गुणों के अनुसार विचार करेगी और भरे जाने वाले रिक्त पदों की संख्या के बराबर अभ्यर्थियों का चयन करेगी। चयनित अधिकारियों की कुल संख्या की 50 प्रतिशत संख्या में सुरक्षित सूची भी बनाई जाएगी। विकास अधिकारी के पद के लिए विभिन्न विभागों के अधीनस्थ अधिकारियों में से चयन की प्रक्रिया के व्यापक प्रावधान इन घोषित नियमों में दिए गये हैं।

राजस्थान में विकास अधिकारियों के पद पर नियुक्ति के लिए राजस्थान सरकार ने 1960 से 1970 के दशक में राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को भी कुछ समय तक नियोजित किया था और शेष पदों पर कृषि, पशुपालन, सहकारिता आदि विभागों के अधिकारियों में से नियुक्ति की जा रही है। दो दशक तक राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति इन पदों पर लगभग बन्द कर दी गई थी किन्तु 1985 के पश्चात् पुनः राज्य सरकार ने राजस्थान की लगभग 100 महत्त्वपूर्ण पंचायत समितियों में विकास अधिकारी के पद पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को नियुक्त किया है और शेष पंचायत समितियों में अन्य विभागों के अधिकारी ही, पूर्व की भांति, नियुक्त किए जा रहे हैं।

विकास अधिकारी के कार्य एवं शक्तियाँ

विकास अधिकारी पंचायत समिति का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है और इस नाते पंचायत समिति के स्तर पर कार्यान्वित की जा रही या की जाने वाली समस्त नीतियों के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व उस पर होता है। इस हेतु विकास अधिकारी पंचायत समिति में कार्यरत समूचे प्रशासनिक कार्मिक वर्ग पर नियंत्रण करता है। इस स्तर पर जितने भी प्रसार अधिकारी कार्य करते हैं, वे प्रशासनिक दृष्टि से उसके प्रशासनिक नियंत्रण में रहते हुए उसके प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। यद्यपि ये समस्त प्रसार अधिकारी तकनीकी विषयों में अपने जिला स्तरीय विभागीय अधिकारी के निर्देशन और पर्यवेक्षण में कार्य करते हैं। यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ प्रशासनिक अधिकारियों के सन्दर्भ 'आदेश की एकता' के सिद्धांत का उल्लंघन होता सा दिखाई देता है। किन्तु इस प्रक्रिया में अब तक इस स्थिति ने सहजता प्राप्त कर ली है और समस्त प्रसार अधिकारी प्रशासनिक रूप से विकास अधिकारी के नियंत्रण में और तकनीकी रूप में अपने विभाग के अधिकारियों के नियंत्रण में कार्यरत रहते हैं।

पंचायत समिति का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होने के नाते विकास अधिकारी को मुख्यतः निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करने होते हैं :

1. वह पंचायत समिति तथा उसकी विभिन्न स्थायी समितियों के द्वारा निर्धारित नीतियों और पारित प्रस्तावों के कार्यान्वयन के लिए उत्तरदायी होता है।
2. पंचायत समिति का वह मुख्य कार्यकारी अधिकारी ही नहीं है अपितु वह

पंचायत समिति का सचिव भी होता है और इस रूप में पंचायत समिति के प्रधान या अध्यक्ष के निर्देशन में कार्य करते हुए वह पंचायत समिति तथा उसकी स्थायी समितियों की बैठकों की कार्यवाही का नियमित रिकार्ड रखता है।

3. वह पंचायत समिति की बैठकों में सम्मिलित होता है, वहाँ उठाए गये प्रश्नों का उत्तर देता है, विचार विमर्श में सम्मिलित होता है किन्तु निर्णय लेते समय यदि मतदान की स्थिति आती है तो वह उसमें सम्मिलित नहीं होता।
4. पंचायत समिति के समस्त अभिलेखों या प्रमाण–पत्रों को वह अपने हस्ताक्षर द्वारा प्रामाणिकता प्रदान कर, उन्हें जारी करता है।
5. पंचायत समिति के कोष से धन निकालना और उसे सही प्रकार से व्यय या वितरित करने के लिए वह उत्तरदायी होता है। इसी अधिकार के अन्तर्गत वह पंचायतों की वित्तीय स्थिति का निरीक्षण भी कर सकता है।
6. वह पंचायत समिति की स्वीकृति से, पंचायत समिति की ओर से संविदा करने और उसे निष्पादित करने के लिए उत्तरदायी माना जाता है।
7. वह पंचायत समिति में कार्यरत समस्त कर्मचारी वृन्द तथा अधिकारियों का एवं पंचायत समिति द्वारा निष्पादित सेवाओं में संलग्न कर्मचारियों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण करता है।
8. यदि पंचायत समिति में किसी प्रकार की वित्तीय अनियमितता, गबन या धोखाधड़ी हो जाए तो प्राथमिक रूप से समुचित कार्यवाही करता है, और नियमानुसार उच्चाधिकारियों को उसकी सूचना देता है।
9. राज्य सरकार द्वारा पंचायत समिति को जो परियोजनाएँ वित्तीय मद सहित हस्तान्तरित की जाती हैं, उनके सही कार्यान्वयन के लिए वह उत्तरदायी होता है। वह पंचायत समिति के अन्तर्गत आने वाली समस्त पंचायतों, समस्त कर्मचारियों, प्रतिनिधियों और स्वैच्छिक संस्थाओं में सामंजस्य स्थापित करता है जिससे योजना का अधिकतम लाभ जन साधारण को मिल सके।

नए अधिनियम के अन्तर्गत विकास अधिकारी की शक्तियाँ और कृत्य

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 के अंतर्गत पंचायत समिति के विकास अधिकारी की जो शक्तियाँ और कृत्य गिनाए गये हैं, वे इस प्रकार हैं :

1. वह पंचायत समिति और उसकी स्थायी समितियों की बैठकों के लिए, प्रधान और स्थायी समिति के अध्यक्ष के अनुदेशों से नोटिस जारी करेगा,
2. वह ऐसी समस्त बैठकों में उपस्थित होगा और उनका कार्यवृत्त अभिलिखित करेगा, और रखेगा,

3. वह ऐसी बैठकों में होने वाले विचार–विमर्श में भाग लेगा,
4. वह पंचायत समिति निधि में से धन आहरित और वितरित करेगा किन्तु इस संदर्भ में यह प्रावधान भी किया गया है कि प्रधान, लेख–बद्ध किए जाने वाले कारणों से, ऐसे किसी भी संदाय को रोक सकेगा और मामला पंचायत समिति या सम्बन्धित स्थायी समिति के समक्ष रख सकेगा,
5. ग्रामसभा व वार्ड सभा की बैठकें कार्यक्रमानुसार आमंत्रित करना, उनमें स्वयं या अपने प्रतिनिधि को उपस्थित करना तथा इन बैठकों की कार्यवाही को अभिलिखित करवाना,
6. ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग और ऐसे अन्य कृत्यों का पालन करेगा जो उसे इस अधिनियम के द्वारा या अधीन प्रदत्त किए गये हों, या उस पर अधिरोपित किये जाएँ अथवा उसे प्रत्यायोजित किए जाएँ।[37]

यदि किसी भी कारण से विकास अधिकारी पंचायत समिति या उसकी किसी स्थायी समिति की बैठक में उपस्थित होने में असमर्थ हो तो उसके अधीनस्थ ऐसे वरिष्ठतम अधिकारी ऐसी बैठक में उपस्थित होंगे जो बैठक के स्थान पर विद्यमान होंगे।[38] उपर्युक्त के अतिरिक्त विकास अधिकारी निम्नांकित कार्यों का निष्पादन भी कर सकेगा:

1. पंचायत समिति के पूर्व अनुमोदन, उसके लिए तथा उसकी ओर से संविदाओं को निष्पादित करेगा,
2. समस्त पत्रों व दस्तावेजों को पंचायत समिति के लिए वह उसकी ओर से हस्ताक्षरित व प्रमाणित करेगा,
3. पंचायत समिति के लेखों की लेखा परीक्षा के दौरान ध्यान में लाये गए या उसके प्रावधान के किसी भी दोष या अनियमितता को दूर करने के लिए कदम उठाएगा,
4. पंचायत समिति के धन या अन्य सम्पत्ति के संबंध में गबन, चोरी या हानि या धोखा–धड़ी के मामलों की अविलम्ब उच्चाधिकारियों को सूचना देगा,
5. वह राज्य सरकार या जिला परिषद् या इस संबंध में प्राधिकृत किसी अन्य अधिकारी को पंचायत समिति या उसकी किसी स्थायी समिति की प्रत्येक बैठक में पारित संकल्पों व कार्यवाहियों की प्रतिलिपियाँ या उनके द्वारा अपेक्षित अन्य प्रलेखों की प्रतिलिपियाँ या उनके उद्धरण प्रस्तुत करेगा,
6. विकास कार्य के लिए आवश्यक स्वैच्छिक संगठनों का गठन करने में तथा उनकी ऐसी योजनाओं को तैयार करने में पंचायतों की सहायता करेगा, जो पंचायत समिति की नीति के अनुरूप हो तथा जिनका उद्देश्य पंचायत क्षेत्रों में कृषि उत्पादन व सहकारी संगठनों को बढ़ावा देना हो,
7. वह यह देखेगा कि उसके अधीन सम्बन्धित प्राधिकारियों द्वारा सभी कार्यक्रम ठीक प्रकार से निष्पादित किए जा रहे हैं,

8. वह यह भी देखेगा कि पंचायतों द्वारा कराए जा रहे निर्माण कार्य निर्धारित मापदंडों के अनुरूप हो और निर्दिष्ट समय में पूरे किये जा रहे हैं,
9. पंचायत समिति की वित्तीय स्थिति, विशेष रूप से करारोपण और उनकी वसूली, दिए गए ऋणों की वसूली और नियमित लेखों के संधारण के संबंध में निरीक्षण करेगा,
10. पंचायती राज अधिनियम के प्रयोजनार्थ, पंचायत समिति के कार्यक्षेत्र में स्थित पंचायतों पर सामान्य पर्यवेक्षण रखेगा,
11. वह पंचायत समिति के मामलों में कार्यरत समस्त प्रकार के कर्मचारियों, जिनसे उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जैसा भी संबंध हो, के कार्यों पर पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण रखेगा किन्तु, तकनीकी अधिकारियों पर तकनीकी मामलों में नियंत्रण उनके संबंधित विभाग के अधिकारियों का होगा।

विकास अधिकारी की आपात शक्तियाँ

विकास अधिकारी, पंचायत समिति के प्रधान के मुख्यालय से अनुपस्थिति में किसी भी आपातकालीन स्थिति जैसे आग, बाढ़, महामारी, या व्यापक रोग की दशा में किसी ऐसे कार्य के निष्पादन के आदेश दे सकेगा जिसके लिए सामान्यतः पंचायत समिति या उसकी स्थायी समिति की स्वीकृति आवश्यक है किन्तु उसकी राय में यदि ऐसी स्वीकृति लेना जन कल्याण की दृष्टि से विलम्बकारी हो जाएगा तो जनता के कल्याण व सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे कार्य के निष्पादन का वह आदेश दे सकेगा और उसका समस्त व्यय पंचायत समितियों की निधि से भुगतान किया जाएगा। इस प्रकार की आपातकालीन शक्तियों के संव्यवहार के लिए अधिनियम के अन्तर्गत बनाए गए, नियमों में यह अपेक्षा की गई है कि ऐसी शक्तियों का प्रयोग विकास अधिकारी उन नियमों के अनुसार ही करेगा।[59]

पंचायत समिति के विकास अधिकारी द्वारा निष्पादित भूमिका को विद्वानों द्वारा तीन रूपों में देखा गया है। प्रथमतः वह पंचायत समिति कार्यालय का प्रमुख है, द्वितीयतः पंचायत समिति स्तर पर कार्य करने वाले समस्त प्रसार अधिकारियों के दल का शिखरतम अधिकारी है और पंचायत समिति का सचिव है। विभिन्न राज्यों में उसकी भूमिका भिन्न–भिन्न रूपों में और कहीं–कहीं समग्र रूप में दिखाई देती है। बिहार और बंगाल में उसे विकास कार्यों के पर्यवेक्षण के अतिरिक्त कुछ नियामकीय कार्यों जैसे भूमि का रूपान्तरण, चल संपत्ति का विक्रय, लगान वसूली करना और जमा करना, अनधिकृत भवनों के निर्माण को रोकना, सरकारी भूमि के अतिक्रमण को रोकना, कृषि संबंधी आंकड़ों का संकलन इत्यादि कार्य भी करने होते हैं। प्रायः सभी राज्यों में विकास अधिकारियों को निर्वाचन के समय चुनाव संबंधी कार्य भी करने पड़ते हैं।

विभिन्न राज्यों में खण्ड विकास अधिकारियों के काम–काज के विषय में जो विवरण मिलता है उससे यह प्रतीत होता है कि प्रायः सभी राज्यों में विकास अधिकारी कार्यों के भार से दबा होता है और उस पर इतने कार्यों का उत्तरदायित्व डाल दिया जाता है कि उन कार्यों का समुचित निरीक्षण और पर्यवेक्षण वह इतनी क्षमता और दक्षता से नहीं कर

पाता जितना उसे करना चाहिए। उसे राज्य सरकार द्वारा जारी अनेक औपचारिक पत्रों का नित्य उत्तर देना पड़ता है और राज्य सरकार के इन पत्रों की आधिकारिक महत्ता के कारण उत्तर तैयार करवाने में वह इतना संलग्न हो जाता है कि प्रायः अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य अनायास ही उपेक्षित हो जाते हैं। यह स्थिति पंचायती राज संस्थाओं के सृजन की दार्शनिक अपेक्षाओं के प्रतिकूल है जिसका निवारण अपेक्षित है।

प्रसार अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी

पंचायत समिति के प्रशासन तंत्र में विकास अधिकारी के पश्चात् समिति के दायित्वों के समुचित निर्वाह में प्रसार अधिकारियों की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। विकास अधिकारी के अधीन पंचायत समिति में शिक्षा, सहकारिता, पंचायत प्रसार, प्रगति प्रसार अधिकारी कार्य करते हैं। पंचायत समिति चूंकि पंचायत राज की ऐसी इकाई है जिसे विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन का दायित्व निभाना पड़ता है इसीलिए राज्य सरकार के विभिन्न विकास से संबंधित विभागों के कुछ कनिष्ठ अधिकारी पंचायत समिति के स्तर पर विकास अधिकारी के नियंत्रण में नियुक्त किए जाते हैं जिससे वे उन विभागों से सम्बन्धित विकास परियोजनाओं के पंचायत समिति स्तर पर कार्यान्वयन में तात्कालिक सहायता और तकनीकी निर्देशन उपलब्ध करा सकें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रायः सभी राज्यों में पंचायत समितियों को प्रसार अधिकारियों से सुसज्जित किया जाता है। प्रायः सभी राज्यों में प्रसार अधिकारी के इन पदों पर पंचायत समिति में जो अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं वे राज्य सरकार के सम्बन्धित विभाग से प्रतिनियुक्ति पर लिये जाते हैं।

पंचायत समिति में विकास अधिकारी की सहायता के लिए प्रायः कम से कम एक या दो शिक्षा से सम्बन्धित एस. डी. आई. अर्थात् शिक्षा प्रसार अधिकारी नियुक्त होते हैं जो पंचायत समिति स्तर पर प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के दायित्व में उसकी सहायता करते हैं। नवीन पंचायती राज अधिनियम के सृजन के पश्चात् राज्य सरकार ने प्रत्येक पंचायत समिति में एक कनिष्ठ अभियंता एवं आवश्यकतानुसार लिपिक के पद भी स्वीकृत किए हैं। कतिपय बड़ी पंचायत समितियों में कनिष्ठ लेखाकार भी नियुक्त किए जाते हैं। अधिकांश पंचायत समितियों में कार्यालय के कार्य निष्पादन हेतु कतिपय लिपिक एवं उनकी सहायतार्थ चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते हैं जिनका प्रशासनिक व्यय संबंधित पंचायत समिति के बजट पर भारित होता है।

नवीन अधिनियम के अन्तर्गत भी, पंचायती राज संस्थाओं में कार्मिकों की भर्ती, पदोन्नति, स्थानांतरण व अनुशासनिक कार्यवाहियों पर नीति निश्चित करने व उसे कार्यान्वित करने के लिए जिला स्थापना समितियों को मान्यता दी गई है।[60]

इसी प्रकार पंचायत समिति व जिला परिषद् सेवा का गठन किये जाने के प्रावधान भी किये गए हैं।[61]

पंचायत समितियों पर राजकीय नियंत्रण की स्थिति का वर्णन सम्बन्धित अध्याय में, यथा स्थान, प्रस्तावित है।

पंचायत समिति के कृत्य और शक्तियाँ

हमारे देश की पंचायती राज की संरचना में पंचायत समिति एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, जिसे ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दायित्व सौंपा गया है। महाराष्ट्र, गुजरात और अब कर्नाटक आदि प्रान्तों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में पंचायत समिति पंचायती राज के ढाँचे में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती है। सभी राज्यों में कृषि विकास, सहकारिता के प्रसार, ग्रामीण स्वास्थ्य के रखरखाव, शिक्षा प्रसार, पशुपालन, संवर्धन, कुटीर उद्योगों, मत्स्य पालन, सिंचाई, ग्रामीण स्वच्छता एवं सफाई, स्वास्थ्य शिक्षा, संचार साधन, ग्राम्य वन, पिछड़े वर्गों के लिए उत्थानात्मक कार्य, सामाजिक विकास और आपातकालीन सहायता इत्यादि विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों का निर्वाह पंचायत समिति करती है। इन क्षेत्रों के अलावा सम्बन्धित राज्य सरकारें उसे नये कार्य आवंटित कर सकती हैं। पंचायत समिति उपर्युक्त विविध विषयों से सम्बन्धित परियोजनाओं के ग्राम पंचायतों के क्षेत्रों में कार्यान्वयन की स्थिति का सतत् पर्यवेक्षण और नियंत्रण करने के लिए भी उत्तरदायी होती है। इन कार्यों के कुशल निष्पादन हेतु ग्राम पंचायत को तकनीकी और वित्तीय सहायता भी पंचायत समिति द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। प्रायः सभी राज्यों में पंचायत समिति अपने अधीनस्थ ग्राम पंचायतों के वित्तीय प्रशासन और बजट पर आवश्यक नियंत्रण रखती है और बजट के निष्पादन की किसी भी स्थिति पर अपना नियंत्रण प्रभावी कर सकती है।

राजस्थान के नये अधिनियम में पंचायत समिति के कृत्य और शक्तियों के विषय में कहा गया है कि ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो सरकार द्वारा समय-समय पर विनिर्दिष्ट की जाएँ, पंचायत समिति अधिनियम की द्वितीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट कृत्यों का निर्वहन और शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अधिकृत होगी।[62]

अधिनियम की द्वितीय अनुसूची में राज्य की पंचायत समितियों द्वारा निष्पादित किये जाने वाले कार्यों और शक्तियों का जो विवरण दिया गया है वह इस प्रकार है:

1. साधारण कृत्य :

(क) अधिनियम के आधार पर सौंपे गए और सरकार या जिला परिषद् द्वारा समनुदेशित कार्यक्रमों के संबंध में वार्षिक योजनाएं तैयार करना, और उन्हें जिला योजना के साथ एकीकृत करने के लिए विहित समय के भीतर जिला परिषद् को प्रस्तुत करना;

(ख) पंचायत समिति क्षेत्र की सभी पंचायतों की वार्षिक योजनाओं पर विचार करना और उन्हें समेकित करना और जिला परिषद् को समेकित योजना प्रस्तुत करना;

(ग) पंचायत समिति का वार्षिक बजट तैयार करना;

(घ) ऐसे कृत्यों का पालन और ऐसे कार्यों का निष्पादन करना जो उसे सरकार या जिला परिषद् द्वारा सौंपे जाएं;

(ङ) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता उपलब्ध कराना।

2. कृषि विस्तार को सम्मिलित करते हुए कृषि :

(क) कृषि और बागवानी की प्रोन्नति और विकास करना;

(ख) बागवानी पौधशालाओं का रख-रखाव;

(ग) रजिस्ट्रीकृत बीज उगाने वालों को बीजों के वितरण में सहायता करना;

(घ) खादों और उर्वरकों को लोकप्रिय बनाना और उनका वितरण करना;

(ङ) खेती के समुन्नत तरीकों का प्रचार करना;

(च) पौध संरक्षण, राज्य सरकार की नीति के अनुसार नकदी फसलों का विकास करना;

(छ) सब्जियों, फलों और फूलों की खेती को प्रोन्नत करना;

(ज) कृषि के विकास के लिए साख सुविधाएं उपलब्ध कराने में सहायता करना;

(झ) कृषकों का प्रशिक्षण और प्रसार क्रियाकलाप।

3. भूमि सुधार और मृदा संरक्षण :

सरकार के भूमि सुधार और मृदा संरक्षण कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में सरकार और जिला परिषद् की सहायता करना।

4. लघु सिंचाई, जल-प्रबन्ध और जल-विभाजक विकास :

(क) लघु सिंचाई कार्यों, एनिकटों, लिफ्ट सिंचाई, कुओं, बंधों, कच्चे बंधों का निर्माण और रख-रखाव;

(ख) सामुदायिक और वैयक्तिक सिंचाई कार्यों का कार्यान्वयन।

5. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम :

गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों, विशेषतः एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण, मरु विकास कार्यक्रम, सूखा संभाव्य क्षेत्र कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास, परिवर्तित क्षेत्र विकास उपागम, अनुसूचित जाति विकास निगम कार्यक्रमों आदि का आयोजन और कार्यान्वयन।

6. पशुपालन, डेयरी और कुक्कुट पालन :

(क) पशु चिकित्सा और पशु पालन सेवाओं का निरीक्षण और रख-रखाव;

(ख) पशु, कुक्कुट और अन्य पशुधन की नस्ल का सुधार करना;

(ग) डेयरी उद्योग, कुक्कुट पालन और सूकर पालन की प्रोन्नति;

(घ) महामारी और सांसर्गिक बीमारियों की रोकथाम;

(ङ) समुन्नत चारे और दाने का पुनःस्थापन।

7. मत्स्य पालन :

मत्स्य पालन विकास को प्रोन्नत करना।

8. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग :

(क) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को प्रोन्नत करना;

(ख) सम्मेलनों, गोष्ठियों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों, कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन;
(ग) मास्टर शिल्पी और तकनीकी प्रशिक्षण संस्थाओं में, बेरोजगार ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण;
(घ) बढ़ी हुई उत्पादकता लेने के आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों को लोकप्रिय बनाना।

9. ग्रामीण आवासन :

आवासन योजनाओं का कार्यान्वयन और आवास उधार किस्तों की वसूली।

10. पेयजल :

(क) हैंड पम्पों और पंचायतों की पम्प और जलाशय योजनाओं की देखरेख करना, उनकी मरम्मत और रखरखाव;
(ख) ग्रामीण जल प्रदाय योजनाओं का रख–रखाव;
(ग) जल प्रदूषण का निवारण और नियंत्रण;
(घ) ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।

11. सामाजिक और फार्म वानिकी, ईंधन और चारा :

(क) अपने नियंत्रण के अधीन की सड़कों के पार्श्वों और अन्य लोक भूमियों पर, विशेषतः चारागाह भूमियों पर वृक्षों का रोपण और परिरक्षण;
(ख) ईंधन रोपण और चारा विकास;
(ग) फार्म वानिकी की प्रोन्नति;
(घ) बंजर भूमि विकास।

12. सड़कें, भवन, पुलियाएं, पुल, नौघाट, जलमार्ग और अन्य संचार साधन :

(क) ऐसी लोक सड़कों, नालियों, पुलियाओं और अन्य संचार साधनों का, जो किसी भी अन्य स्थानीय प्राधिकरण या सरकार के नियंत्रण के अधीन नहीं है, निर्माण और रख–रखाव;
(ख) पंचायत समिति में निहित किसी भी भवन या अन्य सम्पत्ति का रख–रखाव;
(ग) नावों, नौघाटों और जल मार्गों का रख–रखाव।

13. गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोत :

गैर–परम्परागत ऊर्जा स्रोतों विशेषतः सौर प्रकाश और ऐसी ही अन्य युक्तियों की प्रोन्नति और रख–रखाव।

14. प्राथमिक विद्यालयों सहित शिक्षा :

(क) सम्पूर्ण साक्षरता कार्यक्रमों को सम्मिलित करते हुए प्राथमिक शिक्षा, विशेषतः बालिका शिक्षा का संचालन;
(ख) प्राथमिक विद्यालय भवनों और अध्यापक आवासों का निर्माण, मरम्मत और रख–रखाव;

(ग) युवा क्लबों और महिला मंडलों के माध्यम से सामाजिक शिक्षा की प्रोन्नति;
(घ) अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/अन्य पिछड़े वर्गों के गरीब विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों, छात्रवृत्तियों, पोशाकों और अन्य प्रोत्साहनों का वितरण।

15. तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा :

ग्रामीण शिल्पी और व्यावसायिक प्रशिक्षण की प्रोन्नति।

16. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा :

(क) सूचना, सामुदायिक मनोरंजन केन्द्रों और पुस्तकालयों की स्थापना;
(ख) प्रौढ़ साक्षरता का क्रियान्वयन।

17. सांस्कृतिक क्रियाकलाप :

सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों, प्रदर्शनियों, प्रकाशन की प्रोन्नति।

18. बाजार और मेले :

पशु मेलों सहित मेलों और उत्सवों का विनियमन।

19. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण :

(क) स्वास्थ्य और परिवार कल्याण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन;
(ख) प्रतिरक्षीकरण और टीकाकरण कार्यक्रमों की देखरेख करना;
(ग) मेलों और उत्सवों पर स्वास्थ्य और स्वच्छता;
(घ) औषधालयों (एलोपैथिक और आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथिक), सामुदायिक और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, उप केन्द्रों आदि का निरीक्षण और नियंत्रण।

20. महिला और बाल विकास :

(क) महिला और बाल विकास से संबंधित कार्यक्रमों का क्रियान्वयन;
(ख) एकीकृत बाल विकास योजनाओं के माध्यम से विद्यालय स्वास्थ्य और पोषाहार कार्यक्रमों का कार्यान्वयन;
(ग) महिला और बाल विकास कार्यक्रमों में स्वैच्छिक संगठनों के भाग लेने को प्रोन्नत करना;
(घ) आर्थिक विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास समूह बनाना और सामग्री के उत्पादन तथा विपणन में सहायता करना।

21. विकलांगों और मंदबुद्धि वालों के कल्याण सहित समाज कल्याण :

(क) विकलांगों, मंदबुद्धि वालों और निराश्रितों के कल्याण सहित समाज कल्याण कार्यक्रम;
(ख) वृद्ध और विधवा पेंशन और विकलांग पेंशन मंजूर करना।

22. कमजोर वर्गों और विशिष्टतः अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों का कल्याण :

(क) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों और अन्य कमजोर वर्गों के कल्याण की प्रोन्नति;

(ख) ऐसी जातियों और वर्गों का सामाजिक अन्याय और शोषण से संरक्षा करना।

23. **सामुदायिक आस्तियों का रख-रखाव :**

(क) अपने में निहित या सरकार द्वारा या किसी भी स्थानीय प्राधिकरण या संगठन द्वारा अन्तरित सभी सामुदायिक आस्तियों का रख–रखाव।

(ख) अन्य सामुदायिक आस्तियों का परिरक्षण और रख–रखाव।

24. **सांख्यिकी :**

ऐसी सांख्यिकी का संग्रहण और संकलन जो पंचायत समिति, जिला परिषद् या राज्य सरकार द्वारा आवश्यक पाई जाएँ।

25. **आपात सहायता :**

अग्नि, बाढ़, महामारी या अन्य व्यापक आपदाओं के मामले में।

26. **सहकारिता :**

सहकारी गतिविधियों को, सहकारी समितियों की स्थापना और सुदृढ़ीकरण में सहायता करके प्रोन्नत करना।

27. **पुस्तकालय :**

पुस्तकालय की प्रोन्नति।

28. **पंचायतों का उनके सभी क्रियाकलापों और गाँव और पंचायत योजनाओं के निर्माण में पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन।**

29. **प्रकीर्ण :**

(क) अल्प बचतों और बीमा के माध्यम से मितव्ययिता को प्रोत्साहित करना;

(ख) पशु बीमा सहित दुर्घटना, अग्नि, मृत्यु आदि के मामलों में सामाजिक बीमा दावे तैयार करने और उनके संदाय में सहायता करना।

30. **पंचायत समितियों की साधारण शक्तियाँ :**

इस अधिनियम के अधीन सौंपे गए या प्रत्यायोजित किए गए कृत्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक या आनुषंगिक सभी कार्य करना और विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना इसके अधीन विनिर्दिष्ट की गई सभी शक्तियों का प्रयोग करना।

राजस्थान में पंचायत समिति प्रारम्भ से ही पंचायती राज की धुरी रही है। राज्य में अपनाये गए त्रिस्तरीय पंचायती राज में, पंचायत समिति को सर्वाधिक शक्तिशाली इकाई के रूप में स्थापित किया गया है। बलवंत राय मेहता समिति ने भी पंचायत समिति को यही भूमिका निभाने के लिए अभिकल्पित किया था। देश के कतिपय भागों में पंचायत

समिति के स्थान पर जिला परिषद् को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए दायित्व दिया गया है। समय–समय पर समीक्षकों द्वारा भी यह चिन्ता व्यक्त की जाती रही है कि जब तक जिला स्तर पर लोकतंत्र को सक्रिय और प्रभावी नहीं बनाया जाएगा तब तक पंचायती राज जीवन्त नहीं हो सकता। इस पृष्ठभूमि में राजस्थान की सरकार भी बीच–बीच में दिग्भ्रमित होती रही है और सार्वजनिक रूप से शासकीय स्तर से इस चर्चा पर जनमत जागृत करने का प्रयत्न किया जाता रहा है कि क्या पंचायत समिति को जिला परिषद् से अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है? अनेक राजनीतिक और प्रशासनिक कारणों से यह चर्चा कोई निर्णायक स्वरूप नहीं ले सकी।

अब जबकि पंचायती राज संस्थाओं के मूलभूत दोष–स्थल, समय पर चुनाव नहीं कराए जाने की स्थिति, का परिष्कार कर दिया गया है यह आशा की जानी चाहिए कि त्रिस्तरीय पंचायती राज राज्य में अधिक सक्षम, सक्रिय, और प्रभावी भूमिका का निष्पादन करने में सफल हो सकेगा।

सन्दर्भ

1. **भारत का संविधान**, 73 वां संशोधन अधिनियम, जो 24 अप्रैल, 1993 को प्रवर्तित हुआ, के अनुच्छेद 243 ई 1 तथा इसके अनुसरण में राजस्थान सरकार द्वारा पारित **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994 की धारा 17 (1) के अनुसार समस्त पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल, देश भर में, समान रूप से 5 वर्ष रखे जाने की संवैधानिक व वैधानिक अपेक्षा की गई है।
2. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 10 (1)
3. **उपर्युक्त**, धारा 10 (2)
4. **उपर्युक्त**, धारा 10 (3)
5. **उपर्युक्त**, धारा 13 (1) तथा उसमें **राजस्थान पंचायती राज संशोधन अधिनियम, 1999** की धारा 2 (1) (iii)
6. **उपर्युक्त**, धारा 13 (2).
7. **उपर्युक्त**, धारा 13 (2) का परंतुक
8. **भारत का संविधान**, 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, अनुच्छेद 243 डी (1)
9. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (2)
10. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (3)
11. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (4)
12. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (4) का परंतुक
13. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (5)
14. **उपर्युक्त**, अनुच्छेद 243 डी (6)

15. द्रष्टव्य, राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994, धारा (15) एवं (16)
16. उपर्युक्त, धारा 15 (1)
17. उपर्युक्त, धारा 15 (5).
18. उपर्युक्त,
19. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994, धारा 16**
20. उपर्युक्त, धारा 17 (1)
21. उपर्युक्त,
22. उपर्युक्त, धारा 17 (2)
23. 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, अनुच्छेद 243 के. (2)
24. राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994, धारा 18 (1)
25. उपर्युक्त, धारा 18 (2)
26. उपर्युक्त, धारा 28 (1)
27. उपर्युक्त, धारा 28 (2)
28. उपर्युक्त, धारा 30 (क) (ख)
29. उपर्युक्त, धारा 36 (2)
30. उपर्युक्त, धारा 36 (4)
31. उपर्युक्त, धारा 36 (5)
32. उपर्युक्त, धारा (41)
33. उपर्युक्त, धारा (42)
34. उपर्युक्त, धारा 37
35. उपर्युक्त, धारा 38
36. उपर्युक्त, धारा 39
37. उपर्युक्त, धारा 39 (2)
38. उपर्युक्त, धारा 33
39. उपर्युक्त, धारा 46 (1) (2) (3) (4)
40. उपर्युक्त, धारा 48 (1)
41. उपर्युक्त, धारा 48 (6)
42. उपर्युक्त, धारा 56 (1)
43. उपर्युक्त, धारा 56 (2)
44. उपर्युक्त, धारा 56 (3)
45. उपर्युक्त, धारा 56 (4)
46. उपर्युक्त, धारा 56 (5)
47. उपर्युक्त, धारा 56 (6)
48. उपर्युक्त, धारा 56 (7)
49. उपर्युक्त, धारा 56 (8)
50. उपर्युक्त, धारा 56 (9)

51. उपर्युक्त, धारा 56 (10)
52. उपर्युक्त, धारा 59 (1)
53. उपर्युक्त, धारा 59 (2)
54. उपर्युक्त, धारा 60
55. उपर्युक्त, धारा 79 (1)
56. उपर्युक्त, धारा 79 (2)
57. उपर्युक्त, धारा 81 (1)
58. उपर्युक्त, धारा 81 (2)
59. उपर्युक्त, धारा 85
60. उपर्युक्त, धारा 90
61. उपर्युक्त, धारा 89
62. उपर्युक्त, धारा 51

9

जिला परिषद्

भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जो त्रि–स्तरीय योजना बलवंतराय मेहता ने प्रस्तुत की थी, उसमें जिला परिषद् सर्वोच्च इकाई है।[1] इसे ग्रामीण स्थानीय शासन की शिखर इकाई भी माना जाता है। जैसा कि इसमें नाम से स्पष्ट है, जिला परिषद्, जिला स्तर पर गठित एक ऐसा स्थानीय निकाय है, जो स्वतंत्रता के पश्चात् से जिलों में विकास योजनाओं और कार्यक्रमों के निष्पादन में पर्यवेक्षकीय भूमिका का निर्वाह कर रहा है। बलवंत राय मेहता समिति ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जो योजना प्रस्तुत की उसमें खंड स्तर पर स्थापित पंचायत समिति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इसीलिए समिति का यह विचार था कि जब खंड स्तर पर एक प्रभावशाली पंचायत समिति होगी तो जिला स्तर पर किसी प्रभावशाली निकाय की आवश्यकता नहीं होगी। समिति ने यह मत भी व्यक्त किया कि यदि दोनों स्तरों पर ही प्रभावशाली संस्थाएँ स्थापित कर दी गई तो उनमें परस्पर टकराव, तनाव और संघर्ष की संभावनाएं बढ़ जाएंगी। इसलिए जिलास्तरीय इकाई जिला परिषद् को उन्होंने केवल पर्यवेक्षकीय इकाई के रूप में प्रस्तुत किया है। समिति का विचार था, चूंकि जिला लम्बे समय से प्रशासन की इकाई बना हुआ है और सुदूर क्षेत्रों में कार्य करने वाले विभिन्न शासकीय विभागों के मध्य सामंजस्य स्थापित करता आ रहा है, इसलिए जिले के अन्तर्गत गठित होने वाली समितियों के लिए यह आवश्यक होगा कि जिला स्तर पर कोई ऐसी संरचना हो, जो जिले की पंचायत समितियों के मध्य प्रशासकीय सामंजस्य स्थापित कर सके। इसलिए समिति ने जिला परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बलवंतराय मेहता समिति ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस सर्वोच्च इकाई 'जिला परिषद्' को मौलिक कार्यक्षेत्र और दायित्व सौंपने की अपेक्षा इसे अपने अधीन गठित की जाने वाली पंचायत समितियों एवं उनके क्षेत्रों को ग्राम पंचायतों के निदेशन, पर्यवेक्षण, नियंत्रण और समन्वय स्थापित

करने का कार्य ही दिया था।

जिला परिषद् की संरचना

राजस्थान पंचायत राज अधिनियम, 1994 यह व्यवस्था करता है कि प्रत्येक जिले के लिए एक जिला परिषद् होगी जो, सम्पूर्ण जिले पर, उन क्षेत्रों को छोड़कर, जहाँ नगरपालिका या छावनी बोर्ड गठित हों, अधिकारिता रखेगी।[2]

जिला परिषद् जिले के भीतर समाविष्ट किसी भी क्षेत्र में अपना कार्यालय रख सकेगी। पूर्व में यह व्यक्त किया जा चुका है कि कानून की दृष्टि में यह एक व्यक्ति के समान अधिकारों का उपभोग करेगी।

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार जिला परिषद् की संरचना निम्न प्रकार होगी:

(क) इसके प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदस्य जो अधिनियम की धारा 14 की उपधारा 2 के अधीन अवधारित किए जाएँ,

(ख) ऐसे निर्वाचन का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकसभा के और राज्य विधानसभा के सभी सदस्य, जिनमें जिला परिषद् क्षेत्र सम्पूर्णतः या भागतः समाविष्ट हो,

(ग) जिला परिषद क्षेत्र के भीतर निर्वाचकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत राज्य सभा के सभी सदस्य, तथा

(घ) जिला परिषद् क्षेत्र की सभी पंचायत समितियों के प्रधान खण्ड "ख" "ग" और "घ" में निर्दिष्ट सदस्यों को, प्रमुख या उप–प्रमुख के निर्वाचन और हटाए जाने के अतिरिक्त जिला परिषद् की सभी बैठकों में मत देने का अधिकार होगा।

अधिनियम राज्य सरकार को अधिकृत करता है कि वह नियम बनाकर प्रत्येक जिला परिषद् क्षेत्र के लिए प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या निश्चित करेगी और ऐसे क्षेत्रों को एकल निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित करेगी कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या जहाँ तक व्यवहार्य हो सम्पूर्ण जिला क्षेत्र में समान हो।[3] **प्राथमिक तौर पर अधिनियम, 4 लाख तक की जनसंख्या वाली परिषद् के क्षेत्रों में 17 निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था करता है और 4 लाख से अधिक की जनसंख्या वाले जिले में 4 लाख से अधिक के प्रत्येक एक लाख या उसके एक भाग के लिए 17 की इस संख्या में 2 की वृद्धि का उपबंध करता है।**

इस विवरण से स्पष्ट है कि पंचायतीराज की इस सर्वोच्च इकाई की संरचना में राजस्थान के पूर्ववर्ती अधिनियम की संरचना के स्थान पर अब पूर्णतः परिवर्तन कर दिया गया है। नवीन अधिनियम के अनुसार जिला परिषद् अब प्रत्यक्ष रूप से चुनी गई एक संस्था होगी **जिसमें कम से कम 17 प्रत्यक्षतः निर्वाचित प्रतिनिधि और अधिक जनसंख्या की स्थिति में उसमें प्रत्येक एक लाख की जनसंख्या पर दो की वृद्धि हो जाएगी।** जिला परिषद् की संरचना को निम्न चार्ट के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है :

जिला परिषद् की संगठनात्मक संरचना

- **परिषद्**
  - जिला प्रमुख
  - उप जिला प्रमुख
  - सदस्य
    - निर्वाचित —
      - सामान्य वर्ग, अनुसूचित जाति वर्ग, अनुसूचित जनजाति वर्ग, अन्य पिछड़ा वर्ग, तथा समस्त वर्ग की 50% महिलाएँ
    - (1) जिला परिषद् क्षेत्र के सांसद
    - (2) जिला परिषद् क्षेत्र के विधायक
    - (3) जिला परिषद् क्षेत्र की पंचायत समितियों के प्रधान
- **समितियाँ**
  - प्रशासन एवं स्थापन समिति
  - वित्त एवं कराधान समिति
  - उत्पादन कार्यक्रम समिति
  - शिक्षा समिति
  - समाज सेवा समिति
- **प्रशासन तंत्र**
  - मुख्य कार्यकारी अधिकारी (IAS/RAS)
  - जिला शिक्षा अधिकारी (प्रारम्भिक शिक्षा)
  - मुख्य लेखा अधिकारी
  - सहायक अभियन्ता
  - लेखा अधिकारी
  - लेखाकार
  - कनिष्ठ लेखाकार
  - कार्यालय सहायक

चुनाव की इस व्यवस्था में अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों और महिलाओं के लिए आरक्षण के प्रावधान भी अधिनियम में किए गये हैं।

राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994 के अनुसार अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित किए जाने का प्रावधान किया गया है। इन वर्गों के लिए आरक्षित किए जाने वाले स्थानों में से आधे स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए जाएँगे। इसी प्रकार निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के कम से कम आधे स्थान जिला परिषद् में भी महिलाओं के लिए, जिनमें कमजोर वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या भी सम्मिलित है, आरक्षित किए जाएँगे। यह आरक्षण निर्वाचन क्षेत्रों के लिए चक्रानुक्रम द्वारा ऐसी रीति से आवंटित किए जाएँगे, जो विहित की जाए।[4]

जिला परिषदों में भी सरपंच और प्रधानों की भांति ही अनुसूचित जातियों,

जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए प्रमुख के पदों पर उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण किया जाएगा। प्रत्येक वर्ग में आरक्षित किए जाने वाले इन पदों में से कम से कम आधे स्थान इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। जिला परिषदों के प्रमुखों के पदों पर इस धारा के अधीन किए जाने वाला आरक्षण चक्रानुक्रम द्वारा आवंटित किया जाता है।

कार्यकाल और निर्वाचन

जिला परिषद् का कार्यकाल भी अन्य पंचायती राज संस्थाओं की भांति ही 5 वर्ष होगा। इसके चुनावों के आयोजन का दायित्व राज्य के निर्वाचन आयोग में निहित किया गया है। निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावलियाँ राज्य निर्वाचन आयोग के पर्यवेक्षण के अधीन विहित रीति से तैयार की और रखी जाएगी।[6]

निर्वाचन के लिए अर्हताएं

सभी पंचायती राज संस्थाओं में चुने जाने वाले व्यक्तियों के लिए जो अर्हताएं निर्धारित की गई हैं, वे सामान्य हैं। इनका विवरण ग्रामपंचायत से संबंधित अध्याय में दिया जा चुका है। ये अर्हताएं जिला परिषद् में निर्वाचन हेतु भी लागू होंगी।[7]

दोहरी सदस्यता/अध्यक्षता पर निर्बन्धन

पूर्व अध्यायों में यह व्यक्त किया जा चुका है कि कोई भी व्यक्ति, इस अधिनियम द्वारा अभिव्यक्ततः प्राधिकृत के अतिरिक्त, दो या अधिक पंचायती राज संस्थाओं का सदस्य/अध्यक्ष नहीं रह सकेगा।[8]

प्रमुख और उपप्रमुख का निर्वाचन

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार राज्य निर्वाचन आयोग के पर्यवेक्षण में जिला परिषद् के प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से जिला परिषद् के निर्वाचित सदस्य, यथाशक्य शीघ्र, अपने में से दो सदस्यों को क्रमशः प्रमुख और उपप्रमुख चुनेंगे और जब-जब प्रमुख या उपप्रमुख के पदों में आकस्मिक रिक्ति हो तब-तब अपने में से किसी अन्य सदस्य को प्रमुख या यथाशक्य, उपप्रमुख चुनेंगे।[9] यदि यह रिक्ति एक मास से कम की कालावधि के लिए हो तो कोई भी निर्वाचन नहीं कराया जाएगा।[10] अधिनियम व्यवस्था करता है कि जिला परिषद् के प्रमुख या उपप्रमुख का निर्वाचन और उन पदों पर होने वाली रिक्ति का भरा जाना ऐसे नियमों के अनुसार होगा, जो इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा विनिर्धारित किए जाएँ।[11]

सदस्यों, अध्यक्षों और उपाध्यक्षों की पदावधि

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार जिला परिषद् सहित किसी पंचायती राज संस्था के सदस्य और अध्यक्ष, सम्बन्धित संस्था की अवधि के दौरान पद धारण करेंगे, और इनमें से उपाध्यक्ष के पद पर चुना जाने वाला व्यक्ति तब तक पद धारण करेगा जब तक वह सम्बन्धित संस्था का सदस्य बना रहता है।[12]

जिला परिषद् के प्रमुख व उपप्रमुख तथा इसी तरह अन्य पंचायतीराज संस्थाओं

के अध्यक्ष और उपाध्यक्षों, तथा किन्हीं समितियों या उपसमितियों के पदाधिकारियों को तथा उनके सदस्यों को ऐसी दरों पर भत्ते प्राप्त होंगे जो राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नियमों में विहित किए जाएँ। परन्तु एक दिन के लिए केवल एक भत्ता देय होगा।[13]

त्यागपत्र

जिला परिषद् का प्रमुख खंड आयुक्त को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा अपने पद से त्यागपत्र दे सकेगा, और उपप्रमुख या जिला परिषद् का कोई सदस्य प्रमुख को सम्बोधित स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा अपना त्यागपत्र दे सकेगा। इस प्रकार दिया गया प्रत्येक त्यागपत्र संबंधित सक्षम प्राधिकारी द्वारा 15 दिन की कालावधि के भीतर, यदि वह वापस नहीं लिया जाता है तो, प्रभावी हो जाएगा। यदि जिला परिषद् के प्रमुख और उपप्रमुख जिला परिषद् के सदस्य नहीं रह पाते हैं तो उन्हें अपना पद रिक्त कर देना होगा।[14]

जिला प्रमुख/उपप्रमुख के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव

अधिनियम में सभी पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्षों और उपाध्यक्षों के प्रति लाये जाने वाले अविश्वास प्रस्ताव की प्रक्रिया का विवरण दिया गया है।[15] इन उपबन्धों के अनुसार सभी पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से पद से हटाए जा सकते हैं।

इस निमित्त जो प्रक्रिया अधिनियम में दी गई है उसका विवरण पूर्व में ग्राम पंचायत से संबंधित अध्याय में दिया जा चुका है। जिला परिषद् के प्रमुख व उपप्रमुख को भी इसी प्रक्रिया को अपनाते हुए अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से हटाया जा सकता है।

हटाया जाना और निलम्बन

राज्य सरकार, लिखित आदेश द्वारा और सुनवाई का अवसर देने व ऐसी जाँच करने के पश्चात् जो आवश्यक समझी जाए, जिला परिषद् सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्षों व उपाध्यक्षों को पद से हटा सकती है। पद से हटाए जाने के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह अध्यक्ष/उपाध्यक्ष अपने पद पर कार्य करने में असमर्थ हो गया हो या कर्तव्यों के निर्वाह में किसी अपकीर्तिकर आचरण का दोषी पाया गया हो।[16] इस संबंध में भी विवरण ग्राम पंचायत से संबंधित अध्याय में दिया गया है जो जिला परिषद् के संदर्भ में भी प्रवर्तनीय होता है।

जिला परिषद् के सदस्य भी यदि वे अधिनियम की धारा 39 में दी गई निरर्हताओं के शिकार हो जाते हैं तो सदस्य बने रहने के लिए अपात्र हो जाएँगे। इस धारा में कहा गया है कि अधिनियम में विनिर्दिष्ट निरर्हताओं का शिकार हो जाने, जिला परिषद् की तीन क्रमवर्ती बैठकों में बिना लिखित सूचना दिए अनुपस्थित रहने, सदस्यता से हटा दिए जाने, त्यागपत्र दे देने, मृत्यु हो जाने या निर्वाचन की तारीख से तीन माह के भीतर सदस्यता के लिए पद की विहित रीति से शपथ लेने में विफल रहते हैं तो सक्षम

प्राधिकारी द्वारा इस आशय का नोटिस दिए जाने व सुनवाई का अवसर दिए जाने के पश्चात् सदस्यता से अपात्र घोषित किया जा सकता है।[17]

प्रमुख/उपप्रमुख के पद की रिक्ति व पूर्ति

जिला परिषद् के प्रमुख व उपप्रमुख का पद रिक्त हो जाएगा यदि इस पद का धारक :

1. जिला परिषद् का सदस्य बने रहने के लिए अपात्र हो जाए, या
2. ऐसे पद से हटा दिया जाए, या
3. अपने पद से त्यागपत्र दे दे, या
4. उसके विरुद्ध धारा 37 के अनुसार अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया हो और जिला परिषद् के सूचना–पट्ट पर चिपका दिया गया हो।

जिला परिषद् के इन पदाधिकारियों के पद पर हो जाने वाली रिक्ति, चाहे यह रिक्ति किसी भी कारण से हुई हो, की सूचना तुरन्त राज्य निर्वाचन आयोग को दी जाएगी और राज्य निर्वाचन आयोग अधिनियम के उपबन्धों के अधीन जिला परिषद् की शेष अवधि के लिए विहित रीति से, इन पदों पर नये पदाधिकारियों का चुनाव कराएगा। यद्यपि ऐसा चुनाव कराया जाना आवश्यक नहीं होगा यदि ऐसी रिक्ति की अवधि 6 मास के भीतर समाप्त हो रही हो।[18]

प्रमुख की शक्तियाँ, कृत्य और कर्तव्य

जिला परिषद् का प्रमुख निम्नांकित शक्तियों का प्रयोग करेगा :

1. इस अधिनियम और उसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन उस पर अधिरोपित सभी कर्तव्यों का पालन और प्रदत्त सभी शक्तियों का प्रयोग करेगा,

2. मुख्य कार्यपालिका अधिकारी और उसके माध्यम से जिला परिषद् के सभी अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों पर प्रशासनिक पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखेगा और उसके अभिलेखों को भी नियंत्रणाधीन रखेगा,

3. ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग, ऐसे अन्य कृत्यों का पालन और ऐसे अन्य कर्तव्यों का निर्वहन करेगा जो जिला परिषद् संकल्प द्वारा निर्दिष्ट करे या राज्य सरकार, इस निमित्त बनाए गए नियमों के अधीन, विहित करे,

4. जिला परिषद् की बैठक बुलाएगा, उनकी अध्यक्षता करेगा और उनका संचालन करेगा,

5. जिला परिषद् के वित्तीय और कार्यपालिका प्रशासन पर सम्पूर्ण पर्यवेक्षण रखेगा और जिला परिषद् के समक्ष वे सभी प्रश्न रखेगा जिनके विषय में जिला परिषद् से आदेश अपेक्षित हों,

6. जिले में प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित होने वाले लोगों को तुरन्त सहायता उपलब्ध कराने के प्रयोजन के लिए मुख्य कार्यपालक अधिकारी के परामर्श से, किसी एक

वर्ष में एक लाख रुपए तक की कुल राशि की स्वीकृति देने की शक्ति रखेगा,

7. यद्यपि वह परिषद् की आगामी बैठक में, उसके अनुसमर्थन के लिए ऐसी स्वीकृतियों का ब्यौरा रखेगा,

8. पंचायतों में प्रेरणा और उत्साह के विकास को प्रोत्साहित करेगा और पंचायतों द्वारा हाथ में ली गई योजनाओं और उत्पादन कार्यक्रमों में उनका मार्गदर्शन व सहयोग करेगा और स्वैच्छिक संगठनों का विकास हो सके इसके लिए सहायता करेगा,

9. ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग करेगा जो अधिनियम के अधीन उसे प्रदत्त की जाएँ या उसे प्रत्यायोजित की जाएँ।

10. एक अधिसूचना के माध्यम से राज्य सरकार ने वर्ष 1999 से जिला प्रमुख को जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (DRDA) का अध्यक्ष नियुक्त किया है। इस भूमिका में उससे जिले में ग्रामीण विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षकीय दायित्व निभाने की अपेक्षा की गई है।

जिला प्रमुख से अपेक्षा की गई है कि पंचायत समितियों के कार्य–कलापों के निर्धारण में, उसे समर्थ बनाने में और उनके कार्यक्रमों और समस्याओं का ध्यान करने की दृष्टि से वह समय–समय पर निम्नांकित कर्तव्यों और कार्यक्रमों और कृत्यों का विशेष रूप से पालन करेगा :

1. जिले के अन्तर्गत सभी खण्डों का निर्धारण कर सकेगा, और

2. पंचायत समितियों, उनके प्रधानों उनके विकास अधिकारियों और उनके सदस्यों को दिशा–निर्देश और सलाह देने की दृष्टि से जिले की पंचायत समितियों द्वारा हाथ में लिए गए कार्यों, अभिलेखों और उनकी आवश्यक कार्यप्रणाली का इस प्रकार निर्धारण कर सकेगा कि उनके अधिकारियों में पारस्परिक और आसपास की पंचायत समितियों और खण्डों की पंचायतों के बीच, अच्छे संबंध विकसित हो सकें और घोषित नीतियों के अनुसार उत्पादन कार्यक्रमों में वृद्धि हो सके। जिला प्रमुख द्वारा किए गये ऐसे निरीक्षण के अंतर्गत कार्यकलापों की रिपोर्ट जिला परिषद् को की जाएगी, और

3. प्रत्येक वर्ष की समाप्ति पर उस वर्ष के दौरान जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी के कार्य में एक रिपोर्ट निदेशक, पंचायतीराज और ग्रामीण विकास विभाग को भेजेगा, जो इन टिप्पणियों को मुख्य कार्यपालक अधिकारी की गोपनीय रिपोर्ट के साथ संलग्न करेगा।[19]

उपप्रमुख की शक्तियाँ और कृत्य

अधिनियम उपबंध करता है कि जिला परिषदों में उपप्रमुख निम्नांकित शक्तियों का प्रयोग और कृत्यों का पालन करेगा :

1. प्रमुख की अनुपस्थिति में, जिला परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करेगा,
2. प्रमुख की ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो प्रमुख, समय–समय पर, ऐसे नियमों के अधीन रहते हुए, जो कि राज्य सरकार द्वारा बनाए जाएँ, लिखित आदेश द्वारा प्रत्यायोजित करें, और

3. प्रमुख का निर्वाचन होने तक या 30 दिन से अधिक की कालावधि की छुट्टी के कारण प्रमुख की जिले से अनुपस्थिति के दौरान, प्रमुख की शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निष्पादन करेगा।

प्रमुख और उपप्रमुख दोनों की, उनके पद रिक्त होने के कारण या अन्यथा अनुपस्थिति में प्रमुख की शक्तियाँ, कृत्य और कर्तव्य, जिला परिषद् के ऐसे निर्वाचित सदस्य द्वारा और ऐसी रीति से प्रयुक्त किए जाएँगे जो सक्षम अधिकारी निर्दिष्ट करे।[20]

जिला परिषद् की बैठकें, गणपूर्ति और प्रक्रिया

(क) बैठकें : प्रत्येक जिला परिषद संबंधित जिले की स्थानीय सीमाओं के भीतर ऐसे समय और ऐसे स्थान पर, जो जिला परिषद् की ठीक पूर्ववर्ती बैठक में नियत किया जाए प्रत्येक त्रिमास में कम से कम एक बार बैठक आयोजित करेगी, किन्तु किसी **नवगठित** जिला परिषद् की प्रथम बैठक जिला परिषद् मुख्यालय पर ऐसी तारीख को और उस समय पर आयोजित की जाएगी जो जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा नियत किया जाए। इस बैठक की अध्यक्षता मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा ही की जाएगी। इस संदर्भ में यह प्रावधान भी किया गया है कि प्रमुख जब उचित समझे, बैठक बुला सकेगा और जिला परिषद् के एक–तिहाई सदस्यों की लिखित अपेक्षा किए जाने पर भी वह 10 दिन के भीतर ऐसी बैठक आयोजित करेगा और इसमें विफल रहने पर सक्षम प्राधिकारी जिला परिषद् के सदस्यों को पूर्ण सात दिन के नोटिस के पश्चात् बैठक बुला सकेगा।[21]

(ख) गणपूर्ति और प्रक्रिया : पूर्व अध्यायों में यह व्यक्त किया जा चुका है कि जिला परिषद् सहित किसी भी पंचायती राज संस्था की बैठक के लिए गणपूर्ति सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई होगी। बैठक के लिए नियत समय से आधे घंटे तक गणपूर्ति न होने तक अध्यक्षता करने वाला प्राधिकारी बैठक को स्थगित कर आगामी बैठक का समय निश्चित कर सकेगा। ऐसी बैठक का नोटिस जिला परिषद् के कार्यालय पर चस्पा किया जाएगा और आगामी बैठक में गणपूर्ति पर विचार किए बिना, विगत बार स्थगित की गई बैठक के विचारार्थ समस्त मामलों पर निर्णय लिया जाएगा। बैठक की अध्यक्षता प्रमुख और उसकी अनुपस्थिति में उपप्रमुख के द्वारा की जाएगी और दोनों की अनुपस्थिति में उपस्थित सदस्य अपने में से किसी एक को उस अवसर पर अध्यक्षता करने के लिए चुनेंगे किन्तु ऐसा सदस्य हिन्दी पढ़ने और लिखने में समर्थ होना चाहिए।[22]

जब तक कि अन्यथा विनिर्दिष्ट न हो, सभी प्रश्नों पर उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णय लिए जाएँगे। अध्यक्षता करने वाला व्यक्ति अपने मत के अतिरिक्त, मतदान में मतों के बराबर होने की दशा में निर्णायक मत देने के लिए भी अधिकारी बनाया गया है।[23] अधिनियम में व्यवस्था की गई है कि जिला परिषद् के कोई सदस्य या अध्यक्ष के अतिरिक्त जिला प्रमुख व उपप्रमुख के किसी मामले में यदि व्यक्तिगत वित्तीय हित जुड़े होते हैं तो ऐसे मामलों पर विचार के समय सदस्य/अध्यक्ष

न तो विचार–विमर्श में भाग लेगा और न ही उस बैठक की अध्यक्षता करेगा।[24] जिला परिषद् की बैठक की कार्यवाहियां मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा तैयार कराई जाएँगी।

जिला परिषद् की स्थायी समितियाँ

प्रत्येक जिला परिषद् उन सभी समितियों का गठन करेगी जिन समितियों का उल्लेख पंचायत समिति से संबंधित विगत अध्याय में किया जा चुका है। सुविधा की दृष्टि से उनका पुनः यहाँ उल्लेख किया जाना प्रासंगिक है :

1. प्रशासन, एवं स्थापना
2. वित्त और कराधान
3. विकास और उत्पादन कार्यक्रम, जिसमें कृषि, पशुपालन, लघु सिंचाई, सहकारिता, लघु उद्योगों और अन्य सह–बद्ध विषय सम्मिलित हैं,
4. शिक्षा, जिसमें समाज शिक्षा सम्मिलित है, और
5. समाज सेवाएं और सामाजिक न्याय, जिसमें ग्रामीण जल प्रदाय स्वास्थ्य और सफाई, ग्रामदान, संचार, कमजोर वर्गों का कल्याण और सह–बद्ध विषय सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त 5 स्थायी समितियों के अतिरिक्त जिला परिषद् भी किसी भी विषय के लिए एक छठी समिति का गठन भी कर सकती है।[25] प्रत्येक स्थायी समिति में जिला परिषद् के निर्वाचित सदस्यों में से विहित रीति से निर्वाचित 5 सदस्य लिए जायेंगे। प्रशासन एवं स्थापना समिति में जिला प्रमुख पदेन अध्यक्ष होगा। यदि किसी समिति में उप प्रमुख सदस्य निर्वाचित हो और उस समिति में प्रमुख नहीं हो तो उपप्रमुख उस समिति का पदेन अध्यक्ष होगा। ऐसी समिति में जिसमें प्रमुख व उपप्रमुख दोनों ही न हों, निर्धारित रीति से अध्यक्ष निर्वाचित किया जाएगा। इस संदर्भ में अन्य विवरण, जो पंचायत समिति की स्थायी समिति के संबंध में पूर्व अध्याय में व्यक्त किए जा चुके हैं वे सब यहाँ भी प्रभावी होंगे। स्थायी समिति अपनी बैठकों के कार्यव्यवहार के संचालन के संबंध में ऐसी प्रक्रिया का अनुसरण करेगी जो ऐसी बैठकों के संचालन के लिए विहित की जाएँ।[26]

मुख्य कार्यपालक अधिकारी और अन्य अधिकारी

जिला परिषद् की प्रशासनिक शाखा का अध्यक्ष मुख्य कार्यपालक अधिकारी को बनाया गया है। अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि इस पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा या राजस्थान प्रशासनिक सेवा का कोई अधिकारी या ग्रामीण विकास विभाग द्वारा चयनित कोई परियोजना निदेशक राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाएगा।[27]

सरकार प्रत्येक जिला परिषद् के लिए मुख्य लेखाधिकारी व जिला प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी और मुख्य आयोजना अधिकारी भी नियुक्त करेगी।[28] इसके अतिरिक्त प्रत्येक जिला परिषद् में सरकार इतने अधिकारी पदस्थापित करेगी जितने वह आवश्यक समझे।

मुख्य लेखाधिकारी की सहायता के लिए लेखाधिकारी, लेखाकार व कनिष्ठ लेखाकार जिला परिषद् में कार्यरत हैं। अन्य अधिकारियों को मंत्रालयिक सहायता देने के लिए वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी होते हैं। सरकार को

यह अधिकार दिया गया है कि जिला परिषद् में नियुक्त अधिकारियों व कर्मचारियों को एक जिले से दूसरे जिले में स्थानान्तरित किया जा सकेगा।[29]

मुख्य कार्यपालक अधिकारी और अन्य अधिकारियों की शक्तियाँ और कृत्य

(क) मुख्य कार्यपालक अधिकारी की शक्तियाँ और कृत्य : जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी को निम्नांकित शक्तियों के प्रयोग और कृत्यों के निर्वहन के लिए, अधिनियम द्वारा उत्तरदायी बनाया गया है :[30]

1. जिला परिषद् की नीतियों, विनिश्चयों और अनुदेशों को क्रियान्वित करेगा, और जिला परिषद् के सभी कार्यों के त्वरित निष्पादन के लिए आवश्यक उपाय करेगा,

2. इस अधिनियम या इसके अधीन बनाए गए नियमों और विनियमों के द्वारा उस पर अधिरोपित कर्तव्यों का निर्वाह करेगा,

3. जिला परिषद् के सामान्य अधीक्षण और नियंत्रण तथा इस निमित्त विनिर्मित नियमों के अधीन रहते हुए जिला परिषद् के अधिकारियों और कर्मचारियों पर नियंत्रण रखेगा,

4. जिला परिषद् से संबंधित सभी कागजात और दस्तावेजों की अभिरक्षा के लिए उसे उत्तरदायी बनाया गया है,

5. वह जिला परिषद् की निधियों में से धन आहरित और संवितरित करेगा तथा ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग और ऐसे अन्य कृत्यों का पालन करेगा, जो विहित किए जाएँ,

6. जिला प्रमुख के निर्देशों के अधीन, वह जिला परिषद् और स्थायी समितियों की प्रत्येक बैठक के लिए नोटिस जारी करेगा तथा उसमें उपस्थित होगा और चर्चा में भाग लेगा किन्तु उसे कोई भी संकल्प प्रस्तुत करने या मत देने का अधिकार नहीं होगा,[31]

7. वह जिला परिषद् द्वारा पारित किसी प्रस्ताव या संकल्प, जो उसकी राय में किसी विधि या अन्य उपबन्धों से असंगत हो, को बैठक की तारीख से 15 दिन के भीतर–भीतर राज्य सरकार को सूचित करेगा और ऐसे संकल्प को राज्य सरकार के निर्देशों से भिन्न रूप में कार्यान्वित नहीं करेगा,[32]

8. अधिनियम द्वारा उसे जिले की किसी भी पंचायत या पंचायत समिति के नियंत्रणाधीन किसी भी स्थावर सम्पत्ति या निर्माण कार्य या चल रहे निर्माण कार्य, या पंचायत समितियों के अधीन संचालित विद्यालयों, अस्पतालों, औषधालयों, टीका केन्द्रों, कुक्कुट शालाओं में प्रवेश करने और उसके निरीक्षण के लिए अधिकृत किया गया है। वह इन संस्थाओं में किसी भी अभिलेख, रजिस्टर या अन्य दस्तावेजों की जाँच करने के लिए सक्षम है।[33]

जिला परिषद् के प्रमुख की अनुपस्थिति में मुख्य कार्यपालक अधिकारी को कतिपय आपात शक्तियाँ भी अधिनियम द्वारा प्रदान की गई हैं। उससे अपेक्षा की गई है

कि वह जिले में आग, बाढ़, महामारी जैसे अन्य आपात मामलों में किसी भी आवश्यक कार्य के निष्पादन का निर्देश दे सकेगा जिसके लिए सामान्यतः सम्बन्धित पंचायती राज संस्था या उसकी किसी स्थायी समिति की स्वीकृति की आवश्यकता अपेक्षित होती है। ऐसे किसी भी कार्य पर किए गए व्यय को संबंधित पंचायती राज संस्था की निधि से देय बनाये जाने का निर्देश भी वह दे सकेगा।[34]

(ख) अन्य अधिकारियों की शक्तियाँ और कृत्य : जिला परिषद् का मुख्य लेखाधिकारी जिला परिषद् की मुख्य वित्तीय नीतियों के विषयों में आवश्यक परामर्श परिषद् के अधिकारियों को उपलब्ध कराएगा तथा परिषद् के वार्षिक लेखों व बजट की तैयारी सहित लेखों से संबंधित समस्त विषयों के संधारण के लिए उत्तरदायी होगा। मुख्य लेखाधिकारी यह भी सुनिश्चित करेगा कि जिला परिषद् के अंतर्गत और जिले की पंचायत समितियों व ग्राम पंचायत के द्वारा किए जाने वाले व्यय उचित स्वीकृति और इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों और विनियमों के अनुसार किए जाएँ और बजट में उपबन्ध नहीं किए गए प्रावधानों पर किसी प्रकार के व्यय को होने से रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाही करेगा।[35]

राज्य सरकार के समस्त राजपत्रित अधिकारी जिला परिषद् व पंचायत समिति की बैठकों में उपस्थित होने व अपने विभागों में से सम्बन्धित विषयों से सम्बन्धित ऐसी बैठकों में विचार विमर्श में भाग लेने के हकदार होंगे।[36]

राज्य में जिला परिषदों सहित सभी पंचायती राज संस्थाओं पर राज्य सरकार का अनन्य नियंत्रण स्थापित किया गया है।[37] राज्य सरकार की नियंत्रण से संबंधित शक्तियों का विवरण पुस्तक के पृथक् अध्याय में प्रस्तावित है।

नूतन अधिनियम में एक विशेष प्रावधान यह भी किया गया है कि किसी पंचायती राज संस्था और उसकी किसी स्थायी समिति या बहुमत के सदस्य, अधिकारी या कर्मचारी भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 21 के अंतर्गत लोक सेवक समझे जाएँगे।[38]

जिला परिषद् के कर्मचारिवृन्द इत्यादि के बारे में पुस्तक के पृथक् अध्याय में विवरण दिया जा रहा है। इसी प्रकार पंचायतीराज संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन से संबंधित अध्याय में जिला परिषद् से संबंधित बजट लेखे और उसकी संपरीक्षा से संबंधित प्रावधान द्रष्टव्य हैं।

जिला परिषद् के कृत्य और शक्तियाँ

जिला परिषद् के कृत्य और शक्तियों के विषय में अधिनियम प्रावधान करता है कि ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो सरकार द्वारा समय-समय पर विनिर्दिष्ट की जाएँ जिला परिषद् निम्नांकित कृत्यों का निर्वहन और शक्तियों का प्रयोग करेगी :[39]

1. **साधारण कृत्य :** जिले के आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करना, और ऐसी योजनाओं का, अगली मदों में प्रगणित विषयों सहित विभिन्न विषयों के संबंध में समन्वित क्रियान्वयन सुनिश्चित करना।

2. **कृषि :**
   (क) कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के और समुन्नत कृषि उपकरणों और विकसित कृषि पद्धतियों के अंगीकरण को लोकप्रिय बनाने के उपायों को प्रोन्नत करना,
   (ख) कृषि मेलों और प्रदर्शनियों का संचालन करना,
   (ग) कृषकों को प्रशिक्षण, तथा
   (घ) भूमि सुधार और भूमि संरक्षण।
3. **लघु सिंचाई, भू-जल स्रोत और जल-विभाजक विकास :**
   (क) "ग" और "घ" वर्ग के 2,500 एकड़ तक के लघु सिंचाई संकर्मों और लिफ्ट सिंचाई संकर्मों का सन्निर्माण, नवीनीकरण और रखरखाव,
   (ख) जिला परिषद् के नियंत्रणाधीन सिंचाई योजनाओं के अधीन जल के समय पर और समान वितरण और पूर्ण उपयोग तथा राजस्व वसूली के लिए उपबंध करना,
   (ग) भू-जल स्रोतों का विकास,
   (घ) सामुदायिक पम्प सैट लगाना, तथा
   (ङ) जल-विभाजक विकास कार्यक्रम।
4. **बागवानी :**
   (क) ग्रामीण पार्क और उद्यान, तथा
   (ख) फलों और सब्जियों की खेती।
5. **सांख्यिकी :**
   (क) पंचायत समितियों और जिला परिषद् के क्रियाकलापों से संबंधित सांख्यिकीय और अन्य सूचना का प्रकाशन,
   (ख) पंचायत समितियों और जिला परिषद् के क्रियाकलापों के लिए अपेक्षित आंकड़ों और अन्य सूचना का समन्वय और उपयोग, तथा
   (ग) पंचायत समितियों और जिला परिषद् को सौंपी गई परियोजनाओं और कार्यक्रमों का सावधिक पर्यवेक्षण और मूल्यांकन।
6. **ग्रामीण विद्युतीकरण :**
   (क) ग्रामीण विद्युतीकरण की प्रगति का मूल्यांकन करना, तथा
   (ख) कनेक्शन, विशेष रूप से विद्युत कनेक्शन, कुटीर ज्योति और अन्य कनेक्शन।
7. **मृदा संरक्षण :**
   (क) मृदा संरक्षण कार्य, तथा
   (ख) मृदा विकास कार्य।

8. **सामाजिक वानिकी :**

(क) सामाजिक और फार्म वानिकी, बागान और चारा विकास को प्रोत्साहित करना,

(ख) बंजर भूमि का विकास,

(ग) वृक्षारोपण के लिए आयोजन करना और अभियान चलाना तथा कृषिक पौधशालाओं को प्रोत्साहन,

(घ) वन भूमियों को छोड़कर, वृक्षों का रोपण और रखरखाव, तथा

(ङ) राजमार्गों और मुख्य जिला सड़कों को छोड़कर, सड़क के किनारे–किनारे वृक्षारोपण।

9. **पशुपालन और डेयरी :**

(क) जिला और रैफरल अस्पतालों को छोड़कर, पशु चिकित्सालयों की स्थापना और रखरखाव,

(ख) चारा विकास कार्यक्रम,

(ग) डेयरी उद्योग, कुक्कुट पालन और सूअर पालन को प्रोत्साहित करना, तथा

(घ) महामारी और सांसर्गिक रोगों की रोकथाम।

10. **मत्स्य पालन :**

(क) मत्स्य पालक विकास एजेन्सी के समस्त कार्यक्रम,

(ख) निजी और सामुदायिक जलाशयों के मत्स्य संवर्धन का विकास,

(ग) पारम्परिक मत्स्यपालन में सहायता करना,

(घ) मत्स्य विपणन सहकारी समितियों का गठन करना, तथा

(ङ) मछुआरों के उत्थान और विकास के लिए कल्याण कार्यक्रम।

11. **घरेलू और कुटीर उद्योग :**

(क) परिक्षेत्र में पारम्परिक कुशल व्यक्तियों की पहचान और घरेलू उद्योगों का विकास करना,

(ख) कच्चे माल की आवश्यकताओं का इस प्रकार से निर्धारण करना कि जिससे समय पर उसका प्रदाय सुनिश्चित किया जा सके,

(ग) परिवर्तनशील उपभोक्ता माँग के अनुसार डिजाइन और उत्पादन,

(घ) कारीगरों और शिल्पियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना,

(ङ) उप–मद (घ) के अधीन के कार्यक्रम के लिए बैंक ऋण दिलवाने हेतु सम्पर्क करना, तथा

(च) खादी, हथकर्घा, हस्तकला और ग्राम तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करना।

12. **ग्रामीण सड़कें और भवन :**

(क) राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों से भिन्न सड़कों का निर्माण और रख–रखाव,

(ख) राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों से भिन्न मार्गों के नीचे आने वाले पुल और पुलियाएं,

(ग) जिला परिषद् के कार्यालय भवनों का निर्माण और रख–रखाव,

(घ) बाजार, शैक्षणिक संस्थाओं, स्वास्थ्य केन्द्रों को जोड़ने वाली मुख्य संपर्क सड़कों और आन्तरिक क्षेत्रों में सम्पर्क सड़कों की पहचान, तथा

(ङ) नई सड़कों के लिए और विद्यमान सड़कों को चौड़ा करने के लिए भूमियों का स्वैच्छिक अन्तरण कराना।

13. **स्वास्थ्य और स्वास्थ्यिकी :**

(क) सामुदायिक और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, औषधालयों, उप–केन्द्रों की स्थापना और रख–रखाव,

(ख) आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक, यूनानी औषधालयों की स्थापना और रख–रखाव,

(ग) प्रतिरक्षीकरण और टीकाकरण कार्यक्रम का क्रियान्वयन,

(घ) स्वास्थ्य शिक्षा क्रियाकलाप,

(क) मातृत्व और शिक्षा क्रियाकलाप,

(ख) परिवार कल्याण कार्यक्रम,

(ग) पंचायत समितियों और पंचायतों की सहायता से स्वास्थ्य शिविरों का आयोजन, तथा

(घ) पर्यावरण प्रदूषण के विरुद्ध उपाय।

14. **ग्रामीण आवासन :**

(क) बेघर परिवारों की पहचान,

(ख) जिले में आवास–निर्माण का क्रियान्वयन, तथा

(ग) कम लागत आवासन को लोकप्रिय बनाना।

15. **शिक्षा :**

(क) उच्च प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना और रख–रखाव, शैक्षणिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहित करना,

(ख) प्रौढ़ शिक्षा और पुस्तकालय सुविधाओं के लिए कार्यक्रमों की योजना बनाना,

(ग) ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान और तकनीकी के प्रचार के लिए प्रसार कार्य; तथा

(घ) शैक्षणिक क्रियाकलापों का सर्वेक्षण और मूल्यांकन।

16. **समाज कल्याण और कमजोर वर्गों का कल्याण :**

(क) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों को छात्रवृत्तियाँ, वृत्तिकाएं, बोर्डिंग अनुदान और पुस्तकें और अन्य उपसाधन क्रय करने के लिए अन्य अनुदान देकर शिक्षा सुविधाओं का विस्तार,

(ख) निरक्षरता उन्मूलन और साधारण शिक्षा के नर्सरी विद्यालयों, बालवाड़ियों, रात्रि विद्यालयों और पुस्तकालयों का संगठन करना,

(ग) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों को कुटीर और ग्रामीण उद्योगों में प्रशिक्षण देने के लिए आदर्श कल्याण केन्द्रों और शिल्प केन्द्रों का संचालन,

(घ) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के सदस्यों द्वारा उत्पादित माल के विपणन के लिए सुविधाएं उपलब्ध करवाना

(ङ) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों की सहकारी समितियों का गठन करना,

(च) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के उत्थान और विकास के लिए अन्य कल्याणकारी कार्यक्रमों का अभिकल्पन व क्रियान्वयन; तथा

(छ) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की योजना बनाना, उनका पर्यवेक्षण, मूल्यांकन करना और क्रियान्वयन करना।

समाज सुधार क्रियाकलाप :

(क) महिला संगठन और कल्याण,

(ख) बाल संगठन और कल्याण,

(ग) स्थानीय आवारागर्दी का निवारण,

(घ) विधवा, वृद्ध और शारीरिक रूप से निःशक्त निराश्रितों के लिए पेंशनों की और बेरोजगारों और अन्तर्जातीय विवाह के युगलों, जिनमें से एक किसी अनुसूचित जाति या किसी अनुसूचित जनजाति का सदस्य हो, के लिए भत्तों की मंजूरी और वितरण की देखरेख करना,

(ङ) अग्नि नियंत्रण,

(च) अन्धविश्वास, जातिवाद, छूआछूत, नशाखोरी, खर्चीले विवाह और सामाजिक समारोहों, दहेज तथा दिखावटी उपभोग के विरुद्ध अभियान

(छ) सामुदायिक विवाह और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना,

(ज) आर्थिक अपराधों, जैसे तस्करी, कर वंचन, खाद्य अपमिश्रण के विरुद्ध सतर्कता

(झ) भूमिहीन श्रमिकों को सौंपी गई भूमि का विकास करने में सहायता,

(ण) जनजातियों द्वारा अन्य संक्रमित भूमियों का पुनर्ग्रहण,

(ट) बन्धुआ मजदूरों की पहचान करना, उन्हें मुक्त कराना और उनका पुनर्वास,

(ठ) सांस्कृतिक और मनोरंजन क्रियाकलापों का आयोजन करना,

(ढ) खेल–कूद और खेलों को प्रोत्साहन तथा ग्रामीण स्टेडियमों का निर्माण, पारम्परिक उत्सवों को नया रूप देना और उन्हें समाज–प्रिय बनाना, तथा

निम्नलिखित के माध्यम से मितव्ययिता और बचत की प्रोन्नति करना :

(i) बचत की आदतों की प्रोन्नति,

(ii) अल्प बचत अभियान,

(iii) कूट साहूकारी प्रथाओं और ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विरुद्ध लड़ाई।

19. जिला परिषदों की साधारण शक्तियाँ : इस अधिनियम के अधीन सौंपे या प्रत्यायोजित किए गए कृत्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक या आनुषंगिक सभी कार्य करना और विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इसके अधीन विनिर्दिष्ट समस्त शक्तियों का और विनिर्दिष्ट रूप से निम्नलिखित के लिए आवश्यक शक्तियों का प्रयोग करना :

(क) लोक उपयोगिता के किसी भी कार्य का उसमें निहित या उसके नियंत्रण या प्रबन्ध के अधीन की किसी संस्था का प्रबन्ध और रख–रखाव,

(ख) ग्रामीण हाटों और बाजारों का अर्जन और रख–रखाव,

(ग) पंचायत समितियों या पंचायतों को तदर्थ अनुदानों का वितरण करना और उनके कार्य का समन्वय करना,

(घ) कष्ट निवारण के उपायों को अंगीकार करना,

(ङ) जिले में पंचायत समितियों द्वारा तैयार की गई विकास योजनाओं और कार्यक्रमों को समन्वित और एकीकृत करना,

(च) जिले में पंचायत समितियों के बजट प्राक्कलनों की परीक्षा करना और उन्हें मंजूर करना,

(छ) एकाधिक खंडों में विस्तृत किसी कार्यक्रम को हाथ में लेना और निष्पादित करना

(ज) जिले में पंचों, सरपंचों, प्रधानों और पंचायत समितियों के सदस्यों के शिविरों, संगोष्ठियों, सम्मेलनों का आयोजन करना,

(झ) किसी भी स्थानीय प्राधिकरण से उसके क्रियाकलापों के विषय में सूचना देने की अपेक्षा करना, तथा

(ण) किन्हीं विकास कार्यक्रमों को ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों पर, जो लगे हुए दो या अधिक जिलों की जिला परिषदों के बीच में परस्पर तय पाई जाएँ, संयुक्त रूप से हाथ में लेना और निष्पादित करना।

जिला परिषद् की उपविधियाँ बनाने की शक्तियाँ

जिला परिषद् किसी भी पंचायत के लिए इस अधिनियम और इसके अधीन बनाए गए नियमों से सुसंगत उपविधियां बनाने के लिए अधिकृत की गई है।[40] इसी प्रकार कोई जिला परिषद् समय–समय पर उन प्रयोजनों को क्रियान्वित करने के लिए, जिनके लिए वह गठित की गई है ऐसी उपविधियाँ बना सकेगी जो इस अधिनियम और उसके अंतर्गत बनाए गए नियमों से असंगत न हो।[41] जिला परिषद् द्वारा बनाई गई कोई भी उपविधि तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि वे राज्य सरकार द्वारा मंजूर न कर ली जाएँ और

राज्य सरकार द्वारा मंजूर की गई ये उपविधियाँ उनके राजपत्र में प्रकाशन होने पर प्रवर्त होंगी।[42]

वार्षिक प्रशासनिक रिपोर्ट

अधिनियम प्रावधान करता है कि प्रत्येक वर्ष में अप्रैल के प्रथम दिन के पश्चात् यथाशक्य शीघ्र और ऐसी तारीख के पश्चात्, जो राज्य सरकार द्वारा नियत की जाए, जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी सहित पंचायती राज संस्थाओं के सक्षम अधिकारियों द्वारा पूर्ववर्ती वित्तीय वर्ष के दौरान अपनी संस्था की रिपोर्ट, ऐसे प्रारूप में और ऐसे विवरण के साथ जो सरकार निर्दिष्ट करे, राज्य सरकार को प्रेषित करने के लिए विहित प्राधिकारी को अग्रेषित करेगा।[43] सम्बन्धित पंचायतीराज संस्थान द्वारा रखी गई इस रिपोर्ट में प्रस्तुत कार्य प्रणाली का अवलोकन करते हुए राज्य सरकार एक ज्ञापन के साथ इस रिपोर्ट को राज्य विधान मंडल के सदन के समक्ष रखेगी।[44]

संदर्भ

1. **रिपोर्ट ऑफ दी टीम फॉर द स्टडी ऑफ कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स एण्ड नेशनल एक्सटेंशन सर्विस**, वाल्यूम 1, नई दिल्ली, कमेटी ऑन प्लान प्रोजेक्ट्स, 1957, पृष्ठ 7
2. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 111
3. **उपर्युक्त**, धारा 14 (2)
4. **उपर्युक्त**, धारा 15 (1)
5. **उपर्युक्त**, धारा 16
6. **उपर्युक्त**, धारा 17 (1) (2)
7. इस संदर्भ में अधिनियम की धारा 19 द्रष्टव्य है।
8. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 20 और 21
9. **उपर्युक्त**, धारा 29 (1)
10. **उपर्युक्त**, धारा 29 (1) का परंतुक
11. **उपर्युक्त**, धारा 29 (2)
12. **उपर्युक्त**, धारा 30 (क) (ख)
13. **उपर्युक्त**, धारा 31
14. **उपर्युक्त**, धारा 36 (5)
15. **उपर्युक्त**, धारा 37
16. **उपर्युक्त**, धारा 38 (1)
17. **उपर्युक्त**, धारा 39 (2)
18. **उपर्युक्त**, धारा 42
19. **उपर्युक्त**, धारा 35 (1)

20. **उपर्युक्त**, धारा 35 (3)
21. **उपर्युक्त**, धारा 47
22. **उपर्युक्त**, धारा 48 (1)
23. **उपर्युक्त**, धारा 48 (2)
24. **उपर्युक्त**, धारा 48 (3)
25. **उपर्युक्त**, धारा 57 (1)
26. **उपर्युक्त**, धारा 60
27. **उपर्युक्त**, धारा 82 (1)
28. **उपर्युक्त**, धारा 82 (2)
29. **उपर्युक्त**, धारा 82 (3) (4)
30. **उपर्युक्त**, धारा 84 (1)
31. **उपर्युक्त**, धारा 84 (2)
32. **उपर्युक्त**, धारा 84 (3)
33. **उपर्युक्त**, धारा 84 (4)
34. **उपर्युक्त**, धारा 85
35. **उपर्युक्त**, धारा 84 (6) (7)
36. **उपर्युक्त**, धारा 86
37. इस निमित्त द्रष्टव्य है: अधिनियम की धारा 92 से लेकर 101 तक के प्रावधा
38. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 108
39. **उपर्युक्त**, धारा 52
40. **उपर्युक्त**, धारा 103 (1)
41. **उपर्युक्त**, धारा 105 (1)
42. **उपर्युक्त**, धारा 105 (2) (3)
43. **उपर्युक्त**, धारा 122 (1)
44. **उपर्युक्त**, धारा 122 (2)

10

ग्रामसभा एवं वार्ड सभा

किसी भी पंचायत क्षेत्र के समस्त वयस्क नागरिकों के सम्मिलित स्वरूप या समूह को ग्रामसभा कहा गया है। दूसरे शब्दों में, इसे ग्राम के वयस्क नागरिकों की ग्रामसभा कहा जा सकता है। यह एक ऐसी संस्था है जो प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की अवधारणा से मेल खाती है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में किसी राज्य की समस्त वयस्क जनता एक स्थान पर एकत्र होकर शासन संबंधी कार्यों का संचालन करती है। हम यह जानते हैं कि आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्र में सत्ता के अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण के लिए या उसे जनता के प्रति अधिकतम उत्तरदायी बनाने के लिए पंचायती राज जैसी संस्थाओं को अपनाया गया है।

बलवंत राय मेहता समिति ने पंचायती राज का जो त्रिस्तरीय ढाँचा सुझाया उसमें ग्रामसभा का कोई प्रावधान नहीं किया गया था किन्तु भारतीय संघ के जिन–जिन राज्यों में पंचायती राज अपनाया गया है उनमें से अधिकांश में ग्रामसभा नामक संस्था का प्रावधान किया गया है। यद्यपि सभी राज्यों में ग्रामसभा की रचना एक जैसी नहीं है, बिहार, उड़ीसा तथा राजस्थान में ग्राम पंचायत क्षेत्र के सभी वयस्क निवासी ग्रामसभा के सदस्य माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य राज्यों में पंचायत क्षेत्र के वे मतदाता जिनके नाम राज्य विधानसभा की मतदाता सूची में होते हैं, वे ग्रामसभा के भी सदस्य माने जाते हैं।

महात्मा गाँधी ने भारत में सच्चे लोकतंत्र की कामना की थी। उनकी मान्यता थी कि सच्चा लोकतंत्र केन्द्र में बैठे हुए 20 व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता, उसे प्रत्येक गाँव के लोगों द्वारा नीचे के स्तर से चलाना होगा। **गाँधी जी** ने ग्राम स्वराज्य की जो अवधारणा प्रतिपादित की थी उसमें "गाँव" विकेन्द्रीकृत राजनीतिक सत्ता का एक ऐसा घटक माना गया था जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति शासन के कार्यों में प्रत्यक्ष भाग ले सकेगा।[1]

लोकनायक जयप्रकाश नारायण भी यह मानते थे कि भारतीय प्रजातंत्र का

आधार मजबूत नहीं है। उनका मानना था कि वयस्क मताधिकार देने मात्र से ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती है। उनकी राय में भारतीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था की संरचना और स्वरूप को ऊपर की अपेक्षा नीचे की ओर सशक्त आधार प्रदान करने की आवश्यकता है। वे यह मानते थे कि संसद की अपेक्षा ग्रामीण स्तर की संस्थाओं को अधिक शक्तियाँ दी जानी चाहिए जिससे लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होकर पुष्पित और पल्लवित हो सकें।[2]

यद्यपि **बलवंत राय मेहता समिति** ने पंचायती राज के ढाँचे में ग्रामसभा को कोई स्थान नहीं दिया था फिर भी पंचायती राज अपनाने वाले राज्यों ने ग्रामसभा की रचना का महत्त्व स्वीकार किया और इसे पंचायती राज व्यवस्था के आधार के रूप में विकसित किया है। यह माना गया है कि ग्राम स्तर पर पंचायत, ग्रामसभा से ही अपने अधिकार ग्रहण करे और ग्रामसभा के प्रति निरन्तर उत्तरदायी रहे, क्योंकि ग्रामसभा में गाँव के सभी वयस्क नागरिक सम्मिलित होते हैं।[3]

गाँव के लोगों की आम सभा का उक्त विचार हमारे गाँवों के लिए नया नहीं है। हमारे यहाँ इसकी परम्परा पुरातन काल से ही रही है, यद्यपि कालांतर में इसकी क्षमता का ह्रास हो गया। पंचायती राज का ढाँचा अपनाने के पश्चात् उसके एक अंग के रूप में, ग्रामसभा को नियमित और सुनियोजित ढंग से आयोजित करने की परम्परा को पुनर्जीवित करने से, ग्रामीण लोगों के उत्साहवर्द्धन में बड़ी सहायता मिली है।[4] अब यह व्यापक रूप से अनुभव किया जा रहा है कि पंचायती राज में ग्रामसभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके सार्थक योगदान को गंभीरता से रेखांकित किया जाना चाहिए। यह अनुभव कर लिया गया है कि इसे एक बुनियादी संस्था के रूप में कार्य करना चाहिए और ग्रामीण जीवन को सुदृढ़ बनाने तथा लोकतंत्र की जड़ें मजबूत करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में इसे विकसित किया जाना अपरिहार्य है। विद्वानों ने यह अनुभव किया है कि ग्रामसभा को एक ऐसे मंच के रूप में विकसित किया जाना चाहिए जहाँ लोग एकत्र होकर अपनी दैनन्दिन समस्याओं पर वाद–विवाद कर सकें। ग्रामसभा के माध्यम से, नागरिकों को प्रभावित करने वाले सभी मामलों पर जनमत का स्पष्टीकरण हो जाता है जिससे ग्राम पंचायत को अपना कार्य करने के लिए मार्गदर्शन भी सुलभ होता है। ग्रामसभा, ग्राम पंचायत को जनता की एक वास्तविक संस्था के रूप में विकसित करने का अत्यन्त अनुपम उपकरण है।

राजस्थान में ग्रामसभा

राजस्थान के पूर्व पंचायत अधिनियम, 1953 में कहा गया था कि "प्रत्येक पंचायत निर्धारित तरीके, निर्धारित समय और निर्धारित अन्तर के साथ पंचायत क्षेत्र के समस्त वयस्क नागरिकों की एक सभा बुलाएगी।" राजस्थान पंचायत एवं न्याय पंचायत (सामान्य) नियम, 1961 के अधीन सरपंच अथवा उपसरपंच पर वर्ष में कम से कम दो बार मई और अक्टूबर में ग्राम के वयस्क नागरिकों की सामान्य सभा बुलाने का दायित्व डाला गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिनियम अथवा नियमों में "ग्रामसभा" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था।

ग्रामसभा से निम्नलिखित अपेक्षाएं की गई थीं :

1. ग्रामसभा लोकतांत्रिक व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बनाएगी और प्रत्यक्ष लोकतंत्र का उपकरण बन सकेगी,
2. यह एक ऐसे मंच के रूप में कार्य करेगी जहाँ लोग आपस में मिल सकें और अपनी दैनन्दिन समस्याओं पर परस्पर चर्चा और विचार कर सकें,
3. इससे ग्राम पंचायत पर न केवल नागरिकों का प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित हो सकेगा अपितु ग्राम पंचायत को जनता का मार्गदर्शन भी मिलेगा,
4. इससे लोगों द्वारा निर्वाचित पंचायत और निर्वाचकों के मध्य संचार में सहायता मिलेगी।

राजस्थान में 1994 के पूर्व प्रवर्तित, ग्राम पंचायत अधिनियम, 1953 में ग्रामसभा का प्रावधान उस समय जोड़ा गया था जब 1959 में राजस्थान ने पंचायती राज विकेन्द्रीकरण की मेहता समिति योजना को कार्यान्वित किया। मूल ग्राम पंचायत अधिनियम, 1953 में इस हेतु जो नया प्रावधान सैक्शन 23 (ए) जोड़ा गया है उसका सार इस प्रकार था।

प्रत्येक ग्राम पंचायत अपने क्षेत्र के सभी वयस्क नागरिकों की सभा आमंत्रित करेगी जिसके आयोजन का तरीका सरकार द्वारा सुझाया जाएगा।

इस प्रकार बुलाई गई सभा में पंचायत द्वारा किए गए कार्यों और प्रगति का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा तथा उस विवरण पर नागरिकों द्वारा सभा में दिए गए सुझावों को ग्राम पंचायत की आगामी बैठक में विचारार्थ रखा जाएगा।

73वें संविधान संशोधन में ग्रामसभा का प्रावधान

देश में पंचायती राज की संरचना और कार्यप्रणाली को गतिशील बनाने की दृष्टि से भारत सरकार द्वारा 1993 में किए गए 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में ग्रामसभा को संवैधानिक मान्यता दी गई है।[5] संविधान संशोधन के माध्यम से प्रावधान किया गया है कि ग्रामस्तर पर ग्रामसभा ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कार्यों का निर्वाह कर सकेगी जो राज्य विधान मंडल द्वारा अधिनियम बनाकर प्रस्तावित किए जाएँ।[6] इस प्रकार संविधान में किए गए इस संशोधन के माध्यम से न केवल भारतवर्ष में बलवंत राय मेहता समिति द्वारा प्रस्तावित और प्रचलित त्रिस्तरीय पंचायतीराज की संरचना को ही मान्यता दी गई है अपितु ग्रामसभा को भी धरातल पर लोकतांत्रिक इकाई और लोकशक्ति के प्रतीक के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। समस्त राज्य सरकारों ने संविधान संशोधन के अनुसरण में अपने–अपने प्रान्तीय अधिनियमों में ग्रामसभा का प्रावधान भी किया है। राजस्थान भी इस विषय में अपवाद नहीं रहा है।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्रामसभा का प्रावधान

23 अप्रैल, 1994 को प्रवर्तित राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम में, अध्याय एक में अधिनियम की मूल परिभाषाओं के स्पष्टीकरण के पश्चात् ही अध्याय दो "क" में ग्रामसभा शीर्षक से उसकी संकल्पना और व्यवस्थाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है।

अधिनियम में कहा गया है कि प्रत्येक पंचायत सर्किल के लिए एक **ग्रामसभा** होगी जिसमें पंचायत क्षेत्र के भीतर समाविष्ट गाँव या गाँवों के समूह से संबंधित निर्वाचक नामावलियों में रजिस्ट्रीकृत व्यक्ति होंगे।[7] इसके संगठन को निम्न चार्ट के माध्यम से समझा जा सकता है :

चार्ट - 10.1

ग्रामसभा (संगठनात्मक संरचना)
- अध्यक्ष — सरपंच, उपसरपंच अथवा वरिष्ठ पंच
- सदस्य
  - पंचायत क्षेत्र के समस्त मतदाता
  - ग्राम पंचायत के समस्त पंच (सदस्य)
- सचिव — पंचायत सचिव (ग्राम सेवक)

ग्रामसभा की बैठक

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 में यह प्रावधान किया गया है कि **प्रत्येक वर्ष ग्रामसभा की कम से कम दो बैठकें होंगी, पहली वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रिमास में और दूसरी अंतिम त्रिमास में।** किन्तु ग्रामसभा के सदस्यों की कुल संख्या के 1/10 से अधिक सदस्यों के द्वारा लिखित अपेक्षा किए जाने पर या, यदि सम्बन्धित पंचायत समिति या जिला परिषद् या राज्य सरकार द्वारा अपेक्षित हो, ग्रामसभा की बैठक, ऐसी अपेक्षा के 15 दिवस के भीतर–भीतर आहूत की जाएगी।[8]

अधिनियम द्वारा निर्धारित ग्रामसभा की दोनों बैठकों में विचारार्थ लिए जाने वाले विषयों के बारे में भी अधिनियम में ही उल्लेख कर दिया गया है। इसमें कहा गया है कि वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रिमास में की जाने वाली बैठक में, पंचायत, ग्रामसभा के समक्ष निम्नलिखित विषय विचारार्थ रखेगी :

(क) पूर्ववर्ती वर्ष के लेखों का वार्षिक विवरण,
(ख) इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन प्रस्तुत किये जाने के लिए अपेक्षित पूर्ववर्ती वित्तीय वर्ष के प्रशासन की रिपोर्ट,
(ग) वित्तीय वर्ष के लिए प्रस्तावित विकास और अन्य कार्यक्रम, और
(घ) पिछली संपरीक्षा रिपोर्ट और उसके लिए दिये गए उत्तर।[9]

इस प्रकार वित्तीय वर्ष के अंतिम त्रिमास में आयोजित की जाने वाली बैठक में पंचायत द्वारा ग्रामसभा के समक्ष निम्नलिखित विषय विचारार्थ रखे जाएँगे :

(क) वर्ष के दौरान उप–व्यय का विवरण,
(ख) वर्ष में लिए जाने वाले भौतिक और वित्तीय कार्यक्रम,
(ग) वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रिमास में की गई बैठक में प्रस्तावित क्रियाकलाप

के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए किन्हीं भी परिवर्तनों से संबंधित विभिन्न प्रस्ताव, और

(घ) इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन तैयार किया गया पंचायत का बजट।[10]

उपर्युक्त दोनों बैठकों तथा ग्रामसभा की किसी भी अन्य बैठक में भी, ऐसे अन्य विषय जिसे, पंचायत समिति, जिला परिषद्, राज्य सरकार या इस निमित्त प्राधिकृत कोई भी अधिकारी रखे जाने की अपेक्षा करें, रखे जाएँगे।[11] ग्रामसभा इस धारा के अधीन उसके समक्ष रखे गए विषय के संबंध में चर्चा करने के लिए स्वतंत्र होगी और पंचायत, ग्रामसभा द्वारा दिए गए सुझावों पर, यदि कोई हो, विचार करेगी।[12] संबंधित पंचायत समिति का विकास अधिकारी या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई प्रसार अधिकारी ग्रामसभा की सभी बैठकों में उपस्थित होगा। वह ऐसी बैठकों के कार्यवृत्तों का पंचायत के सचिव द्वारा सही–सही अभिलेखन किये जाने के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार अभिलिखित कार्यवृतों की एक–एक प्रति विहित रीति से इस प्रयोजन के लिए विहित प्राधिकारियों को भेजी जाएगी। बैठक की समाप्ति पर कार्यवृत्त पढ़कर सुनाया जायेगा और बैठक में उपस्थित ग्रामसभा के सदस्यों द्वारा अनुमोदित और हस्ताक्षरित किया जायेगा।[13]

इस प्रावधान के माध्यम से राज्य सरकार ने ग्रामसभा की बैठक को सुनिश्चित रूप से आहूत करने का प्रबन्ध किया है। ग्रामसभाओं की विफलता का एक कारण यह गिनाया जाता रहा है कि संबंधित पंचायत के सरपंच ग्रामसभा की बैठकें बुलाने के प्रति उपेक्षा बरतते थे और ऐसी बैठकें व्यवहार में न बुलाकर कागज पर उसकी खानापूर्ति करके इस बात की औपचारिक सूचना पंचायत समिति व उच्चाधिकारियों को दे देते थे। 1994 के अधिनियम के प्रवर्तन के पूर्व ही राजस्थान सरकार ने 17 जून, 1994 को जारी एक अध्यादेश के माध्यम से राजस्थान के तत्कालीन पंचायत अधिनियम, 1953 में संशोधन करते हुए यह प्रावधान पंचायत अधिनियम में कर दिया था कि पंचायत समिति की अधिकारिता के क्षेत्र में बुलाई जाने वाली ग्रामसभा में या तो विकास अधिकारी या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई अधिकारी उपस्थित रहेगा और वह यह सुनिश्चित करेगा कि यह बैठक व्यवहार में उन अपेक्षाओं की पूर्ति करें जो उससे अपेक्षित हैं।[14] इसी प्रावधान को 1994 के अधिनियम में समाविष्ट कर लिया गया है और अब सरपंचों का यह उत्तरदायित्व है कि वे ग्रामसभा की बैठक बुलायें और उसकी सूचना संबंधित विकास अधिकारी को दें जिससे विकास अधिकारी या उनके द्वारा नाम निर्देशित कोई प्रसार अधिकारी ऐसी बैठकों में उपस्थित रहकर इनकी वैध कार्यवाही का साक्षी बन सके और ग्रामसभा के विषय में अब तक की उपेक्षा वृत्ति पर एक सुचिंतित और सुनिश्चित विराम लग सके।

गणपूर्ति

ग्रामसभा की किसी बैठक के लिए गणपूर्ति, **सदस्यों की संख्या का दशांश होगी** जिसमें से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ा वर्ग के सदस्य और महिला

सदस्यों की उपस्थिति उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगी।[14] किन्तु गणपूर्ति के अभाव में एक बार स्थागित की गई किसी बैठक के दुबारा आहूत किए जाने पर गणपूर्ति की आवश्यकता नहीं होगी। ग्रामसभा की बैठक प्रायः उस ग्राम में आयोजित की जाती रही है जहाँ पर ग्राम पंचायत का कार्यालय या पंचायत भवन होता है। अब भी यही व्यवस्था जारी रहेगी।

पीठासीन अधिकारी

1994 के अधिनियम के प्रवर्तन के पूर्व भी राजस्थान में ग्रामसभा की बैठक की अध्यक्षता सरपंच और उसकी अनुपस्थिति में उप–सरपंच किया करता था। इन दोनों की अनुपस्थिति में, जनता द्वारा, बैठक में उपस्थित पंचों में से किसी एक को ग्रामसभा की अध्यक्षता करने के लिए चुना जाता था। अब नूतन अधिनियम में भी यह प्रावधान दोहराया गया है कि ग्रामसभा की बैठक पंचायत के सरपंच के द्वारा या, उसकी अनुपस्थिति में उपसरपंच के द्वारा बुलाई जाएगी और बैठक की अध्यक्षता भी सरपंच के द्वारा या उसकी अनुपस्थित में उप–सरपंच के द्वारा की जाएगी। सरपंच व उप–सरपंच दोनों ही के अनुपस्थिति होने की दशा में, ग्रामसभा की बैठक की अध्यक्षता बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से इस प्रयोजन के लिए निर्वाचित किए गए ग्रामसभा के किसी सदस्य द्वारा की जाएगी।[15]

संकल्प

ग्रामसभा को अधिनियम के अधीन सौंपे गए विषयों से संबंधित कोई भी संकल्प ग्रामसभा की बैठक में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से पारित करना होगा।[16]

निर्वाचित ग्राम पंचायतों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस प्रकार आहूत ग्रामसभा की बैठक में पंचायत के कार्यक्रमों और कार्य की प्रगति का विवरण प्रस्तुत करें। ग्रामसभा के अध्यक्ष और पंचायत सचिव पर यह दायित्व है कि ग्रामसभा की बैठक में व्यक्त किए गए विचारों को निर्वाचित ग्राम पंचायत की आगामी बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत करें। इस प्रकार निर्वाचित ग्राम पंचायत का यह दायित्व है कि वह अपने कामकाज में, ग्रामसभा द्वारा व्यक्त विचारों का ध्यान रखेगी।

ग्रामसभा की बैठक आयोजित करने के विषय में यह प्रावधान नियमों में किया गया है कि ग्रामवासियों को इसकी सूचना कम से कम 15 दिन पूर्व दी जानी चाहिए। इसी सूचना में उन्हें बैठक की तारीख, समय और कार्यसूची अंकित कर देनी चाहिए। यह सूचना देने के लिए पंचायत क्षेत्र में आने वाले प्रत्येक गाँव में प्रमुख–प्रमुख स्थान पर ऐसी सूचना लिखित में चिपकाई जानी चाहिए, इसके अतिरिक्त पंचायत क्षेत्र के प्रत्येक गाँव में ढोल बजाकर ऐसी बैठक की घोषणा भी की जानी चाहिए। इन दोनों विधियों के अतिरिक्त ग्राम पंचायत के सभी निर्वाचित पदाधिकारियों, पंचायत सचिव और ग्राम में कार्यरत सरकारी कर्मचारियों–अध्यापकों और ग्रामसेवक इत्यादि का यह दायित्व होता है कि वे ग्रामसभा की बैठक की सूचना का अपनी क्षमतानुसार प्रसारण करेंगे।

बैठक की कार्यवाही का अभिलेखन

राजस्थान के पंचायती राज अधिनियम के अंतर्गत विनिर्मित नियम यह प्रावधान करते हैं कि ग्रामसभा की बैठक की कार्यवाही का लिखित में अभिलेखन किया जाएगा। ग्रामसभा की प्रत्येक बैठक में ग्रामीणों को इस बात से अवगत कराया जाएगा कि ग्राम पंचायत किन–किन कार्यक्रमों पर कार्य कर रही है। इन बैठकों में ग्राम पंचायत की कार्य प्रणाली, प्रगति इत्यादि की समीक्षा भी की जाएगी। ग्रामसभा की बैठक में इस विषय में जो भी विचार व्यक्त किया जाएगा उन सबका हिन्दी में लिखित विवरण रखा जाएगा और यह विवरण अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षरित होगा। सरपंच पर यह दायित्व डाला गया है कि ग्रामसभा व पंचायत दोनों का सभापति होने के रूप में वह इस विवरण को ग्राम पंचायत की आगामी बैठक में प्रस्तुत करेगा।

ग्रामसभा की बैठक को सुनिश्चित करने के लिए अब चूंकि नए अधिनियम के माध्यम से यह व्यवस्था की गई है कि संबंधित पंचायत समिति का विकास अधिकारी या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई प्रसार अधिकारी ग्रामसभा की बैठकों में उपस्थित रहेगा और वह ऐसी बैठकों के कार्यवृत्तों को, पंचायत के सचिव द्वारा सही–सही अभिलेखन किए जाने के लिए उत्तरदायी होगा। अतः इस प्रावधान से यह स्पष्ट है कि न केवल ग्रामसभा की बैठकों को सुनिश्चित करने का अधिनियम में उपबंध किया गया है अपितु उसके कार्यवृत्त के अभिलेखन के लिए भी पंचायत समिति के ग्रामसभा में उपस्थित होने वाले अधिकारी को उत्तरदायी ठहराया गया है।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष की पंचायती राज की संरचना में ग्रामसभा को निर्वाचित ग्राम पंचायत पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष नियंत्रण के एक उपागम के रूप में अभिकल्पित किया गया है। स्वतंत्रता के पश्चात् से लेकर अब तक ग्रामसभा पंचायती राज की योजना में कोई उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकी है। इसकी प्रभावशीलता की न्यूनता के कारणों व उसमें वृद्धि के उपायों पर अनुसंधान भी हुए हैं।

ग्रामसभा के अधिकार व कार्य

ग्रामसभा के अधिकारों व कर्तव्यों के विषय में पंचायती राज पर प्रस्तुत सादिक अली प्रतिवेदन में कहा गया था कि ग्रामसभा के अधिकार और कर्तव्यों की परिभाषा नपे–तुले शब्दों में करना कठिन है। धीरे–धीरे काम करने के माध्यम से एक परंम्परा विकसित होगी और ग्रामसभा वह महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगी जिससे पंचायती राज की ऊपर की संस्थाएँ शक्ति प्राप्त करेंगी। हमारे विचार में, ग्रामीण जीवन को प्रभावित करने वाले समस्त महत्त्वपूर्ण मामलों पर ग्रामसभा को विचार करना चाहिए। लोगों को यह अनुभव होना चाहिए कि ग्रामसभा स्थानीय विकास में उनकी आवाज को बुलन्द करने और उनके कष्टों को दूर करने में सहायता देने के लिए है। ग्रामसभा की बैठक में सामान्य विचार-विमर्श के लिए जो विषय कार्यक्रम में सम्मिलित किए जाने चाहिए, वे इस प्रकार हैं।[17]

1. पंचायत का बजट,
2. पंचायत की ऑडिट रिपोर्ट और इसका अनुपालन,
3. पंचायत की योजना,
4. योजना की प्रगति और विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों की रिपोर्ट,
5. पंचायत के काम–काज का ब्यौरा,
6. ग्रामसभा के निर्णयों की क्रियान्विति का लेखा–जोखा,
7. ऋण और सहायता के रूप में प्राप्त धन राशि के उपयोग की रिपोर्ट,
8. सहकारी आन्दोलन, सहकारिताओं से संबंध रखने वाले आम विषय तथा सहकारी समितियों द्वारा सुझाए गए, मुद्दों का विवरण,
9. ग्रामीणों के सामान्य हितों के मामले जैसे ग्रामीण चारागाह, जलाशय, सार्वजनिक कुएं आदि,
10. ग्राम पाठशाला का कार्य संचालन, तथा
11. महत्त्वपूर्ण सूचनाओं और निर्णयों की जानकारी।

राजस्थान पं. रा. अधिनियम संशोधन 2000 के अनुसार ग्रामसभा के कार्य

1. सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का वार्ड सभा द्वारा अनुमोदित योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं में से प्राथमिकता क्रम में पंचायत द्वारा क्रियान्वयन के लिए हाथ में लिए जाने के पूर्व, अनुमोदन करना;

2. गरीबी उन्मूलन और अन्य कार्यक्रमों के अधीन हिताधिकारियों के रूप में व्यक्तियों की उनकी अधिकारिता के अधीन आने वाली विभिन्न वार्ड सभाओं द्वारा चिन्हित व्यक्तियों में से प्राथमिकता क्रम का चयन;

3. संबंधित वार्ड सभा से यह प्रमाणपत्र प्राप्त करना कि पंचायत ने उन योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए उपलब्ध कराई गई निधियों का सही ढंग से उपयोग कर लिया है जिनका उस वार्ड सभा के क्षेत्र में व्यय किया गया है;

4. कमजोर वर्गों को आवंटित भूखंडों के संबंध में सामाजिक संपरीक्षा करना;

5. आबादी भूमियों के लिए विकास की योजनाएं बनाना और अनुमोदित करना;

6. सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों के लिए स्वैच्छिक श्रम और वस्तु रूप में या नकद अथवा दोनों ही प्रकार के अभिदाय जुटाना;

7. साक्षरता, शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण को प्रोत्साहित करना;

8. ऐसे क्षेत्र में समाज के सभी समुदायों के बीच एकता और सौहार्द्र बढ़ाना;

9. किसी भी विशिष्ट क्रियाकलाप, स्कीम, आय और व्यय के विषय में पंचायत के सदस्यों और सरपंच से स्पष्टीकरण माँगना;

10. वार्ड सभा द्वारा अभिशंसित कार्यों में से प्राथमिकता क्रम में विकास कार्यों की पहचान और अनुमोदन;

11. लघु जल निकायों की योजना और प्रबन्ध;

12. गौण वन उपजों का प्रबन्ध;

13. सभी सामाजिक सेक्टरों की संस्थाओं और उनके कृत्यों पर नियंत्रण;

14. जनजाति उप–योजनाओं को सम्मिलित करते हुए स्थानीय योजनाओं और ऐसी योजनाओं के स्रोतों पर नियंत्रण;

15. ऐसे पंचायत सर्किल के क्षेत्र की प्रत्येक वार्ड सभा द्वारा की गई अभिशंसाओं के विषय में विचार और अनुमोदन; तथा

16. ऐसे अन्य कार्य जो विहित किए जाएँ।[18]

सतर्कता समिति

राजस्थान पंचायती राज नियम **1996** की धारा 11 में यह प्रावधान रखा गया है कि ग्रामसभा की बैठक में सरपंच सतर्कता समिति के गठन हेतु प्रस्ताव रखेगा। ऐसी समिति की सदस्यता के सम्बन्ध में नियम में निम्न प्रावधान किये गये हैं :

(i) सतर्कता समिति में ऐसे सात सदस्य होंगे जो मान्यता प्राप्त समुदाय के नेता हों और साधारणतः निर्वाचन में भाग नहीं लेते हों;

(ii) ऐसे पंचायत क्षेत्र में निवास करने वाला पंचायत समिति या जिला परिषद् का सदस्य भी ग्रामसभा के अनुमोदन से सतर्कता समिति में सदस्य हो सकेगा;

(iii) सदस्य बैठकें आयोजित करने की तारीखें विनिश्चित करने के लिए और बैठकों की अध्यक्षता के लिए एक व्यक्ति को अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित करेंगे; तथा

(iv) पंचायत का सचिव सर्तकता बैठकों के लिए सचिव के रूप में भी कार्य करेगा।

नियम में यह प्रावधान किया गया है कि सतर्कता समिति की बैठक 3 मास में एक बार होगी। ग्रामसभा की बैठक में सतर्कता समिति की रिपोर्ट पर चर्चा करने का प्रावधान है। सतर्कता समिति की भूमिका के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह केवल त्रुटियां खोजता व पंचायत की आलोचना का कार्य ही नहीं करेगी अपितु रचनात्मक, सहयोगात्मक और सलाहकारी होगी। उसका मुख्य उद्देश्य विकास क्रियाकलापों का त्वरित कार्यान्वयन, संकर्मों की गुणवत्ता बनाए रखना, निधियों का दुरूपयोग रोकना और जनता से प्राप्त शिकायतों का वस्तुनिष्ठ आकलन है।

अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं की व्यापक शक्तियाँ

भारत की संसद ने, देश के अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायतों एवं ग्राम सभाओं को सशक्त बनाने के लिए "अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार अधिनियम, 1996" पारित किया था। उसके उद्देश्यों की क्रियान्विति हेतु राजस्थान सरकार ने भी जून 1998 में एक अध्यादेश जारी किया जिसे राज्यपाल महोदय की अनुमति दिनांक 30 सितम्बर, 1999 को प्राप्त हुई। जिसके माध्यम से राजस्थान के अनुसूचित जाति, जनजाति क्षेत्रों में अधिनियम के प्रावधान प्रभावी बनाये गये हैं। इसके अनुसार इन क्षेत्रों की ग्रामसभाओं को व्यापक

अधिकार दिये गये हैं। ये ग्राम सभाएँ अपने रीतिरिवाजों, सांस्कृतिक पहचान व सामुदायिक संसाधनों को सुरक्षित रखने, गाँव के विकास हेतु योजनाओं को अनुमोदन करने, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों हेतु लाभार्थियों की पहचान करने, क्रियान्वयन की जा रही योजनाओं हेतु आवंटित राशि की उपयोगिता का प्रमाण पत्र देने, क्षेत्र के खनिज पदार्थों के खनन हेतु लीज देने और भूमि कटाव रोकने, ग्रामीण बाजारों का प्रबन्ध करने, लघु वन उपज का प्रबन्ध करने और ऋण आदि देने के लिए अधिकृत की गई हैं। इस प्रकार सामान्य क्षेत्रों की ग्राम सभाओं की तुलना में अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को व्यापक अधिकार व शक्तियाँ देकर उन्हें अतिरिक्त रूप से सशक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है।

ग्रामसभा की अप्रभावी भूमिका : एक मूल्यांकन

1994 के पूर्व भारतवर्ष के जिन–जिन राज्यों ने पंचायत राज की व्यवस्था में ग्रामसभा का प्रावधान किया था उन सबके अवलोकन और मूल्यांकन से यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो गया है कि ग्रामसभा एक ऐसी प्रभावहीन संस्था सिद्ध हुई है जो ग्रामीण जनता पर कोई प्रभाव डालने में सफल नहीं हुई। यह निष्कर्ष भारत सरकार द्वारा 1982 में, पंचायती राज की संरचना में ग्रामसभा की भूमिका के अध्ययन के लिए नियुक्त एक अध्ययन दल ने भी निकाला था।

राजस्थान में भी ग्रामसभा, पंचायती राज की व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकी है और इसीलिए राजस्थान में सन् 1961 में सरकार ने ग्रामसभा को सक्रिय बनाने के लिए ग्रामीण लोगों को संगठित करने और इस दिशा में आवश्यक पहल करने के लिए अपनी ओर से सक्रिय प्रयत्न किए थे। राज्य सरकार के विकास विभाग, जिला परिषद् तथा पंचायत समितियों ने ग्रामसभा को सक्रिय बनाने के लिए संभव प्रयत्न किये किन्तु इन प्रयत्नों से कोई सफलता नहीं मिल सकी। 1964 में सादिक अली प्रतिवेदन ने भी ग्रामसभा के विषय में यह सर्वसम्मत मत व्यक्त किया कि "जिन लोगों से हम मिले हैं या पत्र–व्यवहार किया है वे सभी इस बात पर एकमत है हैं कि ग्रामसभा अभी तक एक प्रभावशाली संस्था नहीं बन पाई है। यह पाया गया है कि ग्रामसभा की बैठकें नियमित रूप से नहीं बुलाई जाती हैं और कुछ अपवादों को छोड़कर बैठकों में उपस्थिति भी अच्छी नहीं होती। ग्रामसभा ने अभी तक लोगों में आवश्यक उत्साह और रुचि उत्पन्न नहीं की है।"[19]

राजस्थान में ग्रामसभा की प्रभावशीलता के विषय में जो अनुसंधान हुए हैं उनमें यह निष्कर्ष व्यक्त किया गया है कि ग्रामसभाओं का आयोजन गाँवों में स्वयं ग्रामीणों की पहल और प्रयास से नहीं होता अपितु उनका आयोजन सरकार और उनमें कार्यरत प्रशासनिक अधिकारियों की पहल से होता है। इन ग्रामसभाओं पर प्रायः खंड के प्रशासनिक अधिकारी और कर्मचारी, विशेषकर राजस्व विभाग के कर्मचारी प्रभावी रूप से छाये रहते हैं। ग्रामीण जनता की उपस्थिति भी अत्यन्त निराशाजनक पाई गई है, उनमें भी महिलाओं की संख्या तो एकदम नगण्य थी।[20]

निष्क्रियता के कारण

सादिक अली प्रतिवेदन में ग्रामसभा की निष्क्रियता के जो कारण बताए गए थे वे इस प्रकार हैं :[21]

1. उचित प्रसार का अभाव : इसकी बैठकों संबंधी सूचना जारी नहीं की जाती है और समय पर उन्हें प्रचारित भी नहीं किया जाता। इस कारण ग्रामीण जन ग्रामसभा की बैठक में भाग नहीं ले पाते हैं।

2. अनुपयुक्त समय : बैठकें कभी–कभी ऐसे समय में आयोजित की जाती हैं जब लोग फसल के कार्य में व्यस्त होते हैं और कृषकों के लिए वह समय उपयुक्त नहीं रहता। राजस्थान की सरकार प्रायः बैठकों की तिथि अपने स्तर पर निश्चित कर देती है जिनमें यह ध्यान भी नहीं रखा जाता है कि कहीं उन तिथियों में कोई त्योहार आदि तो नहीं है।

3. सरपंच की उदासीनता : बहुत से सरपंच ग्रामसभा की ओर से उदासीन रहते हैं और बैठकें आयोजित करने का कष्ट नहीं उठाते। कुछ विषयों में आलोचना के डर से भी वे लोगों की आम सभा में आने से डरते हैं। यद्यपि राज्य शासन द्वारा तिथियों के निर्धारण से सरपंचों की इस मनोवृत्ति पर किंचित् अंकुश लगा है।

4. कार्य और कार्यक्षेत्र की अपर्याप्तता : इस समय ग्रामसभा के कार्यों का क्षेत्र बहुत सीमित है। केवल आंकड़ों की जानकारी दे देने और विभिन्न प्रवृत्तियों का घिसा–पिटा ब्यौरा दे देने मात्र से लोगों में उत्साह उत्पन्न नहीं होता। ग्रामसभा में जिन विषयों पर विचार–विमर्श किया जाए वे ऐसे होने चाहिए, जो लोगों की दैनन्दिन समस्याओं से संबंध रखते हों। ग्रामसभा में शुष्क और घिसे–पिटे ढंग के विचार–विमर्श नहीं होने चाहिए। आशा की जा सकती है कि पंचायती राज अधिनियम में सन् 2000 में किए गये संशोधन से अब इस स्थिति में सुधार आ सकेगा।

5. लोगों की निरक्षरता : गाँवों में निरक्षर लोगों की संख्या अत्यधिक है। इस कारण उन्हें ग्रामसभा की बैठकों में आकृष्ट करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

ग्रामसभा के अप्रभावी होने के कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं :

1. लोगों को जानकारी का अभाव : ग्राम पंचायत और ग्रामसभा के विषय में जो अनुसंधान हुए हैं उनका भी यह निष्कर्ष है कि गाँवों के लोगों को वस्तुतः यह जानकारी ही नहीं होती कि ग्राम पंचायत के अतिरिक्त ग्रामसभा नामक एक और संस्था भी होती है। जिन ग्रामीणों को इन दोनों संस्थाओं के अस्तित्व का भान भी था उन्हें भी यह जानकारी नहीं थी कि दोनों संस्थाओं के पृथक्–पृथक् दायित्व और कार्य क्या हैं?

2. ग्राम सभा हेतु उपयुक्त स्थान की कमी : ग्रामसभा के आयोजन के प्रति निष्क्रियता का एक प्रभावशाली कारण यह भी पाया गया है कि ग्राम पंचायत के क्षेत्र में कोई ऐसा स्थान प्रायः नहीं होता है जो ग्राम की समस्त वयस्क जनता के एकत्र होने हेतु सुविधाजनक और सर्वमान्य हो। प्रायः एक ग्राम पंचायत के क्षेत्र में एक से अधिक गाँव

सम्मिलित होते हैं। अतः पंचायत मुख्यालय पर आयोजित होने वाली इस बैठक में पंचायत क्षेत्र के अन्य गाँवों के लिए दूरी की असुविधा के कारण उपस्थित हो पाने में कठिनाई अनुभव होती है।

3. पंचायत सदस्यों की अनिच्छा : प्रायः यह भी देखा गया है कि ग्राम पंचायत में एक बार चुन कर आये हुए सदस्य ग्रामसभाओं के आयोजन के प्रति इच्छुक नहीं होते क्योंकि ऐसी बैठकों में ग्राम पंचायत के कार्य–कलापों ओर उसकी गतिविधियों के विषय में न केवल प्रश्न किया जाता है अपितु निर्वाचित सदस्यों और सरपंच से उनके उत्तर की अपेक्षा भी की जाती है। इस प्रकार के वातावरण से बचने के लिए पदासीन सदस्य प्रयत्न करते रहते हैं और इसके कारण ग्रामसभा के आयोजन की सूचना का उचित प्रचार–प्रसार इस अन्तर्निहित अवरोध के कारण नहीं हो पाता है।

4. ग्रामीण जनता की अरुचि : ग्राम के नागरिक प्रायः ग्रामसभाओं को गंभीरता से नहीं लेते। ग्रामीण जनता की इस अरुचि का एक कारण तो यह है कि गाँव के लोग यह अनुभव करते हैं कि सत्ता पक्ष ऐसी सभाओं में अनावश्यक रूप से छाया रहता है और सभी लोगों को अपने विचार प्रस्तुत करने का समुचित अवसर नहीं मिलता। पंचायत चुनावों में पराजित हुआ पक्ष प्रायः ऐसी बैठकों का सामूहिक बहिष्कार करते हुए देखा गया है।

ग्रामसभा को प्रभावी बनाने के लिए सुझाव

ग्रामसभा को सशक्त और प्रभावी बनाने का प्रश्न ग्रामसभा की बैठक में होने वाली कार्यवाही की प्रकृति और ग्राम पंचायतों को दिए गए कर्तव्यों और अधिकार पर निर्भर है। ग्रामीण विकास को गति देने के लिए ग्रामसभा को सार्थक और प्रभावी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसे सशक्त बनाने के लिए राजस्थान में पंचायती राज पर नियुक्त उच्चस्तरीय **गिरधारी लाल व्यास समिति** ने निम्नांकित अनुशंसाएँ की थीं:[22]

1. प्रत्येक ग्राम पंचायत के क्षेत्र में कार्यरत ग्रामसेवक और ग्रुप सचिव के लिए ग्रामसभा की बैठक में उपस्थित होना अनिवार्य घोषित किया जाना चाहिए। सरपंच के लिए भी वैधानिक रूप से यह अनिवार्य बना दिया जाना चाहिए कि वह ग्रामसभा की बैठक में उपस्थित रहे और यदि ग्रामसभा की लगातार तीन बैठकों में वह अनुपस्थित रहे तो उसे सरपंच पद पर बने रहने के अयोग्य घोषित कर दिया जाए। नियमों में यह स्पष्ट प्रावधान किया जाना चाहिए कि ग्रामसभा की बैठक आयोजित करना सरपंच का प्राथमिक दायित्व है। पंचायत समिति के प्रसार अधिकारियों तथा विकास अधिकारियों को भी ग्रामसभा की बैठक में उपस्थित होने के लिए ऐसे निर्देश दिए जाएँ जिससे ग्रामसभा में व्यक्त विचारों के आधार पर वे ग्रामीण विकास को व्यावहारिक दिशा दे सकें। (**यह सुझाव 1994 के अधिनियम द्वारा निर्णायक सीमा तक मान लिया गया है।**)

2. वर्तमान में ग्रामसभा की बैठकें फसल बोने और फसल की कटाई के समय होती हैं। इस व्यवस्था को बदल कर प्रतिवर्ष इसकी दोनों बैठकें मई–जून तथा दिसम्बर–जनवरी में आयोजित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जहाँ तक संभव हो

ग्रामसभा की बैठकों की तिथियाँ राज्य स्तर पर निश्चित नहीं की जाएं, अपितु जिलों को उनकी सुविधा से वे तिथियाँ निश्चित करने की छूट दी जाए।

3. ग्रामसभा की बैठक में सामान्य जनता की सक्रिय सहभागिता मजबूत इस बात पर निर्भर करेगी कि उन्हें बैठक के परिणाम कितने सार्थक प्रतीत होते हैं। जनता की यह भागीदारी धीरे-धीरे स्वतः बढ़ेगी।

4. पटवारी ग्रामीण जनता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्मचारी होता है। ग्रामीणों की अधिकांश समस्याएं राजस्व विभाग से संबंधित होती हैं। अतः पटवारी के लिए भी यह आवश्यक बनाया जाना चाहिए कि वह ग्रामसभा की बैठकों में उपस्थित रहे। उसकी यह उपस्थिति ग्रामीण जनता के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

5. ग्रामसभाओं की बैठकों में, उपस्थित लोगों के आगे-पीछे मामलों के स्थान पर नागरिकों को पंचायत कार्यों के विषय में प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उपस्थित सरपंच और पंचों को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे ग्रामवासियों की जिज्ञासा को संतुष्ट करें।

6. ग्रामसभा की बैठक में जो भी सुझाव और विचार प्रस्तुत किए जाएँ उनका लिखित अभिलेख तैयार किया जाना चाहिए तथा ग्राम पंचायत की अगली बैठक में उसे विचारार्थ रखा जाए। ग्रामसभा में उठाए गए मुद्दों पर ग्राम पंचायत ने जो भी कार्यवाही की उससे ग्रामसभा की अगली बैठक में अवगत कराया जाना चाहिए। **अब इस सुझाव को भी सरकारी स्तर पर मान लिया गया है।**

7. पंचायत समिति के पदाधिकारियों को तथा ग्रामसेवक आदि को ग्रामीण क्षेत्र में अपने दौरे का कार्यक्रम ग्रामसभा की बैठकों की तिथि के अनुसार निर्धारित करना चाहिए जिससे ग्रामसभा की बैठकों में वे उपस्थित रह सकें।

8. पंचायत क्षेत्र के समस्त मतदाताओं के लिए भी ग्रामसभा की बैठकों में भाग लेना अनिवार्य किया जाना चाहिए।

9. तहसीलदार और नायब तहसीलदार को भी यथासंभव ग्रामसभा की बैठकों में उपस्थित रहना चाहिए। यदि संभव हो तो बैठक में उपखंड अधिकारी को भी, इन बैठकों में उपस्थित रहना चाहिए। ग्रामसभा की बैठकों में, प्रसार अधिकारी द्वारा किये गए कार्यों का मूल्यांकन और विचार-विमर्श करना चाहिए।

10. ग्रामसभा की बैठकों में भाग लेने वाले लोगों में जब तक पूर्ण रुचि जागृत न हो जाए तब तक ऐसी बैठकों के आयोजन के समय सिनेमा, कठपुतली का प्रदर्शन, समूहगान जैसे आकर्षक मनोरंजक कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाने चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रमों के आयोजन का बैठक की तिथि के एक सप्ताह से पूर्व सम्पूर्ण पंचायत क्षेत्र में व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। ग्रामसभा की बैठक को ठीक समय पर आयोजित करने का दायित्व ग्रामसेवक को व्यक्तिगत रूप से दिया जाना चाहिए।

11. ग्रामसभा के कोई विशिष्ट कार्यकारी दायित्व नहीं हैं किन्तु ग्रामसभा को

प्रस्तुत वैसी ही भूमिका निभानी है जैसी कि केन्द्रीय सरकार की लोकसभा में संसद निभाती है। पंचायत क्षेत्र की योजना, ग्रामीण क्षेत्र की विभिन्न आवश्यकताओं के कार्य, बजट, ग्राम के आवास, कृषि, पंचायत बजट इत्यादि ग्रामवासियों की सामान्य रुचि के समस्त विषयों पर ग्रामसभा की बैठकों में विचार किया जाना चाहिए।

ग्रामसभा की बैठकें आयोजित करने की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि यह नागरिकों को ग्रामीण विकास की व्यापक प्रक्रिया के प्रति, जिसमें सहभागिता अब जारी है। ग्रामसभा की बैठकों में नागरिकों की अच्छी उपस्थिति इस बात का प्रमाण मानी जा सकती है कि ग्राम के लोग अपने गाँव के विकास के प्रति सजग, सक्रिय और सचेष्ट हैं। ग्रामसभा में ग्रामीणों की उपस्थिति से इस बात का अनुमान भी लगाया जा सकता है कि पंचायती राज की संस्था को गाँव के विकास के लिए सार्थक और उपयोगी माना है। महात्मा गाँधी ने कहा था कि ग्राम स्वराज का मेरा विचार प्रत्येक ग्राम को एक पूर्ण स्वतंत्र इकाई बनाने से है जो अपने आप में आत्मनिर्भर हो। ग्राम पंचायत अपने नागरिकों के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों की सम्मिलित भूमिका का निष्पादन करे। महात्मा गाँधी के ग्राम स्वराज का यह सपना यद्यपि पूर्ण रूप से साकार नहीं किया जा सकता, किन्तु ग्रामसभा को अधिक सार्थकता प्रदान कर, इस दिशा में आगे प्रयास अवश्य किया जा सकता है।

इसी क्रम में वर्तमान 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से और उसके पश्चात् राजस्थान की सरकार ने इस संशोधन अधिनियम के अनुसरण में निर्मित नए पंचायतीराज अधिनियम में ग्रामसभा को महत्वपूर्ण स्थान देकर इसे प्रत्यक्ष लोकतंत्र की एक सशक्त इकाई के रूप में प्रस्थापित करने की दिशा में प्रभावी कदम उठाया है।

1994 में पारित राजस्थान पंचायत राज अधिनियम के राज्य में प्रवर्तन के पश्चात् राज्य सरकार ने ग्रामसभा की बैठकों के आयोजन के प्रचार-प्रसार की दिशा में पर्याप्त प्रयास किये हैं। ग्राम पंचायतों के सरपंचों को ग्रामसभा के आयोजन के लिए विशिष्ट वर्धित उत्तरदायी बनाया गया है। पंचायत समिति के विकास अधिकारी ऐसी बैठकों में स्वयं या अपने प्रतिनिधि के माध्यम से उपस्थित रहने के लिए तथा बैठकों की कार्यवाही का अभिलेख रखने के लिए उत्तरदायी भी ठहराए गये हैं। जिले के जिलाधीशों ने भी प्रमुख समाचार-पत्रों, दूरदर्शन व आकाशवाणी के माध्यम से ग्रामसभा के राज्य सरकार द्वारा निर्धारित तिथियों में सफल आयोजन के लिए पर्याप्त प्रयास किये हैं।

इस समूची स्थिति के बावजूद, राज्य सरकार द्वारा निश्चित की गई तिथियों में ग्रामसभाओं का आयोजन और उनमें ग्रामजनों की उपस्थिति संतोषजनक नहीं बन पड़ी है। अभी भी ग्रामजनों में ग्रामसभा के प्रति जागरूकता का कोई भाव विकसित नहीं हो सका है। वस्तुतः ग्रामसभा जिसे लोकतंत्र में प्रत्यक्ष लोकतंत्र के एक प्रभावी उपकरण के रूप में विकसित होना चाहिए था, वह ऐसा स्थान प्राप्त नहीं कर सकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामसभाओं के आयोजन की सरकार के उच्च स्तर से की जा रही पहल इस विफलता का एक प्रमुख कारण है। राजस्थान सरकार द्वारा शासन सचिवालय से निर्धारित

तिथियां 15 अगस्त और 26 जनवरी हमारे स्वतंत्रता और गणतंत्र के उत्सव के दिवस होते हैं। इन राष्ट्रीय उत्सव के दिवसों पर ग्रामसभा का आयोजन कदाचित् ग्राम जनों को अधिक स्वीकार्य नहीं हुआ। यही नहीं, एक बार तो इनमें से एक तिथि को रक्षाबंधन जैसा महत्त्वपूर्ण त्योहार भी था। यदि ग्रामसभा के आयोजन की तिथियां निश्चित करने वाले नीति निर्माता इन व्यावहारिक बिन्दुओं पर जन सामान्य की दृष्टि से नहीं सोचेंगे तो ग्रामसभा की वही नियति होनी है जो अब तक होती रही है। आशा की जा सकती है कि भविष्य में इनके आयोजन के लिए अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाएगा।

वार्ड सभा

गाँव के सर्वांगीण विकास के लिए तथा ग्रामीण प्रशासन घर–घर तक पहुँचे, इसके लिए पंचायती राज अधिनियम, 1994 में संशोधन करके राज्य सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया जिसे **"राजस्थान पंचायती राज संशोधन अध्यादेश, 2000"** के नाम से जाना जाता है। इस संशोधन अध्यादेश में वार्ड–सभा के संबंध में प्रावधान किए गये हैं।[23] निर्वाचन की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्राम को कुछ वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य का निर्वाचन होता है। उस वार्ड में रहने वाले सभी वयस्क नागरिकों से युक्त एक **"वार्ड–सभा"** के गठन का प्रावधान किया गया है।

वार्ड-सभा का गठन : पंचायत अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक वार्ड में एक वार्ड सभा होगी जिसमें उस वार्ड के सभी वयस्क व्यक्ति सदस्य होंगे।[24]

वार्ड-सभा की बैठकें : अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि वार्ड–सभा की **बैठकें प्रतिवर्ष कम से कम दो बार होंगी-एक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में तथा दूसरी वित्तीय वर्ष के अन्त में।** अधिनियम में यह भी प्रावधान किया गया कि वार्ड–सभा के सदस्यों की कुल संख्या के 1/10 सदस्य यदि लिखित रूप में अपेक्षा करें तो वार्ड–सभा की विशेष बैठक भी आमंत्रित की जा सकती है। प्रत्येक बैठक की सूचना 15 दिन पूर्व दी जानी आवश्यक है। संबंधित पंचायत समिति का विकास अधिकारी या उसके द्वारा निर्देशित कोई अधिकारी वार्ड–सभा की बैठकों में उपस्थित रहेगा। उसी अधिकारी को बैठक आमंत्रित करने के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। बैठक की समाप्ति के पश्चात् बैठक की कार्यवाही को उस अधिकारी द्वारा पढ़कर सुनाया जाएगा और वार्ड–सभा के उपस्थित सदस्यों द्वारा अनुमोदित व हस्ताक्षरित किया जाएगा। बैठक के लिए गणपूर्ति कुल संख्या की 1/10 सदस्य रखी गई है।[25] जिनमें से अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े वर्ग और महिला सदस्य उनकी जनसंख्या के अनुपात में होंगे। बैठक की अध्यक्षता उस वार्ड से निर्वाचित पंच द्वारा की जाएगी। इसकी अनुपस्थिति में वार्ड–सभा के किसी ऐसे सदस्य द्वारा अध्यक्षता की जाएगी जिसे बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से निर्वाचित किया जाए।[26]

वार्ड-सभा के कार्य : अधिनियम में वार्ड–सभा के कार्यों के संबंध में प्रावधान किए गये हैं। **अधिनियम के अनुसार वार्ड-सभा के निम्नलिखित कार्य होंगे :**[27]

1. विकास योजना बनाने के लिए सूचनाओं के संग्रह व संकलन में पंचायत की सहायता करना,
2. वार्ड–सभा के क्षेत्र में क्रियान्वित किये जाने वाले विकास कार्यक्रमों के प्रस्ताव तैयार करना,
3. वार्ड–सभा के क्षेत्र से संबंधित विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से होने वाले लाभ की पहचान करना,
4. विकास कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन में सहायता करना,
5. जन–उपयोगी सेवाओं व सुविधाओं आदि, जैसे–मार्गों में प्रकाश, पानी के नल, सिंचाई सुविधाएँ आदि के लिए उपयुक्त स्थान का सुझाव देना,
6. लोक–हित के विषयों, **जैसे** – स्वच्छता, प्रदूषण का निवारण, सामाजिक बुराइयों से बचाव आदि के संबंध में योजनाएं बनाना और जागरूकता लाना,
7. नागरिकों के विविध समूहों में सौहार्द्र और एकता को बढ़ावा देना,
8. सरकार से विभिन्न प्रकार की कल्याणकारी सहायता, **जैसे** – पेंशन प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की पात्रता को सत्यापित करना,
9. वार्ड सभा क्षेत्र में किये जाने वाले प्रस्तावित कार्यों के अनुमानों के विषय में सूचना प्राप्त करना,
10. संबंधित अधिकारियों से उस वार्ड–सभा क्षेत्र में ऐसी सेवाओं के विषय में जो वे उपलब्ध कराएँगे और ऐसे कार्यों के विषय में जिन्हें करने का उनका प्रस्ताव है, सूचना प्राप्त करना,
11. वार्ड–सभा क्षेत्र में स्थापित विद्यालयों में माता–पिता और अध्यापकों की बैठकें आयोजित करवाना,
12. साक्षरता, शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल–विकास और पोषण को प्रोत्साहित करना,
13. ऐसे अन्य कार्य, जो समय–समय पर राज्य सरकार द्वारा सौंपे जाएँ।

समीक्षा

गाँधीजी के इस विचार कि "आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए" से प्रेरणा लेते हुए राजस्थान पंचायत राज संशोधन अधिनियम, 2000 में राज्य के राज्यपाल ने 6 जनवरी, 2000 को एक अध्यादेश जारी कर प्रत्येक ग्रामपंचायत में वार्ड सभाओं के गठन का प्रावधान किया है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि पंचायत सर्किल के प्रत्येक वार्ड के वयस्क मतदाताओं के समूह को वार्ड सभा के रूप में इंगित किया गया है जिसकी वर्ष में दो बैठकें आयोजित करने का लक्ष्य रखा गया है।

वस्तुतः सिद्धांत रूप में वार्ड सभा धरातल पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र का विस्तार करने का प्रयास है। इसे विकास की प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण के रूप में देखा जा सकता है। नियोजन की प्रक्रिया ऊपर से नहीं नीचे से चलनी चाहिए। इस लक्ष्य के अनुरूप वार्ड सभाओं से अपेक्षा की गई है कि वे अपने–अपने वार्ड क्षेत्र में विकास की प्राथमिकताओं

को चिह्नित करते हुए विकास की समग्र योजना बनाने के लिए ग्राम सभा और ग्राम पंचायत को भेजेंगे। ग्राम सभाओं के आयोजन की विकलता के अनुभव को देखते हुए इसके आयोजन का दायित्व पंचायत समिति के विकास अधिकारी पर डाला गया है। उससे यह अपेक्षा भी की गई है कि वह या उसका नाम निर्देशित कोई व्यक्ति इसकी बैठकों में उपस्थित रहेगा और इसका अभिलेख भी तैयार करेगा।

धरातल पर लोकतंत्र के विस्तार का उक्त सैद्धांतिक प्रयास एक सीमा तक स्तुत्य माना जा सकता है। किन्तु, ग्रामसभाओं के आयोजन की विफलता, उनमें उपस्थिति की नगण्यता और उनके प्रति जनरुचि के अभाव के कारकों को देखते हुए वार्ड सभाओं के आयोजन की संकल्पना की नियति भी ग्राम सभाओं से श्रेष्ठतर रहने की संभावना कम ही है। समीक्षक ऐसा अनुभव करते हैं कि यह सैद्धांतिक विचार उत्तम होते हुए भी हमारे लोकतंत्र की परिपक्वता को देखते हुए जल्दबाजी में उठाया गया एक कदम है। जब ग्रामसभा की बैठकों में दशांश की गणपूर्ति का ही संकट रहता हो और बैठकें व्यवहार में आयोजित ही नहीं हो पाती हों तो ऐसे में अब भविष्य में ग्रामसभाओं और वार्ड सभाओं में लोगों की उपस्थिति में अनुसूचित जाति, जनजाति पिछड़े वर्गों और महिलाओं की उपस्थिति को उस क्षेत्र में उन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में सुनिश्चित किये जाने की कल्पना कदाचित् **स्वप्न** ही सिद्ध होगी और व्यवहार में भविष्य में ग्रामसभाओं और वार्ड सभाओं का आयोजन पूर्ववर्ती अनुभव की तुलना में और भी कठिन हो जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामसभा एवं वार्ड सभा के आयोजन के संबंध में सचिवालय में नीति नियंताओं को धरातल पर इस विषय की कठिनाइयों का भान नहीं है और एकपक्षीय तरीके से ग्रामीण संस्थाओं में कृत्रिम "प्राण वायु" का संचार करना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण उचित नहीं है। भविष्य में ग्रामसभाओं एवं वार्ड सभाओं के आयोजन सम्बन्धी कठिनाइयों का क्षेत्रीय अनुभवमूलक अध्ययन करवाकर, उनके निष्कर्षों के आलोक में व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस विषयक निर्णय किये जाएँ तो धरातल पर लोकतंत्र की सार्थक उपलब्धि की दिशा में सकारात्मक पहल हो सकेगी।

सन्दर्भ

1. महात्मा गाँधी, **ग्राम स्वराज्य**, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृष्ठ 15.
2. जयप्रकाश नारायण, **ए प्ली फॉर रिकंस्ट्रक्शन ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स**, काशी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, 1959,पृ. 81–91
3. सादिक अली, **पंचायती राज अध्ययन दल की रिपोर्ट**, पंचायत एवं विकास विभाग, राजस्थान सरकार, 1964, पृ. 44
4. **उपर्युक्त**।
5. **भारत का संविधान**, 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, अनुच्छेद 243
6. **उपर्युक्त**।
7. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 8 क (1)

8. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 8 क (2)
9. **उपर्युक्त**, धारा 8 क (3)
10. **उपर्युक्त** 8 क (4)
11. **उपर्युक्त**, धारा 8 क (5)
12. **उपर्युक्त**, धारा 8 क (6)
13. **उपर्युक्त**, धारा 8 क (7)
14. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 8 ख
15. **उपर्युक्त**, धारा 8 ग
16. **उपर्युक्त**, धारा 8 घ
17. सादिक अली प्रतिवेदन, **पूर्वोक्त**, पृ. 46–47
18. राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994, धारा 8 ङ
19. सादिक अली प्रतिवेदन. **पूर्वोक्त**, पृ. 47
20. डा. रविन्द्र शर्मा, के. डी. त्रिवेदी और गिरवरसिंह, **प्रशासन गाँवों की ओर: एक अध्ययन**, लोक प्रशासन विभाग, राज. विश्वविद्यालय, जयपुर एक अप्रकाशित अध्ययन प्रतिवेदन।
21. सादिक अली प्रतिवेदन, **पूर्वोक्त**।
22. **गिरधारी लाल व्यास समिति प्रतिवेदन,** सामुदायिक विकास और पंचायत विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर 1973
23. **राजस्थान पंचायत राज (संशोधन) अध्यादेश**, 2000 के माध्यम से मूल अधिनियम की धारा 3 में संशोधन
24. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994 की धारा 3 (1)
25. **उपर्युक्त**, धारा 4
26. **उपर्युक्त**, धारा 5
27. **उपर्युक्त**, धारा 7

11

नगरीय संस्थाओं का कार्मिक प्रशासन

कार्मिक प्रशासन, प्रशासकीय व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा जटिल आयाम है। किसी प्रशासकीय संगठन के संचालन में जिन महत्त्वपूर्ण उपकरणों और घटकों की आवश्यकता होती है, कार्मिक वर्ग उनमें सबसे आवश्यक साधन होता है। किसी भी राष्ट्र के नागरिकों का कल्याण सरकार की कुशलता पर निर्भर करता है और यह कार्यकुशलता उसके कार्मिक वर्ग पर निर्भर करती है इसलिए यह माना जाता है कि कार्मिक वर्ग के कुशल प्रशासन पर, प्रबन्ध व्यवस्था की प्रभावशीलता निर्भर करती है। यही कारण है कि कार्मिक वर्ग का प्रशासन, अध्ययन एवं मनन का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना जाने लगा है।

स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं में भी कार्मिक प्रशासन का वही महत्त्व है जो महत्त्व उसे राष्ट्रीय एवं राज्यस्तरीय प्रशासन में प्राप्त है। किसी भी संगठन की कार्यक्षमता अन्ततः उसके कर्मचारियों पर ही निर्भर करती है और स्वायत्त शासन की संस्थाएं भी इसका अपवाद नहीं हैं। इन संस्थाओं की सफलता बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करती है कि उनके कर्मचारियों की कार्यकुशलता और कार्यक्षमता कितनी है, कर्मचारी वर्ग स्थानीय जनता को सेवाएं देने के प्रति कितना तत्पर हैं और स्वायत्त शासन के माध्यम से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का लक्ष्य पूरा करने के प्रति वे कितने सचेष्ट हैं। हरमन फाइनर का यह मत है कि सरकार के राजनीतिक पक्ष में चाहे कितनी ही शक्ति हो, उसका राजनीतिक दर्शन कितना ही बुद्धिमतापूर्ण हो और नेतृत्व एवं प्रभुत्व कितने ही ऊंचे हों–ये सब अधिकारियों, विशिष्ट मामलों में सलाह प्रदान करने वाले विशेषज्ञों और उन स्थायी कर्मचारियों, जिन्हें विशेष रूप से कार्य को करने के लिए नियुक्त किया जाता है, के बिना प्रभाव शून्य होंगे।[1] इसी प्रकार ग्रामीण–नगरीय सम्बन्ध समिति ने भी नगरीय संस्थाओं के कार्मिक प्रशासन के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त किए हैं कि "प्रभावी स्थानीय सेवा के आवश्यक उत्तरदायित्वों में कर्मचारियों की निष्ठा, दक्षता, निष्पक्षता और कर्तव्यों के प्रति समर्पण आदि की गणना की जा सकती है। इन सब गुणों की पूर्ति कर्मचारियों के माध्यम से की जा सकती है जो योग्यता के आधार पर स्थायी रूप से, पद

की सुरक्षा और पदोन्नति की आवश्यक संभावना दर्शाते हुए उचित और पर्याप्त वेतन शृंखला में संगठित किए गए हैं।"[2]

नगरीय प्रशासन भी कार्यों के आधिक्य की समस्या से ग्रस्त हो गया है। प्रशासनिक कार्यों में बढ़ती जटिलता के कारण नगरीय प्रशासन के संचालन हेतु व्यावसायिक और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता पड़ने लग गई है। नगरीय संस्थाओं से अब देशभर में न केवल सफाई, रोशनी और जल वितरण जैसे प्राथमिक और अनिवार्य कार्यों के निष्पादन की ही अपेक्षा की जाती है अपितु उनसे अब गरीबी के उन्मूलन हेतु प्रायोजित विभिन्न कार्यक्रमों में भी सक्रिय भूमिका निभाने की आशा की जाती है। यही नहीं नगरीय निकायों के स्तर पर विभिन्न निर्माण कार्य होने लगे हैं, पर्यावरण संरक्षण के विभिन्न कार्यक्रम भी इस स्तर पर संचालित किए जाने लगे हैं, और गरीबी की सीमा रेखा से नीचे रहने वाले लोगों को आवास इत्यादि बनाकर देने, शौचालयों का उन्नत किस्म से निर्माण तथा सफाई एवं सुरक्षा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रखरखाव किया जाने लगा है। नगरीय संस्थाओं के दायित्वों में आये इस परिवर्तन के कारण इन संस्थाओं में अप्रशिक्षित और अदक्ष कर्मचारियों के स्थान पर कुशल और दक्ष तथा तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता बढ़ गई है। यह सुविदित है कि नागरिक सेवाओं का स्तर नियुक्त किए गए कर्मचारियों की योग्यता पर निर्भर करता है। वस्तुतः नगरीय संस्थाओं द्वारा निष्पादित नगरीय सेवाओं के कुशल संपादन में जिन गुणों की आवश्यकता कार्मिक वर्ग में वांछनीय होती है, उनका उस वर्ग में प्रायः अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस स्थिति का कारण यह है कि संपूर्ण देश में नगरीय प्रशासन में सुसंगठित तथा प्रभावी कार्मिक व्यवस्था का अभाव है। राजस्थान भी इस स्थिति का अपवाद नहीं है। इसी संदर्भ में, इस अध्याय में नगरीय संस्थाओं में कार्मिक प्रशासन की समस्याओं में उनके वर्गीकरण, भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण एवं पदोन्नति व्यवस्था तथा वेतन और अन्य सेवा शर्तों पर विचार किया जा रहा है।

संविधान के अंतर्गत स्थानीय शासन अभी भी राज्य सूची का विषय है।[3] इसी कारण भारतवर्ष में सभी राज्यों में नगरीय स्थानीय शासन की संस्थाओं में कर्मचारी वर्ग के संदर्भ में भिन्न–भिन्न प्रणालियां प्रवर्तित हैं। वर्तमान में नगर निकायों के कार्मिक प्रशासन के सम्बन्ध में जो विभिन्न पद्धतियाँ या प्रणालियां विभिन्न राज्यों में अपनाई हुई हैं उन्हें प्रमुख रूप से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है :

1. पृथक् कार्मिक प्रणाली

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक नगरीय इकाई अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करने और उनकी सेवा शर्तों को विनियमित करने के लिए पूर्णतः अधिकृत और स्वतंत्र होती है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति चूंकि एक विशिष्ट नगरपालिका या नगरीय इकाई में होती है इसलिए किसी अन्य नगरीय इकाई में उन्हें स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। नगरीय निकायों द्वारा प्रायः निम्नस्तरीय पदों के लिए यह प्रणाली अपनाई जाती है।

इस प्रणाली का प्रमुख गुण यह है कि यह "स्वशासन" की भावना और "स्वायत्तता" की अवधारणा के अनुरूप है किन्तु इस प्रणाली के अपनाए जाने के कारण यह अनुभव

किया गया है कि स्थानीय शासन में कर्मचारी वर्ग की भर्ती से लूट खसोट की प्रवृत्ति को बल मिला है। ब्रिटेन तथा भारत में अधीनस्थ स्तर के कर्मचारी वर्ग के सम्बन्ध में नगरीय संस्थाओं में इस प्रणाली को अपनाया गया है।

2. एकीकृत कार्मिक प्रणाली

इस पद्धति के अन्तर्गत नगरीय निकायों के कतिपय पदों या सभी प्रकार के कार्मिक पदों के लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए एक सेवा होती है जिसका प्रशासनिक विनियमन और नियंत्रण सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। इस प्रणाली में राज्य स्तर पर नगरीय निकाय के विभिन्न सेवा संवर्गों के लिए कर्मचारियों की भर्ती की जाती है और उन्हें राज्यों के कार्यकुशल नगरीय निकायों में कहीं भी नियुक्त और स्थानान्तरित किया जा सकता है। ये कर्मचारी केवल नगरीय प्रशासन के लिए ही निर्धारित किए जाते हैं और नगरीय प्रशासन की इकाइयों में ही पूरे राज्य में कहीं भी स्थानान्तरित हो सकते हैं।

इस प्रणाली में चूंकि नगरीय संस्थाओं में कर्मचारी राज्य स्तर पर राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं जिससे इन संस्थाओं को योग्य कर्मचारियों की सेवाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु इस प्रणाली की आलोचना यह की जाती है कि इस प्रणाली को अपनाए जाने से स्थानीय शासन इकाइयों की स्वायत्तता निर्णायक सीमा तक राज्य सरकार के नियंत्रण में हो जाती है। इस प्रणाली की एक कमी यह भी है कि ऐसे कर्मचारी किसी एक संस्था के प्रति अपनी निष्ठा विकसित नहीं कर पाते और जब किसी एक इकाई में कार्य करते समय वे उसके कार्य को पूरी तरह समझकर अपनी ओर से तात्विक योगदान करने की स्थिति में होते हैं तो ऐसे समय उनके किसी अन्य इकाई में स्थानान्तरण के आदेश हो जाते हैं। श्रीलंका, तंजानिया, कीनिया, भारत में राजस्थान, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश इत्यादि ऐसे राज्य हैं जिन्होंने इस प्रणाली को अपनाया है।

3. सम्मिलित कार्मिक प्रणाली

इस पद्धति के अन्तर्गत नगरीय निकायों के कर्मचारियों के लिए कोई विशेष प्रणाली नहीं अपनाई जाती अपितु राज्य सरकार के विभिन्न प्रशासकीय विभागों और स्थानीय निकायों में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारी एक ही संवर्ग से लिए जाते हैं। समूचे राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था में से कर्मचारियों को स्थानीय निकायों में भेजा जाता है और उन्हें स्थानीय निकायों से राज्य प्रशासन के किसी अन्य विभाग में नियुक्त और स्थानान्तरित किया जा सकता है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि राज्य सरकार का कर्मचारी वर्ग और स्थानीय निकाय का कर्मचारी वर्ग एक ही सेवा के अंग होते हैं और उनका स्थानान्तरण स्थानीय निकायों में ही नहीं अपितु राज्य सरकार के विभिन्न प्रशासकीय विभागों में कहीं भी किया जा सकता है।

इस प्रणाली को अपनाए जाने से स्थानीय संस्थाओं को प्रशासनिक सेवा के दक्ष अधिकारियों की सेवा का उपयोग करने का अवसर मिल जाता है और उनकी प्रशिक्षित दक्षता से स्थानीय इकाइयां अपनी सेवाओं में सुधार करने में सफल रहती हैं। किन्तु इस

प्रणाली के अपनाए जाने से स्थानीय इकाइयों का नौकरशाहीकरण हो जाता है और स्थानीय शासन के माध्यम से लोकतान्त्रिक भावना का जो विस्तार धरातल तक किए जाने की आकांक्षा स्थानीय स्वशासन की अवधारणा में की जाती है वह फलीभूत नहीं हो पाती। भारत एवं फ्रांस में इस प्रणाली को अपनाया गया है।

प्रश्न यह नहीं है कि नगर निकायों को उपर्युक्त वर्णित कार्मिक प्रणालियों में से किस कार्मिक प्रणाली को अपनाना चाहिए। इसके विपरीत मूल प्रश्न यह है कि वह कौन सी कार्मिक प्रणाली है जो कर्मचारी वर्ग की दृष्टि से उन गुणों या आदर्शों की पूर्ति करती है जो किसी कुशल और सक्षम कार्मिक व्यवस्था में अपेक्षित होते हैं। यदि कोई देश अपने यहाँ लोकतंत्र के गुणों को आम आदमी तक पहुँचाना चाहता है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश को अपनी स्थानीय शासन की प्रणाली को लोकतान्त्रिक स्वरूप देना होगा। लोकतान्त्रिक स्वरूप को सुदृढ़ करने के लिए यह अनिवार्य है कि स्थानीय शासन की इकाइयों की प्रशासकीय व्यवस्था कुशल और सक्षम बने। इसीलिए यह विचारणीय है कि स्थानीय शासन की इकाइयों में अपनाई जाने वाली कार्मिक प्रणाली में कौन से गुण होने चाहिए जिससे उसकी परिगणना कुशल और योग्य कार्मिक प्रणाली में की जा सकती है। विद्वानों ने कुशल और योग्य कार्मिक प्रणाली के निम्नांकित गुण बताए हैं:[4]

1. स्थानीय शासन के पद, वेतन एवं पदोन्नति की संभावना की दृष्टि में उतने ही आकर्षक होने चाहिए जितने कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकार के पद होते हैं।

2. भर्ती का एक मात्र आधार योग्यता को बनाया जाना चाहिए। इसके साथ–साथ प्रत्याशी के चारित्रिक गुणों, विशेष रूप से ईमानदारी को भी पर्याप्त महत्व दिया जाना चाहिए।

3. सेवा में योग्यता तथा वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति प्राप्त होने की प्रत्याशा होनी चाहिए।

4. कर्मचारियों को इस बात के लिए भी आश्वस्त किया जाना चाहिए कि उन्हें राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के दबावों के कारण सताया नहीं जाएगा।

5. कर्मचारी वर्ग स्थानीय शासन की इकाइयों में परस्पर स्थानान्तरित हों क्योंकि ऐसा होने से उन्हें विविध प्रकार का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इससे एक लाभ यह भी होगा कि यदि अधिकारियों/कर्मचारियों तथा निर्वाचित पदाधिकारियों में किन्हीं कारणों से समन्वय और सहयोग नहीं बन पा रहा है तो स्थानांतरण के माध्यम से कर्मचारियों का स्थान बदला जाना संभव हो ताकि इन दोनों वर्गों के पारस्परिक संबंधों को कटु होने से बचाया जा सके। यद्यपि इस प्रक्रिया में यह सुनिश्चित किया जाना भी आवश्यक है कि कर्मचारियों का स्थानान्तरण केवल राजनीतिक आधार पर नहीं किया जाएगा और स्थानांतरण की आवृत्ति भी विवेकपूर्न तरीके से सीमित रखी जाएगी।

6. अधिकारियों/कर्मचारियों को उनके सेवाकाल की अवधि में प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्थाएं की जाए जिससे कि वें नागरिक सेवाओं का प्रभावी निष्पादन करने के लिए अपनी क्षमताओं में यथोचित वृद्धि कर सकें।

7. नागरिक अधिकारियों को यथासंभव उस इकाई के प्रति निष्ठावान होना चाहिए जिसकी सेवा में वे नियुक्त किए गए हैं। उन्हें चाहिए कि वे नगरीय प्रशासन के निर्वाचित पदाधिकारियों को परामर्श देते समय पक्षपात या अन्य किसी प्रकार के दबाव से मुक्त रहकर कार्य करें। उन्हें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि निर्वाचित पदाधिकारियों के द्वारा विनिर्मित नीतियों और लिए गए निर्णयों को निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करें।

8. स्थानीय शासन के निर्वाचित पदाधिकारियों और कार्मिकों अर्थात् सरकारी और गैर सरकारी पदाधिकारियों में सौहार्द्रपूर्ण संबंधों की स्थापना के लिए संस्थागत रूप से औपचारिक और अनौपचारिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

9. अधिकारियों और कर्मचारियों को सदैव जन आकांक्षाओं और समुदाय की इच्छाओं के प्रति संवेदनशील होना चाहिए जिनकी सेवा करने के लिए वे नियुक्त किए गए हैं।

राजस्थान की नगरीय संस्थाओं में कार्मिक प्रशासन

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम में राज्य सरकार को इस बात के लिए अधिकृत किया गया है कि इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के निमित्त वह नियम बना सकेगी।[5] अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार ने राजस्थान की नगरीय संस्थाओं के कार्मिकों की सेवाओं के नियमन के लिए निम्नांकित तीन सेवा नियमों का निर्माण किया है :

1. राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम, 1963
2. राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ और लिपिक वर्गीय) सेवा नियम 1963
3. राजस्थान नगरपालिका (चतुर्थ श्रेणी) सेवा नियम, 1964

इन नियमों के अन्तर्गत क्रमशः राजस्थान नगरपालिका सेवा के राजपत्रित अधिकारियों और उनमें विभिन्न प्रवर्गों के पदों की सेवा शर्तों, राजस्थान की नगरपालिकाओं में अधीनस्थ और लिपिक वर्गीय संवर्गों के सेवा नियमों और राज्य की नगरपालिकाओं में चतुर्थ श्रेणी कार्मिकों से सम्बन्धित सेवा नियमों का प्रावधान किया गया है। इन सभी नियमों में उपर्युक्त सभी प्रकार के कार्मिकों के वर्गीकरण, उनकी भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण एवं सेवा शर्तों के संबंध में प्रावधान किए गए हैं।

नगरीय निकायों में कार्मिक प्रशासन से सम्बन्धित इस अध्याय की विषय वस्तु का विवरण–विश्लेषण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है :

वर्गीकरण

राजस्थान में नगरीय संस्थाओं के अधिकारियों/कर्मचारियों के लिए राज्य सरकार ने अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न वर्षों में जो सेवा नियम निर्मित किए हैं उनमें प्रत्येक वर्ग में अपने से सम्बन्धित कार्मिकों के वर्गीकरण की सूची दी गई है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इनका सार–संक्षेप इस प्रकार है :

(अ) राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम (1963) के अन्तर्गत वर्गीकरण

राजस्थान नगरपालिका सेवा राजपत्रित सेवाएं हैं। इस सेवा के विभिन्न प्रवर्गों के पदों के निर्धारण करने का अधिकार राज्य सरकार में निहित है।[6] अपने इस अधिकार का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार ने इस सेवा के अन्तर्गत जिन पदों का सृजन किया है, वे इस प्रकार हैं :

1. **प्रशासनिक अधिकारी**

(i) मुख्य कार्यपालक अधिकारी , नगर निगम
(ii) आयुक्त, नगर परिषद् व नगर निगमों के लिए
(iii) कार्यपालक अधिकारी, वर्ग II (iv) कार्यपालक अधिकारी, वर्ग III
(v) कार्यपालक अधिकारी, वर्ग IV

2. **तकनीकी अधिकारी**

(i)	अतिरिक्त मुख्य अभियंता (सिविल)	(ii)	अधीक्षण अभियंता (सिविल)
(iii)	अधिशासी अभियंता (सिविल)	(iv)	सहायक अभियंता (सिविल)
(v)	कनिष्ठ अभियंता	(vi)	राजस्व अधिकारी, ग्रेड I
(vii)	राजस्व अधिकारी, ग्रेड II	(viii)	स्वास्थ्य अधिकारी, (चयनित वेतनमान)
(ix)	स्वास्थ्य अधिकारी, (वरिष्ठ वेतनमान)	(x)	स्वास्थ्य अधिकारी, (सामान्य वेतनमान)
(xi)	चिकित्सा अधिकारी	(xii)	वरिष्ठ लेखाधिकारी
(xiii)	लेखाधिकारी	(xiv)	सहायक लेखाधिकारी
(xv)	मुख्य अग्निशमन अधिकारी	(xvi)	अग्निशमन अधिकारी
(xvii)	विधि अधिकारी		

(ब) राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिक वर्गीय) सेवा नियम, 1963 के अन्तर्गत वर्गीकरण :

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार ने राज्य की नगरीय निकायों के लिए अधीनस्थ और मंत्रालयिक कर्मचारियों के सेवा नियम भी घोषित किए हैं।[7] इन सेवा नियमों के अन्तर्गत निम्न पदों का सृजन राज्य की नगरीय निकायों में कार्यों के निष्पादन के लिए किया गया है।

(क) अधीनस्थ सेवा

1. **राजस्व से सम्बन्धित पद**

(i) कर निर्धारक (असेसर) (ii) राजस्व निरीक्षक
(iii) सहायक राजस्व निरीक्षक (iv) नाकेदार/मोहर्रिर
(v) उप नाकेदार/नायाब मोहर्रिर

2. **स्वास्थ्य से संबंधित पद**

(i) मुख्य सफाई निरीक्षक (ii) सहायक सफाई निरीक्षक

(iii) सफाई निरीक्षक, ग्रेड I
(iv) सफाई निरीक्षक, ग्रेड II
(v) कम्पोस्ट निरीक्षक
(vi) होम्योपैथिक डॉक्टर
(vii) वैद्य
(viii) उप–वैद्य
(ix) केमिस्ट
(x) प्रयोगशाला सहायक
(xi) एक्स–रे तकनीशियन
(xii) कम्पाउन्डर
(xiii) नर्स
(xiv) मिड वाइफ
(xv) टीकाकार
(xvi) दरोगा

3. विधिक मामलों में सम्बन्धित पद

(i) पैरोकार
(ii) पैरोकार, ग्रेड II

4. सार्वजनिक निर्माण विभाग से सम्बन्धित पद

(i) अभियांत्रिकी अधीनस्थ
(ii) नक्शानवीस
(iii) नक्शानवीस एवं सर्वेक्षक
(iv) मिस्त्री / सर्वेक्षक
(v) गजधर
(vi) ट्रेसर
(vii) रोड रोलर चालक

5. मोटर गैराज से संबंधित पद

(i) गैराज अधीक्षक एवं मुख्य मैकेनिक
(ii) मैकेनिक
(iii) चालक (मोटर यान)

6. उद्यान और पार्क से संबंधित पद

(i) उद्यान पर्यवेक्षक / निरीक्षक
(ii) पम्प चालक / पम्प प्रचालक

7. स्ट्रीट लाइट से सम्बन्धित पद

(i) प्रकाश निरीक्षक
(ii) सहायक प्रकाश निरीक्षक

8. अग्निशमन से संबंधित पद

(i) सहायक अग्निशमन–अधिकारी
(ii) टिण्डल / मुख्य फायरमैन
(iii) फायरमैन
(iv) चालक अग्निशमन वाहन

9. जल संकर्म से सम्बन्धित पद

(i) जल संकर्म पर्यवेक्षक
(ii) फिटर अटेन्डेन्ट
(iii) मैकेनिक / इलेक्ट्रिशियन
(iv) पम्प चालक / प्रचालक, ग्रेड I व II
(v) मिस्त्री फिटर लाइनमैन
(vi) मीटर रीडर एवं वित्त लिपिक
(vii) हेल्पर, ग्रेड I
(viii) मीटर निरीक्षक

10. पुस्तकालय से संबंधित पद

(i) पुस्तकालयाध्यक्ष

(ख) लिपिक वर्गीय सेवा

(i) कार्यालय अधीक्षक
(ii) कार्यालय सहायक मुख्य लिपिक
(iii) वरिष्ठ लिपिक
(iv) कनिष्ठ लिपिक
(v) शीघ्र लिपिक
(vi) शीघ्र लिपिक कनिष्ठ
(vii) स्टेनो टाइपिस्ट
(viii) लेखाकार
(ix) कनिष्ठ लेखाकार
(x) आन्तरिक संपरीक्षक
(xi) टाइमकीपर
(xii) जन्म एवं मृत्यु लेखक

(ग) राजस्थान नगरपालिका (चतुर्थ श्रेणी) सेवा नियम, 1964 के अन्तर्गत वर्गीकरण

राज्य सरकार द्वारा घोषित राजस्थान नगरपालिका (चतुर्थ श्रेणी) सेवा नियम, 1964 के अन्तर्गत निम्न पदों का सृजन राज्य के नगरीय निकायों में कार्य निष्पादन के लिए किया गया है।[8]

(i) चपरासी
(ii) फर्राश
(iii) साइकिल सवार
(iv) तामील कुनिन्दा
(v) चौकीदार
(vi) जलधारी
(vii) वॉचमैन
(viii) कुली
(ix) माली
(x) गाड़ीवान
(xi) खलासी
(xii) बेलदार
(xiii) क्लीनर
(xiv) मिस्त्री
(xv) पुस्तकालय अनुचर
(xvi) नाकेदार
(xvii) पम्प चालक का हेल्पर
(xviii) कीमैन
(xix) जमादार
(xx) गेजरीडर
(xxi) फिटर
(xxii) टर्नर
(xxiii) ब्लैक स्मिथ
(xxiv) रंगसाज
(xxv) बढ़ई
(xxvi) सफाई कर्मी
(xxvii) वायरमैन
(xxviii) अड्रेमा प्रचालक
(xxix) बस्ताबरदार
(xxx) राजगीर
(xxxi) चौधरी
(xxxii) सहायक चौधरी
(xxxiii) पिकर
(xxxiv) दफ्तरी
(xxxv) वार्डबॉय
(xxxvi) हेल्पर
(xxxvii) अन्य वर्गीकृत चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी

राजस्थान सरकार द्वारा नवनिर्मित राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 की धारा 332 में कहा गया है कि राज्य सरकार नगर निगम निकायों में राजस्थान नगरपालिका प्रशासनिक सेवा के निम्नलिखित अधिकारियों को नियुक्त करेगी :

(i) प्रत्येक नगर निगम के लिए एक मुख्य कार्यपालक अधिकारी,

(ii) प्रत्येक नगर निगम और नगर परिषद् के लिए ऐसी संख्या में आयुक्त, जो अवधारित की जाये,
(iii) प्रत्येक नगरपालिक बोर्ड के लिए कार्यपालक अधिकारी
(iv) ऐसे प्रत्येक नगर निगम या नगर परिषद् के लिए एक सचिव,
(v) किसी भी पदनाम का कोई भी अन्य प्रशासनिक अधिकारी, जो आवश्यक समझा जाये।

भर्ती

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 की धारा 328 में यह कहा गया है कि इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् सम्पूर्ण राज्य के लिए राज्य सरकार द्वारा राजस्थान नगरपालिका सेवा के नाम से एक सेवा का गठन किया जाएगा। यह सेवा विभिन्न प्रवर्गों या श्रेणियों में विभाजित की जाएगी। तथा उसमें प्रशासनिक व तकनीकी दोनों प्रकार के अधिकारी समाविष्ट होंगे।

राजस्थान नगर पालिका अधिनियम, 1959 में प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार ने उपर्युक्त वर्णित जिन तीन सेवा नियमों का निर्माण किया है उनमें भर्ती की प्रक्रिया के संबंध में भी प्रावधान किए गए हैं। पृथक्–पृथक् सेवा संवर्ग के लिए पृथक्–पृथक् भर्ती की प्रक्रिया निर्धारित की गई है। प्रत्येक सेवा संवर्ग में पदों की भर्ती प्रक्रिया निम्न प्रकार है :

1. राजस्थान नगर पालिका सेवाः नगरीय संस्थाओं में इस संवर्ग में प्रशासनिक एवं तकनीकी अधिकारी वर्ग को सम्मिलित किया गया है। ये सभी सेवाएँ राजपत्रित सेवाएँ होती हैं।[9] इन सेवाओं में रिक्त पदों को निम्नांकित रीतियों से भरे जाने का प्रावधान राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम, 1963 के नियम 7 में किया गया है :

1. प्रत्यक्ष या सीधी भर्ती,
2. पदोन्नति द्वारा भर्ती,
3. स्थानान्तरण या प्रतिनियुक्ति या अस्थायी भर्ती

1. प्रत्यक्ष या सीधी भर्तीः राजस्थान नगरपालिका सेवा संवर्ग के जिन पदों पर नियुक्ति प्रत्यक्ष भर्ती प्रक्रिया से की जाती है उनका विवरण सेवा नियम में अनुसूची में वर्णित किया गया है।[10] इनका विवरण निम्न प्रकार है :

	पद	प्रत्यक्ष रीति से भरे जाने वाले पद
(क)	कार्यपालक अधिकारी, वर्ग IV	100%
(ख)	सहायक अभियन्ता (सिविल)	50%
(ग)	राजस्व अधिकारी, ग्रेड II	100%
(घ)	स्वास्थ्य अधिकारी (सामान्य वेतनमान)	100%
(ङ)	चिकित्सा अधिकारी	100%
(च)	विधि अधिकारी	50%

प्रत्यक्ष भर्ती की प्रक्रियाः राजस्थान नगरपालिका सेवा संवर्ग मे प्रत्यक्ष भर्ती राजस्थान लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है। राज्य सरकार से सेवा में सीधी भर्ती के लिए अध्यपेक्षा प्राप्त होने पर आयोग द्वारा राजपत्र में ऐसी रिक्तियों को विज्ञापित करके और ऐसी रीति से जो आयोग उचित समझे, आवेदन पत्र आमंत्रित किए जाते हैं।[11]

प्रकाशित विज्ञापन में पद के नाम व संख्या के साथ–साथ शैक्षणिक योग्यता, आयु एवं अन्य सेवा शर्तों का उल्लेख किया जाता है। नियत तिथि के पश्चात् प्राप्त आवेदन–पत्रों की संवीक्षा आयोग द्वारा की जाती है। योग्य अभ्यर्थियों की योग्यता को जाँचने के लिए आयोग द्वारा उनकी परीक्षा/साक्षात्कार लिया जाता है। आयोग द्वारा योग्य प्रत्याशियों की सूची योग्यता क्रमानुसार तैयार की जाती है। आयोग द्वारा योग्यता सूची में विज्ञापित रिक्तियों के 50 प्रतिशत तक उपयुक्त अभ्यर्थियों के नाम आरक्षित सूची में रखे जाते हैं। आयोग द्वारा तैयार सूची को सरकार या नियुक्ति प्राधिकारी को अग्रेषित किया जाता है। नियुक्ति प्राधिकारी यदि उपयुक्त समझे तो आयोग द्वारा प्रेषित सूची के अनुरूप नियुक्ति के आदेश जारी करता है। इस प्रकार राजस्थान लोक सेवा आयोग भर्ती के लिए उपयुक्त प्रत्याशियों का पैनल तैयार कर केवल परामर्श देने का कार्य करता है।

2. पदोन्नति द्वारा भर्ती : राजस्थान नगर पालिका सेवा संवर्ग के अधिकांश पदों पर भर्ती इसी रीति से की जाती है। पदोन्नति के लिए वरिष्ठता एवं योग्यता दोनों ही सिद्धांतों को अपनाया जाता है। जिन पदों पर पदोन्नति द्वारा भर्ती की जाती है उन्हें राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम में अनुसूची में बताया गया है।[12] इसके अनुसार निम्नांकित पद पदोन्नति के माध्यम से भरे जाते हैं :

	पद	प्रत्यक्ष रीति से भरे जाने वाले पद
(i)	आयुक्त, नगरपरिषद	100%
(ii)	कार्यपालक अधिकारी वर्ग II	100%
(iii	कार्यपालक अधिकारी वर्ग III	100%
(iv)	अतिरिक्त मुख्य अभियन्ता (सिविल)	100%
(v)	अधीक्षण अभियन्ता (सिविल)	100%
(vi)	अधिशासी अभियन्ता (सिविल)	100%
(vii)	सहायक अभियन्ता (सिविल)	50%
(viii)	राजस्व अधिकारी ग्रेड I	100%
(ix)	स्वास्थ्य अधिकारी (चयनित वेतनमान)	100%
(x)	स्वास्थ्य अधिकारी (वरिष्ठ वेतनमान)	100%
(xi)	चिकित्सा अधिकारी	100%
(xii)	लेखाधिकारी	100%
(xiii)	मुख्य अग्निशमन अधिकारी	100%
(xiv)	विधि अधिकारी	50%

पदोन्नति प्रक्रिया

राजस्थान नगर पालिका सेवा नियम के अन्तर्गत स्थानीय शासन निदेशालय का निदेशक उन रिक्त पदों की संख्या का निर्धारण करता है जिन्हें पदोन्नति द्वारा भरा जाना अपेक्षित है। पदोन्नति के लिए निर्धारित एवं आवश्यक योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की एक सूची निदेशक द्वारा तैयार करवाई जाती है। निदेशक इस सूची को उनकी गोपनीय रिपोर्ट और निजी पत्रावलियों के साथ पदोन्नति समिति को प्रेषित करता है। पदोन्नति समिति में निम्नलिखित सदस्य होते हैं :

(अ) शासन सचिव, स्वायत्त शासन विभाग, **अध्यक्ष**

(ब) उपसचिव से अन्यून रैंक का नियुक्ति विभाग का प्रतिनिधि, **सदस्य**

(स) निदेशक, स्थानीय निकाय, **सदस्य सचिव**

पदोन्नति समिति, निदेशक द्वारा प्रेषित सूची में वर्णित प्रत्येक नाम पर विचार करती है और यदि आवश्यक हो तो इनका साक्षात्कार भी लेती है। विचार–विमर्श के पश्चात् समिति द्वारा एक सूची तैयार की जाती है जिसमें क्रमानुसार पदोन्नति दिए जाने वाले व्यक्तियों के नाम होते हैं। समिति से प्राप्त सूची को अंतिम रूप से नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा अनुमोदित किया जाता है। नियुक्ति प्राधिकारी अंतिम रूप से अनुमोदित सूची में व्यक्तियों को उस क्रम में, जिसमें उनको सूचियों में रखा गया है, लेते हुए, तब तक नियुक्तियां करेगा जब तक कि ऐसी सूचियां समाप्त या पुनर्विलोकित या यथास्थिति, पुनरीक्षित नहीं कर दी जाती।[13]

3. स्थानान्तरण या प्रतिनियुक्ति या अस्थायी भर्ती : राजस्थान नगरपालिका सेवा संवर्ग में रिक्त पदों की भर्ती के संबंध में सेवा नियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि ऐसे रिक्त पदों को राज्य सरकार के अन्य विभागों से स्थानान्तरण या प्रतिनियुक्ति द्वारा भी भरा जा सकता है। प्रत्यक्ष भर्ती या पदोन्नति भर्ती प्रक्रिया में विलम्ब होने पर रिक्त पदों पर अस्थायी नियुक्ति करने का भी अधिकार नियम के अन्तर्गत नियुक्ति प्राधिकारी को दिया गया है। लेकिन ऐसी अस्थायी नियुक्तियां 1 वर्ष से अधिक तभी जारी रह सकती है जब राजस्थान लोक सेवा आयोग इस संदर्भ में अपनी सहमति दे।[14]

(2) राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं लिपिक वर्गीय सेवा

राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिकवर्गीय सेवा) नियम, 1963 में इस सेवा संवर्ग के पदों पर भर्ती हेतु रीतियों के संबंध में प्रावधान किए गए है।[15] ये रीतियां निम्न हैं :

(i) प्रत्यक्ष भर्ती

(ii) पदोन्नति द्वारा भर्ती

(iii) स्थानान्तरण, प्रतिनियुक्ति और अस्थायी भर्ती

(i) प्रत्यक्ष भर्ती : राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं लिपिकीय वर्ग सेवा संवर्ग के 50 प्रतिशत पद इस रीति से भरे जाने का प्रावधान नियम में किया गया है।[16] सम्बन्धित नगरीय संस्था की परिषद् या कार्यपालक अधिकारी/आयुक्त प्रत्येक वर्ष के

प्रारम्भ में विभिन्न प्रवर्गों के अधीन संभावित रिक्तियों का, जो कि बजट में स्वीकृत हैं, विवरण तैयार करके स्थानीय शासन निदेशालय के क्षेत्रीय उपनिदेशक को प्रस्तुत करता है। उपनिदेशक द्वारा जिले की समस्त रिक्तियों को संकलित किया जाता है तथा जिला स्तर पर गठित सेवा चयन आयोग को प्रेषित किया जाता है।

यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि विनिश्चित नियमों में सेवा चयन आयोग का उल्लेख तो मिलता है किन्तु सेवा चयन आयोग बनाए जाने के विषय में न तो अधिनियम में कोई प्रावधान मिलता है और न ही इन सेवा नियमों में ऐसा कोई प्रावधान संकलित किया गया है। इस सम्बन्ध में राजस्थान पंचायत एवं स्वायत्त शासन अधीनस्थ सेवा आयोग के गठन की अधिसूचना प्रथम बार 5 अप्रैल 1974 को राजस्थान सरकार द्वारा जारी की गई थी। उसके पश्चात् इसमें विभिन्न अवसरों पर संशोधन एवं परिवर्तन किए गए हैं। राज्य सरकार ने राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् (संशोधन) नियम, 1987 पारित करके 1974 में गठित राजस्थान पंचायत एवं स्वायत्त शासन अधीनस्थ सेवा आयोग का विलोपन कर दिया। इसके पश्चात् अब राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिक वर्गीय) सेवा नियम 1963 में संशोधन करके राज्य सरकार ने एक अधिसूचना द्वारा नए सेवा चयन आयोग के गठन के संबंध में प्रावधान किए हैं, जिसके अनुसार सेवा चयन आयोग का संगठन निम्न प्रकार होगा :

1.	**अध्यक्ष**	निगम के मामलों में	खण्डीय आयुक्त या उसका नाम निर्देशित जो अपर खण्ड आयुक्त से नीचे की रैंक का न हो
		नगर परिषद्/बोर्ड के मामले में	जिलाधीश या उसका नाम निर्देशित जो अपर कलक्टर से नीचे की रैंक का न हो।
2.	**सचिव सदस्य**		उपनिदेशक (क्षेत्रीय)
3.	**सदस्य**		सम्बन्धित पीठासीन अधिकारी या उसका प्रतिनिधि या कार्यकारी अधिकारी

प्रत्यक्ष भर्ती के लिए सेवा चयन आयोग द्वारा निर्धारित प्रारूप में आवेदन पत्र आमंत्रित किए जाते हैं। प्राप्त आवेदन–पत्रों की आयोग द्वारा संवीक्षा की जाती है तथा योग्य अभ्यर्थियों को साक्षात्कार के लिए बुलाया जाता है। आयोग ऐसे अभ्यर्थियों की, जो पद के प्रत्येक ग्रेड या प्रवर्ग में नियुक्ति के लिए उपयुक्त समझे जाएं, नगरीय संस्थाओं के अनुसार सूची तैयार करता है। इस प्रकार से तैयार की गई सूची आयोग द्वारा सम्बन्धित नगरीय संस्था को अग्रेषित की जाती है। नगरीय संस्था का नियुक्ति प्राधिकारी आयोग द्वारा तैयार सूची में से उस क्रम में नियुक्त करता है जिस क्रम में अभ्यर्थियों के नाम सूची में आते हैं।

(ii) पदोन्नति द्वारा भर्ती : नगरीय संस्थाओं में अधीनस्थ एवं लिपिकीय वर्ग सेवा में सामान्यतः 50 प्रतिशत पदों की भर्ती पदोन्नति द्वारा होती है। जब भी सेवा की विभिन्न ग्रेडों और प्रवर्गों के रिक्त पदों को भरा जाना हो तो सम्बन्धित नगरीय संस्था, अपनी अनुशंसा, पदोन्नति के लिए पात्र व्यक्तियों की वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट और अन्य सेवा अभिलेखों के साथ पदोन्नति समिति को प्रस्तुत करती है। राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिकवर्गीय) सेवा नियम 1963 के नियम 23 के अनुसार प्रत्येक नगरीय संस्था में एक पदोन्नति समिति होती है जिसका गठन निम्न प्रकार होता है :

1. उपनिदेशक क्षेत्रीय, **अध्यक्ष**
2. नगरीय संस्था का महापौर/अध्यक्ष, **सदस्य**
3. मुख्य कार्यकारी अधिकारी/आयुक्त/कार्यकारी अधिकारी (सम्बन्धित नगरीय संस्था का), **सदस्य सचिव**

उपर्युक्त पदोन्नति समिति द्वारा नगरीय संस्था द्वारा भेजे गए नामों पर व उनके सेवा–अभिलेखों पर विचार–विमर्श किया जाता है। पदोन्नति समिति पदोन्नति के लिए अभ्यर्थियों का चयन करते समय निम्नांकित तत्त्वों को ध्यान में रखती है :

(क) तकनीकी योग्यताएं, जानकारी और अनुभव;
(ख) व्यवहार कुशलता, ऊर्जा और बुद्धिमत्ता;
(ग) ईमानदारी; और
(घ) सेवा का पूर्ण अभिलेख।

विचार–विमर्श के पश्चात् पदोन्नति समिति अपने विनिश्चय से सम्बन्धित नगरीय संस्था को सूचित करती है। पदोन्नति समिति से विनिश्चय प्राप्त होने पर नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा पदोन्नति के आदेश जारी किए जाते हैं।

(iii) स्थानान्तरण, प्रतिनियुक्ति या अस्थायी भर्ती : राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिक वर्गीय) सेवा नियम, 1963 में इस वर्ग के रिक्त पदों की भर्ती के संबंध में यह भी प्रावधान किया गया है कि आवश्यकता होने पर रिक्त पदों को राज्य सरकार के अन्य विभागों से स्थानान्तरण द्वारा या प्रतिनियुक्ति पर नियुक्त किया जा सकता है। उपर्युक्त सेवा नियम के नियम 27 में यह प्रावधान किया गया है कि नगरीय संस्थाओं में इस वर्ग में अस्थायी नियुक्ति भी की जा सकती है। अस्थायी नियुक्ति के लिए समीपस्थ नियोजन कार्यालय से अपेक्षित योग्यता रखने वाले अभ्यर्थियों की सूची आमंत्रित की जाती है जिसमें भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या के कम से कम 5 गुणा व्यक्तियों के नाम होते है। इसके अतिरिक्त किसी नगरीय संस्था का अपेक्षित योग्यता रखने वाला कर्मचारी भी आवेदन कर सकता है। नियुक्ति प्राधिकारी इन अभ्यर्थियों में ही, जिनके नाम नियोजन कार्यालय द्वारा भेजी गई सूची में है और ऐसे आवेदकों की सूची में से भी जो नगरपालिका कर्मचारी हैं, उपयुक्त अभ्यर्थियों की अस्थायी नियुक्ति करता है। इस प्रकार से की गई अस्थायी नियुक्ति अधिकतम 1 वर्ष के लिए की जाती है। 1 वर्ष से अधिक अवधि तक अस्थायी नियुक्ति जारी रखने के लिए सेवा चयन आयोग की सहमति आवश्यक होती है।

3. राजस्थान नगरपालिका चतुर्थ श्रेणी सेवा

राजस्थान नगरपालिका (चतुर्थ श्रेणी) सेवा नियम, 1964 के अन्तर्गत इस सेवा संवर्ग में भर्ती प्रत्यक्ष, पदोन्नति एवं स्थानान्तरण रीतियों से की जाती है। प्रत्यक्ष भर्ती हेतु सम्बन्धित नगरीय निकाय समीपस्थ नियोजन कार्यालय से उपयुक्त व्यक्तियों की सूची माँगता है जिसमें रिक्त पदों की संख्या के कम से कम पाँच गुना व्यक्तियों के नाम होते हैं। इस सूची के अनुसार ही नगरीय संस्था का अध्यक्ष/आयुक्त उपयुक्त समझे गए अभ्यर्थियों की नियुक्ति करता है। लेकिन नियम में यह प्रावधान किया गया है कि सफाई कर्मचारियों की नियुक्ति के संबंध में नियोजन कार्यालय से उपयुक्त व्यक्तियों की ऐसी नामावली मंगवाए जाने की आवश्यकता नहीं है तथा रिक्त स्थान की पूर्ति उम्मीदवार की उपयुक्तता पर विचार करने के पश्चात् कर ली जाती है।

इस सेवा संवर्ग के कुछ पद जैसे कार्यालय जमादार, सफाई जमादार एवं दफ्तरी, सेवाकाल की लम्बाई व पारस्परिक वरिष्ठता के आधार पर अर्थात् पदोन्नति द्वारा भरे जाने का प्रावधान है। राजस्थान नगरपालिका (चतुर्थ श्रेणी) सेवा नियम, 1964 के नियम 20 में यह प्रावधान किया गया है कि नगरीय सेवा में नियुक्त व्यक्ति का स्थानान्तरण ज्यों ही और जब भी आवश्यक समझा जाए उसी ग्रेड में और प्रवर्ग में एक नगरीय निकाय से दूसरे नगरीय निकाय में किया जा सकता है। इस प्रकार इस सेवा संवर्ग में स्थानान्तरण द्वारा भी भर्ती की जा सकती है।

प्रशिक्षण व्यवस्था

देश भर में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था का अभाव दृष्टिगोचर होता है। यही करण है कि स्थानीय शासन की संस्थाएं अकुशलता का प्रतीक बन गई हैं। स्थानीय शासन में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारियों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिए कोई सुव्यवस्थित तंत्र नहीं होने के कारण इन कर्मचारियों की कार्य क्षमता का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। वैसे भी स्थानीय शासन की संस्थाओं में नियोजित किए जाने वाले सभी कर्मचारी चूंकि विभिन्न राज्यों की सरकारों तथा विभिन्न नगरीय संस्थाओं के द्वारा नियोजित किए जाते हैं इसलिए उनकी प्रकृति, गुण और चरित्र में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। स्थानीय शासन के कर्मचारियों के लिए जो अधिनियम राज्य की सरकारों के द्वारा पारित किया गया है तथा उन अधिनियमों के अन्तर्गत जो नियम निर्मित किए हैं उन सब में अधिकारियों की भर्ती, पदोन्नति, वेतन तथा अन्य सेवा शर्तों के विषय में तो विशद् प्रावधान देखने को मिलते हैं, किन्तु प्रशिक्षण के विषय में उनमें कोई व्यवस्था की हुई नहीं पाई जाती है।

स्थानीय शासन को लोकतंत्र की आधारशिला माना जाता है। स्थानीय स्तर पर गठित की जाने वाली संस्थाओं में जो कर्मचारी नियोजित किए जाते हैं उनके विषय में यह माना जाता है कि उनमें विशेष मानसिक दक्षता के स्थान पर शारीरिक दक्षता और श्रम की आवश्यकता अधिक होती है। किन्तु यह धारणा इसलिए सही नहीं मानी जा

सकती क्योंकि आजकल शासन के किसी भी निकाय के द्वारा नागरिकों की सेवा के लिए जो कार्य निष्पादित किए जाते हैं उन्हें अधिक गुणवत्ता से सम्पन्न किया जा सकता है यदि उन्हें सम्पन्न करने के लिए उत्तरदायी अधिकारियों तथा कर्मचारियों को इस हेतु प्रशिक्षित किया जाए। किन्तु दुर्भाग्य से, किसी भी राज्य की सरकार ने इस तथ्य को पूर्णतः आत्मसात् नहीं किया है। यही कारण है कि भारत के किसी भी राज्य में स्थानीय शासन के कर्मचारियों के प्रशिक्षण की कोई ऐसी आधारभूत सुदृढ़ व्यवस्था विकसित नहीं हो सकी है जिसे स्थानीय शासन के कर्मचारियों के प्रशिक्षण की आदर्श या मानक व्यवस्था माना जा सकता हो।

नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा **डिप्लोमा इन लोकल सैल्फ गवर्नमेन्ट** नाम का पाठ्यक्रम संचालित किया जाता है जो नगरीय स्थानीय प्रशासन के भावी कार्मिकों को शिक्षण और प्रशिक्षण प्रदान करता है। वैसे तो देश के अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं जिनमें स्थानीय स्वायत्त शासन से सम्बन्धित पाठ्य सामग्री भी उनका अनिवार्य अंग होती है किन्तु इसे लोक प्रशासन और स्थानीय प्रशासन का शिक्षण तो माना जा सकता है पर प्रशिक्षण की कोटि में संभवतः इसे सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

मुम्बई में स्थापित **अखिल भारतीय स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थान (ऑल इंडिया इन्स्टीट्यूट ऑफ लोकल सैल्फ गवर्नमेंट)** अधीनस्थ एवं निम्नवर्गीय कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। इसी तरह **भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली** द्वारा भी स्थानीय संस्थाओं के अधिकारियों के लिए नियमित रूप से कुछ प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं जो देश भर में स्थानीय संस्थाओं के अधिकारियों के बीच काफी लोकप्रिय रहे हैं। किन्तु अखिल भारतीय स्तर पर कार्यरत इन दोनों ही प्रशिक्षण संस्थाओं के द्वारा स्थानीय शासन के प्राधिकारियों या कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की कोई व्यवस्थित योजना क्रियान्वित नहीं की गई है जिसकी देश में बहुत आवश्यकता है।

1963 में इस विषय में स्थापित नुरुद्दीन समिति ने यह सुझाव दिया था कि केन्द्रीय स्तर पर एक ऐसे संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए, जो स्थानीय संस्थाओं के कार्मिकों को प्रशिक्षण की तत्काल व्यवस्था कर सके।[17] समिति ने यह सुझाव भी दिया था कि राज्यों के स्तर पर भी ऐसे प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किए जाएँ। यदि कोई राज्य वित्तीय कठिनाइयों के कारण इस प्रकार के प्रशिक्षण संस्थान स्थापित न कर सके तो उस स्थिति में दो या दो से अधिक पड़ोसी राज्य मिलकर ऐसे संस्थान की स्थापना का निर्णय कर सकते हैं।[18] समिति का सुझाव था कि इस प्रकार स्थापित संस्थानों की स्थापना के माध्यम से स्थानीय शासन के सरकारी–गैर सरकारी दोनों प्रकार के प्राधिकारियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। विशेष तौर से केन्द्रीय संस्थान को निम्नलिखित प्रशिक्षण कार्य को प्राथमिकता से आयोजित करने का सुझाव भी दिया गया :[19]

1. तकनीकी अधिकारियों के लिए विशेष अग्रिम पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना,
2. राज्य संस्थाओं के प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना,
3. पुनश्चर्या पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) की व्यवस्था करना,
4. राज्यों के संस्थानों द्वारा आयोजित किए जाने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करना,
5. एक केन्द्रीय पुस्तकालय की व्यवस्था करना, तथा
6. सूचनाओं के एकत्रीकरण एवं उनके प्रसारण की इकाई के रूप में कार्य करना।

इसी प्रकार राज्यों में स्थापित किए जाने वाले प्रशिक्षण संस्थानों के उत्तरदायित्वों तथा प्रमुख कार्यक्रमों के विषय में भी प्रतिवेदन में यह कहा गया कि ये संस्थाएं राज्यों के लिए मध्यम एवं निम्न श्रेणी के लिए उपयोगी प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संचालन करेंगी तथा विशेष तौर से क्षेत्रीय समस्याओं के अनुसंधान पर बल दिया जाना चाहिए।

नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में शोध और अनुसंधान के महत्त्व को रेखांकित करते हुए 1970 के दशक में केन्द्रीय स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन एवं नगरीय विकास मंत्रालय ने राष्ट्रीय स्तर पर एक **नगरीय प्रशासन प्रशिक्षण तथा शोध केन्द्र** की स्थापना की है, जो नई दिल्ली में कार्यरत है। इस केन्द्र को अब **नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ अरबन अफेयर्स** के रूप में जाना जाता है। यह केन्द्र नगरीय प्रशासन को स्फूर्ति तथा बल प्रदान करने के लिए नगरीकरण से उत्पन्न नगरीय प्रशासन की समस्याओं के प्रति जन साधारण में जागृति लाने के उद्देश्य से शोध तथा नगरीय समस्याओं पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधान को प्रोत्साहन देता है और नगरीय समस्याओं पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधान स्वयं भी आयोजित करता है। इस केन्द्र ने नगरीय समस्याओं के संदर्भ में जो अनुसंधान किए हैं उनसे भारत के नगरीय विकास मंत्रालय को अपनी नीति निर्धारित करने में पर्याप्त सहायता मिली है। यह केन्द्र प्रमुख रूप से निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करता है :[20]

1. नगरीय विकास तथा नगरीय प्रशासन के प्रशिक्षण हेतु पाठ्यक्रमों का आयोजन,
2. नगरीय समस्याओं विशेष तौर पर नगरीय निकायों से सम्बद्ध समस्याओं पर गोष्ठियों और सम्मेलनों का आयोजन,
3. नगरीय शासन से सम्बद्ध समस्याओं पर शोध/अनुसंधान,
4. नगरीय स्थानीय शासन तथा इसके प्रशासन के संबंध में केन्द्र सरकार को परामर्श,
5. सूचना संकलन एवं विनिमय केन्द्र के रूप में कार्य, तथा
6. नगरीय शासन तथा प्रशासन के अध्ययन, प्रशिक्षण तथा शोध में संलग्न विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थानों से सहयोग एवं समन्वय।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर नगरपालिका कार्मिकों को प्रशिक्षण प्रदान कर रही कतिपय संस्थाएँ इस प्रकार हैं :

(i) शहरी एवं पर्यावरण अध्ययन केन्द्र (सेंटर फॉर अरबन एण्ड एनवायरन्मेंटल स्टडीज), नई दिल्ली।

(ii) क्षेत्रीय शहरी एवं पर्यावरण अध्ययन केन्द्र (रीजनल सेंटर्स फॉर अरबन एण्ड एनवायरन्मेंटल स्टडीज), कोलकाता, लखनऊ, हैदराबाद और मुंबई।

(iii) मानव अधिवास प्रबन्ध संस्थान

समय–समय पर यह सुझाव दिया जाता रहा है कि देश के उन विश्वविद्यालयों को, जहाँ राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन के शैक्षणिक पाठ्यक्रमों को संचालित किया जाता है, स्थानीय शासन हेतु प्रशिक्षण पीठों की स्थापना पर विचार किया जाना चाहिए। ऐसा किया जाने से न केवल इन शैक्षणिक संस्थानों में उपलब्ध नगरीय प्रशासन के शिक्षकों और विशेषज्ञों का ही श्रेष्ठतर उपयोग हो सकेगा अपितु पठन–पाठन के इन अनुभूत केन्द्रों पर नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में प्रशिक्षण की आवश्यकता को भी पूरा किया जा सकेगा। इस प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण कर रहे वर्तमान विश्वविद्यालयों तथा शैक्षणिक संस्थानों को इस विषय में आवश्यक पाठ्यक्रमों को विकसित करने में रुचि प्रदर्शित करनी चाहिए। स्थानीय शासन के उद्देश्यों, संगठन तथा कार्य व्यवहार को अधिक परिष्कृत करने तथा इस संबंध में अनुभव की जाने वाली समस्याओं के निवारण में इस प्रकार के प्रयत्न महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

राजस्थान में प्रशिक्षण संस्थान

राजस्थान में राज्य स्तर पर नगरपालिका सेवा के जिन अधिकारियों का चयन राज्य के लोक सेवा आयोग द्वारा किया जाता है उनके आधारभूत प्रशिक्षण की व्यवस्था जयपुर स्थित **हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान** में की जाती है। इस संबंध में जो पाठ्यक्रम प्रशिक्षण हेतु आयोजित किए जाते हैं वह अन्य राज्यस्तरीय सेवाओं तथा नगरपालिका सेवा के लिए समान ही होते हैं। इस प्रशिक्षण संस्थान में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में प्रशिक्षण के विशिष्ट पाठ्यक्रम का निरूपण एवं संचालन करने के लिए नगरीय विकास का एक केन्द्र स्थापित किया गया है। यह केन्द्र नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में शिक्षण और प्रशिक्षण को अधिक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने के लिए आवश्यक नियोजन का कार्य कर रहा है। राज्य सरकार के नगरीय विकास विभाग की सहायता से राज्यस्तरीय नगरपालिका सेवा के अधिकारियों को इस प्रशिक्षण केन्द्र में प्रशिक्षित करने के कुछ पाठ्यक्रम आयोजित भी किए जाते हैं। यद्यपि इस केन्द्र द्वारा जो कार्यक्रम आयोजित किए गए हैं उनका राज्य स्तर पर कोई व्यापक प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ है तथापि अपने आप में यह शुरुआत बहुत अच्छी है जिसे राज्य स्तरीय अधिकारियों के प्रशिक्षण के अलावा अधीनस्थ एवं निम्नवर्गीय कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु भी विस्तार दिए जाने की आवश्यकता है।

जयपुर में स्थित **राजस्थान स्वायत्त शासन** नामक एक स्वायत्तशासी संस्थान

भी नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कतिपय प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करता है। यह संस्था एल.एस.जी.डी., एस. आई. तथा असेसर इत्यादि के लिए कुछ ऐसे पाठ्यक्रम प्रशिक्षण हेतु संचालित करती है जिनको पूर्ण कर लेने पर प्रत्याशियों को उक्त क्षेत्रों में डिप्लोमा प्रदान किया जाता है। राजस्थान की नगरीय सेवाओं में उपयुक्त योग्यताओं के आधार पर विभिन्न पदों पर भर्ती में प्रत्याशियों को सहायता मिलती है। नगरीय सेवाओं के लिए जो पद संयोजित किए हुए हैं उनमें आवश्यक योग्यताओं में इस प्रकार के डिप्लोमा आदि को प्राथमिकता दी गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह संस्था जो प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आयोजित करती है वे राज्य सरकार द्वारा न केवल मान्यता प्राप्त हैं अपितु वित्तीय रूप से समर्थित भी हैं। राज्य सरकार ने इस संस्था का स्वरूप स्वायत्तशासी बना रखा है और राज्य की समस्त नगरपालिकाओं के अध्यक्षों के द्वारा इसकी संचालन समिति का चुनाव किया जाता है। यह संचालन समिति संस्था द्वारा आयोजित किए जाने वाले पाठ्यक्रमों का निरूपण करती है तथा उनके आयोजन को संभव बनाती है। राजस्थान का यह स्वायत्त शासन संस्थान नगरीय कार्मिकों के सेवा पूर्व प्रशिक्षण की ही व्यवस्था करता है। यह संस्था, जो डिप्लोमा इत्यादि देती है उनके आधार पर प्रत्याशियों को नगरीय सेवाओं में प्रवेश के लिए योग्यता के संदर्भ में सहायता मिलती है। यह संस्थान अंशकालीन आधार पर कतिपय ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम भी आयोजित करता है जो सेवारत अधीनस्थ कर्मचारियों को दिए जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि संस्थान में ऐसे पाठ्यक्रमों का विस्तार किया जाये जो नगरीय संस्थाओं में काम करने वाले कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए बनाए गए हों। संस्था के कार्यकलापों के संदर्भ में राज्य सरकार को आवश्यक जाँच पड़ताल और समीक्षा हेतु अध्ययन आयोजित कराना चाहिए और उसके निष्कर्षों के आधार पर इस चिन्तन को दिशा दी जानी चाहिए कि संस्थान के कार्यकलापों को कैसे प्रशिक्षण के क्षेत्र में सुदृढ़ बनाया जा सकता है। राजस्थान का यह संस्थान अखिल भारतीय स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थान, मुम्बई से संबद्ध है और अपने कार्यकलापों में आवश्यक दिशा–निर्देश वहीं से प्राप्त करता है। मुम्बई के संस्थान की तरह यह संस्थान भी एक पंजीकृत संस्था है। इसके द्वारा जो परीक्षाएं आयोजित की जाती हैं उनका आयोजन मुम्बई स्थित संस्थान के निर्देशन में किया जाता है और परीक्षा परिणाम भी उन्हीं के द्वारा घोषित किया जाता है। किन्तु संस्था के कार्यकलापों के विषय में जानकारी रखने वाले चिन्तकों का यह विचार है कि यह संस्था जो प्रशिक्षण पाठ्यक्रम और परीक्षाएं आयोजित करती है वे अकादमिक दृष्टि से उतने सुदृढ़ नहीं होते अतः इस न्यूनता का निराकरण यथाशीघ्र किए जाने की आवश्यकता है ताकि राज्य में अधीनस्थ एवं निम्नवर्गीय नगरीय कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण देने वाले इस एक मात्र संस्थान की गतिविधियों को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जा सके।

सेवा शर्तों के अन्य पक्ष

1. वेतनमान : राजस्थान में नगरीय संस्थाओं में राजस्थान नगरपालिका सेवा, राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक सेवा तथा राजस्थान नगरपालिका

चतुर्थ श्रेणी सेवा के कर्मचारी एवं अधिकारी कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त नगरपालिका आयुक्त एवं प्रशासकों के पद पर नगर परिषदों में भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी भी, यथा आवश्यकता, नियुक्त किए जाते हैं।

जहाँ तक वेतनमान का प्रश्न है, नगरपालिकाओं में नियुक्त एकीकृत सेवाओं अर्थात् भारतीय प्रशासनिक सेवा, राज्य प्रशासनिक सेवा और राज्य की लोक सेवा के अन्य पदों के अधिकारियों को वेतन उसी वेतन शृंखला में राज्य सरकार द्वारा विनिश्चित किया जाता है जिस शृंखला में वे नियुक्ति के समय वेतन प्राप्त कर रहे थे। उनके प्राप्त वेतन में न तो कोई कमी की जा सकती है और न ही नगर परिषदों/पालिकाओं में नियुक्ति के समय उन्हें कोई विशेष वेतन दिया जाता है। यद्यपि नगरपालिका/परिषद् में नियुक्ति के समय उनका वेतन उसी पालिका/परिषद् के बजट पर भारित होता है जिसमें वे नियुक्त होते हैं। इसी प्रकार राजस्थान नगरपालिका सेवा के पदाधिकारियों की वेतन शृंखला भी राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर किए जाने वाले वेतनमानों के पुनरीक्षण के समय निश्चित की जाती है और इस सेवा के अधिकारी उसी वेतनमान में वेतन प्राप्त करते हैं जो वेतनमान राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर निश्चित किया जाता है। राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक सेवा के पदाधिकारियों के वेतनमान भी राज्य सरकार द्वारा ही निश्चित किए जाते हैं। इसी प्रकार राजस्थान नगरपालिका चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के वेतनमान भी राज्य सरकार ही निश्चित करती है। राज्य सरकार द्वारा राज्य भर की नगर परिषदों/पालिकाओं में नियुक्त इन कर्मचारियों के वेतनमान का राज्य स्तर पर निर्धारण करने का लाभ यह होता है कि वेतनमान के संबंध में नगरपालिका/परिषद् के कर्मचारियों में किसी प्रकार का असंतोष नहीं पनपता। आम तौर पर होता यह है कि जब–जब भी राज्य सरकार वेतनमान के पुनरीक्षण के लिए कोई समिति या आयोग नियुक्त करती है या जब केन्द्र सरकार द्वारा कर्मचारियों के वेतनमान पुनरीक्षित किए जाते हैं तब राज्य सरकार उन्हीं वेतनमानों के अनुरूप वेतन देने के लिए अपने यहाँ भी समिति का गठन करती है। यही समिति अपने विचार–विमर्श और विश्लेषण की प्रक्रिया में यह देखती है कि स्थानीय निकायों के जो कर्मचारी राज्य सरकार की सेवा के पदों के समान पदों पर कार्य कर रहे हैं उन्हें उन्हीं पदों के समान वेतन निश्चित किया जाए। ऐसा कर दिए जाने से एक ओर सारे राज्य में स्थानीय निकायों के कर्मचारियों के वेतनमान में एकरूपता स्थापित हो जाती है वहीं दूसरी ओर कर्मचारियों में भी कोई असंतोष नहीं रहता। वेतनमान के यह नियम उन पदों पर भी लागू किए जाते हैं जिन पदों पर नगरपालिकाओं को अपने यहाँ नियुक्ति करने का स्वयं को अधिकार होता है क्योंकि जिन पदों पर वे नियुक्ति करती हैं उन पदों पर राज्य सरकार में क्या वेतनमान प्रस्तावित किया हुआ है उसी के अनुरूप नगरपालिकाओं में नियुक्त किए गए कर्मचारियों को वेतन प्रदान करती है।

2. अनुशासनात्मक कार्यवाही : नगर परिषदों/पालिकाओं में नियुक्त कर्मचारियों एवं अधिकारियों पर तात्कालिक नियंत्रण उनके उच्चाधिकारियों द्वारा किया जाता है। नगर परिषदों/पालिकाओं में जो अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं राज्य प्रशासनिक

सेवा के नियुक्त किए जाते हैं उन पर नियंत्रण राज्य सरकार का होता है और अपनी इस नियुक्ति के दौरान यदि वे किसी प्रकार की त्रुटि करते हैं तो उसके लिए उन पर अनुशासनात्मक कार्यवाही के वे ही नियम प्रवर्तित होते हैं जो राज्य सरकार में उन पर प्रवर्तित माने जाते हैं। इसी प्रकार राज्य की नगरीय संस्थाओं के नगरपालिका सेवा के पदाधिकारियों के लिए भी राज्य सरकार में समकक्ष पदों के पदाधिकारियों के लिए प्रवर्तित अनुशासनिक नियमों को प्रभावी माना जाता है। राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक सेवा तथा चतुर्थ श्रेणी सेवा के कर्मचारियों के लिए भी राजस्थान सरकार द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही के 1958 में घोषित सेवा नियमों को ही प्रभावी माना जाता है। राज्य में नगरीय विकास विभाग एवं स्थानीय निकाय निदेशक द्वारा अपने कर्मचारियों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही के पृथक् नियम बनाने की अपेक्षा राज्य सरकार द्वारा सुचिंतित रूप से निर्मित उन्हीं अनुशासनिक नियमों को लागू किया गया है जो राज्य सरकार ने स्वीकार किए हुए हैं। एक दृष्टि से यह व्यवस्था अच्छी भी है क्योंकि समान पदों पर जो अनुशासनात्मक कार्यवाही के नियम राज्य सरकार में प्रवर्तित होते हैं उन्हें स्थानीय निकायों में लागू करने से न केवल अनुशासनात्मक कार्यवाही के प्रभावी प्रावधानों में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है अपितु कर्मचारी भी किसी प्रकार के विविधकारी प्रावधानों के शिकार नहीं होते। यह सर्वविदित है कि नियुक्तिकर्ता अधिकारी ही अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए अधिकृत होता है। इस नियम के अनुसार जिन पदों पर नियुक्ति नगर परिषदों/पालिकाओं में राज्य सरकार करती है उन पदों पर कार्य करने वाले प्राधिकारियों के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए वही सक्षम होती है। इसके विपरीत जिन पदों पर नियुक्ति का अधिकार निदेशक, स्थानीय निकाय को होता है उनके लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही भी विभागाध्यक्ष के रूप में वही करने में सक्षम होता है और जो कर्मचारी नगर परिषदों/पालिकाओं के अधिशासी अधिकारियों/अध्यक्षों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं उन पर सेवा नियमों के अनुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्ति भी उन्हीं में निहित होती है।

3. सेवानिवृत्ति लाभ : राजस्थान की नगर परिषदों/पालिकाओं के कर्मचारियों के सेवा निवृत्ति लाभों के संबंध में 30 सितम्बर, 1987 तक भविष्य निधि की व्यवस्था थी। इस तिथि तक राज्य की नगरपालिकाओं में नियुक्त कर्मचारियों के लिए पेंशन की व्यवस्था नहीं थी किन्तु राजस्थान सरकार ने अपनी घोषणा द्वारा 1 अक्टूबर, 1987 से नगरपालिका कर्मचारियों के लिए पेन्शन योजना की स्वीकृति प्रदान की है। राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करते हुए राज्य सरकार ने इस हेतु राजस्थान नगरपालिका सेवा पेन्शन नियम घोषित किए हैं।[21] ये नियम राजस्थान नगरपालिका सेवा[22] पेंशन नियम, 1989 कहलाएंगे और एक अक्टूबर, 1987 से प्रभावी माने गए हैं। इन नियमों को एक अक्टूबर, 1987 से पूर्व सेवा निवृत्त हो चुके लोगों, विशेष कार्यों पर नियुक्त कर्मचारियों, दैनिक वेतन भोगी कर्मचारियों, ठेका प्रणाली पर कार्यरत कर्मचारियों और प्रतिनियुक्ति पर आए कर्मचारियों पर लागू नहीं माना गया है। ये नियम समस्त राजस्थान नगरपालिका मंडल परिषद् ज्ञापित क्षेत्र

समितियों में दिनांक 1 अक्टूबर, 1987 से कार्यरत अधिकारियों, कर्मचारियों एवं इसके पश्चात् सभी कार्यरत कर्मचारियों (उपर्युक्त वर्णित को छोड़कर) जिनके द्वारा पेंशन लेने का विकल्प दिया गया है, के लिए पेंशन हेतु प्रवर्तित होंगे।[23] इस प्रकार अब राजस्थान राज्य की नगर निगम/नगर परिषद्/पालिकाओं में नियुक्त कर्मचारी भी एक अक्टूबर, 1987 के पश्चात् राज्य सरकार के कर्मचारियों की भांति ही, उपर्युक्त नियमों के अधीन पेंशन के पात्र हो गए हैं। राजस्थान में विगत कुछ वर्षों से स्वायत्तशासी निकायों के कर्मचारियों ने अपनी भविष्य निधि योजना के स्थान पर पेंशन नियमों को अपनाने हेतु मानसिक रुझान स्पष्ट किया है। राजस्थान की नगरपालिकाओं में प्रवर्तित ये नए नियम इसी मानसिकता के प्रमाण हैं।

कार्मिक प्रशासन की समीक्षाः समस्याएँ एवं सुझाव

स्थानीय निकायों के कर्मचारी वर्ग से सम्बन्धित कार्मिक प्रशासन के क्षेत्र में, कतिपय समस्याएं अनुभव की गई हैं। इन समस्या स्थलों का रेखांकन और उनका समाधान स्थानीय निकायों की सफलता की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है :

1. राजस्थान में नगरीय संस्थाओं में कार्मिकों के वर्गीकरण की व्यवस्था अस्पष्ट एवं जटिल है। वर्गीकरण की अस्पष्टता कार्मिक प्रशासन के अन्य आयामों को भी प्रभावित करती है अतः इसे सरल और सुस्पष्ट बनाने की दिशा में कदम उठाए जाने अपेक्षित हैं।

2. स्थानीय निकायों में कर्मचारियों की भर्ती के लिए किसी एक प्रणाली का अनुभव समूचे देश की स्थानीय संस्थाओं में दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह अनुभव किया गया है कि स्थानीय संस्थाओं ने अपने अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भर्ती एवं नियुक्ति के संबंध में प्रायः तीनों प्रणालियों– समन्वित, एकीकृत एवं पृथक् प्रणाली – को अपनाया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यथा आवश्यकता इन तीनों प्रणालियों का समन्वित उपयोग किया जा सकता है किन्तु यदि देशभर में स्थानीय निकायो के कर्मचारियों की भर्ती हेतु सुचिंतित आधारों एवं प्रणालियों का विकास किया जाए तो वह नगरीय संस्थाओं की कार्य कुशलता बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

3. यह सुझाव दिया जाता है कि जिस प्रकार उच्च पदों के लिए नगरीय निकायों में समन्वित एवं एकीकृत प्रणाली को अपनाया जाता है उसी प्रकार निम्न वर्गीय पदों के लिए भी पूरे राज्य के लिए एकीकृत प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए। होता यह है कि निम्न वर्गीय पदों पर राजस्थान जैसे राज्य में, भर्ती करने का अनन्य अधिकार सम्बन्धित नगरीय निकाय के अधिशाषी अधिकारी या अध्यक्ष को मिल जाता है और ऐसी स्थिति में वे राजनीतिक दबाव के अन्तर्गत ऐसे लोगों को निकाय में भर्ती कर लेते हैं जो योग्यता के मानदंडों पर तो खरे उतरते ही नहीं, अपितु केवल राजनीतिक दबाव से वे सेवाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे कर्मचारी सेवाओं की कार्य कुशलता एवं अनुशासन को भारी ठेस पहुँचाते हैं। यदि स्थानीय निकायों का स्वतंत्र परिचालन लोकतंत्र के हित में आवश्यक माना जाता है तो इस बिन्दु पर राजनीतिक तटस्थता के

स्वस्थ दृष्टिकोण से विचार कर कोई उचित हल निकाला जाना चाहिए।

4. सभी स्तरों पर कार्मिकों के चयन में राजनीतिक हस्तक्षेप और दबाव को कम किए जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए और चयन का आधार केवल योग्यता होना चाहिए। एक निश्चित वेतनमान से अधिक वेतन पाने वाले पदों पर राज्य में लोक सेवा आयोग की व्यवस्था का चयन किया जा सकता है और यदि ऐसा संभव न हो तो स्थानीय निकायों के लिए पृथक् से सेवा चयन आयोग नियुक्त किया जाना चाहिए। राजस्थान में सेवा चयन आयोग पूर्व में बनाया गया था किन्तु वह अधिक दिनों तक कार्यशील नहीं रह सका, और अब जो सेवा चयन आयोग बनाया गया है उसमें स्थानीय निकाय के निदेशक, सम्बन्धित उप निदेशक और सम्बन्धित नगर परिषद्/पालिका के अध्यक्ष/अधिशाषी अधिकारी को सदस्य बनाया गया है। प्रथम तो इसे आयोग नहीं माना जा सकता है और द्वितीयतः यह निष्पक्षता को भी सुनिश्चित नहीं करता है। इस संबंध में यह सुझाव दिया जा सकता है कि कार्मिकों के चयन के लिए ऐसा स्वतंत्र अभिकरण बनाया जाए जो योग्यता के आधार पर स्थानीय निकायों में कर्मचारियों की भर्ती को सुनिश्चित कर सके। नए आयोग की स्थिति यह है कि 1986 में इसके गठन के पश्चात् नए चयन का कोई काम नहीं हुआ है।

5. कर्मचारियों के लिए पदोन्नति की भी ऐसी प्रणाली, विशेषज्ञों के पर्याप्त विचार–विमर्श के पश्चात् विकसित की जानी चाहिए जिससे सभी कर्मचारियों को समयबद्ध पदोन्नति सुनिश्चित हो सके। ऐसा कर दिए जाने से जहाँ एक ओर कर्मचारियों का मनोबल बना रह सकेगा वहीं दूसरी ओर वे सरकार के प्रति भी सौहार्द्रपूर्ण भावना विकसित कर सकेंगे और सरकार भी उनसे उचित कार्य गति की अपेक्षा कर सकेगी।

6. कार्मिकों की कार्यक्षमता बढ़ाए जाने के भी प्रयास किए जाने की आवयकता है। ऐसा अनुभव किया गया है कि स्थानीय निकायों में कर्मचारियों के प्रशिक्षण की कोई व्यवस्थित प्रणाली विकसित नहीं की गई है। यह सुविदित है कि कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ाने में केवल प्रशिक्षण ही एक मात्र महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व हो सकता है। प्रशिक्षण के कार्यक्रमों को सुनियोजित करने के लिए देश भर के राष्ट्रीय, राज्यीय और स्थानीय लोक प्रशासन संस्थानों, विश्वविद्यालयों तथा अनुभवी विभागीय अधिकारियों का सहयोग लिया जाना चाहिए। इन संस्थाओं में अब बड़ी संख्या में जन प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं और उनमें भी एक बड़ा समूह महिलाओं व अनुसूचित जाति/जनजाति/पिछड़े वर्गों का होता है। इन सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों को उनके चुनाव के तुरन्त पश्चात् उनके दायित्वों के ज्ञान की दृष्टि से ओरियन्टेशन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का विकास किया जाना समय की एक अनुभूत आवश्यकता है।

7. इन संस्थाओं में कार्यशील कर्मचारियों के वेतनमान तथा कार्य की दशाओं में भी सुधार की बड़ी आवश्यकता है। इन संस्थाओं में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारियों के लिए प्रतिनियुक्ति पर भेजे जाने वाले अधिकारियों को ऐसा लगता है जैसे वे यहाँ तब भेजे जाते हैं जब सरकारी विभागों में सरकार द्वारा उनकी सेवाएं प्रायः अवांछित सी

अनुभव की जाती है। इस स्थिति और मनोदशा में परिवर्तन की आवश्यकता है। नागरिकों के प्रतिदिन के जीवन में स्थानीय संस्था ही सर्वाधिक प्रभाव डालती है। इन संस्थाओं की कार्यकुशलता नागरिकों के सुख और दुख का कारण बनती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन संस्थाओं में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारी एवं पदाधिकारी निर्विवाद रूप से कुशल, सक्षम और प्रतिभावान हों ताकि अपनी कुशलता से वे इन संस्थाओं की कार्यकुशलता में वृद्धि करें और लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत करने में अपना पूर्ण योगदान दें।

8. इन संस्थाओं के कर्मचारियों में अनुशासन की भी कमी पाई जाती है। प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक हस्तक्षेप इस कमी के उत्तरदायी कारकों में एक प्रमुख घटक माना जाता है। किसी भी संस्था में कार्य करने वाले कर्मचारियों को अपने पदाधिकारियों के प्रति सम्मान और अनुशासन दिखाना सेवा की एक अनिवार्य शर्त है। इस अनिवार्य शर्त में यदि राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण कोई कमी आती है तो इसे उत्तरदायी लोगों को अनुभव करना चाहिए और ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिसके द्वारा नगरीय सेवाओं की कुशलता और दक्षता नकारात्मक रूप से प्रभावित न हो सके।

9. कर्मचारियों में व्याप्त अनुशासनहीनता के कारणों पर किए गए शोध के यह निष्कर्ष हैं कि इन संस्थाओं में कार्यरत अधिकारी जब अपने पद की शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को उचित सम्मान नहीं देते या उनकी छोटी–छोटी कठिनाइयों को हल करने के प्रति न केवल उदासीनता अपितु एक सीमा तक उपेक्षा और पक्षपात भी दिखाते हैं तो ऐसे में अनेक ऐसे कर्मचारी जो पूर्ण निष्ठा और लगन से काम करना चाहते हैं उनके मनोबल पर विपरीत असर पड़ता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि यदि हम कर्मचारियों को अनुशासित बनाए रखना चाहते हैं तो उन्हें अनुशासित रखने के लिए अधिकारियों को स्वयं संयत व्यवहार का परिचय देना होगा।

10. सेवा की असंतोषजनक शर्तों, पदोन्नति के अवसरों के अभाव तथा निम्नस्तरीय वेतनमानों के फलस्वरूप इन संस्थाओं में काम करने वाले कर्मचारियों की मनोदशा अत्यन्त गिरी हुई रहती है। एक अध्ययन के दौरान यह पता चला कि 48 में से 46 कर्मचारियों का यह विचार था कि यदि उन्हें अवसर मिले तो वे दूसरी जगह चले जाएं। कार्मिकों की इस मनोदशा का विश्लेषण करते हुए इस स्थिति मे सुधार की महती आवश्यकता है।

11. नगरीय प्रशासन में भी ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे सम्बन्धित कर्मचारियों का उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सके।[24] ऐसा कर दिए जाने से निष्ठावान कर्मचारी अपने उत्तरदायित्वों को ठीक से समझकर निष्पादित कर पाएँगे। प्रशासन भी एक बार कार्मिकों का उत्तरदायित्व निश्चित कर देने के पश्चात् कर्मठ और आलसी कर्मचारियों में भेद कर सकेगा और यदि आवश्यकता हो तो उन्हें पुरस्कृत और दंडित भी कर सकेगा।

12. कर्मचारियों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रति माह सर्वश्रेष्ठ कर्मचारियों को सार्वजनिक रूप से पुरस्कृत करने की योजना पर भी विचार किया जा सकता है। अनेक बार कर्मचारियों में आपसी प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता से भी उनकी कार्यक्षमता में विकास किया जा सकता है।

13. स्थानीय निकायों के कर्मचारियों के जो संगठन या यूनियन बनी हुई हैं उन्हे चाहिए कि वे कुछ सकारात्मक कार्यवाहियाँ हाथ में लें। आमतौर पर यह देखा गया है कि कार्मिक संघ केवल अपने वेतन एवं सुविधाएं इत्यादि बढ़ाने के लिए हड़ताल आदि का सहारा लेते हैं और कार्मिक लक्ष्यों तथा सेवा सुधार के लिए कोई रुचि नहीं दिखाते। इस स्थिति में परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है। कर्मचारियों को यह अनुभव करना चाहिए कि उनके वेतन और सेवा दशाओं में सुधार तभी संभव है जब वे नागरिक सेवाओ के स्तर को श्रेष्ठतर बनाएँ।

14. नगरीय संस्थाओं में निर्वाचित पदाधिकारियों और सरकारी अधिकारियों में जहां तक संभव हो एक–दूसरे के मध्य सौहार्द्रपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहित करना चाहिए। लोकतंत्र में यह अपरिहार्य होता है कि निर्वाचित अधिकारियों और सरकारी अधिकारियों में तनाव के अवसर आ जाते हैं किन्तु दोनों ही पक्षों को इस समझ से काम करना चाहिए कि अन्ततोगत्वा उन्हें लोक सेवा के लिए यह दायित्व दिया गया है और लोक हित में उन्हें आगे कदम उठाना चाहिए। **यदि वे मात्र इस प्रेरणा से प्रेरित हों तो संभवतः तनाव को कम किया जा सकता है।**

15. इन संस्थाओं में नियुक्त प्रशासनिक अधिकारियों को चाहिए कि कर्मचारियों से सम्बन्धित कोई निर्णय लेने के पूर्व यदि उनके मान्यता प्राप्त संघों से विचार–विमर्श कर लिया जाए तो वह न केवल नगरीय संस्थाओं के हित में रहेगा अपितु सरकार के हित में भी होगा।

16. नगरीय संस्थाओं के कर्मचारियों को पेन्शन के स्थान पर जो भविष्य निधि आदि की योजना थी, कुछ राज्यों ने उसे बदलकर उन्हें भी सरकारी कर्मचारियों की भांति पेन्शन देना स्वीकार कर लिया है। राजस्थान उनमें से एक राज्य है। अन्य राज्यों को भी इन कर्मचारियों के हित में ऐसे निर्णय लेने की पहल करनी चाहिए।

17. किसी भी संस्था में नियुक्त प्रशासकीय नेतृत्व की पहल करने की शक्ति और इच्छा उस संस्था की कार्यकुशलता के स्वरूप का निर्धारण करती है। इन संस्थाओं में नियुक्त किए जाने वाले अधिकारी अपने अनुभव के आधार पर रेखांकित समस्याओं के समाधान के प्रति पहल करते हुए यदि नयी कार्य योजनाएं घोषित करें तो ऐसा करने से न केवल उन्हें सरकार का सहयोग प्राप्त होगा अपितु नगर की जनता भी उनका स्वागत करेगी। उनकी इस पहल से नगरीय कर्मचारियों में भी एक नई प्रेरणा और शक्ति का संचार होगा। किन्तु यह मानव स्वभाव है कि कुछ नया कार्य हाथ में लेने के प्रति उनमें संकोच रहता है। इस विधा का विकास करने के लिए राष्ट्रीय स्तर के प्रशिक्षण संस्थानों में गहन प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाने की आवश्यकता है।

ऐसा कर दिये जाने से निश्चित ही इन संस्थाओं की कार्य–कुशलता में निर्णायक वृद्धि की जा सकती है।

18. इन संस्थाओं में नियुक्त कर्मचारियों को स्थानीय लोकतंत्र के हित में यह सोचना चाहिए कि इन संस्थाओं की आमदनी में कैसे सुधार और वृद्धि की जा सकती है। विश्व के इतिहास में कोई देश स्थानीय संस्थाओं के बिना प्रगति नहीं कर पाया है। इस ऐतिहासिक अनुभव से कुछ सीख लेने की आवश्यकता है ताकि देश में लोकतंत्र की इन पाठशालाओं को हम सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर सकें।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य : हरमन फाइनर, **इंगलिश लोकल गवर्नमेंट**, मेथ्यून एण्ड कम्पनी लि., लन्दन।
2. **रिपोर्ट ऑफ द रूरल अरबन रिलेशनशिप कमेटी**, पार्ट 1, 1966, पृ. 73
3. संविधान की **राज्य सूची** में पांचवी प्रविष्टि।
4. एस. आर. माहेश्वरी, पूर्वोक्त, पृ. 250–251
5. **राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959** धारा 2009, धारा (1)
6. **राजस्थान नगरपालिका सेवा नियम, 1963**, नियम (4)
7. **राजस्थान नगरपालिका (अधीनस्थ एवं लिपिक वर्गीय सेवा) नियम**, 1963 विस्तृत अध्ययन हेतु (द्रष्टव्य, डा. जयन्तीलाल बाबेल एवं पारस बाफना कृत **राजस्थान नगरपालिका कोड**, बाफना पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर 2001
8. **उपर्युक्त**।
9. **पूर्वोक्त** नं. 6
10. अनुसूची, राज नगरपालिका सेवा नियम 1963, राजस्थान राजपत्र भाग 4 – ग दिनांक 23–12–1976, पृ. 553 पर प्रकाशित अधिसूचना सं. एफ. 10 (1) एल. एम. जी./56 दिनांक 10–12–1976 द्वारा प्रतिस्थापित।
11. **पूर्वोक्त** नं. 6, नियम 17
12. **पूर्वोक्त** न. 10
13. **पूर्वोक्त** नं. 6, नियम 25 (6)
14. **उपर्युक्त**, नियम 27 (2) का उपनियम (1)
15. **पूर्वोक्त** नं. 7, नियम 8
16. **पूर्वोक्त**।
17. **रिपोर्ट ऑफ दी कमेटी ऑन ट्रेनिंग ऑफ दी म्युनिसिपल एम्पलाइज**, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ हैल्थ, 1963, पृ. 8

18. वी. एम. सिन्हा, **भारत में नगरीय सरकारें**, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1986, पृ. 116
19. **उपर्युक्त**।
20. एस. आर. माहेश्वरी, **पूर्वोक्त**, पृ. 265
21. **राजस्थान नगरपालिका अधिनियम**, 1959, धारा 297 के अन्तर्गत पेन्शन नियम।
22. रामजी लाल शर्मा एवं सीताराम शर्मा, **राजस्थान नगरपालिका पेन्शन नियम**, विजय प्रकाशन, जयपुर 1989 पृ. 1
23. **उपर्युक्त**।
24. वी. एम. सिन्हा, **पूर्वोक्त**, पृ. 121

R.K. Science PG College
Library
S.No

12

पंचायती राज संस्थाओं का कार्मिक प्रशासन

जिस प्रकार नगरीय क्षेत्रों के निवासियों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति उन क्षेत्रों में कार्यरत स्थानीय संस्थाओं और विशेषतः उन संस्थाओं में कार्यरत कर्मचारियों के द्वारा की जाती है उसी प्रकार भारत के ग्रामीण अंचलों के निवासियों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति ग्रामीण स्थानीय प्रशासन अर्थात् पंचायती राज की संस्थाओं में नियोजित कर्मचारियों के द्वारा की जाती है।

स्वायत्त शासन की संस्थाओं के कार्य संचालन में सेवाओं का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान होता है। स्वायत्त शासन की संस्थाएं सामान्यतया स्थानीय नीतियों का निर्धारण और आवश्यकतानुसार निर्देशों का प्रसारण करती हैं किन्तु उनके कार्यान्वयन के दायित्व को सेवाओं पर छोड़ दिया जाता है। नीतियों एवं कार्यों का सफल एवं प्रभावशील कार्यान्वयन सेवाओं की गुणवत्ता एवं योग्यता पर निर्भर करता है। सेवाओं द्वारा कार्य संचालन से इन संस्थाओं को स्थायित्व प्राप्त होता है।[1] वस्तुतः किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में निर्वाचित जन प्रतिनिधियों द्वारा उन लक्ष्यों का निर्धारण किया जाता है जिनके द्वारा समाज को आगे बढ़ाना है। इस प्रक्रिया में कार्मिकों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि उन्हीं के द्वारा इन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति एवं कार्यान्वयन का कार्य किया जाता है। प्रजातांत्रिक संस्थाओं में जन प्रतिनिधि एक निर्धारित अवधि के पश्चात् बदल दिए जाते हैं किन्तु सेवाओं की स्थायी संरचना नीतियों के निष्पादन को निरन्तरता प्रदान करती है। लोकतंत्र में और विशेष तौर से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में प्रसूत पंचायती राज की संस्थाओं में नीति निर्माता जन प्रतिनिधियों और उनके निष्पादन हेतु उत्तरदायी सेवाओं पर परस्पर सौहार्द्र से कार्य करने का एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व होता है।[2]

पंचायती राज में सेवाओं की श्रेणियां/वर्गीकरण

पंचायती राज में सेवाओं की दो श्रेणियां हैं :

1. वे अधिकारी और कर्मचारी जो पंचायती राज संस्थाओं में राज्य सरकार की ओर से प्रतिनियुक्ति पर हैं, और

2. वे सेवाएं जो पंचायत समिति एवं जिला परिषद् सेवा में श्रेणीबद्ध की गई हैं।

सभी राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के वरिष्ठ कर्मचारी राज्य की नियमित लोक सेवा के सदस्य होते हैं और राज्य सरकार उन्हें इन संस्थाओं में कार्य करने के लिए नियुक्त/प्रतिनियुक्त करती है। इस प्रकार नियुक्त किए गए लोक सेवक और पदाधिकारी ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की इन इकाइयों में अपनी सेवा का कुछ काल बिताकर पुनः राज्य सरकार के अन्य विभागों में स्थानान्तरित कर दिए जाते हैं। उनके वापस बुला लिए जाने से पंचायती राज की इन संस्थाओं में जो स्थान रिक्त होता है उन्हें राज्य के अन्य लोक सेवकों में से नियुक्ति या प्रतिनियुक्ति द्वारा भर दिया जाता है। इस प्रकार प्रथम श्रेणी की सेवाओं की भर्ती, पदोन्नति एवं नियंत्रण राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में होता है। इस तरह इन अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर नियंत्रण की अंतिम शक्ति राज्य सरकार में सन्निहित होती है। राज्य सरकार ही उन अधिकारियों को स्थानान्तरित, पदोन्नत अथवा पदावनत या दंडित करने में सक्षम होती है। ऐसे अधिकारी या कर्मचारी पंचायती राज की जिस संस्था में नियुक्त होते हैं वह संस्था उन पर केवल दैनिक नियंत्रण ही रख पाती है।

प्रायः अधिकांश राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं में प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अधिकारी राज्य सरकार की कार्मिक सेवा के सदस्य होते हैं और पंचायती राज संस्थाओं में प्रतिनियुक्त किए जाते हैं। राजस्थान एवं कर्नाटक जैसे कुछ राज्यों में तो तृतीय श्रेणी सेवा के कुछ वर्गों के कर्मचारी भी इन संस्थाओं में राज्य की सेवा से प्रतिनियुक्ति पर भेजे जाते हैं। दूसरी ओर आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में दूसरी श्रेणी की सेवाओं में कार्मिकों का एक ऐसा वर्ग बनाया गया है जिनकी भर्ती, पदोन्नति, एवं अनुशासनिक नियंत्रण पंचायती राज संस्थाओं के अपने अधिकार क्षेत्र में है और जिला स्तर एवं राज्य स्तर पर उनका नियंत्रण क्रमशः "जिला प्रतिस्थापन समिति" द्वारा होता है। राजस्थान में पंचायत समिति एवं जिला परिषद् के लिए एक पृथक् पंचायती राज सेवा की स्थापना की गई है जो "राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद् सेवा" कहलाती है।

राजस्थान में कार्मिक वर्ग की स्थिति

राजस्थान में कार्मिकों को पंचायती राज की संस्थाओं के कार्यों के निष्पादन के लिए ही उत्तरदायी नहीं बनाया गया अपितु पूर्व में राजस्थान में प्रवर्तित राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियमों, 1959 के अन्तर्गत इन संस्थाओं में सदस्यता भी कतिपय अधिकारियों को प्रदान की गई थी। उदाहरण के लिए जिले के जिलाधीश को जिला विकास अधिकारी के रूप में जिला परिषद् का पदेन सदस्य और खंड विकास अधिकारी को पंचायत समिति का सचिव बनाया गया था। यद्यपि उन्हें इन संस्थाओं में मताधिकार नहीं दिया गया। **अब राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में इस प्रकार के प्रावधानों का निरसन कर दिया गया है।**

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं में प्रथम श्रेणी की सेवाओं के वे अधिकारी और कर्मचारी जो प्रायः राज्य सरकार की ओर से प्रतिनियुक्ति पर होते हैं उनमें प्रमुख तौर पर;

1. जिला परिषद् के सचिव या मुख्य कार्यपालक अधिकारी,
2. जिला परिषद् के सहायक सचिव,
3. पंचायत समिति के विकास अधिकारी,
4. पंचायत समिति के प्रसार अधिकारीगण यथा कृषि प्रसार अधिकारी, पशुपालन प्रसार अधिकारी, शिक्षा प्रसार अधिकारी, सहकारिता प्रसार अधिकारी, उद्योग प्रसार अधिकारी एवं कनिष्ठ अभियंता इत्यादि, तथा
5. पंचायत समितियों के लेखा लिपिक आदि हैं।

दूसरी ओर कनिष्ठ पदों के लिए जो पृथक् सेवा राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् सेवा निर्मित की गई है उसके लिए राज्य सरकार द्वारा कुछ नियम घोषित किए गए हैं। इन नियमों के अनुसार इस सेवा में कर्मचारियों की संख्या प्रत्येक पंचायत समिति और प्रत्येक जिला परिषद् के लिए उतनी होगी जितनी अधिनियम के अन्तर्गत समय–समय पर निश्चित की जाए।[3]

राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994 के अंतर्गत पंचायती राज संस्थाओं का कार्मिक प्रशासन

भारत सरकार द्वारा देश भर में पंचायती राज संस्थाओं को सशक्त और सक्रिय बनाने के लिए किए गए 73 वें संविधान संशोधन के मूल प्रावधानों को राज्य स्तर पर आत्मार्पित और कार्यान्वित करने के निमित्त राजस्थान सरकार द्वारा पारित पंचायती राज अधिनियम, 1994 के माध्यम से राज्य में अब तक प्रवर्तित विभिन्न पंचायती राज अधिनियमों को समेकित करके जो समग्र व्यवस्था नए अधिनियम के माध्यम से सामने आई है उसमें सभी स्तरों की पंचायती राज संस्थाओं के लिए कार्मिकों के पृथक् प्रावधान किए गए हैं।

ग्राम पंचायत स्तर पर कार्मिक वर्ग

अधिनियम और उसके अधीन बनाए गए नियमों के उपबंधों के अन्तर्गत प्रत्येक पंचायत के लिए एक सचिव या पंचायतों के किसी समूह के लिए एक 'समूह पंचायत सचिव' का प्रावधान किया गया है जो विहित रीति से नियुक्त किया जाएगा। इसी प्रकार प्रत्येक पंचायत, पंचायत समिति के पूर्व अनुमोदन से, अधिनियम द्वारा अधिरोपित कर्तव्यों का पालन करने के लिए आवश्यक अन्य कर्मचारिवृन्द की ऐसी सेवा–शर्तों पर नियुक्ति के लिए अधिकृत की गई हैं जो इस निमित्त विहित की जाएँ।[4]

अधिनियम में यह भी कहा गया है कि पंचायत के सचिव या किसी समूह पंचायत के सचिव सम्बन्धित सरपंच के नियंत्रण के अधीन रहते हुए पंचायत के अभिलेख और रजिस्टर अपनी अभिरक्षा में रखने, पंचायत के निमित्त प्राप्त धन राशियों के लिए अपने हस्ताक्षर से रसीद जारी करने, पंचायत निधि के लेखे रखने, पंचायत निधि की सुरक्षित अभिरक्षा, निर्धारित नियमों के अनुसार अपेक्षित रिपोर्ट तैयार करने और अधिनियम या

उसके अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार प्रत्यायोजित कर्तव्यो के निर्वाह के लिए उत्तरदायी होंगे।[5]

पंचायत समिति का कार्मिक वर्ग

राजस्थान के 1994 के अधिनियम में व्यवस्था की गई है कि राज्य सरकार प्रत्येक पंचायत समिति के लिए एक विकास अधिकारी व एक खण्ड प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी और ऐसे अन्य प्रसार अधिकारी तथा लेखाकार और कनिष्ठ लेखाकार नियुक्त करेगी जो वह आवश्यक समझे।[6] इसी प्रावधान में आगे यह भी जोड़ा गया है कि ये अधिकारी राज्य सेवा के किसी कैडर में सम्मिलित व्यक्ति या राज्य सरकार के अधीन पद धारण करने वाले व्यक्ति होंगे और वे ऐसी शर्तों पर, जो विहित की जाएँ, पंचायत समिति में प्रतिनियुक्ति पर माने जाएँगे और उन्हें राज्य सरकार द्वारा स्थानान्तरित भी किया जा सकेगा।[7]

अधिनियम यह व्यवस्था भी करता है कि राज्य सरकार अधिनियम की धारा 79 में निर्दिष्ट विकास अधिकारी व अन्य अधिकारियों से भिन्न पद और प्रवर्ग, जितने वह आवश्यक समझे, नियत कर सकेगी और ऐसे पदों पर नियुक्त व्यक्तियों के वेतनमान और भत्ते तथा सेवा की अन्य शर्तें भी निर्धारित कर सकेगी।[8] राज्य सरकार के पूर्व अनुमोदन से, प्रत्येक पंचायत समिति उन्हीं वेतनमान और भत्तों तथा सेवा की अन्य शर्तों पर, जो पूर्वोक्त अधिकारियों के लिए विहित की जाएँ, ऐसे प्रत्येक प्रवर्ग के अंतर्गत अतिरिक्त पदों का सृजन कर सकेगी।[9]

अधिनियम की धारा 80 के अधीन नियत या सृजित चतुर्थ श्रेणी सेवाओं के अंतर्गत नियुक्ति का अधिकार, राज्य सरकार द्वारा विहित रीति और नियमों के अंतर्गत, विकास अधिकारी में सन्निहित किया गया है।[10] चतुर्थ श्रेणी सेवाओं के अतिरिक्त और उससे उच्च कोटि के अन्य पदों पर नियुक्तियां अधिनियम के अधीन गठित राजस्थान पंचायत समिति और जिला परिषद् सेवा के लिए, विहित रीति से, चुने गए व्यक्तियों में से पंचायत समिति द्वारा किए जाने का प्रावधान किया गया है।[11]

पंचायत समिति में नियुक्त अधिकारी और कार्मिक वर्ग पंचायत समिति पर अधिनियम द्वारा अधिरोपित कर्तव्यों के निर्वाह और शक्तियों के प्रयोग के लिए उत्तरदायी बनाए गए हैं। पंचायत समिति में नियुक्त समस्त राजपत्रित अधिकारियों को, पंचायत समिति या उनकी स्थायी समितियों की बैठकों में उपस्थित होने और अपने विभागों से संबंधित विषयों के संबंध में ऐसी बैठकों में विचार–विमर्श के लिए उत्तरदायी बनाया गया है।[12]

जिला परिषद् का कार्मिक वर्ग

पंचायतीराज की शीर्षस्थ इकाई जिला परिषद् के कर्मचारिवृन्द के विषय में अधिनियम उपबन्ध करता है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा या राजस्थान प्रशासनिक सेवा का कोई अधिकारी (या ग्रामीण विकास विभाग द्वारा विशेष रुप से चयनित कोई परियोजना निदेशक) जिला परिषद् का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होगा जो सरकार द्वारा नियुक्त

किया जाएगा। इसी प्रकार, सरकार किसी जिला परिषद् के लिए एक अधिकारी को अपर मुख्य कार्यपालक अधिकारी के रूप में ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों पर नियुक्त कर सकेगी, जो इस निमित्त निर्धारित किए जाएं।[13] प्रत्येक जिला परिषद् के लिए सरकार द्वारा एक मुख्य लेखाधिकारी जिला प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी और एक मुख्य आयोजना अधिकारी की नियुक्ति भी की जाएगी।[14] इसी प्रकार अधिनियम में आगे कहा गया है कि सरकार समय-समय पर प्रत्येक जिला परिषद् में इतने अधिकारी पदस्थापित करेगी, जितने वह आवश्यक समझे, साथ ही राज्य सरकार को इन अधिकारियों/पदाधिकारियों को एक जिले से दूसरे जिले में स्थानान्तरित करने की शक्ति भी प्रदान की गई है।[15]

जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी और अन्य अधिकारियों की शक्तियों और कृत्यों के विषय में विवरण पुस्तक के जिला परिषद् से सम्बन्धित पूर्ववर्ती अध्याय में दिया जा चुका है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान का **यह नया अधिनियम** पंचायती राज संस्थाओं के **प्रत्येक स्तर पर कार्मिक वर्ग की सुस्पष्ट व्यवस्था करता है।** अधिनियम में राज्य के लिए राजस्थान पंचायत समिति और जिला परिषद् सेवा के रूप में अभिहित एक सेवा के गठन का प्रावधान करते हुए इस सेवा में सम्मिलित पदों और संवर्गों के लिए चयन, अस्थायी नियुक्ति, पदोन्नति, अनुशासनिक कार्यवाहियां एवं इसी प्रकार के अन्य कार्मिक मामलों पर परामर्श के लिए जिला स्थापन समितियों के गठन और कृत्यों का उल्लेख किया गया है। आगामी पंक्तियों में इनका विवरण दिया जा रहा है।

नवीन अधिनियम के अन्तर्गत पंचायत समिति और जिला परिषद् सेवा का गठन

पूर्व में 1959 के राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम के अंतर्गत पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारिवृन्द की भर्ती, नियुक्ति इत्यादि के लिए कोई स्पष्ट रीति-नीति और प्रावधान नहीं किए गए थे। उन समस्त विसंगतियों को नूतन अधिनियम में दूर करते हुए राज्य के लिए राजस्थान पंचायत समिति और जिला परिषद् सेवा के रूप में एक सेवा गठित किए जाने और उसके लिए जिलेवार भर्ती किए जाने का प्रावधान किया गया है। इन सेवाओं को विभिन्न प्रवर्गों में, और विभिन्न प्रवर्गों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकेगा जिसमें ग्रामसेवक, ग्रामसेविकाएं, प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक और लिपिक वर्ग (लेखाकारों और कनिष्ठ लेखाकारों को छोड़कर) और प्रबोधक और वरिष्ठ प्रबोधक प्रमुखतः होंगे।[16]

राज्य सरकार इस सेवा कैडर में सम्मिलित किए गए प्रत्येक श्रेणी और प्रत्येक प्रवर्ग के अधिकारियों और कर्मचारियों के कर्तव्य, कृत्य और शक्तियाँ निर्धारित कर सकेगी।[17] इन सेवाओं के समस्त पदों पर नियुक्तियां :

(क) सीधी भर्ती द्वारा,या
(ख) पदोन्नति द्वारा, या
(ग) स्थानान्तरण द्वारा की जाएँगी।[18]

सीधी भर्ती द्वारा नियुक्ति

किसी पंचायत समिति या जिला परिषद् में भर्ती राज्य सरकार के द्वारा इस निमित्त बनाए गए नियमों के अनुसार तथा अधिनियम की धारा 90 की उपधारा (1) में निर्दिष्ट जिला स्थापन समिति द्वारा जिले में किसी श्रेणी या प्रवर्ग के पदों के लिए चयनित व्यक्तियों में से की जाएगी।[19] इसी प्रकार अधिनियम यह प्रावधान भी करता है कि जब तक जिला स्थापन समिति द्वारा चयनित व्यक्ति उपलब्ध न हो, नियुक्ति प्राधिकारी 6 माह की अवधि के लिए, विहित रीति से अस्थायी आधार पर नियुक्तियां कर सकेगा और उक्त कालावधि जिला स्थापन समिति के परामर्श के पश्चात् ही बढ़ाई जा सकेगी।[20] **पदोन्नति द्वारा नियुक्ति** के संबंध में अधिनियम में कहा गया है कि जिला स्थापन समितियों द्वारा तैयार की गई सूचियों में से विहित रीति से पदोन्नति की जा सकेगी, और सम्बन्धित पंचायत समितियों या जिला परिषदों के प्रधानों या जिला प्रमुखों से परामर्श करने के पश्चात् जिनसे और जिनमें स्थानान्तरण किया जाना है कर्मचारियों का **स्थानान्तरण किया जा सकेगा**।[21]

जिला स्थापन समिति का गठन और कृत्य

1959 के अधिनियम के अंतर्गत 70 से 80 के दशक तक "पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा चयन आयोग" कार्यरत था जो पंचायती राज संस्थाओं के अधीन भर्ती एवं नियुक्ति के कार्यों की देखभाल करता था। इस आयोग की निष्क्रियता को देखते हुए राज्य सरकार ने 1987 में इसका विलोपन कर दिया और उसके स्थान पर अधिनियम में संशोधन करते हुए जिला स्थापन समितियों का गठन किया है। इन्हीं जिला स्थापन समितियों को प्रत्येक जिले में उस जिले की पंचायती राज संस्थाओं में विभिन्न श्रेणियों और प्रवर्गों के पदों के लिए, नियमानुसार चयन करने का दायित्व दिया गया है।

अब नए पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 90 में भी प्रत्येक जिले के लिए एक जिला स्थापन समिति के गठन को स्थान दिया गया है। अधिनियम की उक्त धारा के प्रावधानों के अनुसार समिति का गठन इस प्रकार होगा :

1. जिला प्रमुख, **अध्यक्ष;**
2. मुख्य कार्यपालक अधिकारी, **सदस्य;**
3. जिला प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी जहाँ उक्त समिति के समक्ष के मामले का सम्बन्ध किसी प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक की नियुक्ति अथवा उसके विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाहियों से हो, **सदस्य;** और
4. सक्षम प्राधिकारी द्वारा नाम निर्देशित कोई एक अधिकारी, **सदस्य।**

जिला स्थापन समिति से अपेक्षा की गई है कि वह :

(क) जिले में पंचायत समिति और जिला परिषद् की सेवा में विद्यमान विभिन्न श्रेणियों और प्रवर्ग के पदों के लिए चयन, इस निमित्त राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार करेगी,

(ख) अस्थायी नियुक्ति को ढंग से विनियमित करेगी और ऐसी नियुक्तियों में 6 माह से कम की वृद्धि के लिए व्यक्तियों के नामों की अनुशंसा करेगी,

(ग) विहित रीति से पदोन्नति के लिए व्यक्तियों की सूचियां तैयार करेगी, और

(घ) जिले की पंचायत समितियों और जिला परिषद् को, अधिनियम की धारा 79 और 82 में निर्दिष्ट से भिन्न, उनके अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों को प्रभावित करने वाले उन सभी अनुशासनिक मामलों पर जो अधिनियम की धारा 91 के अधीन उत्पन्न हो, परामर्श दे सकेगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पंचायत समितियों सहित जिले की पंचायती राज संस्थाओं में नियुक्त किए जाने वाले कर्मचारियों के चयन, अस्थायी नियुक्तियों को मान्यता, पदोन्नति एवं अनुशासनिक मामलों सहित समस्त कार्मिक आयामों पर निर्णय लेने के लिए जिला स्थापन समितियों को अधिनियम द्वारा अंतिम अधिकार प्रदान किया गया है। यहाँ यह अंकित करना समीचीन प्रतीत होता है कि जिला स्थापन समितियों की इस वैधानिक भूमिका से पंचायती राज संस्थाओं की स्वायत्तता एक सीमा तक सुनिश्चित हो सकेगी। यद्यपि इस संदर्भ में स्थानीय दबावों से जिला स्थापन समिति को मुक्त रखने के आवश्यक उपायों पर भी राज्य सरकार को गम्भीरता से चिन्तन करना होगा।

इस विवरण से स्पष्ट है कि राज्य की पंचायती राज संस्थाओं में भर्ती पूर्व की भाँति ही, अब नए अधिनियम के अन्तर्गत भी निम्न प्रकार होनी प्रस्तावित है :[22]

(क) प्रत्येक वर्ग के निम्नतम ग्रेड में सीधी भर्ती द्वारा,

(ख) उसी वर्ग में निचले ग्रेड से ऊंचे में पदोन्नति द्वारा, और

(ग) किसी भी पंचायत समिति, जिला परिषद् या सरकार के अधीन समान रूप पदों पर काम करने वाले व्यक्तियों के स्थानान्तरण द्वारा।

पूर्व आयोग का विलोपन

राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद् सेवा में निष्पक्ष भर्ती के लिए राज्य स्तर पर एक सेवा चयन आयोग आरम्भ में राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद् अधिनियम के अधीन नवम्बर, 1959 में स्थापित किया गया था।[23] यद्यपि इसकी स्थापना की अधिसूचना 1961 में जारी हो पाई थी। इसके पश्चात् इस आयोग के कार्यों में विस्तार किया गया और पश्चात्वर्ती वर्षों में इसके कार्यों में पंचायत समिति तथा जिला परिषदों में कर्मचारियों की भर्ती के अतिरिक्त नगर पालिकाओं में अधीनस्थ एवं मंत्रालयिक कर्मचारियों की भर्ती का कार्य भी जोड़ दिया गया।[24] आयोग के कार्यों में इस विस्तार के कारण आयोग का नाम भी परिवर्तित कर दिया गया और इसे "राजस्थान पंचायत एवं स्वायत्त शासन अधीनस्थ सेवा आयोग" के नाम से अभिहित किया गया।[25] आयोग का प्रमुख कार्यालय जयपुर में स्थित था। इसका राज्य स्तर पर गठन अवश्य किया गया था किन्तु व्यवहार में चयन की सारी प्रक्रिया जिले के स्तर पर ही संचालित की जाती थी। प्रत्येक जिले में रिक्त पदों का जिलेवार विज्ञापन जिला परिषद् के द्वारा ही जारी किया जाता था किन्तु प्रत्याशियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने आवेदन पत्र जयपुर स्थित

कार्यालय में ही प्रस्तुत करेंगे। व्यावहारिक स्थिति यह रही है कि आयोग का अध्यक्ष या एक सदस्य एवं सम्बन्धित जिले का जिला प्रमुख मिलकर पंचायत समिति एवं जिला परिषद् सेवा हेतु रिक्त पदों पर भर्ती का कार्य करते थे। इस आयोग को अन्तर्जिला स्थानान्तरण करने का अधिकार भी प्रदान किया गया था।

आयोग की कार्य प्रणाली और जिलों में उसके द्वारा सम्पादित चयन प्रक्रिया के विषय में विभिन्न समितियों ने विचार किया और यह पाया कि जिस उद्देश्य के लिए आयोग का गठन किया गया था वह पूरा नहीं हो पाया।[26] इस कारण नए अधिनियम के प्रवर्तन के साथ ही इस आयोग का विलोपन कर जिला स्थापन समितियों को आयोग के कृत्यों के निर्वहन हेतु उत्तरदायी बना दिया गया है।

पदोन्नति तथा स्थानान्तरण द्वारा भर्ती की प्रक्रिया

अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित सेवा नियमों में यह प्रावधान भी किया गया है कि उच्चतर पदों पर ऐसे लोगों को भी नियुक्त किया जा सकेगा जो पदोन्नति के प्रयोजन से इन सेवाओं में वरिष्ठता एवं योग्यता के मानदंडों पर खरे उतरते हैं। इस प्रकार की पदोन्नति के लिए उम्मीदवार का चुनाव करने में उनकी तकनीकी योग्यताएं, उनका चातुर्य, काम करने की शक्ति तथा बुद्धि, उनकी ईमानदारी तथा सेवा के उनके पूर्व रेकार्ड का ध्यान रखा जाता है। जब कभी भी सेवा की विभिन्न श्रेणियों तथा वर्गों में रिक्त स्थान पदोन्नति द्वारा भरे जाने हैं तब जिला स्थापन समिति या जिला परिषदों से अनुशंसाएं आमंत्रित की जाएगी। जिन व्यक्तियों को पदोन्नति दी जानी है या जिन्हें अधिक्रमित किया जाना है उनकी वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट तथा उनके सेवा सम्बन्धी अन्य रिकार्ड पर विचार करने के पश्चात् उन व्यक्तियों की उच्च श्रेणी में पदोन्नति हेतु जिलेवार सूची प्रकाशित की जाएगी और यदि किन्हीं व्यक्तियों को पदावनत किया गया है तो उसके कारण भी बताए जाएँगे। इस प्रकार की पदोन्नति हेतु पात्रता का क्षेत्र वरिष्ठता एवं योग्यता या केवल योग्यता या दोनों के आधार पर भरे जाने वाले रिक्त स्थानों की संख्या का पाँच गुणा रखा जाता है।

किसी पंचायत समिति या जिला परिषद् को इस प्रकार की मांग प्राप्त होने पर कि सेवा में किसी पद पर पदोन्नति से या अन्य पंचायत समिति या जिला परिषद् से स्थानान्तरण से नियुक्ति के लिए सेवा का कोई सदस्य उपलब्ध नहीं है और वह पद उसके समान राज्य सेवा में पद धारण करने वाले व्यक्ति के स्थानान्तरण द्वारा भरा जाना है, तो सम्बन्धित जिला अधिकारी ऐसे सरकारी कर्मचारी की सहमति द्वारा और सम्बन्धित विभागाध्यक्ष की अनुमति के बाद जिला स्थापन समिति को ऐसे व्यक्ति के स्थानान्तरण के लिए अनुशंसा भेजेगा। जिला स्थापन समिति ऐसे व्यक्ति को सम्बन्धित पंचायत समिति या जिला परिषद् को आवंटित करेगी और उसके पश्चात् वह व्यक्ति राजस्थान पंचायत समिति (विकास अधिकारियों, प्रसार अधिकारियों और अन्य अधिकारियों की प्रतिनियुक्ति की शर्तें) नियमों में वर्णित शर्तों पर उस पद पर नियुक्त किया जाएगा।

अस्थायी नियुक्तियां

यदि किसी रिक्त पद का भरा जाना अत्यावश्यक रूप से अपेक्षित हो और उस अवस्था में जबकि आयोग द्वारा चयनित कोई व्यक्ति उपलब्ध न हो तो 6 महीने की अवधि के लिए नियोजक प्राधिकारी द्वारा अस्थायी नियुक्ति की जा सकती है। इस प्रकार के रिक्त पद के लिए यदि सीधी भर्ती की जानी है तो निकटतम नियोजन कार्यालय से अपेक्षित योग्यता रखने वाले व्यक्तियों के रिक्तियों की संख्या से कम से कम पाँच गुणा व्यक्तियों के नाम मंगाने होंगे और उस सूची में से नियोजन अधिकारी उपयुक्त उम्मीदवार का चयन करेगा। किन्तु यदि इस प्रकार के रिक्त स्थान को पदोन्नति द्वारा भरे जाने का प्रस्ताव है तो निम्न श्रेणियों में से सबसे वरिष्ठ कर्मचारी को ऐसे पद पर नियुक्ति दी जा सकेगी। इस प्रकार की गई नियुक्तियां एक वर्ष की अवधि से अधिक जिला स्थापन समिति की सहमति के बिना जारी नहीं रखी जा सकेंगी। इस नियम के अन्तर्गत की गई अस्थायी नियुक्ति, जैसे ही उक्त समिति द्वारा चुना गया उम्मीदवार उपलब्ध हो, समाप्त हो जाएगी।

राजस्थान की पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के लिए भी उनकी भर्ती, पदोन्नति, और सेवा के अन्य आयामों के लिए आवश्यक नियम घोषित किए हुए हैं। चतुर्थ श्रेणी सेवा के लिए की जाने वाली भर्ती, अनुसूचित जाति, जन जाति के लिए आरक्षण, आयु, स्थानान्तरण, वेतन, अवकाश, भत्ते, पेन्शन इत्यादि आवश्यक नियम इन सेवा नियमों में घोषित किए गए हैं।

पदोन्नति की संभावनाओं से सेवाओं को यद्यपि प्रोत्साहन मिलता है। अच्छे और कुशल कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए सेवाओं में पदोन्नति के संबंध में एक निश्चित और पूर्व निर्धारित नीति आवश्यक है। सेवाओं के सदस्य अपनी भावी पदोन्नति की उन संभावनाओं, जो उन्हें मिल सकती है, का अनुमान लगाने की स्थिति में होने चाहिए। पदोन्नति के लिए निष्पक्ष व्यवस्था भी आवश्यक मानी जाती है। इस सम्बन्ध में पंचायती राज क़ी विभिन्न स्तरों की संस्थाओं में किसी सुव्यवस्थित और सुचिंतित नीति के अभाव को देखते हुए सादिक अली समिति ने यह अभिशंसा की थी कि पदोन्नति नीति और उससे संबंधित सिद्धांत राज्य सरकार द्वारा निर्धारित किए जाने चाहिए। यद्यपि इस निर्धारित नीति के अनुरूप कर्मचारियों के वास्तविक निर्णय जिला स्तर पर जिला परिषद् के द्वारा किए जाने चाहिए। समिति का यह भी मत था कि जिले की सामूहिक वरिष्ठता सूची तैयार की जाए और पदोन्नति वरिष्ठता सूची के आधार पर वरिष्ठता एवं योग्यता के सिद्धांतों के अनुसार ही की जाए।[27]

इस समिति ने ग्रामीण प्रशासन की इन संस्थाओं में कार्य करने वाले ग्रामसेवकों, प्रसार अधिकारियों, अध्यापकों एवं विकास अधिकारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रतिवेदन में अंकित किए थे। समिति ने यह सुझाव दिया था कि सहकारिता प्रसार अधिकारियों के कम से कम 25 प्रतिशत पद ग्रामसेवकों में से पदोन्नति के द्वारा भरे जाने चाहिए तथा कृषि प्रसार अधिकारियों के सम्बन्ध में भी ग्रामसेवकों की पदोन्नति का प्रतिशत इसी अनुरूप बढ़ाया जाना चाहिए। समिति ने यह भी अंकित किया था कि ग्रामसेवकों को

कृषि प्रसार अधिकारी के रूप में पदोन्नत किए जाने की स्थिति में उन्हें कृषि कॉलेजों में लगभग 6 माह का अल्पकालीन प्रशिक्षण दिया जा सकता है। शिक्षा प्रसार अधिकारी के पदों पर पदोन्नति अध्यापकों में से की जानी चाहिए जिससे शिक्षा विभाग में सबसे नीचे के स्तर के ये कर्मचारी भी पदोन्नति की संभावनाओं से प्रेरित होकर अपना उत्साह बनाए रख सकें। इस उपाय से अध्यापकों को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा।[28]

अनुशासनात्मक कार्यवाही

राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् सेवाओं में अनुशासन बनाए रखने के लिए भी कुछ नियम बनाए गए हैं। पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के अनुशासन हेतु निर्मित ये नियम राजस्थान असैनिक सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण एवं अपील) नियमों के आधार पर ही बनाए गए हैं। इन नियमों में कर्मचारियों के निलम्बन, दंड के प्रकार, साधारण दंड की प्रक्रिया, संयुक्त जाँच, विशेष मामलों की प्रक्रिया, अपीलों की विषय सामग्री, उसका प्रस्तुतीकरण, सम्प्रेषण तथा अपील को रोकना और उसकी क्रियान्विति इत्यादि की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसी प्रकार राजस्थान की पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों में कर्मचारियों के सेवा निवृति लाभ के लिए भी राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद् संवर्ग एवं पेन्शन भोगी आचरण नियम निर्मित किए गए हैं।

प्रशिक्षण

आधुनिक लोककल्याणकारी सरकारों के सभी स्तरों के समक्ष लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप खरा उतरने की गम्भीर चुनौती विद्यमान है। सभी के समक्ष उपस्थित इस चुनौती के कारण शासन और प्रशासन दोनों के लिए निरन्तर यह चिन्ता और चिन्तन का विषय है कि लोगों को प्रदान की जाने वाली सेवाओं का प्रभावी और कुशल निष्पादन कैसे किया जाए? वस्तुतः इस गम्भीर चुनौती का हल प्रशासन तंत्र की क्षमता में, प्रशिक्षण के माध्यम से, वृद्धि द्वारा किया जा सकता है। इसीलिए प्रशासन के सभी स्तरों पर विशेष तौर से पंचायती राज की उन संस्थाओं, जो विकास कार्यक्रमों के निष्पादन में गंभीर भूमिका निभाती हैं, के लिए प्रशिक्षण और भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने यह विचार व्यक्त किया था कि "सामुदायिक विकास कार्यक्रम", जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण समाज की रचना को परिवर्तित करना और हमारे विचारों और कार्यों में परिवर्तन करना है, यदि कभी अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल होते हैं तो वह इसलिए नहीं कि इसके लिए धन की कमी है अपितु सम्भवतः इसलिए होगा कि हमारे पास प्रशिक्षित कार्मिकों की कमी है।[29] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रणेता इस तथ्य से भली भांति अवगत थे कि ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की अपरिहार्य आवश्यकता है।

राजस्थान की पंचायती राज संस्थाओं में प्रशिक्षण

राजस्थान में प्रारम्भ से ही सामुदायिक विकास कार्यक्रम और उसके पश्चात् पंचायती राज की संस्थाओं में समुचित प्रशिक्षण को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। राज्य

सरकार ने यह भलीभांति अनुभव किया है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रणाली में, जिसका उद्देश्य निर्वाचित प्रतिनिधियों को सत्ता का हस्तान्तरण करना है, जन प्रतिनिधियों के लिए उचित प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। इसी के साथ सरकार ने इन संस्थाओं में संलग्न सेवाओं के लिए भी परिवर्तित परिवेश में प्रशिक्षण को आवश्यक समझा है।[30] 1959 में जब पंचायती राज की संरचना का शुभारंभ राजस्थान में किया गया तब प्रशिक्षकों के लिए प्रशिक्षण सेवाओं का आयोजन किया गया था। यही नहीं ग्रामीण जनता तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों को पंचायती राज के उद्देश्यों के विषय में शिक्षित करने के लिए कदम उठाए गए और इसके अन्तर्गत प्रत्येक पंचायत क्षेत्र में प्रसार अधिकारी या एक सामाजिक कार्यकर्ता को गाँवों में भेजा गया जिसने पंचायती राज की योजना और व्यवस्था को समझाने के लिए गाँवों में सामान्य सभाओं का आयोजन किया। इसी प्रकार उदयपुर में मंत्रियों, प्रमुखों, प्रधानों तथा सामुदायिक विकास एवं पंचायती राज से सम्बन्धित राज्य एवं केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों के शिविर भी आयोजित किए गए। इन संस्थाओं के निर्वाचित सदस्यों तथा ग्रामीण नीतियों के प्रशिक्षण के लिए भी विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन किया गया।

ग्राम सेवक एवं पदेन सचिव ग्राम पंचायत का प्रशिक्षण

राजस्थान में पहले ग्राम सेवक और पंचायत समिति के सचिव के पद पृथक् थे किन्तु अब इन दोनों पदों को एक कर दिया गया है। राजस्थान में ग्राम सेवकों के लिए प्रशिक्षण की सार्थक आवश्यकता सबसे पहले अनुभव की गई। यही कारण है कि पंचायती राज संस्थाओं में ग्राम सेवक के प्रशिक्षण के लिए सबसे पहले प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना के कदम उठाए गए। ग्राम सेवक ऐसा कार्यकर्ता होता है जो ग्रामीण जनता के सर्वाधिक निकट संपर्क में रहकर कार्य करता है। इसीलिए इनके प्रशिक्षण की गहन आवश्यकता अनुभव की गई और आरम्भ में उनका प्रशिक्षण जो केवल 6 माह के लिए होता था अब 2 वर्ष का कर दिया गया है।

सन् 1961 में ग्राम सेवकों को उच्च शिक्षा और उच्च प्रशिक्षण के लिए कृषि महाविद्यालयों और प्रशिक्षण केन्द्रों में भेजने की व्यवस्था आरम्भ की गई। कतिपय ग्राम सेवकों को पशु चिकित्सा में स्नातक डिग्री के अध्ययन के लिए भी भेजा गया। किन्तु कालान्तर में ऐसी योजनाएं जारी नहीं रह सकीं और आर्थिक कठिनाइयों के कारण राज्य सरकार ने प्रशिक्षण के इस व्यापक कार्यक्रम को प्रायः बन्द कर दिया। इस स्थिति का प्रमुख कारण यह भी था कि नई कृषि विस्तार योजना के अन्तर्गत कृषि प्रसार का सम्पूर्ण कार्य कृषि विभाग ने अपने हाथ में ले लिया और इस हेतु ग्राम विस्तार कार्यकर्ताओं की नियुक्तियां की गईं। इसक परिणाम यह हुआ कि ग्राम विस्तार कार्यकर्ताओं के नए पदों का सृजन किया गया और इन पदों पर तीन वर्ष से अधिक समय से कार्यरत ग्राम पंचायत के सचिवों को छटनी (स्क्रीनिंग) करते हुए इस पद पर नियुक्त किया गया है। ग्राम सेवकों को भी इन पदों पर समायोजित किया गया। ग्राम सेवक तो पहले से ही 2 वर्ष का सेवा पूर्व प्रशिक्षण प्राप्त किए हुए थे। इसके अतिरिक्त नव नियुक्त ग्राम सेवक एवं पदेन सचिव ग्राम पंचायत को राज्य सरकार द्वारा एक समिति की अनुशंसा के आधार पर 6–6 माह

का प्रशिक्षण दिया गया है। यह प्रशिक्षण जोधपुर के पास मण्डोर प्रशिक्षण केन्द्र में दिया जाता है। राज्य सरकार ने इस प्रशिक्षण को 6 माह से बढ़ाकर एक वर्ष करने की योजनाएं भी बनाई है।[31]

ग्राम सेविका, अध्यापक और महिला प्रशिक्षण

1970 के दशक में राजस्थान में कोटा और मण्डोर में ग्राम सेवकों के प्रशिक्षण के दो केन्द्र थे जिनमें से कोटा केन्द्र को 1975 में बन्द कर देने के कारण केवल मण्डोर प्रशिक्षण केन्द्र ही चल रहा है। राजस्थान में ग्राम सेवकों के पद समाप्त कर दिए जाने के पश्चात् प्राथमिक शालाओं की महिला अध्यापिकाओं को ही मण्डोर प्रशिक्षण केन्द्र में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था चल रही है। ग्राम स्तर पर जो महिला कार्यकर्ता और सेविकाएँ कार्यशील हैं उनके भी अल्प अवधि के प्रशिक्षण कार्यक्रम इस केन्द्र में आयोजित किए जाते हैं।

अन्य प्रमुख प्रशिक्षण संस्थान एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम

हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान, जयपुर/उदयपुर

यह सर्वविदित है कि राजस्थान में हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान जयपुर और इसकी उप शाखा उदयपुर राज्यस्तरीय लोक सेवकों के प्रशिक्षण के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निष्पादन कर रही है। यह संस्थान 1982–83 के पश्चात् से पंचायती राज के क्षेत्र में कर्मचारियों और जन प्रतिनिधियों को प्रशिक्षित करने के लिए अनेक प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संचालन कर रहा है। उदयपुर स्थित सामुदायिक विकास और पंचायती राज संस्थान द्वारा जो कार्य निष्पादित किया जा रहा था उन कार्यों को अब हरिश्चन्द्र माथुर संस्थान को सौंप दिया गया है और सामुदायिक विकास संस्थान अब केवल ग्रामीण विकास अध्ययन केन्द्र के रूप में कार्यशील है। जयपुर स्थित लोक प्रशासन संस्थान में भी ग्रामीण स्थानीय शासन की इन इकाइयों–पंचायत समिति तथा जिला परिषद् के जन प्रतिनिधियों तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा रही है। ग्रामस्तरीय जन प्रतिनिधियों तथा राज्य कर्मियों के प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व यद्यपि ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभागों को दिया गया है किन्तु व्यवहार में इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु अब जयपुर स्थित इंदिरा गांधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान नूतन भूमिका निष्पादित कर रहा है।

जब से राज्य सरकार ने अधिकांश पंचायत समितियों में विकास अधिकारियों के रूप में राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारी नियुक्त करने का निर्णय लिया है तब से नव नियुक्त ऐसे विकास अधिकारियों को पंचायती राज की संस्थाओं से संबंधित 15 दिवसीय आगमन प्रशिक्षण कार्यक्रम का आयोजन हरिश्चन्द्र माथुर प्रशिक्षण संस्थान द्वार जयपुर में किया जाता है। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से पंचायत समितियों में नियुत्त किए जाने वाले राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को राजस्थान से सम्बन्धि भौगोलिक और आर्थिक विकास से सम्बन्धित जानकारी के अलावा पंचायती राज औ ग्रामीण विकास के दायित्वों से अवगत कराया जाता है और उन्हें इस हेतु तैयार किय

जाता है कि वे विकास के श्रेष्ठ संस्थान के रूप में पंचायत समितियों का प्रशासनिक नेतृत्व कर सकें।[32] इसके अतिरिक्त भारत सरकार एवं राज्य सरकार की सहायता से यह संस्थान विभिन्न स्तरों के अधिकारियों तथा जन प्रतिनिधियों के लिए अल्प अवधि के प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा संगोष्ठियों का भी समय–समय पर आयोजन करता रहा है।

इंदिरा गाँधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान, जयपुर

राजस्थान में पंचायती राज के क्षेत्र में अध्ययन–अध्यापन, प्रशिक्षण और अनुसंधान के क्षेत्र में पहल करने एवं तत्सम्बन्धी कार्य करने के लिए 1984–85 में इंदिरा गांधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान की स्थापना की गई है। राजस्थान में राज्य स्तर पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उत्तरी भारत में पंचायती राज की एक स्तरीय संस्था के रूप में इस संस्थान ने अपना एक विशिष्ट स्थान इस अल्प अवधि में बना लिया है। यह संस्थान पंचायती राज की संस्थाओं में सरकारी एवं गैर–सरकारी अधिकारी तथा जन प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण के लिए कार्यक्रमों का आयोजन करने लगा है। पंचायत समितियों के विकास अधिकारियों तथा प्रधानों, जिला परिषदों के प्रमुखों, सरपंचों एवं विभागीय अधिकारियों, जिला परिषद् के कार्यकारी अधिकारी तथा पंचायत समितियों के पशुपालन, सहकारिता, कृषि एवं पंचायत शिक्षा तथा इसी प्रकार के अन्य प्रसार अधिकारियों और लेखाकार, कनिष्ठ लेखाकार, सहायक अभियंता एवं पंचायती राज संस्थाओं में निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों को उनके दायित्वों के निष्पादन के लिए विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का नियोजन और निरूपण यह संस्थान कर रहा है। राज्य सरकार की यह अभिलाषा है कि यह संस्थान पंचायती राज से सम्बन्धित विभिन्न अधिकारियों तथा कर्मचारियों एवं स्थानीय जन प्रतिनिधियों में उचित समन्वय और ग्रामीण विकास के प्रति रुझान विकसित करने के लिए एक आदर्श संस्थान के रूप में विकसित हो। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए यह संस्था पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास पर तीन दिवसीय, एक सप्ताह तथा कभी–कभी एक पखवाड़े के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करती रही है। यह संस्थान पंचायती राज संस्थाओं में नियुक्त होने वाले नवीन अधिकारियों या नवीन जन प्रतिनिधियों के लिए 15 दिवसीय आगमन प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करता है तथा इसी प्रकार पूर्व में जो अधिकारी तथा जन प्रतिनिधि आगम प्रशिक्षण कार्यक्रम से लाभान्वित हो चुके हैं, उनके लिए 3 दिवसीय संगोष्ठियों और पुनश्चर्या प्रशिक्षण आयोजित करने का प्रयत्न करता है। यह संस्थान निरन्तर पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास के क्षेत्र में, अपने नाम के अनुरूप, अध्ययन–अनुसंधान तथा प्रशिक्षण के संवर्द्धन के लिए प्रयत्नशील है। इस संस्थान में भारतीय प्रशासनिक सेवा, राजस्थान प्रशासनिक सेवा और राजस्थान लेखा सेवा आदि के विभिन्न अधिकारी प्रतिनियुक्ति पर भेजे गए हैं और सरकार यह चाहती है कि एक उत्कृष्ट प्रशिक्षण और अनुसंधान संस्थान के रूप में यह अपनी ख्याति अर्जित करे।[33]

राजस्थान में हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान तथा इंदिरा गाँधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान दोनों ही इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि पंचायती राज की संस्थाओं में जो नियंत्रक अधिकारी नियुक्त हैं चाहे वे जिलाधीश,

विकास अधिकारी, मुख्य कार्यकारी अधिकारी, प्रसार अधिकारी हों और चाहे विभिन्न स्तरों के जन प्रतिनिधि हों उन सब के मध्य परस्पर सौहार्द्र और समन्वय स्थापित किया जाए। संस्थान अपने द्वारा आयोजित संगोष्ठियों से पंचायती राज संस्थाओं के स्वशासन और संरचना, पंचायती राज के आर्थिक विकास के विभिन्न पक्षों, राजस्थान की भौगोलिक परिस्थितियों और पर्यावरणीय चुनौतियों तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों और उससे सम्बन्धित संस्थागत ढांचे और न्यूनतम आवश्यकताओं तथा राज्य सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए चलाये जा रहे शैक्षिक, चिकित्सा सम्बन्धी और अन्य कार्यक्रमों की समस्याओं एवं समाधान से सम्बन्धी चर्चा को प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार की संगोष्ठियों में समूह चर्चा पर विशेष बल दिया जाता है। गोष्ठियों में सम्भागियों की संख्या जब अधिक होती है तो उसे विभिन्न छोटे–छोटे कार्यकारी दलों में विचार–विमर्श के पश्चात् जो सर्वश्रेष्ठ बिन्दु उभरकर सामने आते हैं उन पर पूरी गोष्ठी में विचार–विमर्श और बहस को प्रोत्साहन दिया जाता है। समीक्षकों की ऐसी मान्यता है कि अधिकारियों एवं जन प्रतिनिधियों के लिए आयोजित इस प्रकार के सामूहिक प्रशिक्षण कार्यक्रम बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उनका ऐसा मानना है कि इन संगोष्ठियों के माध्यम से अधिकारी और जन प्रतिनिधियों को न केवल एक–दूसरे को समझने का अवसर मिलता है अपितु एकजुट होकर कार्य करने की प्रेरणा भी मिलती है।[34]

ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय संस्थान, हैदराबाद

पंचायती राज में कार्यरत कर्मचारियों और इन संस्थाओं में चुने हुए जन प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर भी एक प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना 1958 में मंसूरी में की गई थी। 1964 में इस संस्थान को मंसूरी से हैदराबाद स्थानान्तरित कर दिया गया और उसके एक वर्ष पश्चात् उसका एक रजिस्ट्रीकृत संस्थान के रूप में पंजीकरण कर लिया गया। यह संस्थान ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय संस्थान के नाम से जाना जाता है। इस संस्थान की स्थापना अग्रलिखित उद्देश्यों को आधार बनाकर की गई थी :[35]

1. सरकारी कर्मचारियों एवं गैर सरकारी कार्यकर्ताओं की सामुदायिक विकास और पंचायती राज के सिद्धांतों तथा उद्देश्यों के विषय में प्रशिक्षण हेतु शीर्षस्थ संस्था के रूप में कार्य करने के लिए।
2. देश के विभिन्न भागों के प्रशिक्षण केन्द्रों का शैक्षणिक मार्गदर्शन और प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण।
3. सामुदायिक विकास कार्यक्रम और इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रमों के माध्यम से सुनियोजित सामाजिक परिवर्तन को महत्त्व देते हुए समाज विज्ञान में अध्ययन और अनुसंधान को प्रोत्साहन।
4. सामुदायिक विकास और पंचायती राज सम्बन्धी सूचना के लिए सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करना।

यह संस्थान इस क्षेत्र में प्रशिक्षण को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य सरकारों को

परामर्श देने का कार्य करता है। इसी क्रम में यह संस्था सरकारी और गैर सरकारी दोनों प्रकार के लोगों को राष्ट्रीय स्तर पर प्रशिक्षण देने का कार्य भी निष्पादित करती है। इस संस्थान द्वारा विनिर्मित पाठ्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य न केवल सामुदायिक विकास और पंचायती राज की विचारधारा को आगे बढ़ाना है अपितु इस क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों के अनुभवों का संवर्द्धन करते हुए उनके विचारों का आदान–प्रदान भी यह संभव बनाता है। संस्थान द्वारा जो प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं उनके माध्यम से पंचायती राज में कार्यरत कर्मचारियों और जन प्रतिनिधियों में विकास के प्रति एक नूतन दृष्टि विकसित की जा रही है।

प्रशिक्षण से सम्बद्ध समस्याएं

पंचायती राज की संस्थाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों एवं निर्वाचित जन प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण के जो कार्यक्रम राजस्थान में तृतीय पंचवर्षीय योजना के काल में आरम्भ किए थे वे आगे जारी नहीं रह सके और प्रशासनिक व्यय में मितव्ययता के नाम पर उनमें से अधिकांश प्रशिक्षण केन्द्र पश्चात्वर्ती वर्षों में बन्द कर दिए गए। गिरधारीलाल व्यास समिति ने भी अपने प्रतिवेदन में सरकार के इस प्रकार के निर्णय की आलोचना की है। समिति ने इस बात पर भी विचार किया कि इस प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्रों का गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा संचालन कितना उपयोगी हो सकता है? समिति विचार विमर्श के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँची कि पंचायती राज के क्षेत्र में प्रशिक्षण देने का कार्य सरकारी अभिकरणों की तुलना में गैर सरकारी अभिकरणों द्वारा अधिक प्रभावी तरीके से नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार की संस्थाओं पर विकास विभाग भी अपना प्रभावी नियंत्रण नहीं रख पाता इसलिए व्यास समिति ने यह अभिशंसा की थी कि ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों को सरकारी क्षेत्र में ही ले लिया जाना चाहिए।[36] राज्य सरकार ने इस अभिशंसा की पालना की दिशा में कोई कार्यवाही पश्चात्वर्ती वर्षों में नहीं की है और अब स्थिति यह है कि प्रशिक्षण का यह कार्य गैर सरकारी क्षेत्र में लगभग बन्द हो गया है। यद्यपि इंदिरा गाँधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान की स्थापना के पश्चात् प्रशिक्षण के क्षेत्र में सरकारी प्रयत्नों को एक निर्णायक गति मिली है।

प्रशिक्षण के क्षेत्र में परिव्याप्त समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या **सुयोग्य प्रशिक्षकों के अभाव** की है। प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता बड़े–बड़े भवनों के निर्माण और आधुनिक उपकरणों की उपलब्धि से ही संभव नहीं है अपितु प्रशिक्षण का स्तर और प्रभावशीलता उन प्रशिक्षकों की योग्यता, दक्षता और ज्ञान पर निर्भर करती है जो प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। भारत भर में यह समस्या सभी क्षेत्रों में अनुभव की जाती है कि प्रशिक्षकों को कैसे और कहाँ उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए? पंचायती राज के क्षेत्र में यह समस्या और भी जटिलता से अनुभव की गई है। इस समस्या के समाधान के लिए हैदराबाद में ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय संस्थान और नीलीखेरी में प्रसार शिक्षा संस्थान में विभिन्न राज्यों के प्रशिक्षण केन्द्रों के प्राचार्यों और अन्य सहयोगी प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। 1965 से पूर्व दिल्ली में भी पंचायती राज पर प्रशिक्षण और शोध के लिए एक केन्द्रीय संस्थान था किन्तु उसके अवसायन के पश्चात् पंचायती राज के प्रशिक्षण कार्यक्रम की गति अवरुद्ध हुई थी। राजस्थान में प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए उदयपुर में विशेष व्यवस्था की गई है। राज्य सरकार राज्य के प्रशिक्षकों को प्रशिक्षण हेतु नीलीखेरी में प्रसार शिक्षा संस्थान में भी भेजती है और उच्च प्रशिक्षण तथा अनुसंधान के लिए हैदराबाद में ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय संस्थान में भी विभिन्न पाठ्यक्रमों में भेजा जाता है। यही नहीं, यदि विदेशों में भी इस प्रकार के अल्पावधि प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन होता है तो राज्य सरकार अपने प्रशिक्षकों को यथासंभव उनमें अनुभव प्राप्त करने के लिए भेजती रहती है।

प्रशिक्षण कार्यक्रमों के सुधार हेतु विचारणीय बिन्दु

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है पंचायती राज की संस्थाओं से जुड़े हुए कर्मचारियों और राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए पंचायती राज के आरम्भिक दिनों में राजस्थान में सरकारी स्तर पर पर्याप्त ध्यान दिया गया था। किन्तु इस संदर्भ में पश्चात्वर्ती वर्षों में सरकारी निर्णय विषादपूर्ण रहे हैं, क्योंकि मितव्यतता के नाम पर राजस्थान सरकार ने इस क्षेत्र में अनेक प्रशिक्षण केन्द्रों को बन्द कर दिया। मानव संसाधन के अधिकतम विकास और उपयोग को सुनिश्चित करने में प्रशिक्षण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस दृष्टि से पंचायती राज के क्षेत्र में राजस्थान में प्रचलित वर्तमान प्रशिक्षण कार्यक्रम अत्यन्त न्यून हैं। स्थिति यह है कि जो प्रशिक्षण केन्द्र और प्रशिक्षण कार्यक्रम चल रहे हैं उनमें उपलब्ध सुविधा और साधनों का भी पूर्ण उपयोग नहीं हो रहा है। यह भी अनुभव किया गया है कि राज्य स्तर पर अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान जयपुर/उदयपुर व इंदिरा गाँधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भी समन्वय का कोई आधारभूत ढाँचा विकसित नहीं किया जा सका है। प्रशिक्षण कार्यक्रमों को अधिक उपयोगी बनाने के विषय में विभिन्न समितियों और अध्ययन दलों द्वारा अनेक सुझाव दिए गए हैं। इन सुझावों के सारांश को यहाँ अभिव्यक्ति दी जा रही है :

1. प्रशिक्षण कार्यक्रमों को अधिकतम प्रभावशील बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण केन्द्रों पर प्रशिक्षण देने के लिए ऐसे प्रशिक्षकों की नियुक्ति की जाए जिन्हें इस विधा में व्यक्तिगत रुचि हो और वे प्रशिक्षण के प्रति पूर्ण लगन और सत्य निष्ठा से कार्य करें। यह सुझाव भी दिया गया है कि प्रशिक्षकों के चयन में अंतिम निर्णय राज्य के विकास विभाग का ही होना चाहिए।
2. ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों में जो प्रशिक्षक नियुक्त किए जाएँ उन्हें निःशुल्क आवासीय सुविधा और कठिन परिश्रम के लिए निर्धारित शुल्क तथा उच्च वेतन जैसे आकर्षक प्रस्ताव किए जाने चाहिए जिनके प्रति आकृष्ट होकर वे भी प्रशिक्षण संस्थानों में अपनी पूर्ण योग्यतानुसार योगदान कर सकें।

3. प्रशिक्षण हेतु विनिश्चित पाठ्यक्रमों का प्रति पाँच वर्ष पश्चात् नवीनीकरण किया जाना चाहिए।
4. जन प्रतिनिधियों और पदाधिकारियों को प्रशिक्षण ऐसे समय दिया जाना चाहिए जब ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि का कार्य अधिक नहीं होता हो।
5. प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों को पर्याप्त रुचिकर बनाया जाना चाहिए। कार्यक्रम के दौरान मनोरंजन एवं राज्य के दर्शनीय व पर्यटक स्थलों के भ्रमण की व्यवस्था द्वारा इन कार्यक्रमों में रुचि बढ़ाई जा सकती है।
6. प्रशिक्षण पाठ्यक्रम पूर्णतः अकादमिक प्रकृति के और पुस्तकों पर आधारित न होकर क्षेत्रीय समस्याओं पर आधारित होने चाहिए।
7. राजस्थान में, **हिन्दी** राज्य के लोगों द्वारा आसानी से समझी जाती है इसलिए प्रशिक्षण का माध्यम और अध्ययन सामग्री अधिकतम हिन्दी में ही उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
8. प्रशिक्षण के माध्यम से ग्रामीणों के दृष्टिकोण परिवर्तन और ज्ञान वृद्धि दोनों उद्देश्यों पर सम्मिलित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।
9. सभी स्तर के कर्मचारियों और जन प्रतिनिधियों के लिए आगमन प्रशिक्षण के अतिरिक्त समय-समय पर पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों का आयोजन भी किया जाना चाहिए।
10. प्रशिक्षण देने वाले प्रशिक्षकों के उच्चस्तरीय प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जानी अपेक्षित है।
11. प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षकों और कर्मचारियों को अन्य प्रशिक्षण केन्द्रों के कर्मचारियों से विचारों का पारस्परिक सामयिक आदान-प्रदान भी किया जाना चाहिए।
12. राज्य सरकार को चाहिए कि पंचायती राज के क्षेत्र में प्रशिक्षण की आवश्यकता को अनुभव करे और तदनुरूप प्रशिक्षण के कार्यक्रमों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध कराए। अब तक का अनुभव इस दिशा में उत्साहवर्द्धक नहीं है। इस स्थिति में परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है।

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारियों तथा जनप्रतिनिधियों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों को 1985 में स्थापित इंदिरा गांधी पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास संस्थान से निर्णायक गति मिली है। राज्य सरकार का यह निर्णय पंचायती राज के प्रशिक्षण के क्षेत्र में यद्यपि उत्साहवर्द्धक स्थिति का संकेत करता है तथापि आवश्यकता इस संस्थान के और अधिक विकास करने की है ताकि यह संस्थान न केवल राजस्थान में अपितु समस्त भारत में पंचायती राज के प्रशिक्षण के क्षेत्र में अपना उत्कृष्ट स्थान और सम्मान बना सके।

पंचायती राज संस्थाओं के कर्मचारियों एवं अधिकारियों पर अनुशासनात्मक कार्यवाही और सेवा निवृत्ति लाभ के संदर्भ में वे ही नियम लागू होते हैं जो नियम राज्य सरकार के शासकीय कर्मचारियों के लिए उक्त सन्दर्भों में प्रवर्तित हैं। इन नियमों का संकेत नगरीय संस्थाओं के कर्मचारियों की सेवा शर्तों से सम्बद्ध विगत अध्याय में किया जा चुका है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. सादिक अली, पंचायती राज अध्ययन की दल की रिपोर्ट, पंचायत एवं विकास विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर 1964 पृ. 174
2. गिरधारीलाल व्यास, हाई पावर कमेटी ऑन पंचायती राज रिपोर्ट, सामुदायिक विकास एवं पंचायत विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर, 1973, पृ. 56
3. इस हेतु **राजस्थान** पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 79, 80, 81, 82, 83, 89 व 90 द्रष्टव्य है।
4. **राजस्थान** पंचायती राज अधिनियम, 1994, धारा 78 (1)
5. **उपर्युक्त**, धारा 78 (2)
6. **उपर्युक्त**, धारा 79 (1)
7. **उपर्युक्त**, धारा 79 (2)
8. **उपर्युक्त**, धारा 80 (1)
9. **उपर्युक्त**, धारा 80 (2)
10. **उपर्युक्त**, धारा 80 (3)
11. **उपर्युक्त**, धारा 80 (4)
12. **उपर्युक्त**, धारा 86
13. **उपर्युक्त**, धारा 82 (1)
14. **उपर्युक्त**, धारा 82 (2)
15. **उपर्युक्त**, धारा 82 (4)
16. **उपर्युक्त**, धारा 89 (1) व (2)
17. **उपर्युक्त**, धारा 89 (4)
18. **उपर्युक्त**, धारा 89 (5)
19. **उपर्युक्त**, धारा 89 (6)
20. **उपर्युक्त**, धारा 89 (7)
21. **उपर्युक्त**, धारा 89 (8)
22. **उपर्युक्त**, धारा 89 (5)
23. यह आयोग राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम, 1959 की धारा 3-ग के अधीन दिनांक 19 जनवरी, 1961 की अधिसूचना क्रमांक : एफ 232निई-11/60 द्वारा स्थापित किया गया था।
24. आयोग के दायित्व में ये विस्तार राजस्थान नगरपालिका अधीनस्थ एवं मिनिस्ट्रियल सेवा नियम, 1963 के नियम खंड-ग के अन्तर्गत किया गया था।

25. नाम परिवर्तन की यह अधिसूचना संख्या एफ 84 निए–11/69 दिनांक 5 अप्रैल, 1974 राजस्थान राजपत्र भाग 4ग 1 विशेषांक दिनांक 5 अप्रैल, 1974 के पृष्ठ संख्या 5 पर प्रकाशित हुई।
26. राजस्थान की सादिक अली समिति, 1964 एवं पंचायती राज पर उच्चाधिकार प्राप्त गिरधारीलाल व्यास समिति, दोनों ने आयोग की कार्यप्रणाली की आलोचना की थी।
27. सादिक अली प्रतिवेदन, **पूर्वोक्त**, पृष्ठ 182
28. **उपर्युक्त।**
29. **कुरुक्षेत्र**, जून, 1961, पृष्ठ 2
30. सादिक अली, **पूर्वोक्त प्रतिवेदन**, पृ. 195
31. विस्तृत अध्ययन हेतु द्रष्टव्य : डॉ. रविन्द्र शर्मा, **ग्रामीण स्थानीय प्रशासन**, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर, 1985
32. यह सूचना लेखक ने स्वयं राज्य सचिवालय स्थित पंचायती राज विभाग से प्राप्त की है।
33. **उपर्युक्त।**
34. डॉ. रविन्द्र शर्मा, **पूर्वोक्त**, पृ. 165
35. **उपर्युक्त**, पृ. 166
36. गिरधारीलाल व्यास, **पूर्वोक्त प्रतिवेदन**, पृ. 113–14

13
पंचायती राज संस्थाओं का वित्तीय प्रशासन

स्थानीय शासन की संस्थाओं की सफलता एक निर्णायक सीमा तक उनके पर्याप्त वित्तीय स्रोतों एवं सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। कोई भी संस्था या संगठन अपने मूलभूत दायित्वों का उचित निष्पादन तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उसके पास पर्याप्त आर्थिक साधन न हों। लगभग सभी विद्वान इस तथ्य पर एकमत हैं कि 'वित्त प्रशासन का जीवन रक्त है' और 'वित्त' प्रशासकीय यंत्र का ईंधन है जिसके अभाव में कोई भी प्रशासनिक क्रिया सम्पन्न नहीं की जा सकती। शासन के किसी भी कार्य के निष्पादन हेतु कुछ साधनों की आवश्यकता होती है उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन वित्त है। प्राचीन भारत के महान् राजनीतिक चिंतक और अर्थ विशेषज्ञ कौटिल्य ने यह माना है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर हैं अतः कोषागार के प्रबन्ध के प्रति सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

समस्त विश्व में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्वीकारोक्ति के साथ ही लोक प्रशासन से जन साधारण की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं में भारी वृद्धि हुई है। इसी कारण भारत में भी स्थानीय निकायों के कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। किन्तु यह भी सच है कि अधिकांश स्थानीय निकाय, चाहे वे पंचायती राज संस्थाएं हों या नगरीय संस्थाएं, अपने दायित्वों के निर्वहन में असफलता के परिणामस्वरूप प्रायः आलोचना के पात्र बनते हैं। इस स्थिति का मूल कारण इन संस्थाओं के अपर्याप्त वित्तीय साधन या आर्थिक अक्षमता ही होती है। गाँवों और नगरों की बढ़ती जनसंख्या और तदनुसार सेवाओं की उभरती आवश्यकताएं, आवश्यक निधि के अभाव में पूरी नहीं हो पाती हैं।

स्थानीय शासन की संस्थाओं को वित्त के अभाव में समस्याओं का सामना क्यों करना पड़ता है? इसका मूल कारण स्थानीय शासन और उच्चतर शासन में एक तात्विक अन्तर का होना है। हमारे संघीय ढांचे में संघीय सरकार तथा राज्य स्तर पर

कार्यरत सरकार को वित्तीय साधनों का आवंटन संविधान ने किया है और इन दोनों ही शासकीय स्तरों को उनके वित्तीय प्रबन्ध, व्यय के स्रोत और करारोपण के स्पष्ट अधिकार दिए गए हैं।

स्थानीय शासन की स्थिति इस संदर्भ में भिन्न है। संविधान के प्रवर्तन के समय तो स्थानीय शासन संविधान द्वारा सृजित सोपान ही नहीं था। संविधान में किए गए 73 वें संशोधन के परिणामस्वरूप पंचायती राज अब संविधान का हिस्सा बन गया है। किन्तु, इस स्थिति के पश्चात् भी संविधान द्वारा पंचायती राज संस्थाओं की आय के कोई पृथक् स्रोत चिन्हित नहीं किए गए हैं। फलतः शासन की इस तीसरी इकाई को करारोपण, आय या व्यय के स्रोत और वित्तीय प्रबन्ध के कोई स्पष्ट अधिकार नहीं मिल सके हैं। संविधान संशोधन के बाद इस दिशा में एक सकारात्मक कदम यह उठाया गया है कि केन्द्र व राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों के विनियमन के लिए जिस तरह वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया हुआ था, उसी की तर्ज पर राज्य सरकारों व दोनों प्रकार की स्थानीय संस्थाओं (ग्रामीण व नगरीय) के मध्य वित्तीय संबंधों के विनियमन और सम्बन्धित पक्षों पर सुझाव देने के लिए राज्य वित्त आयोग के गठन का प्रावधान कर दिया गया है।[1] अब पंचायती राज संस्थाएँ करारोपण इत्यादि के संदर्भ में राज्य वित्त आयोग की अनुशंसाओं के अनुरूप राज्य सरकार द्वारा दिए गए दिशा निर्देशों के अनुसार काम करती हैं। ये संस्थाएँ जो भी नए कर अपने क्षेत्र में आरोपित करना चाहेंगी, इसके लिए उन्हें राज्य वित्त आयोग के मार्गदर्शकों का ध्यान रखने के अतिरिक्त राज्य सरकार की पूर्व अनुमति भी लेनी होगी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वित्तीय प्रशासन के संचालन के लिए ग्राम पंचायत स्तर पर कोई पृथक् तंत्र या कार्मिक वर्ग उपलब्ध नहीं कराया गया है। प्रारम्भ में यह कार्य पूर्णतः सरपंच द्वारा और अब यह कार्य सरपंच के निर्देशन में ग्राम पंचायत के ग्रुप सचिव द्वारा निष्पादित किया जाता है। पंचायत समिति स्तर पर यह दायित्व विकास अधिकारी अपने कार्यालय स्टाफ की मदद से निभाता है। इसी तरह जिला परिषद् में मुख्य कार्यकारी अधिकारी अपने अधीनस्थ लेखा कर्मचारियों की सहायता से वित्तीय प्रशासन का संचालन करता है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पंचायती राज संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन को दो भागों में विभक्त कर समझा जा सकता है :

1. विभिन्न संस्थाओं की आय के स्रोत जिनमें करारोपण की शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं, तथा
2. विभिन्न संस्थाओं की बजट निर्माण एवं लेखा प्रणाली तथा अंकेक्षण।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के स्रोत

राजस्थान में तीनों स्तरों पर कार्यरत पंचायती राज संस्थाओं को होने वाली आय को मुख्यतः निम्न तीन भागों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है :[2]

1. संस्थाओं की स्वयं की आय

(अ) करों से प्राप्त आय

(ब) करों के अतिरिक्त आय

2. केन्द्र/राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान से आय, (जिसमें डी. आर. डी. ए. की परियोजनाओं के माध्यम से प्राप्त राशि भी सम्मिलित है।)
3. ऋण या उधार या दान से आय

इससे स्पष्ट है कि पंचायती राज के तीनों स्तरों पर कार्यरत संस्थाओं की आय के स्रोत प्रायः एक समान ही हैं। इनका संस्थावार विवरण इस प्रकार है :

ग्राम पंचायत की आय के स्रोत

अन्य संस्थाओं की भाँति ग्राम पंचायतों की आय के भी मुख्यतः दो ही स्रोत हैं जिनमें ग्राम पंचायत द्वारा लगाए जाने वाले करों या आरोपित फीस से होने वाली उसकी स्वयं की आय तथा राज्य सरकार द्वारा इनको दिया जाने वाला अनुदान सम्मिलित है।

ग्राम पंचायत की स्वयं की आय

राजस्थान में ग्राम पंचायतों को स्वयं के स्रोतों से जो आय होती है उसे करों एवं करों से अतिरिक्त आय के उप शीर्षकों में देखा जा सकता है :

(अ) करों से आय : राजस्थान पंचायती राज अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त शक्तियों का उपयोग करते हुए ग्राम पंचायतें अपने क्षेत्र में निम्न कर लगा सकती हैं:[3]

(क) निजी भवनों पर कर,

(ख) ऐसे वाहनों को छोड़कर जो खेती के प्रयोजन के लिए उपयोग में लाये जाते हैं वाहन कर,

(ग) तीर्थयात्री कर,

(घ) पंचायत सर्किल के भीतर पेयजल के प्रदाय की व्यवस्था करने के लिए कर,

(ङ) पंचायत सर्किल के भीतर उसमें उपभोग या उपभोग के लिए लाये गये पशुओं या माल पर चुंगी;

(च) वाणिज्यिक फसलों पर कर;

(छ) कोई भी अन्य कर जिसे, संविधान के अधीन, राज्य में अधिरोपित करने की राज्य विधान मण्डल की शक्ति हो और जिसे राज्य सरकार द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाए।

उपर्युक्त प्रकार के कर ऐसी रीति से अधिरोपित, निर्धारित और संग्रहीत किए जाएँगे जो राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाए।[4] इसी संदर्भ में यह प्रावधान भी किया गया है कि राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, उपर्युक्त वर्णित करों में से किसी भी कर को अधिरोपित करने की अपेक्षा पंचायतों से कर सकेगी।[5] राज्य सरकार अपनी इस प्रकार की अपेक्षा को किसी भी समय रद्द कर सकेगी अथवा उसमें कोई परिवर्तन भी

कर सकती है।

सामुदायिक सेवा के लिए विशेष कर : अधिनियम में प्रावधान किया गया है कि पंचायत, पंचायत क्षेत्र के वयस्क पुरुष सदस्यों पर उस क्षेत्र के निवासियों के लिए साधारण उपयोगिता के किसी भी सार्वजनिक कार्य के निर्माण के लिए विशेष कर अधिरोपित कर सकेगी। किन्तु राज्य सरकार किसी भी व्यक्ति को स्वैच्छिक श्रम करने या उसे उसकी ओर से किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा श्रम किए जाने के बदले में इस कर के संदाय से छूट दे सकेगी।[6]

(ब) करों के अतिरिक्त आय : ग्राम पंचायतों को करों से अतिरिक्त साधनों यथा फीस एवं शास्ति तथा जन सहयोग व भूमि विक्रय से जो आय होती है उसे इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

पंचायत की फीस प्रभारित करने की शक्ति : इस सन्दर्भ में यह व्यवस्था की गई है कि पंचायत कोई भी अस्थायी संरचना करने के लिए या पंचायत में निहित किसी भी लगान या अन्य भूमि के अस्थायी उपभोग के लिए कोई छज्जा या बालकनी बनाने के लिए या इस अधिनियम के अधीन उसके द्वारा दी गई किसी भी सेवा के लिए या निर्वहित किसी भी कर्तव्य के सम्बन्ध में फीसें प्रभारित कर सकेंगी।[7] ऐसी फीसें ऐसी दर से और ऐसी रीति से प्रभारित की जाएँगी जो अधिनियम के अन्तर्गत बनाए गए नियमों में या पंचायत द्वारा बनाई गई किन्हीं उपविधियों में निर्धारित की जाए और पंचायत के लिए किसी भी ऐसी फीस को लोक नीलामी द्वारा पट्टे पर देना विधिपूर्ण होगा।[8]

शास्ति अधिरोपित करने की पंचायत की शक्ति : अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि यदि किसी पंचायत को यह समाधान हो जाए कि किसी व्यक्ति ने पंचायत के द्वारा पारित किसी साधारण या विशेष दोष की अवज्ञा की हो तो वह यह निर्देश दे सकेगी कि ऐसे व्यक्ति को शास्ति के रूप में ऐसी राशि जो 200 रुपए तक की हो सकेगी और अवज्ञा जारी रहने के मामले में प्रत्येक दिन के लिए जब तक अवज्ञा जारी रहे, दस रुपए तक की शास्ति संदत्त करने का आदेश दे सकेगी।[9]

इसके अतिरिक्त सभी पंचायती राज संस्थाओं को सम्पत्ति अर्जित, धारित और व्यय करने की और संविदा करने की शक्तियाँ भी पंचायती राज अधिनियम द्वारा प्रदान की गई है। किन्तु स्थायी सम्पत्ति के अर्जन और व्ययन के विषय में कोई भी कार्यवाही करने के पूर्व राज्य सरकार की अनुमति को आवश्यक माना गया है।[10]

2. केन्द्र/राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान से आय

ग्राम पंचायतों को सरकार द्वारा मिलने वाला अनुदान भी उनकी आय का एक स्रोत माना जाता है। ग्राम पंचायतों के लिए राजस्थान में अब सामान्य अनुदान की राशि के रूप में प्रति व्यक्ति 5 रुपए से बढ़ाकर 11 रुपए प्रतिवर्ष कर दिया गया है। इसी प्रकार स्कूल भवनों, सड़कों व अन्य ग्रामीण सम्पत्तियों के रखरखाव के लिए पाँच हजार रुपए वार्षिक की राशि एक मुश्त अनुदान के रूप में निर्धारित की गई है। इसके अतिरिक्त अपनी स्वयं की आय बढ़ाने वाली तथा उत्कृष्ट सेवा प्रदान करने वाली तीन

ग्राम पंचायतों का चयन कर प्रत्येक जिला स्तर पर उन्हें क्रमशः दो लाख रुपए, एक लाख रुपए एवं पचास हजार रुपए के तीन प्रोत्साहन पुरस्कार भी अनुदान के रूप में दिए जाने का प्रावधान किया गया है। राजस्थान के प्रथम वित्त आयोग ने ग्राम पंचायतों को संस्थापन अनुदान, प्रारम्भिक अनुदान, मैचिंग ग्राण्ट के रूप में राशि उपलब्ध कराने की अभिशंसा भी की थी।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक जिले में कार्यशील जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (डी. आर. डी. ए.) को जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में विकास हेतु अनेक परियोजनाएँ, केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत की जाती हैं। स्वाभाविक रूप से केन्द्र एवं राज्य शासन द्वारा प्रवर्तित इन परियोजनाओं की राशि जिले के ग्रामीण अंचलों के लिए व्यय की जाती है। इस प्रक्रिया में सभी ग्राम पंचायतों को भी उनके स्तर पर क्रियान्वयन के लिए दी जाने वाली परियोजनाएँ उनके लिए निर्धारित राशि सहित उपलब्ध कराई जाती है। इस प्रकार ग्राम पंचायतों को राज्य शासन के प्रत्यक्ष अनुदान के साथ यह परोक्ष अनुदान भी प्राप्त होता है।

3. ऋण, उधार या दान से आय

पंचायती राज अधिनियम, 1994 में यह प्रावधान किया गया है कि कोई पंचायती राज संस्था अपने निर्धारित उद्देश्यों और विनिर्दिष्ट योजनाओं की क्रियान्विति के लिए सरकार से या उसकी स्वीकृति से बैंकों या अन्य वित्तीय संस्थाओं से धन उधार ले सकेगी।[11] इस प्रावधान से यह स्पष्ट है कि ग्राम पंचायतें अपने कार्यों के निष्पादन हेतु यद्यपि ऋण द्वारा आय जुटाने के लिए सक्षम हैं तथापि राजस्थान राज्य का अनुभव यह दर्शाता है कि चूंकि ग्राम पंचायत के स्तर पर अर्थव्यवस्था इतनी सुदृढ़ नहीं होती कि उसे ऋण लेकर कार्यक्रम चलाने की अनुमति दी जा सके, इसलिए राज्य में पंचायतों द्वारा ऋण लेकर कार्यक्रम चलाने की परम्परा विकसित नहीं हो सकी है। उल्लेखनीय है कि सादिक अली ने अपने प्रतिवेदन में यह अनुशंसा की थी कि पंचायती राज संस्थाओं के लिए छोटे उद्योग–धन्धों और कार्यों को हाथ में लेने की न केवल अनुमति देनी चाहिए अपितु इस हेतु ऋणों की व्यवस्था किया जाना भी उचित होगा।

जहाँ तक ग्राम पंचायतों की वास्तविक आर्थिक स्थिति का सम्बन्ध है प्रायः यह अनुभव किया गया है कि उनकी आय के स्रोत, उनसे अपेक्षित कार्यों की तुलना में अत्यन्त न्यून हैं। अतः उनकी आर्थिक स्थिति को अतिरिक्त आय स्रोतों के विकास द्वारा समुन्नत बनाए जाने की आवश्यकता है।

पंचायतों की आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में प्रथम वित्त आयोग के सुझाव

73वें संविधान संशोधन के पश्चात कृष्ण कुमार गोयल की अध्यक्षता में नियुक्त प्रथम राज्य वित्त आयोग ने 1995 में राज्य सरकार को प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में कहा था कि मतदाताओं के सर्वाधिक निकट होने के कारण ग्राम पंचायतें अपनी स्वयं की आय करारोपण द्वारा बढ़ाने में समर्थ नहीं होती और उन्हें अपने नागरिकों की सेवा और विकास के लिए सरकार सहित बाह्य अभिकरणों की सहायता पर निर्भर रहना

पड़ता है। आयोग ने सुझाया कि :

1. ग्रांम पंचायतों को प्रतिवर्ष 3,000 रुपए की सहायता अपने क्षेत्र में सफाई कार्य को बेहतर बनाने के लिए दिए जाने हेतु राज्य के बजट में प्रावधान किया जाना चाहिए।
2. ग्राम पंचायतों को अपने क्षेत्र में रास्तों और गलियों में रोशनी (रोड लाइट) की व्यवस्था करने के लिए प्रति ग्राम पंचायत दस हजार रुपए वार्षिक की सहायता दी जानी चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाया कि विद्युत प्रसारण कम्पनियों को ग्राम पंचायतों से रोड लाइट के बिल की राशि घरेलू दर से वसूल करनी चाहिए।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यन्त गरीब चिन्हित परिवारों के कम से कम एक सदस्य को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए योजना के विभिन्न मदों में व्यवस्था करनी चाहिए।
4. ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यन्त गरीब परिवारों को आवास उपलब्ध कराने के लिए दिए जाने वाले ऋण या सहायता में प्रति परिवार वर्तमान में दी जा रही अनुदान की राशि 2,600 रुपए से बढ़ाकर 5,000 रुपए कर दी जानी चाहिए।
5. ग्रामीण सड़कों और विद्यालय भवनों के रखरखाव व सुधार के लिए भी आवश्यक सहायता का सुझाव आयोग ने दिया था।
6. ग्राम पंचायत के स्तर पर स्थायी ग्रुप सचिव लगाए जाने, नई ग्राम पंचायतों को उनकी संरचना के विकास के लिए प्रारम्भिक अनुदान दिए जाने, अच्छा कार्य निष्पत्ति करने वाली पंचायतों को प्रेरक अनुदान देने की अनुशंसा भी आयोग ने की थी।

पंचायत समिति की आय के स्रोत

भारत के अधिकतर राज्यों में 'पंचायत समिति' पंचायती राज व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। खण्ड स्तर पर यह इकाई राज्य सरकार की अभिकर्ता के रूप में कार्य करती है और इस रूप में उसे वे सब कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें राज्य सरकार समय–समय पर विशिष्ट रूप से उन्हें सौंपती है। पंचायत समिति अपने क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित ग्राम पंचायतों के कार्यों का पर्यवेक्षण और नियन्त्रण करती हैं। वह पंचायतों को आवश्यक तकनीकी और वित्तीय सहायता भी उपलब्ध कराती है। इन सब कारणों से पंचायती राज पर बने सभी अध्ययन दलों ने यह अभिशंसा की थी कि सभी प्रमुख वित्तीय स्रोत पंचायत समिति को स्थानान्तरित कर दिए जाने चाहिए। अधिकांश राज्यों ने इन अभिशंसाओं पर सकारात्मक प्रतिक्रिया भी की। इस पृष्ठभूमि में पंचायत समितियों की आय के स्रोतों को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है:

(1) आय के आंतरिक साधन
(क) करों से आय

(ख) करो से अतिरिक्त या गैर कर आय
(2) आय के बाह्य साधन

1. आय के आंतरिक साधन

(क) करों से आय : राजस्थान में पंचायत समितियों को विभिन्न करों से होने वाली आय निम्नानुसार है :

1. कृषि भूमि के उपयोग में 20 प्रतिशत किराया राशि।
2. भूमिधारक/भूमि मालिक पर कर।
3. उद्योग धन्धा, व्यवसाय व वाणिज्यिक गतिविधि पर कर।
4. प्राथमिक शिक्षा पर कर।
5. मेलों पर कर।

अधिनियम के अनुसार कुछ कर ऐसे हैं जो राज्य सरकार की अनुमति के बिना लगाए जा सकते हैं जैसे– भू–राजस्व या लगान पर आधारित कर, तथा कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें राज्य सरकार की अनुमति से ही अधिरोपित एवं उदग्रहीत किया जा सकता है जैसे उद्योग धन्धे, व्यवसाय व वाणिज्यिक गतिविधियों, प्राथमिक शिक्षा व मेलों पर कर इत्यादि।

(ख) करों के अतिरिक्त आय : पंचायत समितियों को करेतर संसाधनों से जो आय होती है उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :[12]

1. चल व अचल सम्पत्ति पर कर।
2. हड्डियों के ठेकों से आय।
3. ग्राम पंचायत के निर्णय की अपील पर शुल्क।

2. आय के बाह्य साधन

पंचायत समितियां केवल अपने द्वारा लगाए गए करों या करों के अतिरिक्त संसाधनों पर ही अपनी आय के लिए निर्भर नहीं रहती अपितु उन्हें बाह्य साधनों से भी आमदनी होती है जिनमें मुख्यतः राज्य सरकार का अनुदान या ऋण या दान या जन सहयोग की राशि सम्मिलित है। आय के इन साधनों को प्रथम राज्य वित्त आयोग ने निम्नांकित रूप से सूचीबद्ध किया है :

1. राज्य सरकार द्वारा हस्तान्तरित कार्यों के निष्पादन हेतु अनुदान,
2. राज्य सरकार द्वारा वार्षिक अनुदान,
3. राज्य सरकार द्वारा हस्तान्तरित योजना के लिए अनुदान,
4. ऋण द्वारा आय,
5. दान व जन सहयोग द्वारा आय, तथा
6. भू–राजस्व का 25 प्रतिशत हिस्सा राशि राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त।

पंचायत समिति की बाह्य आय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन सरकार से प्राप्त अनुदान है। पंचायत समितियों को राजकीय अनुदान के रूप में दी जाने वाली सहायता

योजना तथा गैर योजना दोनों मदों में स्वीकृत की जाती है। योजना मद में राशि प्रशासन, शिक्षा, सफाई, आवास और उन्नत चूल्हा कार्यक्रम के लिए दी जाती है। इसी प्रकार कतिपय सहायता गैर योजना मद में भी उपलब्ध कराई जाती है जिसमें मुख्यतः प्रशासनिक कार्यों पर संस्थापन व्यय, हैण्डपम्पों के संधारण और पुरानी योजनाओं में आरम्भ किए गए कार्यों के रखरखाव हेतु दी जाने वाली सहायता मुख्य है। वर्तमान में प्रत्येक पंचायत समिति को प्रति व्यक्ति, प्रतिवर्ष, 1.25 रुपए की दर से सामान्य अनुदान की राशि दी जा रही है। इसी प्रकार पंचायत समितियों को उनके अधीन भवनों के रखरखाव हेतु प्रतिवर्ष 10,000 रुपए की राशि भी दी जाती है। प्रथम राज्य वित्त आयोग ने यह अनुशंसा की थी कि संभाग में श्रेष्ठ कार्य करने वाली तीन पंचायत समितियों का चयन करने के लिए संभागीय आयुक्त की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जाए, जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरस्कार के रूप में क्रमशः उन्हें 5, 3 व 2 लाख रुपए की प्रोत्साहन राशि अनुदान के रूप में देने की अभिशंसा करे। आयोग ने यह अनुशंसा भी की कि जो पंचायत समितियां निर्माण कार्यों या अन्य किसी विशेष कार्यों हेतु यदि स्वयं के साधन विकसित कर लें तो उतनी ही मात्रा में समतुल्य राशि अर्थात् 'मैचिंग ग्राण्ट' उन्हें राज्य सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाए।

नूतन पंचायती राज अधिनियम के अनुसार पंचायत समितियाँ भी अपने द्वारा विनिर्मित योजनाओं और उनके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार से या उसकी पूर्व स्वीकृति से बैंकों से या अन्य संस्थाओं से धन उधार ले सकती हैं। वित्त आयोग ने पंचायती राज वित्त निगम के गठन का सुझाव भी दिया था जिसमें राज्य सरकार प्रतिवर्ष 5 करोड़ रुपए की राशि उपलब्ध करवाए। आयोग का सुझाव था कि इस कोष से पंचायती राज संस्थाएं ऋण ले सकती हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्राम पंचायत के समान ही पंचायत समिति की आय के भी मुख्यतः तीन साधन हैं—(i) स्वयं की आय, (ii) केन्द्र/राज्य सरकार द्वारा अनुदान, (iii) ऋण उधार या दान। प्रथम वित्त आयोग ने अपने प्रतिवेदन में अंकित किया है कि आय के साधनों में पंचायत समिति की सर्वाधिक आय शिक्षा, कर, मेलों एवं हड्डियों के ठेकों से होती है।

जिला परिषद् की आय के स्रोत

राजस्थान में नूतन पंचायती राज अधिनियम, 1994 के प्रवर्तन के पूर्व जिला परिषद् के कोष में केवल दो तरीकों – राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान व पंचायत समितियों से प्राप्त अंशदान से आय होती थी। यही नहीं इस अधिनियम के प्रवर्तन के पूर्व जिला परिषद् केवल पर्यवेक्षकीय और सलाहकारी संस्था थी जिसे करारोपण का कोई अधिकार नहीं था। देश के अन्य अनेक भागों यथा तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब आदि राज्यों में भी जिला परिषद् को एक शक्तिशाली निकाय के रूप में अभिकल्पित किया हुआ था। अब 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् सम्पूर्ण देश में जिला परिषदों की स्थिति में एकरूपता स्थापित होने की अपेक्षा की जा सकती है।

जिला परिषद् की आय के साधनों को भी पूर्ववर्ती दोनों इकाइयों की भांति ही निम्नांकित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(अ) स्वयं की आय।

(ब) केन्द्र/राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान से आय (जिसमें डी.आर.डी.ए. परियोजनाओं के माध्यम से प्राप्त राशि भी सम्मिलित है।)

(स) ऋण या उधार या दान से आय।

(अ) स्वयं की आय

1994 के अधिनियम के अनुसार जिला परिषद् को कर और फीस अधिरोपित करने की निम्नांकित शक्तियाँ प्रदान की गई हैं :

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 यह प्रावधान करता है कि ऐसी अधिकतम दरों के अधीन रहते हुए, जो सरकार विहित करे, जिला परिषद् निम्नलिखित कर और फीस अधिरोपित करने तथा उद्ग्रहित करने के लिए सक्षम होगी:

(क) किसी मेले की अनुज्ञप्ति के लिए फीस,

(ख) जल दर, जहाँ परिषद् द्वारा उसकी अधिकारिता के भीतर पीने, सिंचाई या अन्य किसी प्रयोजन के लिए जल प्रदाय की व्यवस्था की गई है,

(ग) अधिभारित–ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पत्ति के स्टाम्प शुल्क पर 5 प्रतिशत और राजस्थान कृषि उपज मण्डी अधिनियम, 1961 की धारा 17 में निर्दिष्ट मण्डी फीस पर आधा प्रतिशत।[13]

(ब) केन्द्र/राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान से आय : जिला परिषद् की पर्यवेक्षकीय स्थिति को देखते हुए प्रथम राज्य वित्त आयोग ने जिला परिषदों को दिए जाने वाले अनुदान को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :

(i) **सामान्य अनुदान :** आयोग ने अनुशंसा की है कि जिला परिषदों को उनके अधीन प्रति ब्लाक 30,000 रुपए की दर से सामान्य अनुदान दिया जाए। आयोग की ये अनुशंसाएँ वर्ष 1995–96 से प्रभावी हो गई हैं। इस मद में मिलने वाली राशि का उपयोग जिला परिषदें कार्यालय व्यय, वाहनों के संधारण व रखरखाव के लिए कर सकेगी।

(ii) **संधारण या रखरखाव अनुदान :** आयोग की अनुशंसा के अनुसार जिला परिषदों को उनके स्वयं के स्वामित्व के भवनों के रखरखाव के लिए 20,000 रुपए वार्षिक अनुदान निश्चित किया गया है।

(iii) **प्रोत्साहन अनुदान :** श्रेष्ठ कार्य निष्पादन हेतु जिला परिषदों को उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि हेतु प्रोत्साहन अनुदान की अनुशंसा भी आयोग ने की है। इस निमित्त राज्य सरकार राज्य स्तर पर एक समिति का गठन करती है जिसकी संस्तुति के आधार पर अपने कार्यकरण में श्रेष्ठ प्रथम, द्वितीय व तृतीय जिला परिषदों को क्रमशः 8, 5 व 2 लाख रुपए पुरस्कार के रूप में प्रदान किए जाने का प्रावधान किया गया है।

इन अनुशंसाओं के पूर्व जिला परिषदों को राज्य सरकार से कोई अनुदान प्राप्त नहीं होता था अपितु उन्हें अपने कार्यों के संचालन के लिए अधीनस्थ पंचायत समितियों के अंशदान पर निर्भर रहना पड़ता था।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिलों में स्थापित जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों को केन्द्र सरकार द्वारा कतिपय कार्यक्रम, उनके लिए आवंटित राशि सहित, ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यान्वयन के लिए सौंपे जाते हैं। राजस्थान के प्रथम राज्य वित्त आयोग ने अपने प्रतिवेदन में यह अंकित किया है कि केन्द्र प्रवर्तित ऐसी योजनाओं में से पर्यवेक्षकीय प्रयोजन के लिए कुछ राशि जिला परिषदों को भी प्राप्त होती है। आयोग के आंकड़े यह भी दर्शाते हैं कि इस प्रकार की राशि का सर्वाधिक हिस्सा पंचायत समितियों को और उससे कम ग्राम पंचायतों को तथा सबसे कम जिला परिषदों को मिलता है।[14]

(स) उधार एवं ऋण या दान

अधिनियम में यह सामान्य प्रावधान किया गया है कि कोई भी पंचायती राज संस्था, तत्समय प्रवृत किसी भी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य सरकार के अनुमोदन से, अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार से, या बैंक से या अन्य वित्तीय संस्थाओं से उधार ले सकेगी।

सभी पंचायती राज संस्थाओं को उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत रहने वाला कोई भी व्यक्ति सहायतार्थ दान दे सकता है।

पंचायती राज संस्थाओं के लिए वित्त निगम

पंचायती राज संस्थाओं को अपने विकास कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की तुलना में उनकी आय के साधन कम होते हैं। यही नहीं राज्य के विभिन्न जिलों में पंचायती राज की संस्थाओं की आय में भी परिमाणात्मक अन्तर पाया जाता है। पंचायती राज संस्थाओं को अपने विकास कार्यक्रमों के सटीक दोहन के लिए तकनीकी और वित्तीय परामर्श की आवश्यकता भी होती है। इन्हीं सब स्थितियों को अनुभव करते हुए प्रथम राज्य वित्त आयोग ने राज्य की पंचायती राज संस्थाओं की तकनीकी और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त एक राज्य वित्त निगम स्थापित करने का सुझाव दिया है। अभिकल्पित वित्त निगम के संस्थापन व्यय को सीमित रखने की दृष्टि से यह सुझाया गया कि पंचायती राज विभाग का निदेशक ही इस वित्त निगम का पदेन प्रबन्ध निदेशक और विकास आयुक्त दूसरा पदेन अध्यक्ष हो। आयोग ने सुझाया कि उत्तर प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश सहित 21 राज्यों में ऐसे निगम पूर्वतः कार्यरत हैं। राज्य सरकार इन राज्यों का अध्ययन कराकर निगम से पंचायती राज संस्थाओं को वितरित किए जाने वाले ऋण और सहायता के नियम निर्मित करे। इस निगम में राज्य सरकार 1997–98 से 3 वर्ष तक 5 करोड़ रुपए की राशि प्रतिवर्ष अंशदान के रूप में प्रदान करे। इसी प्रकार वित्तीय संस्थाओं के लिए सहायता राशि, उनका अंशदान तथा ऋण से भी यह संस्थान अपने संसाधन विकसित करे। पंचायती राज संस्थाओं को दिए जाने वाले ऋण से होने वाले

ब्याज की आमदनी भी इस निगम के वित्तीय आधार को मजबूत बना सकेगी। निगम में कार्मिकों की आवश्यकता की पूर्ति पंचायती राज विभाग के वर्तमान कार्मिक वर्ग में से किए जाने का सुझाव आयोग ने दिया था। आयोग के द्वारा यह सुझाव भी दिया गया था कि निगम को मूर्तरूप देने के लिए एक समिति का गठन किया जाए किन्तु, ऐसा निगम गठित किए जाने के क्रम में राज्य स्तर पर कोई प्रगति द्रष्टव्य नहीं हुई है।

पंचायती राज संस्थाओं की बजट निर्माण एवं लेखा तथा संपरीक्षा प्रणाली

पंचायती राज संस्थाएं यद्यपि संविधान द्वारा सृजित स्वायत्तशासी संस्थाएं हैं, तथापि सभी अन्य सरकारी संस्थाओं की भांति ही इनमें बजट निर्माण, लेखा संधारण और अंकेक्षण की व्यवस्था प्रवर्तित होती है। राजस्थान पंचायती राज अधिनियम की धारा 74 में सभी पंचायती राज संस्थाओं अर्थात् ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों के वार्षिक बजट के विषय में प्रावधान किए गए हैं। वार्षिक बजट किसी भी संस्था की आय और व्यय का पूर्वानुमान होता है जिसका तैयार किया जाना किसी भी संस्था के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक होता है।

विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन की व्यवस्थाओं के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वित्तीय प्रशासन के संचालन के लिए प्रायः ग्राम पंचायत स्तर पर किसी पृथक् तन्त्र की स्थापना नहीं की गई है। प्रारम्भ में वित्त से सम्बन्धित कार्य सरपंच द्वारा और बाद में सचिव द्वारा तथा अब यह कार्य ग्रुप सचिव द्वारा किए जाते हैं। पंचायत समिति स्तर पर यह दायित्व विकास अधिकारी अपने कार्यालय स्टाफ की मदद से निभाता है। इसी तरह जिला परिषद् में उसका सचिव अपने अधीनस्थ लेखा कर्मचारियों की सहायता से वित्तीय प्रशासन का नियमन, संचालन और नियन्त्रण करता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि वित्त प्रशासन के लिए ग्राम पंचायत स्तर पर कोई विशिष्ट संस्था या इकाई की स्थापना नहीं की गई है। ऐसा इसलिए भी है कि ग्राम पंचायत स्वयं इतने छोटे स्तर पर कार्य करती है कि इस हेतु पृथक् प्रशासकीय तंत्र या संगठन की स्थापना व्यवहारतः संभव भी नहीं है।

बजट निर्माण

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में पंचायती राज संस्थाओं के वार्षिक बजट के सन्दर्भ में प्रावधान किया गया है कि ग्राम पंचायत के लिए सरपंच, पंचायत समिति के लिए विकास अधिकारी और जिला परिषद् के लिए मुख्य कार्यपालिका अधिकारी प्रति वर्ष विहित तारीख से पूर्व, उस तारीख तक की वास्तविक प्राप्तियों और व्यय का तथा आगामी 31 मार्च को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए प्रत्याशित प्राप्तियों और व्यय का एक पूरा लेखा, ठीक अगली एक अप्रेल को प्रारंभ होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए सम्बन्धित पंचायती राज संस्था की आय–व्यय और अन्य प्राप्तियों में बजट प्राक्कलनों के सहित तैयार करेगा और क्रमशः सम्बन्धित पंचायती राज संस्था के समक्ष रखा जाएगा।[15] इसके पश्चात् सम्बन्धित पंचायती राज संस्था बजट प्राक्कलनों में अन्तर्विष्ट विनियोगों और अर्थोपायों पर विनिश्चय करेगी।[16] ऐसे प्राक्कलनों में सम्बन्धित पंचायती राज संस्था

अन्य बातों के साथ–साथ :

(क) ऐसी सेवाओं के लिए पर्याप्त और यथोचित उपबन्ध करेगी जो इस अधिनियम या किसी भी अन्य विधि के द्वारा सम्बन्धित पंचायती राज संस्था पर अधिरोपित विभिन्न कृत्यों की पूर्ति के लिए अपेक्षित हो,

(ख) मूलधन और ब्याज की समस्त किश्तों के, जिनके लिए सम्बन्धित पंचायती राज संस्था उसके द्वारा संविदाकृत ऋणों के सम्बन्ध में दायी हो, संदाय के लिए उपबन्ध करेगी।

(ग) उक्त वर्ष की समाप्ति पर उतनी राशि से अन्यून के अतिशेष की गुंजाइश रखेगी जितनी राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर नियत की जाये।[17]

अधिनियम यह प्रावधान करता है कि पंचायत द्वारा अन्तिम रूप से पारित बजट प्रस्ताव सम्बन्धित पंचायत समिति के विकास अधिकारी को और पंचायत समिति द्वारा पारित प्रस्ताव जिला परिषद् के मुख्य कार्यपालक अधिकारी को और जिला परिषद् के प्रस्ताव निदेशक, पंचायती राज विभाग को विहित तिथि तक स्वीकृति हेतु प्रस्तावित किए जाएंगे जहाँ उन्हें संवीक्षा के पश्चात स्वीकृति देने की प्रक्रिया अपनाई जाएगी। स्वीकृति देने वाला प्राधिकारी अधिनियम की अपेक्षाओं के अनुरूप उन बजट प्रस्तावों में आवश्यक परिमार्जन हेतु सुझाव देने के लिए सक्षम होगा। यदि बजट प्रस्ताव सम्बन्धित संस्था के पास सुझावों सहित वापस आते हैं तो वह संस्था उन टिप्पणियों पर विचार करेगी और उचित समझे जाने वाले परिवर्तनों सहित उसे पारित करेगी।[18]

लेखे और संपरीक्षा

नया पंचायती राज अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि पंचायत समिति सहित सभी पंचायती राज संस्थाएं आय व्यय के लेखे निर्धारित प्रक्रिया में रखेगी और इस प्रकार रखे गए लेखे विहित किए जाने वाले प्राधिकारियों को प्रस्तुत करेगी।[19] पंचायत समिति के वार्षिक लेखों का संक्षिप्त विवरण, जिसमें प्राप्ति की प्रत्येक मद के अधीन, उसकी आय, स्थापना पर व्यय, निर्माण कार्य और उन पर व्यय की गई राशि, अवशेष और इस प्रकार की अन्य सूचना विकास अधिकारी द्वारा विहित प्रपत्र में रखी जाएगी और उसे पंचायत समिति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा। ऐसी स्वीकृति के पश्चात वार्षिक लेखों का संक्षिप्त विवरण जिला विकास अधिकारी को भेजा जाएगा और जो उसे अपनी टिप्पणी सहित राज्य सरकार को व जिला परिषद् को भेजेगा। विकास अधिकारी द्वारा निर्धारित प्रपत्र में पंचायत समिति के आय और व्यय का एक त्रैमासिक विवरण भी जिला विकास अधिकारी को भेजा जाता है, जो उसके द्वारा टिप्पणी सहित जिला परिषद् की बैठक में विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है।

नूतन अधिनियम यह प्रावधान करता है कि किसी पंचायती राज संस्था द्वारा रखे और संधारित किए गए समस्त लेखों की संपरीक्षा राज्य के निदेशक, स्थानीय निधि संपरीक्षा के द्वारा प्रत्येक वित्तीय वर्ष की समाप्ति के पश्चात् यथाशक्य शीघ्र की जाएगी और राजस्थान स्थानीय निधि संपरीक्षा अधिनियम, 1954 के उपबन्ध इस सम्बन्ध में प्रवर्तित

होंगे किन्तु भारत का नियंत्रक व महालेखा परीक्षक भी ऐसे लेखों की सांकेतिक संपरीक्षा कर सकेगा।[20] सम्बन्धित पंचायती राज संस्था ऐसी संपरीक्षा के प्रभारों के रूप में ऐसी राशि अपनी निधि में से संदत्त करेगी जो राज्य सरकार द्वारा अवधारित की जाए।[21]

वित्तीय स्थिति की समीक्षा

73वें संविधान संशोधन के पश्चात् देशभर में पंचायती राज संस्थाएं सशक्त होकर उभरी हैं। इन संस्थाओं को संवैधानिक संस्तर प्राप्त हो जाने से जनमानस में भी इनका महत्त्व बढ़ा है। संविधान संशोधन के पश्चात् इन संस्थाओं से ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए नियोजन को अपनाते हुए विकास कार्यों के प्रभावी निष्पादन की अपेक्षा की गई है। इस भूमिका के सम्यक् निर्वाह के लिए पंचायती राज संस्थाओं की आर्थिक स्थिति का सुदृढ़ होना एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। किन्तु सामान्यतः देशभर में और विशेषतः राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। ये संस्थाएं निरन्तर धनाभाव की समस्या से ग्रस्त रहती हैं। राजस्थान के प्रथम वित्त आयोग ने 1995 में राज्य सरकार को प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में यह अंकित किया है कि राज्य में पंचायती राज संस्थाओं की आय का करीब 60 प्रतिशत हिस्सा राज्य सरकार की भागीदारी से और 36.5 प्रतिशत केन्द्र की भागीदारी से तथा शेष 3.5 प्रतिशत आमदनी इन संस्थाओं की स्वयं की आय से होती है। ये आंकड़े दर्शाते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं ने अपनी स्वयं की आय को बढ़ाने के कोई सटीक उपाय नहीं किए हैं। परिणामतः इन संस्थाओं की निर्बल वित्तीय स्थिति के कारण उनकी कार्यकुशलता पर भी प्रतिकूल प्रभाव द्रष्टव्य होता है। संक्षेप में इन संस्थाओं की निर्बल वित्तीय स्थिति के कारणों को निम्नांकित रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है :

(i) प्रायः पंचायती राज संस्थाएँ, नागरिकों के निकटस्थ होने के कारण करारोपण में संकोच करती हैं।

(ii) जिन करों का आरोपण ये संस्थाएं करती भी हैं उनकी वसूली में ये संस्थाएं अपेक्षित रुचि नहीं लेती, फलतः उनसे एकत्र होने वाली राशि के अभाव में ये संस्थाएं संकटग्रस्त रहती हैं।

(iii) राज्य सरकार की ओर से इन संस्थाओं को प्रति व्यक्ति दिए जाने वाले अनुदान की मात्रा भी कम होती है।

(iv) इन संस्थाओं को कर लगाने की जो शक्तियाँ प्रदान की गई हैं वे भी अपर्याप्त हैं। 73वें संविधान संशोधन ने इनके दायित्व तो बढ़ा दिए हैं लेकिन पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं कराए गए हैं।

(v) राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं को कार्यक्रमों सहित जो राशि हस्तांतरित की जाती है, वे किन्हीं विशेष परियोजनाओं के लिए होती हैं उनका व्यय उन्हीं प्रयोजनों के लिए अभिप्रेत होता है। ये संस्थाएँ आवश्यक होने पर भी एक मद से उस राशि का अन्य मद में उपयोग कर पाने में असमर्थ रहती हैं।

(vi) 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् नियुक्त वित्त आयोग ने जो अभिशंसाएँ की हैं उससे भी इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में कोई निर्णायक सुधार नहीं हुआ है। वस्तुतः आयोग की अभिशंसाओं को राज्य सरकार ने कदाचित् उतनी गंभीरता से बाध्यकारी नहीं माना है जैसे कि केन्द्रीय वित्त आयोग की अभिशंसाओं को भारत सरकार मानती रही है।

वित्तीय स्थिति में सुधार हेतु सुझाव

पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में 73वें संविधान संशोधन के पश्चात् उठाए गए कदमों एवं राज्य वित्त आयोग की अभिशंसाओं के बावजूद कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। राजस्थान में प्रथम राज्य वित्त आयोग ने अपना प्रतिवेदन दिसम्बर 1995 में राज्य सरकार को सौंप दिया था जिसकी अभिशंसाएँ 1995–96 के वित्त वर्ष से वर्ष 2000 के वित्त वर्ष तक लागू की गई हैं। 7 मई 1999 को राजस्थान में श्री हीरालाल देवपुरा, पूर्व मुख्यमन्त्री राजस्थान की अध्यक्षता में दूसरा राज्य वित्त आयोग नियुक्त किया गया था जिसमें भाजपा के श्री घनश्याम तिवाड़ी और एक सेवानिवृत आई. ए. एस. अधिकारी श्री धर्मवीर दूसरे सदस्य बनाए गए हैं। प्रथम वित्त आयोग के सदस्य सचिव रहे भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी श्री टी. श्रीनिवासन को पुनः द्वितीय आयोग के सदस्य सचिव का दायित्व सौंपा गया था। इसके पश्चात श्री एस. सी. देराश्री इसके सदस्य सचिव नियुक्त किए गए थे।

आगामी पंक्तियों में ऐसे सुझावों का, जिनमें तृतीय राज्य वित्त आयोग द्वारा दी गई प्रमुख अभिशंसाएँ भी सम्मिलित हैं, प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है जिनके आधार पर पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार की आशा की जा सकती है।

संविधान में वित्तीय स्रोतों का उल्लेख हो

जिस प्रकार भारत के संविधान के भाग 12 में अनुच्छेद 268 और उसके पश्चात्वर्ती अनुच्छेदों में संघीय सरकार व राज्य सरकार के बीच राजस्व स्रोतों का बंटवारा किया गया है उसी प्रकार स्थानीय शासन की इकाइयों के पक्ष में संविधान में राष्ट्र के वित्तीय स्रोतों का बंटवारा किया जाना चाहिए। समीक्षक ऐसा अनुभव करते हैं कि 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से सशक्त बनाने के लिए किए गए उपाय अधूरे मन से किए गए हैं। क्योंकि :

(i) विभिन्न सूचियों के माध्यम से जिस प्रकार संघीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच विधायी शक्तियों का बंटवारा किया गया है उसी प्रकार स्थानीय शासन द्वारा निष्पादित किए जाने वाले कार्यों या उनके विधायी दायित्वों का स्थानीय सूची बनाकर प्रावधान नहीं किया गया है।

(ii) अनुच्छेद 268 और उसके पश्चात्वर्ती अनुच्छेदों में संघ और राज्य सरकारों के मध्य वित्तीय संसाधनों का जैसा बंटवारा किया गया है वैसा ही प्रावधान संविधान द्वारा स्थानीय निकायों (ग्रामीण व नगरीय दोनों) के पक्ष में नहीं किया गया है।

स्थानीय निकायों की सुदृढ़ स्थिति के पक्ष में चिन्तन करने वाले समीक्षक ऐसा समझते हैं कि यदि पंचायती राज संस्थाओं को लोकतन्त्र की सशक्त आधारशिला के रूप में विकसित किया जाना अभीष्ट है तो उपर्युक्त इंगित दोनों न्यूनताओं का परिष्कार संविधान के स्तर पर किया जाना चाहिए। ऐसा कर दिए जाने से पंचायती राज संस्थाएं विधायी और वित्तीय दोनों दृष्टियों से सक्षम बन सकेंगी।

राज्य वित्त आयोगों की अभिशंसाएँ

73 वें संविधान संशोधन अधिनियम के अनुच्छेद–243-I के अन्तर्गत सभी राज्य सरकारों से प्रति 5 वर्ष के अंतराल पर राज्य वित्त आयोग गठित कर पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ किए जाने हेतु अनुशंसा करने की अपेक्षा की गयी थी। अधिनियम के प्रावधानों की पालना करते हुए राजस्थान सरकार ने पूर्व केन्द्रीय मंत्री कृष्ण कुमार गोयल की अध्यक्षता में राज्य वित्त आयोग का गठन किया, जिसने प्रथम आयोग के नाते अपनी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें राज्य सरकार को की जिनमे से कतिपय को (राज्य सरकार द्वारा) स्वीकार किया गया और अन्य अनेक अनुशंसाएं स्वीकार न की जा सकी। एक महत्त्वपूर्ण अनुशंसा के अन्तर्गत आयोग ने राज्य सरकार को आगामी तीन वर्षों में प्रति वर्ष 5 करोड़ के अंशदान द्वारा पंचायती राज वित्त निगम स्थापित करने का सुझाव दिया था, जो पंचायती राज संस्थाओं को समय–समय पर आवश्यक वित्तीय व तकनीकी सहायता उपलब्ध कराएगा।

वर्ष 2000 से 2005 तक के लिए पंचायती राज संस्थाओं को राज्य से अनुदान व सहायता सम्बन्धी अनुशंसाएँ देने के लिए राज्य के पूर्व मुख्यमंत्री हीरालाल देवपुरा की अध्यक्षता में द्वितीय राज्य वित्त आयोग का गठन किया गया जिसने भी पंचायती राज संस्थाओं को सशक्त बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण अभिशंसाएँ की। इसके पश्चात् 15 सितम्बर 2005 को 2005 से 2010 की 5 वर्ष की अवधि के लिए अनुशंसा देने के लिए तृतीय राज्य वित्त आयोग का गठन राज्य के पूर्व वित्त मंत्री माणकचन्द सुराणा की अध्यक्षता में किया गया। 27 फरवरी 2008 को आयोग ने अपना प्रतिवेदन राज्य सरकार को प्रस्तुत किया, जिसमें राज्य सरकार को की गयी अभिशंसाओं के महत्वपूर्ण अंशों का यहाँ प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है:[22]

(1) चूंकि आयोग का अन्तिम प्रतिवेदन विलम्ब से प्रस्तुत हुआ अतः आयोग ने राज्य सरकार से अपेक्षा की कि पंचायती राज संस्थाओं को, प्रतिवेदन के पूर्ववर्ती वित्त वर्षों के लिए अंतरिम प्रतिवेदन के आधार पर राशि का समायोजन किया जाए।

(2) आयोग ने अपनी महत्त्वपूर्ण अनुशंसा में राज्य के शुद्ध कर राजस्व (मनोरंजन कर को छोड़कर) का 3.50 प्रतिशत हिस्सा पंचायती राज संस्थाओं को देने की अनुशंसा की थी। इसमें से 3 प्रतिशत राशि पंचायती राज संस्थाओं को सिविक सेवाओं के रख–रखाव के लिए और शेष 0.50 प्रतिशत राशि प्रोत्साहन राशि के रूप में ऐसी पंचायतों को देने की सिफारिश की जो अपने प्रयासों से अब तक अप्रयुक्त स्रोतों से अतिरिक्त राजस्व उगाहने की दिशा में कार्य करें। **इस पुस्तक के लेखक ने राज्य के पंचायती**

राज विभाग में व्यक्तिशः सम्पर्क कर जब यह जानने का प्रयास किया कि प्रोत्साहन राशि की अनुशंसा को किस सीमा तक कार्यान्वित किया जा सका है, तो अनौपचारिक रूप से उत्तरदायी अधिकारियों ने नकारात्मक उत्तर देते हुए बताया कि प्रोत्साहन राशि दिए जाने के बारे में इस अनुशंसा को कार्यान्वित किए जाने के संदर्भ में उनके पास बताने लायक कुछ नहीं है। यहाँ यह उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा कि प्रथम राज्य वित्त आयोग ने भी श्रेष्ठतर कार्य करने वाली पंचायती राज इकाइयों को प्रोत्साहित करने के लिए जो सिफारिश की थी, राजस्थान राज्य में उसे क्रियान्वित करने के लिए भी कोई कार्यवाही नहीं हो पायी थी।

(3) आयोग ने पंचायतों के क्षेत्र में खनिज से राज्य को प्राप्त शुद्ध रॉयल्टी के एक प्रतिशत हिस्से का खनिज से रॉयल्टी वसूल करने वाली ग्राम पंचायतों को अन्तरण करने की अनुशंसा की। विभाग द्वारा यह बताया गया कि आयोग की अभिशंसा के अनुरुप सम्बन्धित ग्राम पंचायतों को खनिज विभाग 1 (एक) प्रतिशत राशि का भुगतान कर रहा है।

(4) राज्य के शुद्ध कर राजस्व के 3.50 प्रतिशत हिस्से का वितरण पंचायती राज और स्थानीय निकायों के मध्य क्रमशः 75.7 एवं 24.3 प्रतिशत के अनुपात में 1 मार्च 2005 की अनुमानित जनसंख्या के आधार पर करने की सिफारिश की थी। किन्तु राज्य सरकार ने की गयी कार्यवाही के अपने प्रतिवेदन (Action taken Report) में स्वीकार किया कि उसने आयोग की इस सिफारिश को वर्ष 2008-09 से स्वीकार किया है।

(5) आयोग ने अपनी एक अन्य महत्त्वपूर्ण अभिशंसा में राज्य के शुद्ध कर राजस्व में से की जाने वाली राशि का विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं में वितरण करने के लिए भी मापदण्ड सुझाया था। आयोग ने कहा कि प्रत्येक जिले के निर्धारित हिस्से में से जिला परिषद् को 3 प्रतिशत, पंचायत समितियों को 12.1 प्रतिशत और ग्राम पंचायतों को 85 प्रतिशत भाग दिया जाए। आयोग की इस अभिशंसा को कार्यान्वित करते हुए राज्य सरकार ने रिपोर्ट के अनुशंसाधीन वर्षों में राशि का जो वितरण पंचायती राज संस्थाओं को किया, उसका विवरण निम्नानुसार है :

पंचायती राज संस्थाओं को दी गई सहायता राशि का विवरण

वर्ष	राज्य शासन द्वारा प्रावधित राशि	प्राप्त राशि	पंचायती राज संस्थाओं को आवंटित राशि (लाखों में)
2005-06	157.57	157.57	157.57
2006-07	180.00	180.00	180.00
2007-08	180.10	180.10	180.10
2008-09	180.10	180.10	180.10
2009-10	490.79	490.79	490.79

(6) आयोग ने अपनी एक अन्य अनुशंसा में ग्राम पंचायतों के वार्ड पंच, पंचायत समिति के सदस्य एवं जिला परिषद के सदस्य द्वारा मीटिंग में उपस्थित होने पर भत्तों का भुगतान आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत अन्तरित राशि में से किए जाने का प्रावधान भी किया।

इस अनुशंसा को कार्यान्वित करते हुए राज्य के ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग ने 1 सितम्बर 2009 के अपने परिपत्र के माध्यम से उसी दिन से प्रभावित भत्ते की व्यवस्था को निम्नानुसार लागू किया है :

जिला परिषद् के प्रमुख को	–	5100 रु. प्रतिमाह
पंचायत समिति के प्रधान को	–	3100 रु. प्रतिमाह
ग्राम पंचायत के सरपंच को	–	1000 रु. प्रतिमाह

इसी प्रकार विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों को प्रति मीटिंग भत्ते की व्यवस्था भी निम्नानुसार प्रभावी की गयी है :

सदस्य, जिला परिषद्	–	90 रु. प्रति मीटिंग
सदस्य, पंचायत समिति	–	75 रु. प्रति मीटिंग
सदस्य, ग्राम पंचायत	–	50 रु. प्रति मीटिंग

आयोग द्वारा की गयी कतिपय अन्य अनुंशसाएँ इस प्रकार हैं :

(i) आयोग ने अंकित किया कि राज्य का पंचायती राज विभाग यह सुनिश्चित करे कि पंचायती राज अधिनियम, 1994 के प्रावधानों के अनुसार सभी ग्राम पंचायतों के सरपंच वित्त वर्ष के प्रथम और अन्तिम त्रिमास में ग्राम सभा की बैठक अवश्य आहूत करें। ग्राम सभा की ऐसी बैठकों के प्रस्ताव केवल सुझाव नहीं माने जाएँ अपितु उन्हें सम्भव सीमा तक कार्यान्वित किए जाने का निर्देश माना जाए।

(ii) सभी पंचायतों के वार्ड पंच पंचायती राज की प्रणाली में अधिक सहभागिता निभा सकेंगे, यदि उन्हें राज्य सरकार का पंचायती राज विभाग अपने सभी निर्देशों, राज्य वित्त आयोग की सिफारिशें और केन्द्रीय वित्त आयोग की अनुशंसाओं की प्रतिलिपियाँ भी निरन्तर उपलब्ध कराता रहे।

(iii) पंचायती राज संस्थाओं में खातों के समुचित संधारण के लिए सभी ग्राम पंचायतों को एक कम्प्यूटर जानने वाले स्नातक की सेवाएँ उपलब्ध करायी जानी चाहिए तथा पंचायत स्तर पर पूर्वतः कार्यरत ग्राम सेवक अथवा ग्राम सचिव को खातों के समुचित संधारण हेतु गहन प्रशिक्षण दिलाने का प्रबन्ध किया जाए। यह ग्राम सेवक या सचिव कम्प्यूटर जानने वाला होना चाहिए और सरपंच की बजाए ग्राम पंचायत के खातों और रकम के रखरखाव का कार्य उसी के द्वारा किया जाना चाहिए।

(iv) प्रत्येक पंचायत समिति स्तर पर लेखाकार या कनिष्ठ लेखाकार की सेवाएँ खातों के रखरखाव के लिए उपलब्ध की जानी चाहिए।

इस प्रकार अपनी विभिन्न अनुशंसाओं के माध्यम से तृतीय राज्य वित्त आयोग ने पंचायती राज संस्थाओं को सशक्त बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण अनुशंसाएँ की हैं। अब पंचायतों के माध्यम से नरेगा जैसी योजनाओं के अन्तर्गत विपुल राशि व्यय की जाने लगी है, अतः सामान्य अंकेक्षण के साथ–साथ सामाजिक अंकेक्षण की व्यवस्था को अपनाए जाने पर भी बल दिया जाने लगा है।

सन्दर्भ

1. पंचायती राज के सन्दर्भ में वित्त आयोग का प्रावधान राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 की धारा 118 के अन्तर्गत और नगरीय संस्थाओं के सन्दर्भ में इस आयोग का प्रावधान राजस्थान नगरपालिका (द्वितीय संशोधन) अधिनियम 1994 के अन्तर्गत नई जोड़ी गई धारा 276 (क) में किया गया है।
2. **प्रथम राज्य वित्त आयोग का प्रतिवेदन**, 1995, पृ. 40
3. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994 की धारा 65 (1)
4. **उपर्युक्त धारा** 65 (2)
5. **उपर्युक्त धारा** 65 (3)
6. **उपर्युक्त धारा** 66
7. **उपर्युक्त धारा** 67 (1)
8. **उपर्युक्त धारा** 67 (2)
9. **उपर्युक्त धारा** 62
10. **उपर्युक्त धारा** 63 (1)
11. **उपर्युक्त धारा** 76 (2)
12. **प्रथम राज्य वित्त आयोग का प्रतिवेदन**, 1995, पृ. 54
13. **राजस्थान पंचायती राज अधिनियम**, 1994, धारा 69 (5)
14. **प्रथम राज्य वित्त आयोग प्रतिवेदन**, 1995, पृ. 146, 147
15. **राजस्थान पंचायत राज अधिनियम** 1994, धारा 74 (1)
16. **उपर्युक्त**, धारा 74 (2)
17. **उपर्युक्त**, धारा 74 (3)
18. **उपर्युक्त**, धारा 74 (4)
19. **उपर्युक्त**, धारा 75 (1)
20. **उपर्युक्त**, धारा 75 (4)
21. **उपर्युक्त**, धारा 75 (5)
22. **तृतीय राज्य वित्त आयोग का प्रतिवेदन**, 2008

14

नगरीय स्थानीय संस्थाओं का वित्तीय प्रशासन

प्रायः ग्रामीण एवं नगरीय दोनों क्षेत्रों में कार्यरत स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति इतनी कमजोर होती है कि ये संस्थाएँ पर्याप्त धन के अभाव में नागरिकों द्वारा अपेक्षित और कानून द्वारा प्रवर्तित अपने अनिवार्य दायित्वों का निष्पादन भी नहीं कर पाती हैं। इस स्थिति का एक ऐतिहासिक कारण है। वस्तुतः 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने हमारे संविधान निर्माताओं के चिंतन को एक निर्णायक सीमा तक प्रभावित किया है। उक्त अधिनियम में करों की किसी स्थानीय सूची का उल्लेख नहीं था, इस कारण जब 1937 में यह अधिनियम प्रवर्तित हुआ तो स्थानीय संस्थाएं करारोपण के विशिष्ट अधिकार से वंचित हो गईं। इस पृष्ठभूमि में, हमारे संविधान के निर्माताओं ने भी स्थानीय शासन की संस्थाओं को न तो करारोपण की विशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की और न ही राज्य और स्थानीय शासन के बीच आय के स्रोतों का वैसा विभाजन किया जैसा संघीय सरकार और राज्य सरकारों के मध्य किया गया है।

विश्व के विकसित राष्ट्रों में यदि स्थानीय शासन की संस्थाएँ नागरिकों की संतोषजनक सेवा करने में सफल रही हैं तो इसका एक मात्र कारण उनका वित्तीय दृष्टि से सक्षम होना है। इसके विपरीत विकासशील या अर्द्ध विकसित देशों में स्थानीय शासन की संस्थाओं के प्रभावशील न होने की जो स्थिति दिखाई देती है उसका एकमात्र कारण आर्थिक दृष्टि से उनका अक्षम होना है। अब तक जितने भी शासकीय आयोग या समितियाँ सरकार द्वारा नगरीय स्थानीय संस्थाओं की समीक्षा के लिए नियुक्त की गई हैं उनके प्रतिवेदनों में स्थानीय शासन के सुधार के विषय पर उनकी वित्तीय व्यवस्था का आयाम एक प्रमुख विचारणीय विषय रहा है।[1]

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय संरचना कई तत्त्वों पर निर्भर करती है जिनमें प्रमुख

हैं स्थानीय शासन की राजनीतिक संरचना, स्थानीय इकाइयों का स्तर और आकार, उसके द्वारा प्रदत्त सेवाएं और कार्य तथा उन पर सरकार का नियंत्रण। वस्तुतः स्थानीय संस्थाओं के वित्त की संरचना और उसके क्षेत्र को निर्धारित करने में इन समस्त तत्त्वों का सम्मिलित योगदान होता है।[2] यदि किसी स्थानीय संस्था की वित्तीय स्थिति कमजोर होती है और अपनी आय की तुलना में व्यय अधिक होता है तो इससे उनके कामकाज में केन्द्रीय या राज्य सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी स्थानीय स्वायत्तता संकुचित हो जाती है।

इस तरह स्थानीय इकाई का आकार भी उनकी वित्तीय संरचना की पर्याप्तता या अपर्याप्तता को निश्चित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक माना जाता है। एक स्थानीय इकाई अपने आकार और उसमें निवास करने वाली जनता की दृष्टि से यदि विस्तृत और बड़ी इकाई है तो एक छोटी इकाई की तुलना में उसकी वित्तीय स्थिति अधिक सुदृढ़ होगी। छोटी इकाइयां सदैव अधिक सहायता के लिए मुखापेक्षी रहती हैं। समालोचकों की मान्यता यह भी है कि स्थानीय इकाइयों को आर्थिक संसाधन का आवंटन उन्हें प्रदत्त कार्यों के क्षेत्र और विस्तार को दृष्टिगत रखते हुए किया जाता है। राज्य सरकार या उच्चतर शासन की इकाई निरन्तर उन संस्थाओं के कार्य निष्पादन पर दृष्टि रखती है और यदि उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि ये संस्थाएँ उपलब्ध संसाधनों की सीमा में अपने दायित्वों का निष्पादन कुशलतापूर्वक नहीं कर पा रही हैं तो या तो उनके संसाधन बढ़ाने का निर्णय लिया जाता है या फिर उनके वृहत्तर दायित्वों में से कुछ दायित्वों को कम कर दिया जाता है जिससे ये संस्थाएँ अपने कर्त्तव्यों का समुचित निर्वाह कर सकें। इस संदर्भ में एक उदाहरण यह दिया जाता है कि जल वितरण का काम स्थानीय संस्थाओं का हुआ करता था किन्तु जल वितरण हेतु निर्माण कार्यों पर जो भारी खर्च आने लगा है उसे देखते हुए यह कार्य स्थानीय संस्थाओं की अपेक्षा सरकारें अपने स्तर पर करने लगी हैं। विगत कुछ वर्षों में यह तथ्य भी उभर कर सामने आया है कि लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के कारण स्थानीय संस्थाओं के कार्यभार में जो वृद्धि हुई है और राष्ट्र निर्माण की गतिविधियों में उन्हें अधिक भागीदारी दी जाने लगी है उसी के अनुरूप सरकारी सहायता और अनुदान में भी वृद्धि स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुई है।[3]

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय संरचना उनकी अपनी स्वयं की इच्छा पर निर्भर नहीं होती, अपितु यह राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। इसे निर्धारित करते समय राज्य सरकार को स्थानीय संस्था द्वारा नागरिकों को दी जाने वाली सेवाओं एवं राष्ट्रीय सेवाओं से उनकी प्रासंगिकता के संदर्भ में निर्णय लेना होता है। वे संस्थाएँ जो कर आरोपित कर सकेंगी उनकी अनुमति भी राज्य सरकार देती है और इस प्रकार एकत्र संसाधन यदि उनके दायित्वों के निष्पादन के लिए न्यून पड़ते हैं तो उन्हें राज्य सरकार अपने कोष से अनुदान भी देगी। क्योंकि उनके दायित्वों के क्षेत्र का निर्धारण राज्य सरकार ही करती है अतः उनकी वित्तीय संरचना का क्षेत्र भी एक प्रकार से उसी के द्वारा निर्धारित होता है।

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था पर उच्चस्तरीय सरकार का यह नियंत्रण

एक विश्वव्यापी विशेषता है। इस तथ्य को विकसित और विकासशील सभी देशों में अनुभव किया जा सकता है यद्यपि स्वीडन और यूगोस्लाविया इसके विशिष्ट अपवाद हैं।[4]

किसी नगरीय स्थानीय शासन की इकाई के वित्तीय प्रशासन का एकीकृत रूप उसके बजट के अवलोकन से स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है। यह बजट आय और व्यय दोनों का पूर्वानुमान होता है। इसलिए नगरीय शासन की स्थानीय इकाइयों के वित्तीय प्रशासन के इस अध्याय को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर देखना उचित होगा :

1. आय के स्रोत,
2. बजट का निर्माण और उसमें व्यय की विभिन्न मदें, तथा
3. लेखा पालन तथा लेखा परीक्षण।

आय के स्रोत

जैसा कि पूर्व में व्यक्त किया जा चुका है कि भारत के संविधान द्वारा करारोपण की शक्तियों का विभाजन केन्द्रीय सरकार एवं राज्यों के मध्य किया गया है। उनमें ऐसे करों का उल्लेख नहीं है जो अनन्य रूप से स्थानीय शासन के लिए हों। स्थानीय शासन अपनी वित्त व्यवस्था का संचालन राज्य सरकार की सहायता से और उसके द्वारा विनिश्चित की गई परिसीमा में करेगा। इस प्रकार स्थानीय शासन को प्रभुत्वहीन करके उसे सम्बन्धित राज्य सरकार का एक निकाय या इकाई बना दिया गया है। राज्य सरकारें स्वयं राज्य सूची में वर्णित विषयों तक कर लगाने के लिए स्वतंत्र होती हैं। इस तरह राज्य सरकार का वित्तीय क्षेत्र सीमित होने के कारण उसकी ये नगरीय सरकारें भी वित्तीय कमी से प्रभावित होती हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के विकास की मुख्य समस्या शहरीकरण की रही है। शहरों के बढ़ते हुए आकार और उन पर निरन्तर होते जनसंख्या के दबाव ने स्थानीय संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले कार्यों और उनकी महत्ता को पर्याप्त बढ़ा दिया है। इस कारण स्थानीय संस्थाओं को अपनी प्रतिष्ठा बचाने एवं आरोपित दायित्वों के कुशलतापूर्ण निर्वाह के लिए अधिकाधिक साधन जुटाने के लिए निरन्तर संघर्षरत देखा जा सकता है किन्तु उसे प्रदत्त साधनों की सीमा इस स्थिति से मुक्ति का कोई मार्ग सुझा नहीं पाती है।

नगरीय स्थानीय शासन की इकाइयों के आय के साधनों को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है :

1. करों से आय,
2. करों के अतिरिक्त आय।

1. करों से आय

स्थानीय शासन की आय का मुख्य स्रोत उनके द्वारा आरोपित कर होते हैं। आय का यह स्रोत स्थानीय शासन की राज्य सरकार पर निर्भरता को कम करता है अन्यथा वे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व खोकर राज्य सरकार के एक विभाग मात्र बन सकते हैं। जिस संस्था के पास करारोपण की शक्तियाँ अधिक होती हैं वह संस्था राजनीतिक दृष्टि से उतनी

ही स्वायत्तता का उपयोग करती है और इससे उसके आत्म–सम्मान में भी वृद्धि होती है।[5] भारतवर्ष में नगरीय संस्थाओं द्वारा आयोजित किये जाने वाले करों में भी कोई एकरूपता या समानता दिखाई नहीं देती है। यह इसलिए कि प्रथम तो नगरीय स्थानीय शासन की इकाइयाँ राज्य सरकारों के नियंत्रण में होती हैं, अतः सभी राज्य सरकारें इस संबंध में पृथक् निर्णय करती हैं और दूसरे इसलिए कि नगरों में पाई जाने वाली ये संस्थाएं भी एक जैसी नहीं होतीं। कहीं नगर निगम होता है तो कहीं नगर परिषद् और कहीं–कहीं पर अन्य प्रकार की संस्थाएँ। इस प्रकार भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न प्रकार की इन नगरीय इकाइयों द्वारा आरोपित करों में स्वाभाविक रूप से असमानता पाई जाती है।

स्वतंत्रता के पश्चात् समय–समय पर यह माँग की जाती रही है कि नगरीय संस्थाओं के लिए वित्त की व्यवस्था संविधान द्वारा ही कर दी जानी चाहिए। जिस प्रकार संविधान द्वारा आय के संसाधनों का केन्द्र व राज्यों के बीच वितरण कर दिया गया है, उसी प्रकार स्थानीय संस्थाओं के लिए भी संविधान में समुचित संशोधन के माध्यम से यह व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके अभाव में स्थानीय संस्थाएँ आज पूर्ण रूप से राज्य सरकारों पर निर्भर है।

इन संस्थाओं के द्वारा जो कर लगाये जाते हैं उन्हें भी दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. अनिवार्य कर
2. विवेकाधीन कर

(अ) अनिवार्य कर : राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 2009 की धारा 102 अनिवार्य करों के विषय में प्रावधान करती है। इसके अन्तर्गत छः प्रकार के करों का उल्लेख किया गया है।

(i) भवन या भूमि के वार्षिक किराया मूल्य पर कर;
(ii) वृत्तियों तथा व्यवसायों पर कर;
(iii) सड़कों, पुलों और घाटों पर पथकर;
(iv) प्रदूषण नियंत्रण के लिए कर;
(v) सार्वजनिक स्थल पर विज्ञापन पर कर;
(vi) कोई अन्य कर जिसे भारत के संविधान के अधीन राज्य सरकार लगा सके।

यद्यपि इन करों को अधिनियम में नगरीय स्थानीय संस्थाओं के लिए अनिवार्य निर्धारित किया गया है, किन्तु असल में नगरीय स्थानीय संस्थाएँ अनिवार्य रूप से इन करों का आरोपण नहीं कर सकतीं, क्योंकि इन करों को लगाने की शक्ति राज्य सरकार में निहित है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि इन करों का आरोपण राज्य सरकार द्वारा किया जाता है और इनकी उगाही या एकत्रण नगरीय स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है। इन करों की दर तथा करारोपण की तिथि का निर्धारण भी राज्य सरकार द्वारा ही किया जाता है। जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि राजस्थान की लगभग

60 नगरीय स्थानीय संस्थाओं द्वारा भवन कर का आरोपण किया ही नहीं गया और वृत्ति या व्यवसाय कर का आरोपण राज्य की किसी भी नगरीय स्थानीय संस्था द्वारा किया ही नहीं गया है।[6] **राज्य सरकार द्वारा 1 अगस्त, 1998 से चुंगी समाप्त कर दी गई है।** इसकी एवज में नगरीय निकायों को अनुदान देने का निश्चय किया गया है। नगर निकायों को वर्ष 1997–98 की चुंगी से प्राप्त होने वाली आय में प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत की वृद्धि करते हुए अनुदान देने की व्यवस्था की गई है।[7]

इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि अधिनियम में उल्लिखित ये अनिवार्य कर 'अनिवार्य' कदापि नहीं है। अधिनियम में संकेतित उक्त छः अनिवार्य करों में से वृत्तियों तथा व्यवसायों पर कर तो राज्य के नगरीय निकायों द्वारा कभी आरोपित किया ही नहीं गया है और 'चुंगी' जो इन संस्थाओं की आय का एक मुख्य स्रोत था उसे राज्य सरकार ने कतिपय समूहों के दबाव के अधीन अगस्त 1998 से समाप्त कर दिया है। शेष भवन या भूमि कर जिसे सामान्यतः 'संपत्ति कर' के रूप में जाना जाता है, उसे भी नगरीय निकायों द्वारा राज्य सरकार की अनुमति के बिना आरोपित किया जाना संभव नहीं है।

सारतः उक्त छः अनिवार्य करों में से केवल संपत्ति कर (अब नगरीय विकास कर) ही ऐसा कर है, जिसे राज्य की लगभग दो–तिहाई नगरीय संस्थाओं द्वारा आरोपित किया जा रहा है। अतः यहाँ इसका विवरण प्रस्तुत किया जाना प्रासंगिक है।

नगरीय विकास कर

राजस्थान में पूववर्ती नगरपालिका अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत जो संपत्ति कर या भूमि एवं भवन कर प्रचलित था, उसे राजस्थान सरकार द्वारा 29 अगस्त, 2007 की अधिसूचना द्वारा परिवर्तित कर अब नगरीय विकास कर के रूप में प्रभावी कर दिया गया है।

वर्षों से पूर्ववर्ती संपत्ति कर, जिसे नगरीय निकायों में गृहकर के नाम से भी आरोपित किया जा रहा था, विभिन्न कारणों से आलोचना का विषय बना हुआ था। राजस्थान सहित विभिन्न राज्यों की लोकप्रिय सरकारों ने इस कर को या तो समाप्त करने का वायदा जनता से कर दिया था या उसे समाप्त घोषित कर दिया था। विभिन्न राज्यों में, आरोपित होने के बावजूद यह कर पूरी तरह वसूल भी नहीं किया जा रहा था। इन समस्त विसंगतियों एवं आलोचनाओं का निराकरण करते हुए राजस्थान सरकार ने ऊपर इंगित अधिसूचना के माध्यम से नया कर लगा दिया और उसके लिए पृथक् से नियम भी जारी कर दिए।[8] इन नियमों में यह कहा गया है कि नगरीय विकास कर किसी भी नगर निकाय क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर जारी की गयी अधिसूचना में विनिर्दिष्ट दर और तारीख से वार्डवार उद्गृहणीय होगा।

एक और अधिसूचना राज्य सरकार द्वारा 3 सितम्बर 2007 को जारी की गयी जिसमें स्वायत्त शासन विभाग राजस्थान, जयपुर द्वारा राजस्थान के समस्त नगर निकाय क्षेत्रों में **उक्त कर के उद्गृहण के अन्तर्गत छूट की घोषणा की गयी जो निम्नानुसार है–**[9]

(i) सभी नगर निकायों में 300 वर्गगज तक के स्वतंत्र आवास एवं उस पर बने फ्लैट,

(ii) 300 वर्गगज तक के संस्थानिक व औद्योगिक परिसर,

(iii) 300 वर्गगज से अधिक क्षेत्र की भूमि पर बने 1500 वर्गफीट (निर्मित क्षेत्र) तक के आवासीय फ्लैट,

(iv) राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत छूट प्राप्त सम्पतियाँ तथा धार्मिक पूजा अर्चना के उपयोग की समस्त सार्वजनिक सम्पत्तियाँ,

(v) चेरिटेबल ट्रस्ट की समस्त सम्पत्तियाँ,

(vi) राज्य सरकार के विशेष आदेश द्वारा कर मुक्त की गयी शैक्षणिक संस्थाएँ, और

(vii) 100 वर्गगज तक के व्यावसायिक भूखण्ड जिनमे 900 वर्गफीट (निर्मित क्षेत्र) तक निर्माण हो।

इस प्रकार नगरीय विकास कर, जो राजस्थान में पूर्ववर्ती सम्पत्ति कर के स्थान पर अधिरोपित किया गया है, में उक्त कोटि की विभिन्न प्रकार की छूट घोषित की गयी हैं। इन घोषित छूट के अतिरिक्त सभी नगर निकाय क्षेत्रों में राज्य सरकार द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार नगरीय विकास कर एकत्र करने की शक्तियाँ नगर निकायों को प्रदान की गयी हैं।

2. विवेकाधीन कर

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम 2009, की धारा 103 के अन्तर्गत नगरीय स्थानीय संस्थाएँ राज्य सरकार के किन्हीं सामान्य या विशिष्ट आदेशों के अध्यधीन रहते हुए निम्न विवेकाधीन करों का आरोपण कर सकती हैं :

1. नगरपालिका के भीतर चलाए जाने वाले यानों पर कर;
2. नगरपालिका के भीतर लंगर डालने वाली नौकाओं पर कर;
3. रोशनी कर;
4. सभाओं पर कर;
5. तीर्थयात्रिओं और पर्यटकों पर कर;
6. विज्ञापन के लिए होर्डिंग लगाने या किसी अन्य संरचना निर्मित करने हेतु उपयोग में ली गयी भूमि या भवन पर कर;
7. अग्नि कर;
8. किसी गैर–आवासीय भवन में पार्किंग स्थानों में की न्यूनता पर कर;
9. स्टाम्प शुल्क पर कर;
10. कोई भी कर जिसे संविधान के अधीन अधिरोपित करने की शक्ति राज्य सरकार को हो।

चूंकि उक्त कर विवेकाधीन हैं अतः निर्वाचित स्थानीय निकाय मतदाताओं की

तात्कालिक नाराजगी के भय और उनसे व्यक्तिगत निकटता के कारण इन करों के आरोपण के प्रति अनिच्छुक रहते हैं। इस कारण उनका नगरीय स्थानीय निकायों की आय में योगदान नगण्य होता है। **प्रथम राज्य वित्त आयोग** ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि विवेकाधीन करों का नगरीय स्थानीय संस्थाओं की आय में केवल 0.5 प्रतिशत योगदान है। इसे बढ़ाने के लिए नगरीय निकायों को चाहिए कि वे इन करों के दायरे में अधिकाधिक स्थानीय निवासियों को लायें।[10] इसके लिए उन्हें कुछ चुने हुए क्षेत्रों पर कर लगाने चाहिए यथा–सफाई की समस्या को दूर करने के लिए उन्हें सब्जी मंडियों, निजी अस्पतालों, डिस्पेन्सरियों, नाई की दुकानों, सड़क किनारे स्थापित रेस्टोरेण्ट, ढाबों व उद्योगों पर सफाई कर लगाया जा सकता है। पार्किंग व होर्डिंग्स कर भी नगरीय निकायों की आय के अच्छे साधन हो सकते हैं।

3. करों के अतिरिक्त आय

करों के अतिरिक्त आय में फीस, शास्तियाँ, भूमि के विक्रय से आय, संपत्तियों से आय, ऋण व सहायता को माना जा सकता है। अध्ययन की सुविधा के लिए करों के अतिरिक्त आय को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(i) आन्तरिक स्रोत

(ii) बाह्य स्रोत

1. आन्तरिक स्रोत

नगरीय निकायों की आन्तरिक आय के मुख्य स्रोत हैं– संपत्ति से आय, भूमि के विक्रय से आय, शास्तियाँ फीस, शुल्क यथा–होटल, रेस्टोरेंट, डेयरी, वर्कशॉप, फैक्ट्री आदि पर नगरीय निकायों द्वारा लाइसेंस शुल्क आरोपित कर दिया जाता है। इसके अलावा शहर में एकत्र खाद्य सामग्री के बेचने से प्राप्त आय, नगरीय निकाय की भूमि के बेचने से प्राप्त आय और कहीं–कहीं नगरीय निकाय द्वारा बनाए गए वाणिज्यिक स्थलों के उपयोग से होने वाली आय, आवास गृहों या विश्राम गृहों के किराये की आय, बाजार की मुख्य दुकानों से बाहर या खुले में सड़क पर अस्थायी वस्तुएं बेचने के लिए लगने वाली दुकानों से आय एवं अनेक प्रकार की फीस जिसमें केरोसिन, ईंधन, सब्जियाँ, लोहा और इसी प्रकार के अन्य वाणिज्यिक कार्यों के लिए दिए जाने वाले लाइसेंस से नगरीय निकायों को आमदनी होती हैं। इस मद में फीस और जुर्माने से होने वाली आमदनी भी सम्मिलित की जाती है। उदाहरण के लिए शहर में लगने वाले विज्ञापन पट्टों को बेचने से नगरीय निकाय को आमदनी होती है। विभिन्न प्रकार के लाइसेंस का नवीनीकरण न कराने या उसमें विलम्ब होने पर नगरीय निकायों द्वारा उन पर निश्चित दर से जुर्माना आरोपित कर दिया जाता है। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में बूचड़खानों को चलाने की अनुमति भी निश्चित फीस लेकर नगरीय निकाय ही प्रदान करता है। कुछ बड़े किस्म के नगर निकाय कतिपय उपयोगी वस्तुओं जैसे कुकिंग गैस, विद्युत, दूध वितरण और नगर बस सेवा इत्यादि का कार्य अपने हाथ में ही ले सकते हैं और इस प्रकार इन सुविधाओं के संचालन से यदि कोई बचत होती है तो वह नगरीय निकाय के कोष में आमदनी मानी जाती है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि आमदनी के ये ऐसे स्रोत हैं जो करों से भिन्न हैं किन्तु ये इतने विविध प्रकार के हैं कि प्रत्येक मद में कुछ न कुछ आमदनी नगर निकाय के कोष का एक महत्त्वपूर्ण भाग बनती है।

(ii) बाह्य स्रोत : बाह्य स्रोत से आय को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(अ) राज्य सरकार द्वारा आरोपित व संग्रहीत करों में से हिस्सा;
(ब) सरकारी अनुदान;
(स) ऋण या उधार;

(अ) राज्य सरकार द्वारा आरोपित व संग्रहीत करों में से हिस्सा : ऐसे कर जिन्हें राज्य सरकार आरोपित करती हैं और वही एकत्र करती हैं उनमें से कुछ भाग राज्य सरकार द्वारा स्थानीय शासन की नगरीय इकाइयों को दे दिया जाता है। ऐसे करों में प्रायः मनोरंजन कर, वाहन कर और भू–राजस्व को सम्मिलित किया जाता है। मोटर वाहन कर आय के अनुपात में वितरण किया जाता है। उड़ीसा में मोटर वाहन कर का 50 प्रतिशत हिस्सा स्थानीय निकायों को प्राप्त होता है। वाहन कर से प्राप्त राशि का बंटवारा इस दार्शनिक मान्यता पर आधारित है कि चूंकि नगर सीमा में वाहन के चलने से सड़कों को क्षति होती है अतः इनकी मरम्मत हेतु निकायों को राज्य सरकार सहायता देती है। सभी राज्यों में इसकी दर अलग–अलग है। ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध समिति ने इस कर पर नगर निकायों का अधिकार स्वीकार करते हुए इस कर से सरकार को प्राप्त राजस्व में से 25 प्रतिशत नगर निकायों को लौटाने की अभिशंसा की थी।

इसी प्रकार राज्य सरकार द्वारा ड्रामा, सिनेमा, सर्कस, दौड़ प्रतियोगिता आदि के लिए जो कर संपूर्ण राज्य के लिए लगाया जाता है और उसी के द्वारा एकत्र किया जाता है उसमें से कुछ राशि स्थानीय निकायों को प्रदान की जाती है। इस मद में राज्य सरकार की आय निरन्तर बढ़ रही है इसलिए आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु एवं कर्नाटक राज्य में तकनीकी तौर पर इस कर को स्थानीय निकायों को हस्तान्तरित कर दिया गया है लेकिन व्यवहार में ये राज्य दस से साढ़े बारह प्रतिशत राशि नगर निकायों को देते हैं किन्तु अब स्थिति यह है कि महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा दिल्ली इस कर की संपूर्ण राशि नगर निकायों को लौटा देते हैं। आन्ध्र प्रदेश में यह 90 प्रतिशत लौटाया जाता है और शेष राशि राज्य सरकार द्वारा अपने पास इसलिए रख ली जाती है कि इस कर के एकत्रण में उसका भी प्रशासनिक व्यय हुआ है।

कतिपय बाह्य देशों में मनोरंजन कर भी स्थानीय निकायों के मध्य प्रत्येक शहर से एकत्र किए गए कर के अनुपात में वितरित किया जाता है। इस प्रकार सभी स्थानीय निकायों को इन मदों में बढ़ी हुई राशि नगर की जनता द्वारा दिए गए कर के अनुपात में प्राप्त हो जाती है जबकि भारत में अभी तक पूरी तरह से ऐसी व्यवस्था नहीं हो पाई है। इस दिशा में यह सुझाव दिया जाता रहा है कि इस प्रकार के कर जिनका आरोपण और एकत्रण राज्य सरकार द्वारा होता है किन्तु जिनसे प्राप्त राशि का वितरण स्थानीय

निकायों और राज्य सरकार के मध्य किया जाना है उसके विषय में एक ऐसी व्यावहारिक नीति विकसित की जानी चाहिए जैसी कि आस्ट्रेलिया जैसे विकसित राष्ट्र में कर ली गई है। ऐसा कर दिए जाने से न केवल स्थानीय निकायों को नगर से एकत्र हुई राशि के अनुपात में ही वह वापस मिल सकेगी अपितु वे नागरिकों की सेवा कर पाने में भी सक्षम और सफल हो सकेंगे।

(ब) सरकारी अनुदान : स्थानीय संस्थाओं के बढ़ते हुए व्यय और उसकी तुलना में उन्हें प्राप्त करारोपण की शक्तियों के न्यून होने के कारण स्थानीय संस्थाओं की राज्य सरकार पर वित्तीय निर्भरता बढ़ी है। एकात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों में केन्द्र सरकार एवं स्थानीय निकायों के पारस्परिक सम्बन्धों और संघात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों मे राज्य सरकार एवं स्थानीय निकायों के सम्बन्धों को निरूपित और निर्धारित करने मे स्थानीय निकायों को दिए जाने वाले इस सरकारी अनुदान का महत्त्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।[1]

इसके अतिरिक्त यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार करने की दिशा में स्थानीय संस्थाओं को राज्य द्वारा अधिकाधिक दायित्व दिए जा रहे हैं अतः इन संस्थाओं को सहायक अनुदान देना राज्य सरकार का नैतिक कर्तव्य बन जाता है। यह इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि चूंकि राज्य सरकार के पास सभी प्रमुख वित्तीय स्रोत केन्द्रित हैं अतः स्थानीय संस्थाओं को हर प्रकार से संरक्षण दिया जाना चाहिए।

राज्य सरकार द्वारा स्थानीय नगर शासन को अनुदान देने के मूल में मुख्य उद्देश्य स्थानीय निकायों के वित्तीय साधनों में बढ़ोतरी करना है जिससे कि वे अपने दायित्वों को संतोषप्रद ढंग से सम्पन्न कर सकें। हमारे देश में स्थानीय निकायों की यह एक मुख्य विशेषता रही है कि वे वित्तीय कमी से सदैव प्रभावित रहे हैं। इसके अतिरिक्त अनियंत्रित शहरी विकास इस समस्या को और बढ़ा रहा है। उदाहरणार्थ औद्योगिक क्षेत्रों से यद्यपि स्थानीय निकायों को संपत्ति कर की प्राप्ति होती है परन्तु उद्योगों के निकट बसी कच्ची बस्तियाँ उस क्षेत्र की समस्याओं को बढ़ा कर उनका व्यय दुगुना कर देती है जिससे कि स्थानीय शासन घाटे का शिकार हो जाता है। राज्य सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह घाटे की पूर्ति हेतु स्थानीय शासन के लिए अनुदान की व्यवस्था करे।

इसके अतिरिक्त राज्य और स्थानीय शासन की आवश्यकताओं और स्रोत में समतुल्यता नहीं होने से कठिनाइयाँ और बढ़ जाती है। कार्य कुशलता, प्रभावशीलता एवं लोकप्रिय नियंत्रण के दृष्टिकोण से राज्य सरकार का यह दायित्व हो जाता है कि वह कर एकत्रण उचित माध्यम से करे। राज्य सरकार क्योंकि सार्वभौमिक है और स्थानीय शासन अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप राज्य सरकार की तुलना में अधिक साधन एकत्र नहीं करा पाता है। अनुदान एक प्रभावी यंत्र है जो कि भौतिक क्षमता और भौतिक आवश्यकताओं के मध्य असन्तुलन को समाप्त करता है। अनुदान के अभाव में स्थानीय शासन अपने निवासियों को महत्त्वपूर्ण आवश्यक सेवाएं प्रदान करने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार, अनुदान जहाँ एक ओर स्थानीय शासन के क्षेत्र को सीमित होने से रोकता

है वहीं दूसरी ओर वह नागरिकों को आवश्यक सेवाएं कुशलता से प्रदान कर पाने में सक्षम बनता है।

राज्य सरकार द्वारा दिया जाने वाला अनुदान सदैव तदर्थ एवं उसके विवेकाधीन होता है तथा इस बात पर निर्भर करता है कि सरकारी कोष में धनराशि है या नहीं? स्थानीय निकायों को अनुदान की राशि निरन्तर और निश्चित रूप से मिलती रहे और उसके दिए जाने की प्रक्रिया सरल हो ताकि एक मुश्त जो अनुदान इन संस्थाओं को मिलता है उसमें अकारण और अत्यधिक विलम्ब न हो इसके लिए कुछ राज्यों ने नियमावली संहिताबद्ध करने का प्रयत्न किया है। केरल, गुजरात तथा मध्य प्रदेश राज्य ने इस दिशा में पहल की है किन्तु इस सम्बन्ध में मध्य प्रदेश ने जो संहिता निरूपित की है उसे सर्वाधिक व्यवस्थित माना जाता है।[12]

अनुदानों के प्रकार

राज्य सरकार द्वारा स्थानीय संस्थाओं को जो अनुदान दिया जाता है उसे भिन्न–भिन्न दृष्टियों से परिभाषित किया जाता है। भारतवर्ष में इस अनुपात को प्रायः आवर्तक दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। आवर्तक अनुदान को पुनः दो उप–वर्गों सामान्य या बिना शर्त के अनुदान और विशेष या सशर्त अनुदान में बाँटा जाता है।

मोटे तौर पर भारत वर्ष में नगरीय संस्थाओं को दिया जाने वाला सामान्य उद्देश्यीय अनुदान उनके स्थायी और तदर्थ कर्मचारियों के वेतन और गतिविधियों के निष्पादन के निमित्त दिया जाता है। कतिपय अनिवार्य कार्यों जैसे जल वितरण इत्यादि के लिए पाइप लाइन बिछाने हेतु निर्माण कार्य पर आने वाले व्यय भी सरकार द्वारा इसी श्रेणी में दिए जाने वाले अनुदान से चलाए जाते हैं। राजस्थान में सामान्य उद्देश्यीय अनुदान समस्त नगरीय निकायों को दो किश्तों में नगर निगमों/परिषदों को 12.50 रुपए प्रति व्यक्ति, द्वितीय श्रेणी नगरपालिकाओं को 25 रुपए प्रति व्यक्ति, तृतीय श्रेणी एवम् चतुर्थ श्रेणी की पालिकाओं को 37.50 रुपए प्रति व्यक्ति की दर से वितरित किया जा रहा है।[13] इसके विपरीत जो विशिष्ट अनुदान दिए हैं वे विशिष्ट प्रयोजनों के लिए जारी किए जाते हैं।

भारत सरकार के वित्त मंत्रालय द्वारा नियुक्त कराधान जाँच आयोग (टेक्सेशन एनक्वायरी कमीशन), 1953–54 ने इन संस्थाओं के लिए दो प्रकार के अनुदानों की अनुशंसा की थी :

1. सामान्य उद्देश्यीय सहायक अनुदान : इस प्रकार का अनुदान किसी विशेष सेवा या उद्देश्य के लिए न दिया जाकर संस्था के व्यापक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता के लिए दिया जाता है। इसके अन्तर्गत प्राप्त राशि का व्यय, ये संस्थाएं अपने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कर सकती हैं।

2. विशिष्ट सेवा सहायक अनुदान : इसके अन्तर्गत प्राप्त धनराशि उन्हीं सेवाओं पर व्यय की जा सकती है जिनके लिए यह उपलब्ध कराई गई है। जैसे जन–स्वास्थ्य की मद के अन्तर्गत स्वीकृत विशिष्ट धनराशि का व्यय जन–स्वास्थ्य संबंधी प्रयोजनों और शिक्षा के लिए प्राप्त अनुदान का व्यय शैक्षिक परियोजनाओं के निष्पादन के लिए ही किया

जा सकता है।

इस आयोग की अनुशंसाओं को आधार मानकर कतिपय राज्यों–मध्य प्रदेश, गुजरात तथा केरल ने सुनियोजित अनुदान नीति की व्यवस्था की है। इन राज्यों में स्वायत्त शासन संस्थाओं को जनसंख्या के आधार पर भिन्न–भिन्न वर्गों में बाँटा गया है तथा प्रत्येक वर्ग की संस्था के लिए प्रति व्यक्ति अनुदान की राशि निर्धारित की गई है। यह माना गया है कि इस प्रकार का वर्गीकरण करने से अनुदान का आधार वस्तुनिष्ठ बन गया है जिसमें राजनीतिक दांव–पेच की संभावना क्षीण हो जाती है। इसके अन्तर्गत छोटी संस्थाओं को प्रति व्यक्ति अनुदान अधिक दिया जाता है क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वे अक्षम होती हैं जबकि बड़ी संस्थाओं को प्रति व्यक्ति अनुदान कम मिलता है। प्रायः सभी राज्यों में यह प्रयत्न किया जाता है कि स्वायत्त शासन संस्थाएं करों द्वारा अपनी आय बढ़ाने की पूरी चेष्टा करें। विशिष्ट कार्यक्रमों के लिए जो विशिष्ट अनुदान दिए जाते हैं उनका चयन प्रत्येक राज्य की योजना की प्राथमिकता को आधार मानकर किया जाता है। इस प्रकार का अनुदान प्रायः तदर्थ आधार पर दिया जाता है।

सरकारी अनुदान की यह प्रणाली प्रत्येक देश में अलग–अलग आधारों पर संचालित होती है और यहां तक कि एक देश में भी उसके विभिन्न भागों में विकास के स्तर द्वारा अनुदान का न्यून या अधिक होना विनिश्चित होता है। इसलिए यह माना जाता है कि यदि सरकार द्वारा दिए जाने वाले इस अनुदान में प्रभावशाली उपादान को बनाये रखना है तो अनुदान की नीति की समय–समय पर समीक्षा की जानी चाहिए। इसी तरह यह अनुदान देते समय राज्य को यह भी ध्यान रखना होता है कि इसके माध्यम से स्थानीय संस्थाएं अपने प्रशासन और योजनाओं को सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकें। किन्तु साथ ही यह ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि अनुदान की नीति इन संस्थाओं को राज्य सरकार पर एकदम निर्भर न बना दें। वस्तुतः इन संस्थाओं को केवल इस तरह की स्वशासी संस्थाओं के रूप में विकास हेतु प्रोत्साहित किया जाए कि ये स्थानीय विकास की वाहक संस्थाओं के रूप में सुदृढ़ता से विकसित हो सकें।[14]

अनुदान की इस नीति की समीक्षा करते समय समालोचकों का यह मत भी अभिव्यक्त हुआ है कि स्थानीय संस्थाओं को जिन स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर अनुदान स्वीकृत किया जाता है उसके लिए राज्य सरकार को सर्वप्रथम यह रेखांकित करना होता है कि स्थानीय आवश्यकताएं क्या हैं और कौन–कौन सी हैं? किन्तु यह निर्णय करना वस्तुतः कठिन कार्य है कि स्थानीय या गैर स्थानीय आवश्यकताएं क्या हैं? कतिपय सेवाओं के प्रभावी निष्पादन के लिए स्थानीय निकाय और सरकार का परस्पर सहयोग करना या परस्पर निर्भर रहना अनिवार्य होता है। इसलिए इस प्रकार की सेवाओं के निष्पादन में स्थानीय शासन की इकाई और राज्य सरकार के संयुक्त प्रयास की आवश्यकता होती है। सरकार द्वारा दिया जाने वाला यह अनुदान चाहे सामान्य श्रेणी का हो या विशिष्ट, किन्तु यह सच है कि दोनों ही प्रकार का अनुदान देने के पश्चात् भी राज्य सरकार को यह तो सुनिश्चित करना ही होता है कि जो अनुदान उन्हें दिया जा रहा है उसका वे सटीक उपयोग उन दायित्वों के निर्वाह के लिए ही कर रही हैं जिनके लिए

वह अनुदान दिया गया है। यदि राज्य सरकार द्वारा दिया जाने वाला अनुदान बिना शर्त के दिया जाता है तो सम्बन्धित स्थानीय इकाई के लापरवाह होने की संभावनाएं हो सकती हैं इसलिए इस दिशा में यह सुझाव दिया जाता रहा है कि स्थानीय इकाइयों को दिया जाने वाला अनुदान विशिष्ट प्रयोजनों के लिए निर्धारित होना चाहिए ताकि अनुदानदात्री राज्य सरकार उनके सटीक उपयोग को नियंत्रित भी कर सकें।

सरकार द्वारा दिए जाने वाले अनुदान का राजनैतिक मंतव्यों के लिए भी उपयोग किया जा सकता है। यह उपयोग सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। जब अनुदान देने वाली सरकार किसी क्षेत्र विशेष में विकास के असंतुलन को दूर करने के लिए अनुदान देती है और उसके माध्यम से यह आशा करती है कि वह क्षेत्र अन्य क्षेत्रों के समान ही विकसित हो तो यह प्रयास सकारात्मक माना जा सकता है। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना आन्दोलन के संदर्भ में केन्द्र सरकार ने तेलंगाना क्षेत्र के समुचित विकास के लिए अनुदान देकर यह प्रयत्न किया कि इस क्षेत्र का विकास राज्य के अन्य क्षेत्रों के समान ही हो। इस प्रकार तेलंगाना समस्या का एक राजनीतिक समाधान अनुदान की इस प्रणाली के माध्यम से सकारात्मक दिशा में किया जा सका था। किन्तु अनुदान का एक नकारात्मक और खतरनाक पक्ष भी है। जब राज्य सरकार किसी एक दल की हो और स्थानीय इकाई किसी अन्य दल के द्वारा शासित हो तो ऐसी स्थिति में आमतौर पर ऐसी शिकायतें उभरती हैं कि दूसरे दल द्वारा शासित स्थानीय इकाई का अनुदान इसलिये कम कर दिया गया या स्थगित कर दिया गया कि राज्य सरकार उस नगर या क्षेत्र में प्रभावी अन्य राजनीतिक दलों को क्षति पहुँचाना चाहती है। इस प्रकार की गतिविधि का हमारे संविधान ने भी कोई प्रतिकार नहीं सुझाया है किन्तु आशा की जा सकती है कि आने वाले वर्षों में, इस दिशा में जो सुधार प्रस्तावित हैं, उनसे इन तरह के नकारात्मक पक्ष का कोई समाधान निकल सकेगा।

अमेरिका में अनुदान के माध्यम से स्थानीय इकाइयों को अभिप्रेरित करने का कार्य भी किया गया है। वहाँ कुछ सरकारी अनुदान केवल उन संस्थाओं को उपलब्ध कराया जाता है जिन संस्थाओं ने अपने यहाँ कार्मिकों की भर्ती में योग्यता को एक प्रमुख आधार के रूप में अपनाया है। इस तरह वहां पर अनुदान ने लूट–खसोट की प्रणाली को समाप्त करने और कार्मिक जगत में योग्यता पर आधारित भर्ती को प्रोत्साहित करने में एक प्रेरणा तत्त्व या प्रभावी कारक का काम किया है।[15]

स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन में अनुदान के बढ़ते हुए महत्त्व को रेखांकित करते हुए, स्थानीय संस्थाओं के लिए बने विभिन्न आयोगों और समितियों ने भी इस पक्ष पर गहन विचार मंथन किया है और इसे अधिक सुव्यवस्थित बनाने के लिए समुचित सुझाव भी दिए हैं। इंग्लैण्ड की कोले फील्ड समिति ने सरकार द्वारा दिए जाने वाले अनुदान को युक्ति सम्मत बनाने के लिए सुझाव किया है कि :

1. अनुदान की राशि की आगामी कई वर्षों के लिए मात्रा सुनिश्चित की जाए,
2. अनुदान के वितरण में स्थिरता लाई जाए,

3. अनुदान के निर्धारण और बजट के लिए समयबद्ध प्रावधान किया जाए, और
4. एक मुश्त अनुदान सुनिश्चित किया जाए जो स्थानीय संस्था के व्यय पर नहीं, अपितु स्थानीय संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के सामान्य मानदंडों पर आधारित हो।

राज्य वित्त आयोगों के सुझाव

राज्यों में स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करने एव राज्य सरकार की संचित निधि से इन निकायों को अनुदान व अन्य सहायता दिए जाने के लिए 73वें व 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से प्रत्येक राज्य सरकार से यह अपेक्षा की गयी है कि वे प्रति 5 वर्ष के अन्तराल पर राज्य वित्त आयोग का गठन करेंगे। इन आयोगों की अनुशंसा के आधार पर स्थानीय निकायों की अनुदान व सहायता के मानक निर्धारित किए जाएंगे।

राजस्थान में भी अब तक तीन वित्त आयोग अपनी अनुशंसा दे चुके हैं। नगरीय निकायों के बारे में उनके द्वारा दी गयी अनुशंसाओं का सारांश इस प्रकार है :

प्रथम राज्य वित्त आयोग के सुझाव

सन् 1995 से लेकर सन् 2000 तक के लिए राज्य सरकार द्वारा नगरीय निकायों को दिए जाने वाले अनुदान की राशि का सुझाव देने के लिए प्रथम वित्त आयोग का गठन पूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री कृष्ण कुमार गोयल की अध्यक्षता में किया गया था जिसने सन् 1995-96 के लिए नगरीय निकायों की अनुदान की कुल राशि जहाँ 55.40 करोड़ सुझाई थी, वहीं राशि उक्त कार्यावधि के अन्तिम वित्त वर्ष सन् 1999-2000 में 107 करोड़ हो गयी थी। प्रथम वित्त आयोग ने अपनी अनुशंसाओं में निम्न तीन प्रकार के अनुदान सुझाए थे:

1. सामान्य उद्देश्यीय अनुदान;
2. विकास अनुदान एवं ऋण; तथा
3. प्रोत्साहन अनुदान एवं मैचिंग अनुदान।

आयोग ने अपने प्रतिवेदन में नगरीय स्थानीय संस्थाओं की ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए "नगरपालिका वित्त निगम" की स्थापना का सुझाव भी दिया था।

द्वितीय राज्य वित्त आयोग के सुझाव

सन् 2000 से 2005 तक के लिए राज्य के खजाने से नगरीय निकायों को दिए जाने वाले अनुदान व सहायता के लिए द्वितीय राज्य वित्त आयोग का गठन राज्य के पूर्व मुख्यमंत्री श्री हीरालाल देवपुरा की अध्यक्षता में किया गया था जिसने नगरीय निकायों को राज्य के करों में से दिए जाने वाले हिस्से व राज्य कोष से इन निकायों को दिए जाने वाले अनुदान के बारे में सिफारिशें दी थी। इस आयोग ने राज्य सरकार को प्राप्त करों से उक्त अवधि में 168.99 करोड़ रुपए हस्तान्तरित किए जाने की अनुशंसा की और अनुदान के रुप में इन संस्थाओं को उक्त अवधि में 99.42 करोड़ रुपए देने की सिफारिश

की। आयोग ने अपने द्वारा की गयी अनुशंसाओं को कार्यान्वित किए जाने पर राज्य के वित्त विभाग द्वारा प्रबोधन (मॉनिटरिंग) किए जाने का सुझाव भी दिया था। आयोग का यह मत भी था कि जो भी कार्य राज्य शासन द्वारा इन निकायों को सौंपे जाएँ उन्हें निधि (Fund), कार्यों (Functions) व कर्मचारियों (Functionaries) सहित सौंपा जाना चाहिए। इस आयोग ने नगर निकायों द्वारा नगरों में वसूल किए जाने वाले गृहकर को तार्किक बनाने की अनुशंसा के साथ ही चुँगी हटाए जाने के कारण निकायों को दी जाने वाली सहायता को अनवरत दिए जाने का सुझाव भी दिया था।

तृतीय राज्य वित्त आयोग की अनुशंसाएँ

इस आयोग का गठन राजस्थान सरकार द्वारा राज्य के पूर्व वित्त मंत्री श्री माणकचन्द सुराणा की अध्यक्षता में 15 सितम्बर 2005 को वर्ष 2005 से 2010 की 5 वर्ष की कालावधि हेतु प्रतिवेदन देने के लिए किया गया था। आयोग ने 27 फरवरी 2008 को अपना अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के पूर्व 17 फरवरी 2006 को अपना अन्तिरम प्रतिवेदन सन् 2005-06 व 2006-07 के लिए (अनन्तिम अनुशंसा) देने के लिए प्रस्तुत किया था जिसे राज्य सरकार ने यथावत स्वीकार कर लिया था। आयोग द्वारा दी गयी मुख्य सिफारिशें और उन पर राज्य प्रशासन द्वारा की गयी कार्यवाही का विवरण इस प्रकार है :

1. राज्य के शुद्ध कर राजस्व में से 3.50% हिस्सा इन संस्थाओं को देने के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिश को राज्य सरकार द्वारा सन् 2008-09 से स्वीकार कर लिया गया है। आयोग ने उक्त राशि में से 0.50% हिस्सा इन संस्थाओं को उनके स्वय के राजस्व स्रोत में वृद्धि के प्रयास हेतु प्रोत्साहन के निमित्त चिह्नित किया था। राज्य के इस शुद्ध कर राजस्व का वितरण नगरीय स्थानीय निकायों एवं पंचायती राज संस्थाओं के मध्य क्रमशः 75.7 एवं 24.3 प्रतिशत के अनुपात में किए जाने की सिफारिश की थी जिसे भी राज्य सरकार ने सन् 2008-09 के वित्त वर्ष से मान लिया है।

2. आयोग ने राज्य को प्राप्त होने वाली शुद्ध मनोरंजन कर की सम्पूर्ण राशि नगरीय स्थानीय निकायों को **उनके क्षेत्र में संग्रहण के अनुपात में** अन्तरित किए जाने की सिफारिश की थी। राज्य सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को वर्ष 2008-09 से स्वीकृत किया है।

3. नगरीय स्थानीय निकायों के लिए निर्धारित हिस्से की राशि का 80 प्रतिशत सभी श्रेणी के नगर निकायों की जनसंख्या के आधार पर एवम् शेष 20 प्रतिशत राशि श्रेणी-II, III एवम् IV नगरपालिकाओं को उनकी जनसंख्या के आधार पर वितरित किए जाने की सिफारिश की गयी थी, जिसे भी राज्य सरकार द्वारा 2008-09 से स्वीकार कर लिया गया है।

4. आयोग ने राज्य सरकार द्वारा निगमों, नगर परिषदों एवम् नगरपालिकाओं को वर्ष 1991 की जनसंख्या के आधार पर क्रमशः 12.50 रुपए, 25 रुपए एवं 37.50 रुपए प्रति व्यक्ति की दर से दिए जाने वाले अनुदान को वर्ष 2001 की जनगणना के आधार पर दिए

जाने की सिफारिश की थी। **इस सिफारिश के सम्बन्ध में राज्य सरकार की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं रही और उसने इस अनुदान को जारी रखना आवश्यक नहीं समझा।**

5. राज्य सरकार द्वारा वर्ष 2001-02 से चुंगी समाप्त किए जाने के पश्चात् नगर निकायों को उसकी क्षतिपूर्ति की राशि का भुगतान किया जा रहा है। आयोग ने यह क्षतिपूर्ति प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत बढ़ाकर किए जाने की अनुशंसा की थी जिसे राज्य सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है।

आयोग ने सन् 2005-06 से 2009-10 की अवधि के लिए कुल 2230.97 करोड़ रुपए का अन्तरण दोनों प्रकार की स्थानीय संस्थाओं को किए जाने का सुझाव दिया था जिसमें से उक्त अवधि में नगरीय निकायों को कुल 556.93 करोड़ रुपए दिए जाने की अनुशंसा की थी। इसी प्रकार 12वें वित्त आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत मिलने वाला अनुदान भी नगर निकायों के लिए 220.00 करोड़ रुपए चिन्हित किया गया था। आयोग ने नगर निकायों द्वारा उनके क्षेत्र में गृहकर की राशि के वसूले जाने की शिथिल व्यवस्था पर भी चिन्ता व्यक्त की थी। आयोग ने शहरों में स्ट्रीट लाइट पर आने वाले व्यय की राशि का भुगतान राज्य सरकार के स्तर पर किए जाने और इस हेतु बिजली के बिल में सरचार्ज लगाए जाने की अनुशंसा भी की थी। इसी प्रकार आयोग ने नगरों में नगर निकायों पर ठोस कचरा प्रबन्धन, सड़कों के रख–रखाव, स्ट्रीट लाइटिंग और अन्य नागरिक सुविधाओं के कारण नगर निकायों पर बढ़ते हुए कार्यभार के बोझ को देखते हुए इन सेवाओं के बेहतर प्रबन्धन हेतु इन कार्यों को संविदा पर कराए जाने का सुझाव भी दिया था।

राज्य सरकार द्वारा स्थानीय निकायों को दिए जाने वाले अनुदान की आलोचना मुख्यतः दो आधारों पर की जाती है। **प्रथम** तो यह कि नगरीय निकायों को दी जाने वाली अनुदान सहायता समय पर नहीं दी जाती। अनुदानों की किश्त स्वीकृति के बाद भी समय पर जारी नहीं की जाती। इस हेतु आयोग ने सुझाया कि अनुदानों की किश्तें प्रत्येक वर्ष दो किश्तों में जारी की जावें–प्रथम किश्त अप्रैल में एवं दूसरी किश्त अक्टूबर में। प्रथम किश्त का अनुदान जनसंख्या के आधार पर जारी किया जावे तथा दूसरी किश्त में विकास अनुदान, प्रोत्साहन अनुदान, व मैचिंग अनुदान गत वर्ष की निष्पत्ति के आधार पर दिया जाए।

दूसरी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इससे इन निकायों की स्वायत्तता को ठेस पहुँचती है। वस्तुतः राज्य द्वारा दिया जाने वाला अनुदान स्थानीय निकायों के कुल व्यय का लगभग एक चौथाई से अधिक नहीं होने के बावजूद स्थानीय शासन पर राज्य का नियंत्रण अत्यधिक व्यापक और कठोर हो जाता है। अपने इस नियंत्रणकारी अधिकार का उपयोग राज्य सरकार पुलिस सार्जेण्ट जैसा व्यवहार करके करती है जिससे इन संस्थाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। इस समस्या के समाधान हेतु यह सुझाव दिया जाता रहा है कि यदि स्थानीय संस्थाओं को वित्तीय दृष्टि से स्वावलम्बी और सक्षम बना दिया जाए तो वे अपने नागरिकों की आकांक्षाओं की पूर्ति अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं।

(स) उधार या ऋण : नगरीय संस्थाओं के विगत पृष्ठों में दिए गए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय निकायों के राजस्व स्रोत नगर में विकास की गतिविधियों को संचालित करने के लिए पर्याप्त नहीं होते, इसलिए उधार या ऋण की भी स्थानीय आय के एक और साधन के रूप में परिगणना की जाती है। आर. एम. जैक्सन ने भी यह अनुभव किया था कि "स्थानीय संस्थाओं को जो व्यापक कार्य हाथ में लेने होते हैं वे उनके वर्तमान राजस्व स्रोत से पूरे नहीं किए जा सकते, अतः ऋण लेना आवश्यक हो जाता है।"[16] प्रायः सभी देशों में स्थानीय संस्थाओं द्वारा ऋण लेने या बॉण्ड जारी करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा सामान्य अधिनियम पारित कर दिया जाता है जिसकी वैधानिक सीमा में रहते हुए स्थानीय निकायों को इस हेतु अपने-अपने व्यापक उपबंध करने होते हैं। प्रायः सभी संस्थाएँ अपने बढ़ते विकासात्मक दायित्वों को पूरा करने और जनता की स्थानीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने के लिए ऋण लेती हैं और नियमित सेवाओं का संचालन या तो वे अपने राजस्व स्रोत से करती हैं या सरकारी अनुदान से।

अधिकतर विकसित देशों में स्थानीय संस्थाओं द्वारा जनता से सीधे ऋण लेने की व्यवस्था की गई है। अमेरिका के कुछ राज्यों में सार्वजनिक जनमत संग्रह के बाद ही ऐसा ऋण लिया जा सकता है। प्रायः इस प्रकार के सभी देशों में ऋणों की इस व्यवस्था को विनियमित करने की दृष्टि से सरकार की स्वीकृति या पर्यवेक्षण की व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान दिखाई देती है, किन्तु यह नियंत्रण केवल सतही और परोक्ष होता है। इसके विपरीत विकासशील देशों में स्थानीय संस्थाओं द्वारा उधार ग्रहण या ऋण की व्यवस्था पर सरकार का नियंत्रण अधिक सूक्ष्म पाया जाता है। इन देशों में प्रथम तो सरकार उधार ग्रहण की नीति से स्थानीय निकायों को बचाती है और यदि ऐसा करना संभव न हो तो उचित दरों पर ऋण उपलब्ध कराने में उनकी सहायता करती है। कुछ देशों में तो सरकार स्वयं प्रमुख ऋणदात्री इकाई बन जाती है। ऐसा करने से सरकार समूचे राष्ट्रीय हित की दृष्टि से, स्थानीय संस्थाओं द्वारा विकास की एक सामान्य नीति अपनाने पर अपना व्यापक नियंत्रण स्थापित कर लेती है। इसके साथ ही यदि ऋण बाहर की संस्थाओं से लिया जा रहा है तो सरकार उसकी प्रत्याभूति भी प्रदान करती है।[17]

भारतवर्ष के स्थानीय निकायों द्वारा ऋण लेने की शक्ति का विनियमन केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित स्थानीय प्राधिकरण ऋण अधिनियम, 1914 द्वारा होता है। कतिपय राज्य सरकारों ने भी इस विषय पर पृथक् अधिनियम बना लिए हैं किन्तु वे सब केन्द्रीय अधिनियम के नमूने पर आधारित हैं। इस केन्द्रीय अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत स्थानीय निकायों को राज्य सरकार या अन्य किसी स्रोत से ऋण लेने की शक्ति निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए निर्दिष्ट की गई है :

1. नगरपालिकाओं के निर्माण कार्यार्थ,
2. भूमि के अधिग्रहण हेतु,
3. अभाव, अकाल या दुर्भिक्ष के समय सहायता कार्यों के संचालन और उनके विनियमन हेतु,
4. किसी महामारी या खतरनाक रोग की रोकथाम के कार्यक्रमों हेतु, तथा

5. स्थानीय शासन में सुधार, संकटकालीन कार्यों तथा पुराने ऋण के भुगतान हेतु।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रावधानों से यह परिलक्षित होता है कि यदि नगरीय निकाय अपने नियमित राजस्व से अपने दायित्वों को पूरा न कर सकें तो वे उनकी पूर्ति हेतु ऋण ले सकते हैं। सभी स्थानीय निकायों को ऋण लेने के लिए राज्य सरकार की अनुमति लेनी होती है। अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि ऋण की रकम पाँच लाख रुपए से अधिक और उसे वापस अदायगी की अवधि 30 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। यदि इन सीमाओं में राज्य स्तर पर कोई परिवर्तन करना आवश्यक जान पड़ता है तो इस हेतु केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेनी होगी। नगर निगम चूंकि नगरीय स्थानीय शासन के सर्वोच्च और वृहद् शक्ति प्राप्त निकाय होते हैं अतः उन्हें उधार लेने के मामले में अधिक स्वतंत्रता मिली होती है। वे अपनी अचल संपत्ति और करों की जमानत पर ऋण भी जारी कर सकते हैं। भारतवर्ष में स्थानीय निकायों द्वारा ऋण लेने के इस प्रावधान का अधिक उपयोग इसलिए नहीं किया जा सका है कि न तो केन्द्रीय सरकार और न ही राज्य सरकार स्थानीय निकायों को ऋण लेने के मामले में अधिक स्वतंत्रता प्रदान कर सकी हैं। वस्तुतः उनके द्वारा ऋण लेने की शक्ति को सरकार द्वारा संदेह की दृष्टि से ही देखा जा सकता है। वैसे भी स्वयं केन्द्र सरकार और अधिकांश राज्य सरकारें ऋण भार से इतनी दबी हैं कि वे शासन के तीसरे स्तर की इन संस्थाओं को ऋण लेने के मामले में कोई उदार दृष्टि प्रस्तुत नहीं कर पाई हैं। भारत के अतिरिक्त अन्य विकासशील देशों में भी स्थानीय संस्थाओं के ऋण लेने की शक्ति पर सरकारों द्वारा तरह-तरह के बंधन लगाए गए हैं।

आधुनिक युग में सरकार की इस मनोवृत्ति, जिसके अन्तर्गत वे स्थानीय निकायों को ऋण लेने के प्रति निरुत्साहित करती है, को उचित नहीं माना जा रहा है। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि ऐसी संस्थाओं को समय पर ऋण उपलब्ध कराने में सहायता की जानी चाहिए। इंग्लैण्ड में स्थानीय संस्थाएँ एक स्वतंत्र सांविधानिक संस्था सार्वजनिक कार्य ऋण बोर्ड से तथा बैंकों और भवन समितियों से ऋण प्राप्त करती हैं। बेल्जियम और डेनमार्क में भी नगरीय इकाइयों को ऋण देने वाली संस्थाएँ विद्यमान हैं जबकि नीदरलैंड में स्थानीय निकाय और वहाँ की सरकार मिलकर इस प्रकार की ऋणदात्री संस्थाओं की स्थापना करती है। अनेक यूरोपीय देशों में नगरीय इकाइयों को ऋण देने वाली विशेष बैंक स्थापित की गई है। जर्मनी में समस्त स्थानीय निकायों ने अपना एक ऋण बैंक बनाया है जहाँ से वे ऋण प्राप्त करने में सफल होते है।[18]

भारतवर्ष में भी आन्ध्र प्रदेश में सरकार एवं स्थानीय निकायों ने मिलकर एक 'कॉमन गुड फन्ड' स्थापित किया है। इसी तरह केरल में नगरीय वित्त विकास निगम बनाया गया है जहाँ से स्थानीय निकायों को ऋण प्राप्त होता है। जीवन बीमा निगम भी स्थानीय निकायों को अपनी शर्तों पर ऋण देने के लिए सदैव तत्पर रहता है। प्रायः सभी विकासशील और विकसित देशों में ऋण-पत्र जारी करने की दिशा में भी दिनों-दिन प्रगति हो रही है। विशेष तौर पर विकसित देश इस दिशा में बहुत आगे हैं।

सरकार द्वारा नगर निकायों के उधार ग्रहण या ऋण की शक्ति को विनियमित करने में जो रुचि ली जाती है उससे जहाँ एक ओर स्थानीय निकायों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में मदद मिलती है वहीं समूचे देश की आर्थिक गतिविधियों को एक समान स्तर पर समन्वित, सुनियोजित और विनियमित करने में भी सफल होती है। सरकार के इस हस्तक्षेप से विभिन्न स्थानीय निकायों के बीच विद्वेषपूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण भी बनने से रुक जाता है।

स्थानीय निकायों द्वारा जनहित के जो कार्य अब हाथ में लिए जा रहे हैं उनकी प्रकृति, महत्त्व और प्राथमिकताओं को देखते हुए यह सुझाव दिया जाता रहा है कि स्थानीय निकायों को न केवल अपने स्वयं के राजस्व स्रोतों को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए, अपितु उसी के अनुरूप उनके द्वारा ऋण लेने की शक्ति के प्रति भी उदार दृष्टिकोण अपनाया जाना अपेक्षित है। इस हेतु निम्नांकित सुझाव प्रमुख तौर पर दिए गए हैं:[19]

1. ऋण की स्वीकृति के लिए सरल प्रक्रिया निर्धारित की जाए जो आसानी से समझी जा सके,
2. ब्याज की दर न्यूनतम रखी जाए,
3. ऋण वापस अदा करने की अवधि प्रत्येक स्थानीय निकाय की परिस्थिति को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाए,
4. केन्द्र सरकार या सम्बन्धित राज्य सरकार को चाहिए कि वे स्थानीय निकायों को खुले बाजार से ऋण लेने में अपनी प्रत्याभूति प्रदान करे,
5. राज्य सरकार को चाहिए कि वह अपने स्तर पर स्थानीय निकायों की सहायता के लिए एक आवर्तक निधि स्थापित करे जिसमें से नगरीय निकायों को उनके व्यापक दायित्वों को पूरा करने के लिए ऋण उपलब्ध कराया जा सके।

पंजाब में स्थानीय शासन (नगरीय) जाँच समिति, 1957 ने भी यह सुझाव दिया था कि स्थानीय निकायों को जल पूर्ति, जल निकास आदि विकास कार्यों के लिए राज्य सरकार द्वारा ऋण उपलब्ध कराए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। छोटे निकायों को भी अपनी परियोजनाओं के लिए पर्याप्त ऋण और अनुदान दिया जाना चाहिए।

पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि ग्रामीण–नगरीय सम्बन्ध समिति ने इस तथ्य का समर्थन किया है कि प्रत्येक राज्य में नगरपालिकाओं को पूंजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक नगरपालिका वित्त निगम की स्थापना की जानी अपेक्षित है। इस समिति ने नगरीय निकायों को उनकी परिवहन व्यवस्था, दुग्धपूर्ति, बिजली, बाजार, होटल आदि उद्यमों की पूंजीगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण उपलब्ध कराने हेतु इस प्रकार के वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया है। समिति का मत था कि आरम्भ में ऐसे वित्त निगम की पूंजी दस करोड़ रुपए होनी चाहिए जिसमें भारत सरकार, रिजर्व बैंक, जीवन बीमा निगम, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं एवं जनता का अंशदान सम्मिलित हो। इस वित्त निगम को यह अधिकार होना चाहिए कि वह केन्द्रीय

सरकार की प्रत्याभूति से बाजार में ऋण–पत्र जारी कर सके। यह वित्त नगरपालिकाओं को ही ऋण प्रदान करे। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रतिवेदन में, ग्रामीण–नगरीय संबंध समिति द्वारा प्रस्तावित इस नगरपालिका वित्त निगम के सुझाव का समर्थन किया गया है।[20] इस प्रतिवेदन में यह विचार व्यक्त किया गया है कि ऐसा ऋण अभिकरण न केवल स्थानीय निकायों को उचित दर पर ऋण ही उपलब्ध कराएगा, अपितु विशिष्ट योजनाओं के संदर्भ में तकनीकी सलाह के साथ ही दीर्घकालीन आयोजना को भी प्रोत्साहन दे सके, ऐसा प्रयत्न किया जाएगा। इस प्रकार संस्थापित ऋण संस्था को आयोजना की दृष्टि से समस्त नगरीय स्थानीय संस्थाओं की ऋण की आवश्यकताओं के विषय में व्यापक अनुमान लगाना चाहिए जिससे विकास कार्यक्रमों का निरूपण करते समय इन बातों का ध्यान रखा जा सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस ऋणदात्री संस्था की कल्पना की गई है यदि व्यवहार में स्वस्थ मनोवैज्ञानिक आधार पर इस सपने को साकार किया जा सके तो नगरीय शासन के विकास के मार्ग में नया अध्याय आरम्भ किया जा सकता है। स्थानीय शासन की इकाइयाँ शासन के महत्वपूर्ण दायित्वों का निर्वाह कर रही हैं, अतः उन्हें राजस्व के क्षेत्र में हर दृष्टि से सक्षम बनाना अत्यन्त आवश्यक है। भारत जैसे विकासशील देश में स्थानीय शासन के अतुल दायित्वों को देखते हुए उदार शर्तों तथा पवित्र उद्देश्यों के लिए ऋण लेने की पर्याप्त संस्थागत व्यवस्था की जानी चाहिए। राज्य सरकारों को मिलकर इस दिशा में सामूहिक चिन्तन को बढ़ावा देना उपयोगी रहेगा।

राजस्थान में 23 अप्रैल, 1994 को गठित प्रथम राज्य वित्त आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में नगरीय स्थानीय संस्थाओं की ऋण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए "नगरपालिका वित्त निगम" की स्थापना का सुझाव दोहराया था। आयोग ने प्रस्तावित निगम के कारण प्रशासनिक व्यय में संभावित वृद्धि न हो इस मितव्ययता की दृष्टि से यह प्रस्ताव किया कि यह निगम निदेशालय स्थानीय निकाय का भाग हो व निदेशक स्थानीय निकाय इस निगम का पदेन प्रबन्ध संचालक हो और राज्य सरकार द्वारा 1.5 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष, 5 वर्षों तक इस निगम को अंशदान दिया जाए। जब निगम स्थापित हो जाए तो यह निगम रियायती ब्याज दरों पर स्थानीय निकायों को ऋण उपलब्ध कराए। ब्याज से प्राप्त होने वाली राशि भी निगम की आय का एक अनवरत व स्थायी स्रोत हो सकेगी।

नगरीय स्थानीय संस्थाओं की कमजोर वित्तीय स्थिति के कारण

भारतवर्ष में केवल नगरीय संस्थाओं की ही नहीं अपितु ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति भी कमजोर है। भारतवर्ष के प्रायः समस्त राज्यों में इस बात के लिए कोई प्रयत्न नहीं किए गए कि स्थानीय संस्थाओं को जो कार्यभार सौंपा हुआ है उसका व्यवस्थित अध्ययन करते हुए उसकी तुलना में उसे आय के साधन भी प्रदान किए जाएँ। स्थानीय संस्थाओं को मुख्यतः अपने करों से जो राशि प्राप्त होती है उसके अतिरिक्त अनुदान पर भी निर्भर रहना पड़ता है। आय के इन दोनों ही स्रोत की अपनी–अपनी सीमायें हैं। जहाँ तक करों से आय का संबंध है यह पूर्व में भी व्यक्त

किया जा चुका है किन्तु पुनः दोहराना आवश्यक है कि प्रथम तो समस्त स्थानीय संस्थाएँ करारोपण के अपने अधिकार का अत्यन्त संकोचपूर्वक प्रयोग करती हैं अर्थात् स्थानीय संस्थाएँ अपने नागरिकों पर कर लगाने में हिचकिचाती हैं, वे कर लगाने का निर्णय खुले मन से नहीं कर पाती हैं। यदि कुछ संस्थाएँ अपने दायित्वों को प्रभावी तरीके से निष्पादित करने की दृष्टि से कर लगाने का निर्णय भी करती हैं तो कोई भी नया कर सम्बन्धित विधान के अन्तर्गत राज्य सरकार की पूर्व अनुमति के बिना आरोपित नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में नया कर लगाने का निश्चय करने वाली नगरीय इकाई को अपने इस प्रस्ताव को स्वीकृति हेतु राज्य सरकार के पास भिजवाना होता है। राज्य सरकारों की स्थिति यह है कि स्थानीय संस्थाओं के द्वारा करों के प्रस्ताव को वे अत्यन्त उदासीनता से लेती हैं और महीनों तक उन पर अनिर्णय की स्थिति बनी रहती है। इस संबंध में यदि यह कहा जाए कि करों के आरोपण में न केवल स्थानीय संस्थाएँ ही संकोच करती हैं अपितु राज्य सरकार भी अपनी नियंत्रणकारी शक्ति के द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है कि स्थानीय संस्थाएँ करों का कोई नया प्रस्ताव राज्य सरकार को भिजवाने के लिए अपने आपको प्रेरित अनुभव नहीं करतीं।

करों के आरोपण के संबंध में दूसरी विचित्र स्थिति नगरीय स्थानीय संस्थाओं के संदर्भ में यह आती है कि जो कुछ कर उपयुक्त स्थिति में आरोपित कर दिए जाते हैं तो उन करों की राशि का पूरा एकत्रण नहीं हो पाता है। इस स्थिति के लिए पूरी तरह नगरीय निकायों के प्रशासन तंत्र को उत्तरदायी माना जा सकता है। प्रशासनिक चिन्तकों को यह बात आज तक समझ में नहीं आ सकी है कि कानून की दृष्टि से आरोपित करों का पूर्ण रूप से एकत्रण करने में नगरीय निकाय के अधिकार प्राप्त प्रशासनिक अधिकारी क्यों असफल रहते हैं? यहाँ एक और अत्यन्त रोचक स्थिति यह है कि राज्य सरकार का स्वायत्त शासन विभाग और स्थानीय संस्थाओं का निदेशालय, जो कि इन संस्थाओं पर नियंत्रण रखने के लिए उत्तरदायी है, भी नगरीय निकायों की इस असफलता के लिए कोई प्रभावी कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। इस संदर्भ में अब तक कोई सटीक अध्ययन तो उपलब्ध नहीं हो पाए हैं कि नगरीय संस्थाएँ आरोपित करों का कितना अंश एकत्र कर पाती हैं और कितना नहीं कर पाती हैं किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि नगरीय संस्थाएँ आरोपित करों की राशि का लगभग 40 प्रतिशत भाग भी जनता से एकत्र नहीं कर पाती हैं। यह स्थिति नगरीय संस्थाओं की दयनीय वित्तीय स्थिति के कारण का स्पष्टीकरण मानी जा सकती है।

प्रो. मुतालिब एवं खान ने अपनी पुस्तक में यह मत भी व्यक्त किया है कि ये संस्थाएं स्थानीय करों की जितनी भी राशि एकत्र कर पाती हैं वे प्रायः उसे नागरिक आकांक्षाओं की पूर्ति की दिशा में ठीक तरह से व्यय भी नहीं कर पाती हैं। इस टिप्पणी का आशय यह है कि नगरीय संस्थाओं का वित्तीय प्रशासन इतना कमजोर है कि न केवल वह आरोपित करों को पूर्णतः एकत्र नहीं कर पाता, अपितु वह उनका व्यय भी नागरिक हित में नहीं कर पाता है।

नगरीय संस्थाओं की इस कमजोर वित्तीय स्थिति के लिए स्वयं नागरिकों का

दृष्टिकोण भी कम उत्तरदायी नहीं है। नागरिक यह तो चाहते रहते हैं कि नगरीय संस्थाओं द्वारा उन्हें अधिकाधिक सेवाएं दी जाएं किन्तु यदि नगरीय संस्थाएँ उसके बदले में कोई कर आरोपित करना चाहती हैं तो नागरिकों की प्रथम प्रतिक्रिया, उनका विरोध करने की रहती है। समस्त विकासशील देशों में प्रजातंत्र के शैशव में होने के कारण इन समस्याओं का सामना करना पड़ता है किन्तु नागरिकों को इस बात के लिए तो चिन्तन करना ही होगा कि यदि वे स्थानीय संस्थाओं से अधिक सेवाओं की अपेक्षा करते हैं तो उन्हें बढ़े हुए करों को देने के लिये भी अपने आपको मानसिक दृष्टि से तैयार करना होगा। नगरीय संस्थाओं को भी कर निर्धारण और वसूली में होने वाली प्रशासनिक गड़बड़ियों और अपने वित्तीय प्रशासन में किसी भी प्रकार की अपर्याप्तता, अकार्यकुशलता, भ्रष्टाचार और पक्षपात को कठोरता से रोकना होगा। जब तक नगरीय संस्थाएँ अपनी सेवाओं की तुलना में आय के स्रोतों का विकास स्वयं नहीं करेंगी, राज्य सरकार भी उन्हें इस हेतु सहायता नहीं करेंगी। ये संस्थाएँ जब तक अपने प्रशासन तंत्र में आवश्यक सुधार नहीं करेंगी तब तक न तो वे नागरिकों की अपेक्षाओं की सटीक पूर्ति कर पाएँगी और न ही प्रजातंत्र की पाठशालाएँ सिद्ध हो सकेंगी।

इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हो सकते हैं :

1. भारतवर्ष के संघात्मक ढाँचे के विशेष संदर्भ में, केन्द्रीय सरकार का यह दायित्व बन जाता है कि वह नगरीय संस्थाओं के सुदृढ़ कार्यकलाप को सुनिश्चित करने के लिए 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से इन संस्थाओं को संविधान में स्थान दे दिए जाने के पश्चात् इन्हें संविधान में ही आय के स्रोत भी उपलब्ध कराए। संविधान के स्तर पर ऐसा कर दिए जाने से सारे देश की स्थानीय संस्थाओं का ढाँचा जहाँ एक ओर संवैधानिक बन सकेगा वहीं उनके बढ़े हुए कार्यकलापों को निभाने के लिए उन्हें व्यापक आर्थिक संसाधन भी संविधान के माध्यम से उपलब्ध हो सकेंगे।

2. समस्त राज्य सरकारों को अपने विधानमंडल द्वारा बनाए हुए अधिनियमों की पालना सुनिश्चित करनी चाहिए। एक बार अधिनियम पारित कर देने के पश्चात्, ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य सरकारें पश्चात्तवर्ती काल में उसके प्रावधानों का अवलोकन तक नहीं करती हैं। स्थानीय संस्थाओं की कमजोर वित्तीय स्थिति एक सीमा तक वर्तमान कानूनी परिप्रेक्ष्य में ही हल की जा सकती है, यदि राज्य सरकार अपने राज्य में प्रवर्तित कानूनों को सही तरीके से कार्यान्वित करने लगें। वर्तमान अधिनियमों में जब यह प्रावधान किया गया है कि स्थानीय संस्थाएं कोई नया कर लगाकर अपनी आय बढ़ा सकती हैं तो फिर स्थानीय संस्थाओं द्वारा पर्याप्त नये करों के प्रस्ताव को राज्य सरकार लम्बे समय तक क्यों अनिर्णीत रखती है? यदि राज्य सरकार स्थानीय संस्थाओं को सक्षम बनाना चाहती है और उन्हें प्रजातंत्र की प्रभावी व आधारभूत इकाइयों के रूप में देखना चाहती है तो उनके साथ अनिर्णय का नहीं, अपितु प्रशासनिक तत्परता और प्रोत्साहन का व्यवहार करना होगा। राज्य सरकार को चाहिए कि स्वायत्त शासन विभाग में एक पृथक् प्रशासकीय प्रकोष्ठ की स्थापना करे। यह प्रकोष्ठ इस बात के लिए उत्तरदायी हो कि वह

राज्य में कार्यरत समस्त नगरीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति का आकलन–मूल्यांकन करे, उनके द्वारा प्रस्तुत वित्तीय प्रस्तावों को तुरन्त स्वीकृति दे और उनकी समस्याओं का अविलम्ब समाधान करे।

3. राज्य सरकारों को चाहिए कि राज्य में कार्यरत विभिन्न प्रकार की नगरीय इकाइयों को उनके दायित्वों के अनुरूप वार्षिक आय का एक अनुमान तैयार करें और यह सुनिश्चित करें कि उन्हें उनकी आवश्यकता के अनुरूप करों से प्राप्त राशि और उसी के अनुरूप अनुदान का विनिश्चय भी किया जाए।

4. सभी स्थानीय संस्थाओं को यह प्रयत्न भी करना होगा कि अपनी आय के स्रोतों का अधिकतम उपयोग करें। करारोपण तथा उनकी वसूली में वर्तमान अकार्यकुशलता और शिथिलता की स्थिति जब तक दूर नहीं की जाएगी तब तक उनकी वित्तीय स्थिति में सुधार लाना संभव नहीं है।

5. राज्य में कार्यरत सभी प्रमुख राजनीतिक दलों को यह सहमति विकसित करनी होगी कि नगरीय संस्थाओं द्वारा आय बढ़ाने के प्रयासों का वे राजनीतिक कारणों से कोई विरोध नहीं करेंगे। यह कदम भी इन संस्थाओं की आय बढ़ाने में पर्याप्त सहायता कर सकता है।

6. समस्त नगरीय संस्थाओं को, विशेषकर उसके प्रबन्धकों को अपनी संस्था की प्रशासकीय स्थिति में इस दृष्टि से सुधार करना होगा कि आरोपित कर पूरी तरह वसूल किए जा सकें और जो राशि करों से वसूल होती है उसका नागरिकों के व्यापक हित में कल्याणकारी कार्यों पर व्यय किया जा सके।

7. इसी संदर्भ में, राज्य सरकार और स्थानीय स्वायत्त शासन निदेशालय का यह कर्तव्य हो जाता है कि नगरीय संस्थाओं पर नियंत्रण और पर्यवेक्षण के अपने अधिकारों का सतर्क होकर इस तरह उपयोग करे कि उनका हस्तक्षेप नगरीय संस्थाओं की वर्तमान अकार्यकुशलता, शिथिलता और एक सीमा तक उत्पन्न हो गई अकर्मण्यता को न केवल समाप्त करे अपितु स्थानीय संस्थाओं को नगरीय समस्याओं के समाधान में सक्षम और कार्यकुशल प्रशासनिक इकाइयाँ बना सकें। प्रशासनिक कार्यकुशलता और मितव्ययता के उद्देश्यों की प्राप्ति प्रभावी पर्यवेक्षण और समुचित नियंत्रण के बिना नहीं की जा सकती। पर्यवेक्षकीय अधिकारियों को इस तथ्य को भली–भांति समझाना होगा।

8. स्थानीय संस्थाओं में व्याप्त प्रशासकीय भ्रष्टाचार समाप्त किए जाने हेतु प्रयास करना चाहिए।

9. स्थानीय संस्थाओं को करों की बकाया राशि वसूल करने के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।

10. नगरीय क्षेत्र में प्रशासकीय अपव्यय को रोकने की दिशा में पहल की जानी चाहिए। अनेक बार राजनीतिज्ञों, मंत्रियों आदि के स्वागत समारोहों पर निकाय की क्षमता और निर्धारित राशि से अधिक व्यय कर दिया जाता है, जो उचित नहीं है।

11. नगरपालिका में उपलब्ध मानव शक्ति और कार्य निष्पादन के मध्य तारतम्य स्थापित किया जाना चाहिए। यह स्थिति समाप्त की जानी चाहिए कि कुछ कर्मचारी राजनीतिक प्रश्रय के कारण बिना काम के ही नियुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे तत्त्वों की उपस्थिति, अन्य कार्मिकों के कार्य व्यवहार और कुशलता को विपरीत रूप से प्रभावित करती है, जिसे ईमानदारी से नियंत्रित किए जाने की आवश्यकता है।

12. नगरपालिका, जो कर आरोपित करती है, उनकी उपादेयता के संदर्भ में जनता में जागरूकता का वातावरण बनाए जाने की भी आवश्यकता है। यदि जनता को यह विश्वास हो जाए कि जो कर आरोपित किए जा रहे हैं, उनसे प्राप्त राशि को उन्हीं के कल्याण और विकास के लिए व्यय किया जायेगा तो सम्भवतः जनता द्वारा करों के विरोध में कमी आ सकेगी।

13. करों की प्रशासकीय व्यवस्था सरल बनाई जानी चाहिए। करों की वर्तमान प्रशासकीय व्यवस्था इतनी जटिल, दुरूह और उलझनपूर्ण है कि बहुत से पढ़े–लिखे नागरिक भी उन्हें चुकाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। करदाता की परेशानी के ऐसे समस्त स्थलों को समाप्त करने की पहल की जानी आवश्यक है।

14. राज्य सरकार को चाहिए कि इन संस्थाओं के काम–काज के उन क्षेत्रों में कोई हस्तक्षेप न करे जिनमें पूर्ण रूप से निर्णय नगरीय इकाई को ही लेना है। यदि नगरीय इकाई के निर्वाचित पार्षद निर्णय निर्माण के स्तर पर यह अनुभव करेंगे कि उसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों की कोई भूमिका नहीं है और निर्णय ऊपर से थोप दिए जाते हैं तो यह स्थिति न केवल अलोकतांत्रिक है अपितु नागरिकों को स्थानीय संस्थाओं में भागीदारी के लिए निरुत्साहित भी करती है। लोकतंत्र के व्यापक हित में इस स्थिति को ठीक से आत्मसात् किया जाना चाहिए।

इन सुझावों के अतिरिक्त, स्थानीय संस्थाओं को सुदृढ़ और सशक्त बनाने के लिए जब पहल की जाएगी तो अपने आप एक ऐसा वातावरण बनेगा जिसमें राज्य सरकार और केन्द्र सरकार यह अनुभव कर सकेगी कि इस दिशा में अन्य क्या प्रभावी कदम उठाए जा सकते हैं? सुझावों की उपर्युक्त सूची अब तक के अनुभव पर आधारित है किन्तु चिन्तकों की यह मान्यता है कि यदि सच्चे मन से किसी काम को आरम्भ किया जाए तो उस हेतु आवश्यक वातावरण अपने–आप बनने लगता है और फिर किसी प्रकार के बाह्य सुझाव की आवश्यकता ही नहीं रहती है।

नगरीय स्थानीय शासन के वित्तीय प्रशासन को पूरी तरह समझने के लिए संक्षेप में उसके बजट और लेखा पालन तथा लेखा परीक्षण की जानकारी भी आवश्यक है।

नगरीय संस्थाओं का बजट

बजट वित्तीय प्रशासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। प्रायः सभी नगरीय संस्थाएं अपना बजट तैयार करती हैं। ये संस्थाएं राज्य सरकार द्वारा निर्धारित प्रपत्रों में अपना बजट तैयार करती हैं और उसमें केन्द्र तथा राज्य सरकार की भांति ही गत वर्ष के वास्तविक आंकड़े, चालू वर्ष के अनुमानित आंकड़े, उपलब्ध वास्तविक आंकड़े एवं

आगामी वर्ष के अनुमानित आंकड़े प्रस्तुत किए जाते हैं। यह बजट वार्षिक होता है और समूची इकाई का एक ही बजट बनता है।

समस्त नगरीय संस्थाएं अपना बजट तैयार कर राज्य सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत करती हैं। राज्य सरकार के स्वायत्त शासन निदेशालय और उसके पश्चात् स्वायत्त शासन विभाग द्वारा इस बजट की जाँच की जाती है। राज्य सरकार अपनी इस जाँच या बजट परीक्षा में यह सुनिश्चित करती है कि बजट में ऋणों की अदायगी की व्यवस्था की गई है या नहीं और बजट को उन सिद्धांतों के अनुरूप और उसी तरह बनाया गया है जिस तरह राज्य सरकार ने प्रस्तावित किया हुआ है। जिन संस्थाओं पर ऋण का भार कम होता है या यह भार नहीं होता है वे बजट निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता का उपयोग कर पाती हैं। किन्तु जो संस्थाएं ऋणग्रस्त हैं उन्हें राज्य सरकारों के अधिक कठोर नियंत्रण की प्रक्रिया से गुजरना होता है। नगर निगम को बजट निर्माण में अधिक स्वतन्त्रता होती है, उन्हें न तो बजट पर राज्य सरकार की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है और न ही व्यय की राशियों के सम्बन्ध में राज्य सरकार के आदेशों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा किए जाने वाले इस नियंत्रण को चिंतक अच्छा भी मानते हैं और दूसरी ओर उसकी आलोचना भी करते हैं। कुछ चिन्तकों का ऐसा मत है कि नगरीय संस्थाओं पर राज्य सरकार का वित्तीय नियंत्रण अधिक है जिसे उदार बनाया जाना चाहिए। उनका मत है कि वित्तीय नियंत्रण से नगरपालिकाओं की स्वायत्तता का हनन होता है। वे ऐसा मानते हैं कि यदि स्थानीय शासन की संस्थाएं अपनी स्थिति को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बना लेती हैं तो वे अधिक स्वतंत्रता और स्वायत्तता के वातावरण में जन समस्याओं के निराकरण के यज्ञ में जुटी रह सकती हैं। राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता आद्योपान्त विभिन्न सीमाओं और बन्धनों के जाल से जकड़ी हुई होती है। न केवल उसके प्राप्त करने में अपितु उसके व्यय के बाद भी नौकरशाही की अधिकारी मनोवृत्ति के कारण अनेक शंकाओं का शिकार ये संस्थाएं हो जाती हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं कि ये संस्थाएं तो नितांत विश्वास और राज्य सरकार अविश्वास की प्रतीक हैं अपितु राज्य सरकारों ने अब तक जब भी सहायता दी है तब सहायता के बाद उसका रुख परामर्शदाता या शिक्षक जैसा न रहकर मालिक मजदूर जैसा हो जाता है। अतः अधिक स्वायत्तता के उपभोग की पहली शर्त यह है कि ये संस्थाएं अधिकतम स्वावलम्बी बनें और राज्य की सहायता पर कम से कम निर्भर रहें।

किन्तु इस समस्या का दूसरा पक्ष भी है। इन संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन में राज्य सरकार के हस्तक्षेप को दूसरे चिन्तक अनुचित नहीं मानते हैं। अपने इस मत के पक्ष में उनके अनेक तर्क हैं :[21]

1. इन संस्थाओं की वित्तीय साख बनाए रखना और उन्हें वित्तीय दृष्टि से सुदृढ़ बनाना राज्य सरकार का दायित्व है।

2. इन संस्थाओं को जो ऋण राज्य सरकार से या अन्य इकाइयों से मिलता है उसके लिए राज्य सरकार द्वारा प्रत्याभूति प्रदान की जाती है। इस पृष्ठभूमि में यह सुनिश्चित करना राज्य सरकार का परम पावन दायित्व है कि वे संस्थाएं अपने बजट में ऋणों को चुकाने हेतु आवश्यक प्रावधान कर रही हैं या नहीं।

3. प्रत्येक राज्य सरकार इन संस्थाओं को सामान्य और विशिष्ट व्यय अनुदान देती है। अनुदान देने से राज्य सरकार इस कर्तव्य में आबद्ध हो जाती है कि वह यह देखे कि करदाताओं के धन का इन संस्थाओं द्वारा सदुपयोग किया जा रहा है।

4. समूचे राज्य में नगरीय संस्थाओं की कार्यकुशलता हेतु एक जैसे मानदंड स्थापित करने और सेवाओं का एक न्यूनतम स्तर बनाए रखने के लिए राज्य सरकार के नियंत्रण को उचित ठहराया जाता है। यदि ये संस्थाएं आर्थिक दृष्टि से दिवालिया हो जाएं तो राज्य सरकार में एक विकट स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः ऐसी स्थिति से बचने के लिए इन संस्थाओं पर राज्य सरकार का नियंत्रण आवश्यक माना जाता हैं।

5. प्रोफेसर आर्गल ने भी इन संस्थाओं पर राज्य सरकार के वित्तीय नियंत्रण को इस दृष्टि से उचित ठहराया है कि ऐसे प्रतिबंध एक न्यूनतम सेवा स्तर की प्रत्याभूति देते हैं इसलिए यह जन साधारण के हित में है।

लेखा पालन

प्रत्येक प्रशासनिक संस्थान अपने वित्तीय प्रशासन को सुव्यवस्थित स्वरूप देने की दृष्टि से उसका लेखा पालन करता है। लेखा पालन की प्रक्रिया के माध्यम से ही किसी संस्थान की वित्तीय स्थिति का सटीक आकलन किया जा सकता है और आसानी-से यह पता लगाया जा सकता है कि उसके द्वारा आरोपित कर कितनी मात्रा में वसूल किए जा रहे हैं और कितनी मात्रा में बकाया रह गए हैं?

भारत में सभी राज्यों में लेखा पालन की प्रायः एक सी पद्धति प्रचलित है। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ केन्द्रीय स्तर पर नियंत्रक और महालेखापाल कार्यालय लेखा पालन और उसके परीक्षण की गतिविधि का संचालन करता है। प्रायः सभी राज्यों में जिस अधिनियम के अधीन स्थानीय संस्थाओं की संरचना की जाती है उसी अधिनियम में लेखा पालन से सम्बन्धित प्रावधान भी सम्मिलित किए जाते हैं और स्थानीय इकाइयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे लेखा पालन से संबंधित अपने कर्तव्य का निर्वहन उन्हीं प्रावधानों के अनुरूप करें। राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 में यह व्यवस्था की गई है कि कुछ अपवादों को छोड़कर कोई भी ऐसा व्यय नहीं किया जाना चाहिए, जिसके लिए बजट में प्रावधान न हो। इन संस्थाओं के लेखा पालन से संबंधित नियमों में, लेखा से सम्बन्धित विभिन्न अधिकारियों यथा लेखा अधिकारी, लेखापाल एवं वित्तीय प्रशासन से सम्बन्धित अन्य अधिकारियों के अधिकारों व कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की गई है। ऐसा इसलिए किया जाता है जिससे पूरे राज्य में समस्त स्थानीय संस्थाओं के लेखा पालन में एकरूपता स्थापित की जा सके। ऐसा कर दिए जाने से राज्य सरकार और उसकी पर्यवेक्षकीय इकाइयाँ राज्य में कार्यरत विभिन्न स्थानीय संस्थाओं का न केवल तुलनात्मक मूल्यांकन कर सकती हैं अपितु उन पर प्रभावी वित्तीय नियंत्रण करने में भी सक्षम हो पाती है।

लेखा पालन के अपने कर्तव्य के निष्पादन में ये संस्थाएं अपने द्वारा वसूल करों की राशि का ब्यौरेवार विवरण रखती है। सभी संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे अपनी सारी धनराशि सरकारी खजाने में जमा कराएँ। यद्यपि उन्हें राज्य सरकार की अनुमति से अन्य बैंकों में खाते खोलने की छूट भी दी जा सकती है।

लेखा पालन का यह कर्तव्य वस्तुतः इस बात पर अवलम्बित है कि इन संस्थाओं द्वारा करों का एकत्रण किस सीमा तक किया जाता है। हमारे देश में कर एकत्रण की स्थिति संतोषजनक नहीं है। कर्मचारियों में कार्य के प्रति निष्ठा, ईमानदारी और समर्पण के अभाव, पर्यवेक्षकीय अधिकारियों द्वारा अपने दायित्वों के निष्पादन में ढिलाई, स्थानीय राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप और कर अदा नहीं करने वाले नागरिकों पर कोई कार्यवाही न होने के कारण करों की वसूली में बाधा पहुँचती है और बकाया करों की राशि बढ़ रही है। चूंकि सभी स्थानीय संस्थाएं इस दशा से गुजर रही हैं इसलिए लेखा पालन की उनकी प्रक्रिया पर इस स्थिति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। स्थानीय संस्थाओं को अपनी करों की वसूली की स्थिति में सुधार के लिए उन करदाताओं को कुछ छूट देने पर विचार करना चाहिए जो अपने कर समय पर अदा करते हैं। इसी तरह जिन कर्मचारियों द्वारा करों की 90 प्रतिशत राशि वसूल कर ली जाती है, उन्हें पुरस्कृत किया जा सकता है और जो कर्मचारी करों की 60 प्रतिशत से कम वसूल कर पाते हैं उन्हें दंडित भी किया जा सकता है। इस तरह के कुछ कदम उठाने से स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति तो सुदृढ़ होगी ही साथ ही स्थानीय संस्थाओं के लेखा पालन की गतिविधि भी सुनियमित हो सकेगी।

लेखा परीक्षण

किसी भी प्रशासनिक संस्थान में यह देखना कि धन का व्यय उचित रूप से बजट में निर्धारित उद्देश्यों के लिए ही किया गया है, राज्य सरकार के सन्दर्भित आदेशों की पूर्णतः अनुपालना की गई है, धन का व्यय अधिकृत प्राधिकारियों द्वारा ही किया गया है और बजट में स्वीकृत धनराशि बिना स्वीकृति के एक मद से दूसरे मद में व्यय नहीं की गई है, लेखा परीक्षण के आवश्यक उद्देश्य माने जाते हैं।

स्थानीय संस्थाओं के लेखा परीक्षण का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर होता है। इसी कारण राज्यों में लेखा परीक्षण की प्रक्रिया में कतिपय अन्तर पाए जा सकते हैं। सन् 1919 के पहले प्रान्तों के महालेखा परीक्षक इन संस्थाओं के लेखा परीक्षण के लिए उत्तरदायी थे किन्तु उसके पश्चात् प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इन संस्थाओं के लेखा परीक्षण का प्रबन्ध अपनी सुविधा के अनुसार करें। इस अधिकार के कारण कुछ प्रान्तों में लेखा परीक्षण का यह दायित्व महालेखापाल के पास रहा और कुछ में उससे हटा लिया गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रायः सभी राज्यों में स्थानीय शासन के लेखा परीक्षण का कार्य स्थानीय निधि लेखा परीक्षक द्वारा किया जाता है। सरकारी प्रशासनिक संगठनों के संबंध में भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा जो दायित्व निष्पादित किया जाता

है वही दायित्व स्थानीय शासन के संबंध में स्थानीय निधि लेखा परीक्षक द्वारा वहन किया जाता है। प्रायः हर राज्य में एक स्थानीय निधि लेखा परीक्षक है। वह राज्य सरकार का प्राधिकारी है और राज्य सरकार के वित्त विभाग के प्रशासनिक नियंत्रण में कार्य करता है। स्थानीय निधि लेखा परीक्षक के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत राज्य की समस्त स्थानीय संस्थाएं आती हैं।

राजस्थान राज्य में, राजस्थान स्थानीय निधि अंकेक्षण अधिनियम, 1954 के अन्तर्गत स्थानीय निधि लेखा–परीक्षक स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं का लेखा परीक्षण करता है। यह अधिकारी स्थानीय निधि लेखा परीक्षण विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी होता है और राज्य के वित्त सचिव की देखरेख और नियंत्रण में काम करता है। जयपुर में इसके मुख्यालय के अतिरिक्त राज्य भर में इसके पाँच क्षेत्रीय कार्यालय भी हैं। इन क्षेत्रीय कार्यालयों के काम–काज का निर्देशन सहायक परीक्षक द्वारा किया जाता है जिसकी सहायता के लिए अंकेक्षकों का पूरा दल नियुक्त होता है। लेखा परीक्षण का यह दायित्व लेखा परीक्षण निरीक्षक दलों द्वारा निष्पादित किया जाता है। ऐसे एक दल में एक लेखा अधिकारी, तीन अंकेक्षक तथा एक कनिष्ठ अंकेक्षक होता है। यह दल समस्त स्थानीय संस्थाओं के स्थानीय लेखों का पूर्व वर्णित नियमों के अनुसार अंकेक्षण करता है और अपने इस प्रतिवेदन के साथ लेखा और लेखा परीक्षण की प्रक्रिया में सुधार के लिए आवश्यक सुझाव भी देता है। सभी स्थानीय निकायों को यह अग्रिम सूचना दे दी जाती है कि लेखा परीक्षण दल उनके यहाँ किन तिथियों में आ रहा है। आवश्यक होने पर या किसी निकाय में विशेष गड़बड़ी की शिकायत हो अथवा आशंका होने पर विशेष लेखा परीक्षण दल भी भेजे जा सकते हैं।

लेखा परीक्षण का यह प्रतिवेदन दो भागों में तैयार किया जाता है। इसके प्रथम भाग में प्रशासकीय दृष्टि से की गई वित्तीय अनियमितताओं का वर्णन होता है, जिसे परीक्षण नोट कहते हैं। इसके दूसरे भाग में ऐसी आपत्तियों का विवरण दिया जाता है जिन पर संस्थागत स्तर पर प्रशासकीय कार्यवाही अपेक्षित होती है। इस दूसरे भाग को आपत्ति विवरण कहा जाता है। यदि लेखा परीक्षण के दौरान किसी अधिकारी अथवा कर्मचारी की लापरवाही या दायित्व से संस्था को आर्थिक हानि होने का मामला सामने आए तो ऐसी स्थिति में निधि लेखा परीक्षक को अधिकार है कि वह सम्बन्धित अधिकारी या कर्मचारी को क्षति–पूर्ति के लिए उत्तरदायी ठहराए। पश्चिमी बंगाल में क्षति–पूर्ति की व्यवस्था नहीं है। तमिलनाडु, बिहार तथा उड़ीसा में, परीक्षक स्वयं ही सम्बन्धित कर्मचारी को क्षति–पूर्ति का आदेश देने में सक्षम है। किन्तु इन सभी राज्यों में सम्बन्धित कर्मचारियों और अधिकारियों को ऐसे आदेशों के विरुद्ध राज्य सरकार में अपील करने का अधिकार है।

लेखापालन एवं लेखा परीक्षण दोनों ही गतिविधियों का संचालन स्थानीय निकायों में कुछ व्यवस्थित मानदण्डों के आधार पर नहीं हो रहा प्रतीत होता है। राज्यों में लेखा पालन में, व्यय की गई राशि की मूल रसीदों की नियमानुसार जाँच पड़ताल में शिथिलता, पर्यवेक्षकीय अधिकारियों द्वारा कैशबुक की नियमित जाँच के कार्य में ढिलाई और वसूल की गई राशि के समय पर खाते अथवा खजाने में जमा न होने और भंडार गृह के नियमित